SHRI BRAHMAGUPTA VIRACITA

BRĀHMA-SPHUṬA SIDDHĀNTA

WITH

Vāsanā, Vijñāna and Hindi Commentaries

Vol. IV

Edited by
A board of Editors headed by
ACHARYAVARA RAM SWARUP SHARMA
Chief Editor and Director of the Institute

Published by

Indian Institute of Astronomical and Sanskrit Research

Gurudwara Road, Karol Bagh, New Delhi-5.

Published by
Indian Institute of Astronomical and Sanskrit Research
2239, Gurudwara Road, Karol Bagh,
New Delhi-5. (India)

*

Aided by
**Ministry of Education,
Government of India**

*

*

Price Rs. 60.00

*

Printed by
Padam Shree Prakashan & Printers
Chamelian Road,
Delhi.

श्रीब्रह्मगुप्ताचार्य-विरचित:

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

(संस्कृत-हिन्दी भाषायां वासनाविज्ञानभाष्याभ्यां समलंकृतः सोपपत्तिकः)

चतुर्थो-भागः

प्रधानसम्पादक :

आचार्यवर पंडित रामस्वरूप शर्मा

(सञ्चालक-इंडियन इंस्टीटच्यूट आफ् अस्ट्रानौमिकल एण्ड संस्कृत रिसर्च)

प्रकाशक :

इंडियन इंस्टीट्यूट आफ़ अस्ट्रानौमिकल एण्ड संस्कृत रिसर्च

गुरुद्वारा रोड, क़रौल बाग़, न्यू देहली-५ ।

प्रकाशक—
इंडियन इंस्टीटयूट आफ़ अस्ट्रानौमिकल
एण्ड संस्कृत रिसर्च
२२३९, गुरुद्वारा रोड, करौल बाग़,
नई दिल्ली-५ (भारत)

*

भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय द्वारा
प्रदत्त अनुदान से प्रकाशित ।

*

सम्पादक मण्डल—
श्री रामस्वरूप शर्मा
प्रधान सम्पादक, सञ्चालक
श्री मुकुन्दमिश्र
ज्योतिषाचार्य
श्री विश्वनाथ झा
ज्योतिषाचार्य
श्री दयाशंकर दीक्षित
ज्योतिषाचार्य
श्री ओंदत्त शर्मा शास्त्री
एम. ए., एम. ओ. एल.

*

प्रथम संस्करण
१९६६

*

मूल्य रु० ६०.००

*

मुद्रक :
पद्म श्री प्रकाशन एण्ड प्रिण्टर्स
१२, चमेलियन रोड,
दिल्ली ।

समर्पण :

श्रीयुत एस० के० पाटिल
यूनियन मिनिस्टर फ़ार रेल्वेज़
को
सादर समर्पित

Dedicated to

Shri S. K. Patil

Union Minister for Railways

भूमिका

ब्रह्मगुप्त और ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त

श्रीचापवंशतिलके श्रीव्याघ्रमुखे नृपे शकनृपाणाम् ।
पञ्चाशत्संयुक्तैर्वर्षशतैः पञ्चभिरतीतैः ॥

ब्राह्मः स्फुटसिद्धान्तः सज्जनगणितज्ञगोलवित्प्रीत्यै ।
त्रिंशद्वर्षेण कृते जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन ॥

ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के संज्ञाध्याय में आचार्य की इस उक्ति के अनुसार ५२० शाकवर्ष में आचार्य ब्रह्मगुप्त का जन्म हुआ । तीस वर्ष की आयु में ही उन्होंने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त नामक ज्योतिष के इस महान् सिद्धान्त ग्रन्थ का प्रणयन किया । इनके नाम के अन्त में लगा 'गुप्त' शब्द प्रकट करता है कि इनका जन्म वैश्य कुल के एक संपन्न परिवार में हुआ था । ज्योतिषशास्त्र के यह प्रकाण्ड पण्डित थे—इसी से रींवां नरेश व्याघ्रभटेश्वर ने इन्हें अपना प्रधान ज्योतिषी बनाकर सम्मानित किया ।

जन्म काल

इनके जन्म स्थान के सम्बन्ध में कोई मत विभिन्नता नहीं । पाश्चात्य विद्वानों की इस दिशा में खोज की जो उपलब्धि हुई है, उसके अनुसार इनका जन्म गुर्जर देशान्तर्गत भिनमाल नामक गाँव में हुआ । गुर्जर प्रदेश के ज्योतिषियों की मुखकथा से भी इस बात का समर्थन होता है । गुर्जर प्रदेश की उत्तर सीमा में मालव (मारवाड़) देश से दक्षिण दिशा की ओर आबू पर्वत और लूणी नदी के मध्यवर्ती पर्वत से वायुकोण में भिनमाल नाम का गाँव अब भी स्थित है ।

जन्म स्थान

ब्रह्मोक्तं ग्रहगणितं महता कालेन यत् खिलीभूतम् ।
अभिधीयते स्फुटं तज्जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन ॥

रचना—

आचार्य की इस उक्ति से स्पष्ट ज्ञात होता है कि नलिकादि से वेधद्वारा दृग्गणितैक्य (वेधागत और गणितागत ग्रहादिकों की तुल्यता) कारक ग्रहादि साधन के कारण विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अन्तर्गत अति प्राचीन सिद्धान्त को ही आगम मानकर उसका संशोधन करके आचार्य ब्रह्मगुप्त ने नवीन ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त की रचना की ।

इस (ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त) की चतुर्वेदाचार्य कृत 'तिलक' नाम की टीका प्रसिद्ध थी—वह इस समय संपूर्ण उपलब्ध नहीं है । 'कोलब्रूक' नामक पाश्चात्य विद्वान् को वह

सम्पूर्ण टीका उपलब्ध थी। इसी कारण उसके आधार पर इस ग्रन्थ के बारहवें (व्यक्त) अध्याय और अठारहवें (अव्यक्तगणित) अध्याय का कोलब्रूक महाशय कृत, आङ्ग्ल भाषा में अनुवाद सन् १८१७ (१७३९ शाकवर्ष) ई० में ही उपलब्ध हो गया था।

इस ग्रन्थ (ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त) में १००८ श्लोक (आर्यावृत्त) हैं। पूर्वार्ध और उत्तरार्ध नामक दो भागों में बंटा हुआ है। पूर्वार्ध में (१) मध्यगति

ग्रन्थ का विषय विभाजन

(२) स्फुटगति (३) त्रिप्रश्नाध्याय (४) चन्द्रग्रहणाध्याय (५) सूर्यग्रहणाध्याय, (६) उदयास्तमयाध्याय, (७) चन्द्रशृंगोन्नत्यध्याय, (८) चन्द्राच्छायाध्याय, (९) ग्रहयुत्यध्याय और (११) भग्रहयुत्यध्याय, ये दस अध्याय हैं। उत्तरार्ध में (१) तन्त्र परीक्षाध्याय, (२) गणिताध्याय, (३) मध्यमत्युत्तराध्याय, (४) स्फुटगत्युत्तराध्याय, (५) त्रिप्रश्नोत्तराध्याय, (६) ग्रहणोत्तराध्याय, (७) छेद्यकाध्याय, (८) शृंगोन्नत्युत्तराध्याय, (९) कुट्टाकाराध्याय, (१०) छन्दश्चित्युत्तराध्याय, (११) गोलाध्याय, (१२) यन्त्राध्याय, (१३) मानाध्याय और (१४) संज्ञाध्याय। ये चौदह अध्याय हैं। दोनों पूर्वार्ध और उत्तरार्ध को मिला कर १०+१४ इस ग्रन्थ में कुल चौबीस अध्याय हैं।

इन अध्यायों में तन्त्रपरीक्षाध्याय बहुत विचारणीय है क्योंकि इस अध्याय में आचार्य ने और अनेक आचार्यों के नामों और उनके मतों का उल्लेख किया है।

लाटात् सूर्यशशाङ्कौ मध्याविन्दू च चन्द्रपातौ च।
कुजबुध शीघ्रबृहस्पतिसितशीघ्र शनैश्चरान् मध्यान् ॥

युगपातवर्षभगणान् वासिष्ठाद्विजयनन्दिकृतपादात्।
मन्दोच्चपरिधिपातस्पष्टीकरणाद्यमार्यभटात् ॥

श्रीषेणेन गृहीत्वा रत्नोच्चयरोमकः कृतः कन्था।
एतानेव गृहीत्वा वासिष्ठो विष्णुचन्द्रेण ॥

अनयोर्न कदाचिदपि ग्रहणादिषु भवति दृष्टिगणितैक्यम्।
यद्भवति तद्घुणाक्षरमतोऽस्फुटाभ्यां किमेताभ्याम् ॥

इन श्लोकों के द्वारा श्रीषेणाचार्यकृत 'रोमकसिद्धान्त' है और विष्णुचन्द्रकृत 'वासिष्ठसिद्धान्त।' दोनों के दोष कहते हैं, यह टीकाकार चतुर्वेदाचार्य का कथन है। 'पञ्चसिद्धान्तिका' में श्रीषेण और विष्णुचन्द्र के नामों का उल्लेख नहीं है। इससे मालूम होता है कि वराहमिहिराचार्य के बाद और ब्रह्मगुप्त से पूर्व ४२६ और ५५० शाकवर्ष के मध्य इन दोनों आचार्यों (श्रीषेण और विष्णुचन्द्र) ने ज्यौतिषसिद्धान्त के विशाल ग्रन्थों की रचना की। इस बात को स्वयं वेध द्वारा स्थिर करके आचार्य ने 'यद् भवति तद्घुणाक्षरम्' इत्यादि प्रौढोक्ति से पुष्ट किया है।

आर्यभट के मत का खण्डन

आर्यभट के सिद्धान्त सर्वथा दोषपूर्ण हैं, यह कहते हुए आचार्य ने उनकी उक्तियों का नाना प्रकार से खण्डन करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की। आचार्य भूभ्रमणखण्डन में कहते हैं—

य: प्राणेनैति कलां भूर्यदि तर्हि कुतो व्रजेत् कमध्वानम् ।
आवर्त्तनमुर्व्याश्चेन्न पतन्ति समुच्छ्रयाः कस्मात् ॥

आर्यभट तो पृथिवी के चलत्व और भगणों के स्थिरत्व को स्वीकार कर अहोरात्रासु में पृथिवी के भ्रमण को अपने अक्ष के ऊपर मानते हैं, परन्तु ब्रह्मगुप्त ने आवर्त्तनमुर्व्याश्चेदित्यादि उक्ति के द्वारा, तथा अन्यत्र अनेक अत्युक्तियों द्वारा भूभ्रमण का जो खंडन किया है वहदुराग्रहपूर्ण और केवल वाग्बल है।

स्वयमेव नाम यत्कृतमार्यभटेन स्फुटं स्वगणितस्य ।
सिद्धं तदस्फुटत्वं ग्रहणादीनां विसंवादात् ॥
जानात्येकमपि यतो नार्यभटो गणितकाल गोलानाम् ।
न मया प्रोक्तानि ततः पृथक् पृथक् दूषणान्येषाम् ॥
आर्यभटदूषणानां संख्या वक्तुं न शक्यते यस्मात् ।
तस्मादयमुद्देशो बुद्धिमताऽन्यानि योज्यानि ॥

जिस रीति से, जिन शब्दों द्वारा ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट के मत का खण्डन किया है उसी रीति से उन्हीं शब्दों में वटेश्वराचार्य ने वटेश्वर सिद्धान्त में ब्रह्मगुप्त के मत का खण्डन किया है। इसके विस्तृत विवरण के लिए वटेश्वर सिद्धान्त का अवलोकन अपेक्षित है।

ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त

ग्रहग्रहणादि के वेधकर्ता ब्रह्मगुप्त स्वयं तो प्राचीनाचार्यों की अपेक्षा अनेक विशिष्ट ग्रहादिसाधन विधियों का, तथा गणित के सत्य और असत्य की परीक्षा के लिए वेध विधियों का अपने ग्रन्थ में प्रौढोक्ति के साथ प्रतिपादन करते हैं।

ज्ञातं कृत्वा मध्यं भूयोऽन्यदिने तदन्तरं भुक्तिः ।
त्रैराशिकेन भुक्त्या कल्पग्रहमण्डलानयनम् ॥
यदि भिन्नाः सिद्धान्ता भास्करसंक्रान्तयोऽपि भेदसमाः ।
स स्पष्टः पूर्वस्यां विषुवत्यर्कोदयो यस्य ॥

इत्यादि वास्तव विचारों में प्रवृत्त विशिष्ट विवेचनायुक्त सिद्धान्त ग्रन्थ को रचना सबसे पहले ब्रह्मगुप्त ही ने की। यह बात इस समय उपलब्ध ज्यौतिष सिद्धान्तों के ग्रन्थों से विदित होती है।

'कृती जयति जिष्णुजो गणकचक्रचूडामणिः।' इस उक्ति द्वारा भास्कराचार्य ने अपने सिद्धान्त शिरोमणि के गणिताध्याय के आरम्भ में आचार्य ब्रह्मगुप्त को अभिवादन किया। उसके पश्चात् अनेक स्थानों पर ब्रह्मगुप्त के मत का उल्लेख करते हुए भास्कराचार्य ने लिखा—

यथाऽत्र ग्रन्थे ब्रह्मगुप्त स्वीकृतागमोऽङ्गीकृतः।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थ में ब्रह्मगुप्त का ही अनुकरण किया। ब्रह्मगुप्त को अयन चलन की उपलब्धि नहीं हुई, यह बात 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' से समझी जाती है। अत एव ब्रह्मगुप्तकृत अयन चलोपलब्धि का खण्डन देखा जाता है। तन्त्रपरीक्षाध्याय में ब्रह्मगुप्त ने कहा है—

परमाल्पा मिथुनान्ते द्युरात्रिनाड्योऽर्क गतिवशाद्तवः।
नायनयुगमयनवशात् स्थिरमयनद्वितयमपि तस्मात्॥

वराह मिहिराचार्य अयनचलन के विषय में सन्दिहान थे। इसीलिए उन्होंने 'नूनं कदाचिदासीद्येनोक्तं पूर्वशास्त्रेषु' कहा है। उस समय अश्विन्यादि में क्रान्तिपात था, इसलिए अश्विन्यादि से नक्षत्रों की गणना प्रवृत्त हुई। ब्रह्मगुप्त के पश्चात् आज तक गणना की यही प्रक्रिया प्रचलित है। क्रान्तिपात पश्चिम दिशा में प्रायः ६५ वर्ष में एक अंश चलता है। अतः उसका ज्ञान अल्पसमय में असम्भव प्राय है। इसीलिए तो ब्रह्मगुप्त भी अयनचलन की उपलब्धि नहीं कर सके। आर्यभट का विरोधी होकर भी ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त की रचना की।

खण्डखाद्यक की रचना

३७ वर्ष की अवस्था में ब्रह्मगुप्त ने 'खण्डखाद्यक' नाम के करण ग्रन्थ का प्रणयन किया। उसके प्रारंभ में ही ब्रह्मगुप्त ने लिखा—

प्रणिपत्य महादेवं जगदुत्पत्ति स्थितिप्रलयहेतुम्।
वक्ष्यामि खण्डखाद्यकमाचार्यार्यभटतुल्यफलम्॥
प्रायेणार्यभटेन व्यवहारः प्रतिदिनं यतोऽशक्यः।
उद्वाहजातकादिषु तत्समफल लघुतरोक्तिरतः॥

यह उनके ग्रन्थ की पर्यालोचन से समझा जाता है कि सर्वत्र मनुष्यों के व्यवहारों में प्रचलित आर्यभट मत का निराकरण करना अत्यन्त कठिन था। इसलिए आर्यभट मतानुसार व्यवहार करते हुए मनुष्यों के उपकारार्थ व्यावहारिक 'खण्डखाद्यक' नामक करण-ग्रन्थ की रचना ब्रह्मगुप्त ने की। जिस प्रकार उपलब्ध प्राचीन ज्यौतिषसिद्धान्त ग्रन्थों में ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त एक आदर्श ग्रन्थ माना जाता है उसी पकार सब करणग्रन्थों में सर्व प्रथम आदर्श आज से तेरह सौ वर्ष पूर्व लिखित यही 'खण्डखाद्यक' है।

भारतीय ज्योतिषियों में आर्यभट ही सब से पहले दिन और रात्रि के कारण-स्वरूप पृथिवी के आवर्तन को कहते हैं जैसे गीतिकापाद के प्रथम श्लोक में एक महायुग (४३२००००) में भूमि के १५८२२३७५०० भगण होते हैं। पहले इसको कह कर दृष्टान्त द्वारा भूभ्रमण को—

> अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
> अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम् ॥

उक्ति से दृढ़ करते हैं। परन्तु यहाँ विचित्रता देखने में आती है कि आर्यभटीय टीकाकार परमेश्वर ने इस श्लोक की व्याख्या के समय—भूमेः प्राग्गमनं नक्षत्राणां गत्यभावश्चेच्छन्ति केचित्तन्मिथ्याज्ञानवशादुत्पन्नां प्रत्यग्गमनप्रतीतिमङ्गीकृत्य भूमेः प्राग्गतिरभिधीयते। परमार्थतस्तु स्थिरैव भूमिः—कहा है। अर्थात् कोई-कोई पृथिवी के पूर्वाभिमुख चलन और नक्षत्रों के गत्यभाव (अर्थात् नक्षत्रों की गति नहीं है) कहते हैं वह मिथ्या अज्ञानवश पश्चिमाभिमुख चलन की प्रतीति स्वीकार कर पृथिवी की पूर्वाभिमुख गति को कहते हैं। वस्तुतः पृथिवी स्थिर ही है।

> उदयास्तमयनिमित्तं नित्यं प्रवहेण वायुना क्षिप्तः।
> लङ्कासमपश्चिमगो भपञ्जरः स ग्रहो भ्रमति ॥

इससे स्वयं आर्यभटाचार्य भी भू भ्रमण को अस्वीकार करते हैं। आर्यभटाचार्य के मन में यह निश्चय नहीं था कि पृथिंवी चलती है या नहीं ! ऐसा उनके लेख से प्रतीत होता है। अस्तु ॥

'ब्रह्माह्वय श्रीधरपद्मनाभबीजानि यस्मादति विस्तृतानि' अपने बीजगणित में भास्कराचार्य की इस उक्ति से मालूम होता है, कि ब्रह्मगुप्त का बहुत बड़ा बीजगणित का ग्रन्थ था, परन्तु यह ग्रन्थ आज प्राप्य नहीं है।

श्रीपति द्वारा ब्रह्मगुप्त का अनुकरण

ब्रह्मगुप्त हीं औरों की अपेक्षा श्रीपति का श्रेष्ठतर आदर्श है। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त और सिद्धान्तशेखर की पर्यालोचना से ज्ञात होता है। कि ब्रह्मगुप्त द्वारा रचित सार्थक आर्याओं (इस नाम का श्लोक) का ही श्रीपति ने बड़े-बड़े छन्दों में अनुवाद किया है। वस्तुतः ब्रह्मगुप्तोक्त ग्रहगणित को ही सत्य परन्तु दुरूह समझ कर श्रीपति ने उसे अपनी सुन्दर रचना द्वारा सुगमतर ग्रन्थान्तर (सिद्धान्तशेखर) के रूप में हमारे सन्मुख रखा। इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं है। ग्रन्थ रचना के विषय में लल्लाचार्य ही श्रीपति के विशेष रूप से श्रेष्ठ आदर्श है। जो विषय ब्रह्मगुप्त ने नहीं कहा है वह लल्लाचार्य ने कह दिया है। उन सभी विषयों को उसी प्रकार श्लोका-

न्तरों से श्रीपति ने कह दिया है । सारांश यह है कि श्रीपति ने दोनों (ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त और शिष्यधीवृद्धिद) ग्रन्थों का परिशीलन करने के पश्चात् ही सिद्धान्तशेखर की रचना की ।

ब्रह्मगुप्त ने एक बहुत विलक्षण विषय को अपनी रचना में स्थान दिया है । यह है 'नतकर्म' । मन्दफल शीघ्रफल भुजान्तरादि संस्कार करने से जो स्पष्टग्रह आते हैं वे स्वगोलीय (ग्रहगोलीय) स्पष्ट ग्रह होते हैं । उन स्वगोलीय स्पष्ट ग्रहों को हम लोग जहां देखते हैं वे हम लोगों के लिए स्पष्ट ग्रह होते हैं । स्वगोलीय स्पष्टग्रह में जितना संस्कार करने से हम लोगों के स्पष्टग्रह होते हैं उसी संस्कार का नाम 'नतकर्म' है ।

ब्रह्मगुप्त का 'नतकर्म'

ब्रह्मगुप्त से पूर्व किसी भी अन्य प्राचीनचार्य ने कुछ भी नहीं लिखा । नतकर्म साधन की बात तो दूर रही, उसके नाम तक का भी किसी ने उल्लेख नहीं किया । भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि (गणिताध्याय) के स्पष्टाधिकार में इस नतकर्म के साधन का प्रकार लिखा है । 'मुहुः स्फुटाऽतो ग्रहणे रवीन्द्वोस्तिथिस्त्विदं जिष्णुसुतो जगाद' भास्कर की इस उक्ति से स्पष्ट ज्ञात होता है—कि इस 'नतकर्म' के आविष्कर्त्ता ब्रह्मगुप्त ही हैं । सिद्धान्त-शिरोमणि (गणिताध्याय) के स्पष्टाधिकार में भास्कराचार्य ने 'भोग्यखण्डस्पष्टीकरण' में जो लिखा है उसका मूल भी ब्रह्मगुप्तकृत ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के ध्यान ग्रहोपदेशाध्याय में ही है । और आचार्यों ने इस विषय में कुछ नहीं लिखा है । सिद्धान्त तत्व विवेक में कमला-कर ने भास्करोक्त भोग्यखण्ड स्पष्टीकरण प्रकार का खण्डन किया है । वस्तुतः यह खण्डन कमलाकर का दुराग्रह ही है । अतः यह खण्डन ठीक नहीं है ।

ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के त्रिप्रश्नाधिकार में दिक्साधन में—

पूर्वापरयोर्विन्दू तुल्यच्छायाग्रयोर्दिगपराद्यः ।
पूर्वान्यः क्रान्तिवशात् तन्मध्याच्छङ्कुतलमितरे ।।

यहाँ क्रान्तिवश से दिक्साधन में कैसे भेद उत्पन्न होता है इसके लिए चतुर्वेदाचार्य ने कर्णवृत्ताग्रान्तर का जो साधन किया है उसी को 'छाया निर्गमन प्रवेश समयार्कक्रान्ति-जीवान्तरं' आदि द्वारा श्रीपति ने कहा है । उसके पश्चात् 'तत्कालापमजीवयोस्तु विवरात्' इत्यादि से सिद्धान्तशिरोमणि में भास्काचार्य ने कहा है । सूर्यसिद्धान्त आदि प्राचीन ग्रन्थों में इस विषय का उल्लेख नहीं है ।

'मन्दफलानयन' के लिए मन्दकर्णानुपात ही आवश्यक साधन है । यद्यपि इस विषय में भास्कराचार्य ने अपना कुछ भी मत व्यक्त नहीं किया है, तथापि चन्द्रग्रहणाधिकार में स्फुट रवि चन्द्रकर्णसाधन में 'मन्दश्रुतिर्द्राक् श्रुतिवत्प्रसाध्या' इत्यादि से ब्रह्मगुप्त ही के मत को स्वीकार किया है । यह भी ब्रह्मगुप्त की उक्ति की ही विलक्षणता है ।

लल्लाचार्य ने वलन और दृक्कर्म के आनयन को उत्क्रमज्या द्वारा किया है। ब्रह्मगुप्त की उक्ति में चतुर्वेदाचार्य की 'अत्रज्याशब्देनोत्क्रमज्या ग्राह्या' व्याख्या को लक्ष्य कर भास्कराचार्य ने 'ब्रह्मगुप्तकृतिरत्र सुन्दरी साऽन्यथा तदनुगैर्विचार्यते' कहा है। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के बहुत से स्थलों में वर्णन की स्थूलता अवश्य है, तथापि इसमें नाना प्रकार के विषयों का अपूर्व समावेश है। अतएव 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त ग्रन्थ है, इस कथन में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति (विरोध) प्रतीत नहीं होती है। इस ग्रन्थ में 'छन्दश्चित्युत्तराध्याय' नाम का एक अध्याय है। इसके अन्तर्गत श्लोकों की उपपत्ति तो दूर की बात है, आज तक किसी विद्वान् ने इनकी व्याख्या तक नहीं की।

प्रश्नाध्याय

प्रश्नाध्याय का जैसा क्रम इस ग्रन्थ में है वैसा अन्य ग्रन्थों में नहीं है। इसमें मध्यगति आदि (मध्यगत्युत्तराध्याय-स्पष्टगत्युत्तराध्याय-त्रिप्रश्नाध्याय-ग्रहणाध्याय तथा शृङ्गोन्नत्युत्तराध्याय) पांच अध्यायों में पृथक्-पृथक् उत्तर सहित प्रश्नों का विवेचन किया गया है। इसके अभ्यास से छात्रवृन्द सिद्धान्त विषय में निपुणता प्राप्त कर सकते हैं। सिद्धान्त शिरोमणि की भूमिका में 'जीवा साधनं विनैव यद् भुजज्यानयनं कृतवान् श्रीपतिस्तत्त्वपूर्वमेव स्यात् यथा तत्प्रकारो विदां विनोदाय प्रदर्श्यते—

दोः कोटि भागरहिताभिहृताः खनागचन्द्रास्तदीयचरणेन शरार्कदिग्भिः।
ते व्यासखण्डगुणिता विहृताः फलं तु ज्याभिर्विनापि भवतो भुजकोटिजीवे॥
इति केनापि लिखितमस्ति तन्नैव युक्तियुक्तम्॥

सिद्धान्त शिरोमणि तथा सिद्धान्तशेखर में सादृश्य

कहने का भाव यह है कि शिद्धान्त शिरोमणि की भूमिका में जीवासाधन विना ही श्रीपति ने जो भुजज्यानयन किया है वह अपूर्व ही है, उनके प्रकार को पंडितों के बिनोद के लिए दर्शाते हैं 'दोः कोटि भागरहिताः' इत्यादि ही उनका प्रकार है। भूसिका लेखक का यह उक्त लेख ठीक नहीं है, क्योंकि ज्याविना भुजज्या और भुजकोटिज्या का आनयन और ज्या द्वारा चापानयन सर्वप्रथम ब्रह्मगुप्त ही ने किया है। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में कथित प्रकार अधोलिखित है—

भुजकोट्यंशोनगुणा भार्धांशास्तच्चतुर्थभागोनैः।
पञ्चद्वीन्दुखचन्द्रैर्विभाजिता व्यासदलगुणिता॥
तज्ज्ये परमफलज्या सङ्गुणिता तत्फले विना ज्याभिः।
इष्टोच्चनीचवृत्तव्यासार्धं परमफलजीवा॥

इष्टज्या से चापानयन प्रकार—

इष्टज्या संगुणिताः पञ्चकयमलैकशून्यचन्द्रमसः।
इष्टज्या पादयुतव्यासार्धविभाजिता लब्धम्॥

नवतिकृतेः प्रोह्य पदं नवतेः संशोध्य शेषं भागकलाः ।
एवं धनुरिष्टाया भवति ज्याया विना ज्याभिः ॥

बहुत पहले से ज्याविना भुजज्या और भुजकोटिज्या का आनयन 'दोः कोटिभागरहिताभिहताः' इत्यादि प्रकार से श्रीपति द्वारा कथित है, यह बात ज्योतिषियों में प्रसिद्ध है। इसी का अवलम्बन करके 'ग्रहलाघव' नामक अपने करणग्रन्थ में विस्तार से लिखा है। परन्तु वस्तुतः यह प्रकार ब्रह्मगुप्त ही का है। उनके उपर्युक्त श्लोकों से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो गई है। अब यह सन्देह का निषय नहीं रहा। वटेश्वर सिद्धान्त में वटेश्वराचार्य ने भी ब्रह्मगुप्तोक्त इसी प्रकार को श्लोकान्तरों में लिख दिया है। सिद्धान्तशेखर में सर्वत्र श्रीपति का अपना निजी प्रकार थोड़ा ही है, उन्होंने भी ब्रह्मगुप्तोक्त प्रकार को ही श्लोकान्तरों में वर्णित किया है। उदाहरण के लिए देखिये सिद्धान्तशेखर के सूर्यग्रहणाधिकार में—

तिथ्यन्तात् स्थितिखण्डहीनसहितात् प्राग्वत्ततो लम्बनं ।
कुर्यात् प्रग्रहमोक्षयोः स्थितिदलं युक्तं विधायासकृत् ॥
तन्मध्यग्रहणोत्थलम्बनभुवा विश्लेषणानेहसा ।
मर्दार्धोनयुतात्तिथेरपि तथा संमीलनोन्मीलने ॥
अधिकमृणयोराद्यं मध्यात्तथाऽन्त्यमिहाल्पकं ।
भवति धनयोश्चाद्यं हीनं यदाऽधिकमन्तिमम् ॥
नमनविवरेणैवं कुर्याद्विहीनमतोऽन्यथा ।
स्थितिदलमृणस्वस्थे भेदे तदैक्ययुतं पुनः ॥

यह श्रीपत्युक्त प्रकार ब्रह्मगुप्त के अधोलिखित प्रकार के सर्वथा अनुरूप ही है—

प्राग्वल्लम्बनमसकृत् तिथ्यन्तात् स्थितिदलेन हीनयुतात् ।
अधिकोनं तन्मध्यादृणयोरूनाधिकं धनयोः ॥
यद्यधिकं स्थित्यर्धं तदाऽन्तरेणान्यथोनमृणमेकम् ।
अन्यद्धनं तदैक्येनाधिकमेवं विमर्दार्धे ।

इसी प्रकार प्रकारान्तर से कहा गया श्रीपत्युक्त स्फुटस्थिति दल साधन प्रकार—

स्थित्यर्धोनयुतात् परिस्फुटतिथेः स्याल्लम्बनं पूर्ववत् ।
तन्मध्यग्रहवे च मध्यमतिथो ततस्तु तिथौ ॥
स्थित्यर्धेन परिस्फुटेषु जनितेनोनाधिकाद्वाऽसकृत् ।
तत्तिथ्यन्तरनाडिकाः स्थितिदलेस्तः स्पर्शमुक्त्योः स्फुटे ।

इस श्लोक का द्वितीयचरण शुद्ध नहीं है। यह प्रकार ब्रह्मगुप्त के अधोलिखित प्रकार के अनुरूप ही है।

स्फुटतिथ्यन्ताल्लम्बनमसकृत् स्थित्यर्धहीनयुक्ताद्वा ।
तत्स्फुटविक्षेपकृतस्थित्यर्धोनयुततिथ्यन्तात् ॥
तत्स्पष्टतिथिच्छेदान्तरे स्फुटे दिनदले विहीनयुतात् ।
स्वविमर्दार्धेनासकृदेवं स्पष्टे विमर्दार्धे ॥

सिद्धान्तशिरोमणि में भी भास्कराचार्य ने अधोलिखित शब्दों में—

तिथ्यन्ताद् गणितागतात् स्थितिदलेनोनाधिकाल्लम्बनं
तत्कालोत्थनतीषु संस्कृतिभवस्थित्यर्धहीनाधिके ।
दर्शान्ते गणितागते धनमृणं वा तद्विधायासकृज्ज्ञेयौ
प्रग्रहमोक्षसंज्ञसमयावेवं क्रमात् प्रस्फुटौ ॥

ब्रह्मगुप्तोक्त प्रकार का ही वर्णन किया है। इसी प्रकार सिद्धान्तशेखरे के सूर्यग्रहणाध्याय के उपसंहार में—

स्फुटं भवति पञ्चजीवया लम्बनं न हि यतस्ततः कृतम् ।
युक्तियुक्तमिति जिष्णुसूनुना तन्मयाऽपि कथितं परिस्फुटम् ॥

कथित आशय ब्रह्मगुप्त की अधोलिखित उक्ति के सदृश ही है—

दृग्गणितैक्यं न भवति यस्मात् पञ्चज्यया रविग्रहणे ।
तस्माद्यथा तदैक्यं तथा प्रवक्ष्यामि तिथ्यन्ते ॥

मध्यगत्यध्याय से ग्रन्थसमाप्ति पर्यन्त सादृश्य की यही स्थिति है। यह बात दोनों ग्रन्थों (ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त और सिद्धान्तशेखर) के अवलोकन से स्पष्ट हो जाती है।

केवल श्रीपति ने ही अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों से उनके कथित विषयों को श्लोकान्तरों द्वारा अपने ग्रन्थ में अपनी उक्ति के रूप में लिखा है, सो नहीं है अपितु उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की भी यही रीति रही है। श्रीपति के परवर्ती भास्कराचार्य आदि विद्वानों ने भी उसी रीति को अपनाया है। उदाहरणार्थ भास्कराचार्य द्वारा-गणिताध्याय के मध्यमाधिकार में सिद्धान्त लक्षण—वेद के अंग ज्योतिःशास्त्र का निरूपण—वेदांगों में ज्योतिःशास्त्र की प्रधानता—वेद वेदांग पढ़ने का द्विजों (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) का ही अधिकार—शूद्रादिकों का नहीं—भचक्रचलन—कालप्रवृत्ति—कालमानों की परिभाषाएं—ग्रहों का भगणपाठ—युगों तथा मन्वादि के नाम—तथा ब्रह्मा के गत वर्षादि के प्रयोजनाभाव इत्यादि मध्यमाधिकारोक्त सब विषयों का निरूपण श्रीपति कृत साधनाध्यायोक्त श्लोकों का श्लोकांतर मात्र है। ज्यौतिष शास्त्र के पाठकों को दोनों ग्रन्थों का अवलोकन करना

चाहिए जिससे उनके सादृश्य की जानकारी हो सके। प्राचीनोक्त विषयों का आश्रय लेकर अनेक विशिष्ट विषयों को कहने के लिए श्रीपति ने प्रथम साधनाध्याय, तथा ग्रहभगणाध्याय की रचना की। उसके पश्चात् मध्यमाध्याय में-सात प्रकार से अहर्गणानयन-वार प्रवृत्ति के विषय में विभिन्न आचार्यों के मत का प्रतिपादन-तद्गत दोष निरूपण करके अपने मतानुसार वार प्रवृत्ति का प्रतिपादन-मध्यम ग्रह साधन के लिए नाना प्रकार का नूतन प्रकारान्तर वर्णन-तथा रवि आदि सब ग्रहों के राश्यादिमन्दोच्च का प्रतिपादन-आदि नाना प्रकार के विषयों का दिग्दर्शन श्रीपति के सिद्धान्तशेखर में मिलता है। ब्राह्म-स्फुट सिद्धान्त में अहर्गणानयन बहुत प्रकार से किया गया है, उन प्रकारों का अनुकरण श्रीपति ने किया है। आचार्य ने लघ्वहर्गणानयन भी किया है परन्तु श्रीपति ने उसकी चर्चा नहीं की। अहर्गण से अभीष्ट वार ज्ञान के लिए अहर्गण में एक जोड़ना चाहिए— यह बात ब्रह्मगुप्त ने लिखी हैं। उसके पश्चात् सिद्धान्तशेखर में भी श्रीपति ने उनका अनुकरण किया है।

सिद्धान्तशिरोमणि में भास्कराचार्य ने अहर्गण से अभीष्टवार ज्ञानार्थ अहर्गण में सैक निरेक करना लिखा है यथा —

अभीष्टवारार्थमहर्गणश्चेत्सैको निरेकस्थितयोऽपि तद्वत्।

ब्रह्मगुप्त ने अहर्गण में निरेक करण की चर्चा क्यों नहीं की, नहीं कहा जा सकता। वटेश्वर सिद्धान्त में भी नाना प्रकार से अहर्गणानयन और लघ्वहर्गणानयन किया गया है। ब्रह्मगुप्त द्वारा अनेक प्रकार से किये गये अहर्गणानयन को देख कर वटेश्वराचार्य ने भी उन्हीं के मार्ग का अवलम्बन किया है। अर्वाचीन आचार्यों (भास्कराचार्य-कमलाकर आदि) के ग्रन्थों में अनेक प्रकार से साधित अहर्गणानयन देखने में नहीं आता है। यद्यपि लघ्वहर्गणानयन में स्थूलता है, तथापि एक अपूर्व वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। वटेश्वराचार्यकृत लघ्वहर्गणानयन भी स्थूलरूप में कहा गया है। इन आचार्यों के अतिरिक्त और किसी आचार्य के ग्रन्थ में लघ्वहर्गणानयन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा गया है। सिद्धान्त तत्त्व विवेक में कमलाकर ने भास्करोक्त लघ्वहर्गणानयन में वार गणना का खण्डन किया है।

स्फुटगत्यध्याय में आर्यभट-ब्रह्मगुप्त-लल्ल आदि आचार्यों ने वृत्त परिधि के चतुर्थांश (नवत्यंश) में दो सौ पच्चीस कलावृद्धि से चौबीस क्रमज्या और उत्क्रमज्या का साधन किया है। आर्यभट और लल्ल की त्रिज्या = ३४३८, ब्रह्मगुप्त मत

स्फुटगत्यध्याय

में त्रिज्या ३२७०, इन सबों से भिन्न श्रीपति की त्रिज्या = ३४१५, ब्रह्मगुप्तोक्त भूपरिधि = ५००० । 'पादोन गोऽक्षधृतिभूमितयोजनानि' इन भास्करोक्ति से ग्रहों की योजनात्मक गति = ११८५८।४५, 'गतियोजनतिथ्यंशः कुदलस्य

यतो मितिः' से भूव्यास=१५८१, भू परिधि=४९६७। यही बात 'प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सप्ताङ्गनन्दाब्धयस्तद्व्यासः कुभुजङ्गसायकभुवः' से भास्कराचार्य ने कही है। भास्कराचार्य ने बहुत से स्थलों में ब्रह्मगुप्त के मत का ही अनुसरण किया है। परन्तु ब्रह्मगुप्तोक्त त्रिज्या से भिन्न त्रिज्या स्वीकार करने में उनका क्या अभिप्राय है सो नहीं कह सकते हैं। ब्रह्मगुप्तोक्त भुजान्तर कर्म के अनुसार ही सिद्धान्तशेखर और सिद्धान्त शिरोमणि में भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के स्फुटगत्यध्याय में और भी अनेक विषय वर्णित हैं जो दर्शनीय और पढ़ने के योग्य हैं।

त्रिप्रश्नाधिकार

त्रिप्रश्नाधिकार में रवि के मध्याह्न कालिक नतांश जान कर, उसके आधार पर रवि के आनयन के लिए पहले क्रान्तिज्या का ज्ञान होता है। तब अनुपात से रवि के भुजांश का ज्ञान होता हैं। भुजांश से राश्यादि रवि का ज्ञान पदाधीन है। किसी भी प्राचीनाचार्य ने पदज्ञान के लिए विधि नहीं लिखी है। यहाँ आचार्य ने—

क्रान्तिर्व्यासार्धगुणा जिनभागज्याहृता धनुरजादौ,
कर्क्यादौ चक्रार्धात्प्रोह्य तुलादौ स चक्रार्धम्॥
चक्रार्धात् प्रोह्य मृगादौ स्फुटो सकृत् व्यस्तमृणं धनं मध्यम्।

अर्कोऽस्मात्' इत्यादि से रवि का आनयन किया है। लेकिन यह साधित रवि किस पद का है इसके ज्ञान के लिए कोई युक्ति नहीं लिखी है। सिद्धान्तशेखर में श्रीपति ने—'अजतुलादिगतस्य विवस्वतो दिनदल प्रभयोर्युतिरर्धिता। भवति वैषुती निजदेशजेति से पलभा के मान का पता लगाकर—

आद्ये पदेऽपचयिनी पलभाऽल्पिका स्यात्,
छायाल्पिका भवति वृद्धिमती द्वितीये।
छायादिका भवति वृद्धिमती तृतीये,
तुर्ये पुनः क्षयवती तदनल्पिका च।
वृद्धिं प्रयान्ती यदि दक्षिणाग्रच्छाया तथापि प्रथमं पदं स्यात्।
ह्रासं व्रजन्तीमथ तां विलोक्य रवेर्विजानीहि पदं द्वितीयम्॥

से गोल युक्ति सिद्ध पद का ज्ञान किया है यहाँ भास्कराचार्य ने—

क्रान्तिज्या त्रिज्याघ्नी जिनभागज्योद्धृता दोर्ज्या।
तद्धनुराद्ये चरणे वर्षस्यार्कः प्रजायतेऽन्येषु॥

भार्धाच्च्युतः सभार्धो भगणात्पतितोऽब्द चरणानाम्।
ऋतुचिह्नैर्ज्ञानं स्यात्तु चिह्नान्यग्रतो वक्ष्ये॥

से आचार्योक्तवत् ही कहा है। केवल 'ऋतुवर्णनम्' नामक एक अधिकार सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय में लिखा है। भास्कराचार्य के पश्चवर्ती और कमलाकर के पूर्ववर्ती सब आचार्यों ने ऋतुवर्णन को ज्यौतिष सिद्धान्त का एक अङ्ग समझकर अपने अपने सिद्धान्तग्रन्थ में निश्चित रूप से 'ऋतुवर्णनाध्याय' नाम देकर लिखा हैं। सिद्धान्त तत्त्व विवेक में—'आद्ये पदेऽपचयिनी पलभाल्पिका स्यात्' इत्यादि श्रीपत्युक्त पदज्ञानबोधक श्लोक द्वय को लिख कर कमलाकर ने—

ऋतुचिह्नै रिदं पूर्वैरुक्तं सर्वत्र तन्नहि।
केवलं कुकविप्रीत्यै पदज्ञप्त्यै न तद्भवेः॥

से भास्करोक्त ऋतुवर्णन की निन्दा की है। वस्तुतः कमलाकर का कथन ठीक है। भिन्न भिन्न देशों में ऋतु भिन्न भिन्न होती है; इसलिए ऋतुचिह्न से पदज्ञान ठीक नहीं हो सकता है। परन्तु—आद्ये पदेऽपचयिनी पलभाल्पिका स्यात्' इत्यादि पदज्ञानबोधक पद्य ठीक सिद्धान्तशेखर में हैं। इसको कमला कर ने अपने नाम से लिखा है। जब तक सिद्धान्तशेखर उपलब्ध नहीं था, तब तक लोग यही समझते थे कि यह पदज्ञान प्रकार कमलाकरोक्त ही है। परन्तु अब वह बात नहीं रही। वस्तुतः यह प्रकार श्रीपत्युक्त ही है। कमलाकर को अपनी रचना में यह मानना चाहिए था कि यह प्रकार श्रीपति कथित है। वास्तविक बात यह है कि प्राचीन आचार्यों ने पदज्ञान के लिए कोई प्रकार नहीं लिखा है। इस स्थिति में श्रीपति ही इस प्रकार को लिखने के कारण ज्योंतिषियों के प्रशंसापात्र हैं, यह बात अवश्य ही निःसन्दिग्ध है। आश्चर्य की बात तो यह है कि श्रीपतिकृत गोलयुक्तियुक्त पद ज्ञान को छोड़कर भास्कराचार्य ने जो काव्यमय ऋतुवर्णन किया है वह बिल्कुल असंगत है।

चन्द्रग्रहणाध्याय

आचार्य ब्रह्मगुप्त ने चन्द्र ग्रहणाध्याय में रवि, चन्द्र औरपृथिवी का योजनविम्ब, रवि और चन्द्र के योजनात्मक कर्ण का स्पष्टीकरण, भूभा बिम्बानयन, ग्रासमानाद्यानयन तथा परिलेख प्रकार लिखा है। श्रीपति और भास्कराचार्य ने भी कथनक्रम को लेकर विशेष रूप से वैसा ही अनुबाद किया है। ब्रह्मगुप्तकृत सम्पूर्ण सूर्यग्रहणाध्याय को श्रीपति ने प्रायः अपने श्लोकान्तरों द्वारा किया है, उदयास्तमयाध्याय में आचार्य ने आयन दृक्कर्मानियन किया है, परन्तु वह ठीक नहीं है। श्रीपति ने आयन दृक्कर्मानियन करके—

खनभोधृतिभिः समाहतं प्रथमं दृक्फलमायनाह्वयम्।
द्युचराश्रितभोदयासुभिर्विहृतं स्पष्टमिह प्रजायते॥

से उनका स्पष्टीकरण किया हैं। इसको देख कर भास्कराचार्य ने "आयनं वलनमस्फुटेषुणा संगुणम्" इत्यादि से उसके अनुसार ही कहा है। चन्द्राध्याय में आचार्य ने अनेक विषयों का प्रतिपादन किया है। परन्तु श्रीपति ने केवल वराह ब्रह्मगुप्त तथा लल्लाचार्य के वहुत से श्लोकों का अनुवादमात्र ही किया है। अपनी ओर से कोई विशेष बात नहीं लिखी। केवल चन्द्र के स्पष्ट चरानयन में तथा परिलेख सूत्र प्रमाणानयन में बहुत ही प्रकारान्तर से प्रतिपादन किया है।

ग्रहयुत्यध्याय

आचार्य वराह ब्रह्मगुप्त और लल्लाचार्य ने ग्रहयुत्यध्याय (ग्रहयुद्धाध्याय या ग्रहयोगाध्याय) में उदयान्तर कार्य के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। परन्तु—

अन्त्यभ्रमेण गुणिता रविबाहुजीवाऽभीष्टभ्रमेण विहृता फलकार्मुकेण।
बाहोः कलासु रहिता रहितास्ववशेषकं ते यातासवो युगयुजोः पदयोर्धनर्णम् ॥

के द्वारा श्रीपत्युक्त दृग्गणितैक्यकारक कर्म ही को भास्कराचार्य ने 'उदयान्तर कर्म' नाम से कहा है। जब तक सिद्धान्तशेखर उपलब्ध नहीं था तब तक आधुनिक गणकों को यही विश्वास था कि यह उदयान्तरकर्म सर्वप्रथम भास्कराचार्य ने ही लिखा है। परन्तु इस उदयान्तर को दृष्टि में रख कर सर्व प्रथम श्रीपति ने ही अपने विचार व्यक्त किये थे। तथा—

त्रिभविरहितचन्द्रोच्चेन भास्वद् भुजज्या
गगननृपविनिघ्नी भत्रयज्याविभक्ता।
भवति चर फलाख्यं तत् पृथक्स्थं शरघ्नं
हृतमुडुपतिकर्णत्रिज्ययोरन्तरेण ॥१॥
परमफलमवाप्तं तद्धनर्णं पृथक्स्थे
तुहिनकिरणकर्णे त्रिज्यकोनाधिकेऽथ।
स्फुटदिनकर हीनादिन्दुतो या भुजज्या
स्फुट परमफलघ्नी भाजिता त्रिज्ययाऽऽप्तम् ॥२॥
शशिनि चरफलाख्यं सूर्यहीनेन्दुगोलात्
तदृणमुत धनं चेन्दूच्चहीनार्क गोलम्।
यदि भवति हि साम्यं व्यस्तमेतद्विधेयं
स्फुटगणितदृगैक्यं कर्त्तुमिच्छद्‌भिरत्र ॥३॥

इन तीनों श्लोकों के द्वारा श्रीपति ने दृग्गणितैक्य के लिए चन्द्र में संस्कार विशेष को कहा है। किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में यह संस्कार नहीं लिखा है। यद्यपि—

इन्दूच्चोनार्ककोटिघ्ना गत्यंशा विभबा विधोः।
गुणो व्यर्केन्दुदोः कोटयोरूप पञ्चाप्तयोः क्रमात् ॥
फले शशाङ्कतद्गत्योर्लिप्ताद्ये स्वर्णयोर्वधे।
ऋणं चन्द्रे धनं भुक्तौ स्वर्णसाम्यवधेऽन्यथा ॥

के द्वारा इसी प्रकार (श्रीपत्युक्त चन्द्रसंस्कार की भांति) के चन्द्रसंस्कार का उल्लेख 'लघुमानस' नामक करण ग्रन्थ में मुञ्जालाचार्य ने किया है। परन्तु इन दोनों में सादृश्याभाव के कारण, श्रीपति ने वेधद्वारा देख कर उस (लघुमानसोक्त) से भिन्न कहा है,

ऐसा ज्ञात होता है। भास्कराचार्य ने इस श्रीपत्युक्त संस्कार को बार-बार देख कर विचार करने से उपलब्ध ज्ञान के विस्तार पूर्वक प्रतिपादन के लिए सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ की रचना की। इस रचना के एक वर्ष पश्चात् ५६ श्लोकों का 'बीजोपनय' नामक ग्रन्थ सिद्धान्त शिरोमणि की भांति 'वासना भाष्य' सहित बनाया। जैसा कि निम्नोक्ति में सिद्ध है—

मयाथ बीजोपनये यदन्ते सूर्योक्तमाद्यं परमं रहस्यम्।
प्रकाशये गोप्यमपीह देवं प्रणम्य बीजं जगतां हितार्थम् ॥१॥

यद्यपि पूर्वमपीदं संक्षेपादुक्तमागमोक्तदिशा।
नैतावतैव कश्चित् दृक्करणैक्याय कल्पते गणकः ॥२॥

दृक्करणैक्यविहीनाः खेटाः स्थूला न कर्मणामर्हाः।
अत इह तदर्हतायै तात्कालिकबीजविस्तरं वक्ष्ये ॥३॥

पाता रवेस्तामसकीलकाख्यास्तेषां समाकर्षणतः शशाङ्कः।
तत्तुङ्गशक्तिश्च निजस्वभावं विहाय नित्यं विषमत्वमेति ॥४॥

चद्राच्च तद्योगवियोगतश्च साध्यं हि भाद्यं विषमं यतः स्यात्।
तस्माद्विधोरत्र विशुद्धिशुद्ध्यै विस्तार्यते बीजफलक्रियेयम् ॥५॥

एकेन पुंसा निखिलग्रहाणामन्तं प्रबोधो न हि शक्यतेऽतः।
व्यासात्समासाच्च यथोपलब्धं प्रोक्तं मयेत्यादरणीय मेतत् ॥६॥

भग्रहयोगाध्याय] भग्रहयोगाध्याय में—

कृत्वापि दृष्टिकर्म श्रीषेणार्यभटविष्णुचन्द्रोक्तम्।
प्रतिदिनमुदयेऽस्ते वा न भवति दृग्गणितयोरैक्यम् ॥१॥

भमुनिमृगव्याधानां यतस्ततो दृष्टिकर्म वक्ष्यामि।
दृग्गणितसमं देयं शिष्याय चिरोषितायेदम् ॥२॥

ब्राह्मस्फुटसिद्धांत का उत्तरार्ध]

ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के उत्तरार्ध में—परिकर्म विंशति (सङ्कलित, व्यवकलित, गुणन, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, पञ्चजाति, त्रैराशिक, व्यस्तत्रैराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, एकादशराशिक, भाण्डप्रतिभाण्ड (अदला बदली)—आदि विषयों का उल्लेख है। प्रत्येक स्थान में चतुर्वेदचार्योक्त उदाहरण हैं। सिद्धान्त शेखर में भी परिकर्म विंशति (अभिन्नाङ्कों के छः गुणन, भजन, वर्ग, वर्गमूल, घन, तथा घनमूल; भिन्नाङ्कों के योग, अन्तर, गुणन, भजन, वर्ग, वर्गमूल छः; भाग, प्रभाग, भागानुबंध, भागापवाह जातिचतुष्टय; विलोमकर्म, त्रैराशिक, व्यस्तत्रैराशिक और

पञ्चराशिक) । ब्रह्मगुप्त और श्रीपति के बीस कर्मों के विषय वर्णन में बहुत भेद है। उन बीस परिकर्मों के नामों में भी बहुधा भिन्नता है। भास्कर द्वारा प्रकीर्ण विषय (योगान्तर से लेकर भाण्ड प्रतिभाण्ड पर्यन्त) जिस स्पष्टता के साथ प्रतिपादित हैं। वैसी स्पष्टता ब्रह्मगुप्त और श्रीपति द्वारा प्रतिपादित परिकर्म विंशति में नहीं पाई जाती। जहां तक विषयों का सम्बन्ध है वहां तक तीनों आचार्य —ब्रह्मगुप्त, श्रीपति तथा भास्कर समान हैं। केवल विषयों के प्रतिपादन की रीति में भिन्नता है।

इसके अतिरिक्त मिश्रक व्यवहार, श्रेढी व्यवहार, क्षेत्र व्यवहार, खात व्यवहार, चितिव्यवहार, क्राकचिक व्यवहार राशिव्यवहार, और छाया व्यवहार ये आठ व्यवहार ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त, सिद्धान्त शेखर तथा भास्करीय लीलावती में वर्णित हैं। इन आठों व्यवहारों के प्रतिपादन में असादृश्य पाया जाता है। इन व्यवहारों में से ब्रह्मगुप्त और श्रीपति की अपेक्षा भास्कर ने अधिक विषयों का प्रतिपादन किया है, और अपेक्षा कृत अधिक स्पष्टता के साथ। यह बात उक्त तीनों को देखने से स्फुट हो जाती है।

इसके पश्चात् प्रश्नाध्याय में मध्यमगत्युत्तराध्याय, स्पष्टगत्युत्तराध्याय, त्रिप्रश्नोत्तराध्याय, ग्रहणोत्तराध्याय, शृंगोन्नत्युत्तराध्याय-इन पांचों उत्तराध्यायों में सोत्तर प्रश्न समूह का समावेश है। प्रश्न सभी विलक्षण हैं। इनके अभ्यास से पाठक लोग ज्यौतिष के सिद्धान्त ग्रन्थों में अतिशय निपुण हो सकते हैं। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के प्रत्येक अध्याय में प्रदर्शित इस प्रकार के सोत्तर प्रश्नक्रम का लेश कुछ-कुछ सिद्धान्त शेखर और बटेश्वर सिद्धान्त में भी दृष्टिगोचर होता है। सिद्धान्त शिरोमणि आदि ग्रन्थों में यह क्रम नहीं है। ब्रह्मगुप्तोक्त कुट्टाकाराध्याय में बहुत से ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तरों से चित्त प्रसन्न हो जाता हैं। श्रीपति और भास्कर की अपेक्षा ब्रह्मगुप्त ने कुट्टाध्याय में अधिक विषयों का समावेश किया है। किन्तु विषय के प्रतिपादन की स्फुटता भास्करोक्ति में ही है। धन ऋण आदि के सङ्कलित व्यवकलितादि विषय भास्करोक्ति के सदृश ही ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त और सिद्धान्त शेखर में भी विद्यमान हैं। उसके पश्चात् एक समीकरण बीज है। यह भास्करोक्त एक वर्ण समीकरण बीज की अपेक्षा छोटा है। तत्पश्चात् ब्रह्मगुप्तोक्त अनेक वर्ण समीकरण बीज है। यह बहुत ही विलक्षण है। इसमें विषय भी बहुत अधिक है। भास्करोक्त अनेकवर्ण समीकरण बीज में भी बहुत विषय हैं। परन्तु सिद्धान्तशेखर में बहुत कम विषयों का उल्लेख है। ब्रह्मगुप्त की अपेक्षा भास्कर ने भावितबीज का अपने ग्रन्थ में अधिक समावेश किया है परन्तु श्रीपति ने कुछ कम। तो भी इन सबके विषयों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, केवल भास्करोक्ति में अधिक वैशद्य है।

इसके पश्चात् वर्ग प्रकृति का वर्णन है, यहाँ ब्रह्मगुप्त ने कनिष्ठ, ज्येष्ठ और क्षेप की योग भावना और अन्तरभावना का प्रतिपादन किया है। सिद्धान्तशेखर में श्रीपति ने तथा भास्कराचार्य ने अपने बीजगणित में यहीं से लेकर केवल श्लोकान्तरों में रख दिया

है। गणित क्रिया एक ही हैं। श्रीपति ने भावना का स्वरूप नहीं कहा है। वर्गात्मक प्रकृति में कनिष्ट और ज्येष्ठ के आनयन को ब्रह्मगुप्त ही से लेकर भास्कराचार्य ने अपने बीजगणित में 'इष्टभक्तो द्विधाक्षेप इष्टोनाढचो दलीकृतः' आदि श्लोकों द्वारा कहा है। परन्तु श्रीपति ने इसके विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। ब्रह्मगुप्तोक्त 'शङ्कुच्छायादि ज्ञानाध्याय' अपूर्व है। इस अध्याय में जो विषय प्रतिपादित है वह सिद्धान्त शेखर और भास्करीय सिद्धान्तशिरोमणि में नहीं है। वस्तुतः यह अध्याय दर्शनीय और पठनीय है। छन्दश्चित्युत्तराध्याय ऐसा विचित्र है; कि इसमें लिखित श्लोकों की उपपत्ति की बात तो अलग रही उनकी तो साधारण व्याख्या भी अभी तक किसी ने नहीं की। गोलाध्याय में भूगोल संस्थान, देवासुरसंथान, चक्रभ्रमणव्यवस्था, देवादिकों की रविभ्रमण स्थिति, देवों और दैत्यों का राशि संस्थान, देवादिकों का रवि दर्शन काल, भूगोल में लङ्का और अवन्ती का स्थान, आदि आदि विषय वर्णित हैं।

भूपरिधि तुर्यभागे लङ्का भूमस्तकात् क्षितितलाच्च।
लङ्कोत्तरतोऽवन्ती भूपरिधेः पञ्चदश भागे॥

के द्वारा लङ्का से भूपरिधि के पञ्चदशांश पर अवन्ती की स्थिति को आचार्य ने बतलाया हैं। परन्तु आचार्य के अनुयायी भास्कराचार्य ने सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय में 'निरक्षदेशात् क्षितिषोडशांशे भवेदवंतीं गणितेन यस्मात्' कहा है। चतुर्वेदाचार्य सम्मत पाठ 'पञ्चदशभागे' ही है। सिद्धान्त शेखर में 'सत्र्यंशरामाग्निगुणैरवन्त्याः स्याद्योजनैर्दक्षिणतो हि लङ्का' कहा गया है। श्रीपति के मत से उज्जयिनी (अवन्ती) का अक्षांश = २४° तथा भूपरिधिमान = ५००० है, अतः $\frac{\text{भूपरिधि}}{१५}$ = ३३३$\frac{१}{३}$ एतत्तुल्य लङ्का और अवन्ती के मध्य में योजनात्मक दूरी हुई। यहां 'भूपरिधेरष्टचंशेऽवन्ती स्यात् सौम्यदिग्भागे' लल्ल की इस उक्ति से तथा भास्कर की पूर्वोक्ति से उज्जयिनी का अक्षांश = २२°।३०' है, वराहमिहिराचार्य के मत से अक्षांश परमक्रान्त्यंश के बराबर = २४ है। पञ्चसिद्धान्तिका में—

प्रोद्यद्रविरमराणां भ्रमत्यजादौ कुवृत्तगः सव्यम्।
उपरिष्टाल्लङ्कायां प्रतिलोमश्चामरारीणाम्॥
मिथुनान्ते च कुवृत्तादंश चतुर्विंशतिं विहायोच्चैः।
भ्रमति हि रविरमराणां समोपरिष्टात्तदाऽवन्त्याम्॥

श्रीपति के मत से अवन्ती का अक्षांश = २४, इसके आधार पर योजमान = ३३३$\frac{१}{३}$ योजना होता है। आचार्योक्त के अनुसार ही श्रीपति के मत से भी लङ्का, उज्जयिनी के दक्षिण में परिधि के पञ्चदशांश पर स्थित है। लल्लाचार्य और भास्कराचार्य के मत से लङ्का, अवन्ती के दक्षिण में भूपरिधि के षोडशांश पर स्थित सिद्ध होती है। इस

अध्याय के बहुत से विषय सूर्यासिद्धान्त के गोलाध्याय में वर्णित विषयों के सदृश ही हैं। बीच बीच में दोनों ब्राह्मस्फुटीय गोल अध्याय तथा सूर्य सिद्धान्तीय भूगोलाध्याय में कुछ विषयान्तर भी है। सिद्धान्त शेखर के गोलाध्याम में श्रीपति ने भी कितने ही विषय आचार्योक्त विषयों के सदृश ही कहे हैं। 'यन्मूलं तद्व्यासो मण्डललिप्ताकृतेर्दशहृताया:, द्वारा श्रीपति ने भी 'व्यास: स्यात् परिधेर्वर्गाद् दिग्भक्ताच्च पदंत्विह' प्रकार के अनुकूल ३४१५ त्रिज्या स्वीकार की है। भास्कराचार्य ने 'व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते खवाण-सूर्यै:" के द्वारा परिध्यानयन का विस्तार से प्रतिपादन किया है। इसके विलोम द्वारा परिधि से व्यासानयन होता है। परन्तु व्यास से परिध्यानयन या परिधि से व्यासानयन किसी का भी ठीक नहीं है। क्योंकि व्यास और परिधि का सम्बन्ध स्थिर नहीं है। ज्या प्रकरण में जैसे चापार्धांशज्या आदि का आनयन आचार्य ने किया है वैसे ही सिद्धान्त शेखर में और सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय में किया गया है। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में चापार्धांशज्यानयनप्रकार—

तुल्यक्रमोत्क्रमज्यासमखण्डक वर्ग युति चतुर्भागम्।
प्रोह्यानष्टं व्यासार्धवर्गतस्तत्पदे प्रथमम्॥

तद्दलखण्डानि तदूनजिनसमानि द्वितीयमुत्पत्तौ।
कृतयमलैक दिगीशेषु सप्तरसगुणनवादीनाम्॥

सिद्धान्तशेखर में—

उत्क्रमक्रमसमानसमज्या खण्डवर्गयुतिवेदविभागम्।
व्यासखण्डकृतितस्तमनष्टं शोधयेदथ पदे भवतो ये॥

आद्यमूलमिह तद्दलसंख्यं तद्विहीन जिनसम्मितमन्यत्।
ज्यार्धमेवमपराणि समेभ्यो ज्यादलानि न भवन्त्यसमेभ्य:॥

सिद्धान्तशिरोमणि में—

क्रमोत्क्रमज्या कृतियोगमूलाद्दलं तदर्धांशकशिञ्जिनी स्यात्।

इस प्रकार प्रकारान्तर से भी चापार्धज्यानयन प्रकार तीनों ग्रन्थों (ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त-सिद्धान्तशेखर-सिद्धान्तशिरोमणि) में समान ही है। भास्करीय अन्त्यज्योत्पत्ति में अनेक विषयों का विशिष्ट प्रतिपादन देखने में आता है।

स्फुटगतिवासना

मन्द फल साधन में भी कर्णानुपात से जो फल होता है वही समीचीन होता है, तब कर्णानुपात न करने का कारण क्या है? यह बात अधोलिखित उक्ति से प्रकट होती है—

त्रिज्याभक्तः परिधिः कर्णगुणो बाहुकोटिगुणकारः ।
असकृन्मान्दे तत्फलमाद्यसमं नात्र कर्णोऽस्मात् ॥

सिद्धान्त शेखर में—

त्रिज्याहृतः श्रुतिगुणः परिधिर्यतो दोः
कोटयोर्गुणोमृदुफलानयनेऽसकृत्स्यात् ।
स्यान्मन्दमाद्यसममेव फलं ततश्च
कर्णः कृतो न मृदुकर्मणि तन्त्रकारैः ॥

यह श्रीपत्युक्त श्लोक आचार्योक्त श्लोक का ही अनुवाद है । भास्कराचार्य ने भी—

स्वल्पान्तरत्वान्मृदुकर्मणीह कर्णः कृतो नेति वदन्ति केचित् ।
त्रिज्योद्धृतः कर्णगुणः कृतेऽपि कर्णे स्फुटः स्यात्परिधिर्यतोऽत्र ॥
तेनाद्यतुल्यं फलमेति तस्मात् कर्णः कृतो नेति च केचिदूचुः ।
नाशङ्कनीयं न चले किमित्थं यतो विचित्रा फल वासनाऽत्र ॥

यहाँ कर्ण से जो फल आता है वही समीचीन है । मन्द कर्म में स्वल्पान्तर से कर्णानुपात नहीं किया गया है, यह कहते हैं मन्दकर्म में मन्दकर्ण तुल्य व्यासार्ध से जो वृत्त होता वह कक्षावृत्त है । जो पाठ पठित मन्द परिधि है वह त्रिज्या परिणत है । अतः उसको कर्ण व्यासार्ध में परिणामन करते हैं, यदि त्रिज्यावृत्त में यह पाठ पठित परिधि पाते हैं, तो कर्णवृत्त में क्या इससे स्फुट परिधि होती है । 'तत्र स्वेनाहते परिधिना भुजकोटिजीवे' इत्यादि से जो फल होता है उसको त्रिज्या से गुणा कर कर्ण से भाग देने जो उपलब्ध होता है तो वह पूर्व फल के तुल्य ही होता है । यह आचार्य ब्रह्मगुप्त का मत है । यदि इस कर्णानुपात से परिधि की स्फुटता होती है तो शीघ्रकर्म में क्यों नहीं किया जाता है ? यहाँ चतुर्वेदाचार्य कहते हैं कि ब्रह्मगुप्त ने औरों को ठगने के लिग ऐसा कहा है, परन्तु यह ठीक नहीं है । शीघ्रकर्म में क्यों नहीं किया जाता, यह आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि फल की उपपत्ति विचित्र है ।

ग्रहणवासना — छादक का निर्णय करके राहुकृत ग्रहण नहीं होता है । यह आचार्य ने प्रथम वराह-मिहिरादिकों के मत का प्रतिपादन किया फिर संहितामत का अवलम्बन कर, उस (वराह मिहिरादिक) मत का निराकरण किया है ।

राहुकृतं ग्रहणद्वयमागोपालाङ्गनादिसिद्धमिदम् ।
बहुफलमिदमपि सिद्धं जपहोमस्नानफलमत्र ॥

इसे लोक प्रथा बताकर राहुकृत ग्रहण के समर्थन में आचार्य ने वेद और स्मृति के वाक्यों का उल्लेख किया है । युक्ति से राहुकृत ग्रहण सिद्ध नहीं होता है, परन्तु वेदों में,

स्मृतियों में और पुराणों में राहुकृत ग्रहण का प्रतिपादन विद्यमान है। अतः दोनों मतों का समन्वय करते हुए आचार्य ने कहा है—

राहुस्तच्छादयति प्रविशति यच्छुक्लपञ्चदश्यन्ते ।
भूछाया तमसीन्दोर्वरप्रदानात् कमलयोनेः ॥

चन्द्रोऽम्बुमयोऽधःस्थो यदग्निमयभास्करस्य मासान्ते ।
छादयति शमिततापो राहुश्छादयति तत् सवितुः ॥

सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में भी अधोलिखित भास्करोक्ति—

दिग्देशकालावरणादि भेदान्न छादको राहुरिति ब्रुवन्ति ।
यन्मानिनः केवलगोलविद्यास्तत्संहिता वेदपुराणबाह्यम् ॥

राहुः कुभामण्डलगः शशाङ्कं शशाङ्कगश्छादयतीव बिम्बम् ।
तमोमयः शम्भुवरप्रदानात् सर्वागमानामविरुद्धमेतत् ॥

से समन्वय किया गया है। सिद्धान्तशेखर में राहुकृत ग्रहण के खण्डनार्थ 'राहुनिराकरणाध्याय' नाम का एक अध्याय रक्खा गया है। इसमें श्रीपति ने भी निम्नलिखित श्लोकों ने समन्वय किया है—

विष्णुलूनशिरसः किल पङ्गोर्दत्तवान् वरमिमं परमेष्ठी ।
होमदानविधिना तवतृप्तिस्तिग्मशीतमहसोरुपरागे ॥

भूमेश्छायां प्रविष्टः स्थगयति शशिनं शुक्लपक्षावसाने ।
राहुर्ब्रह्मप्रसादात् समधिगतवरस्तत्तमो व्यासतुल्यः ॥

ऊर्ध्वस्थं भानुबिम्बं सलिलमयतनोरप्यधोवर्त्ति बिम्बम् ।
संसृत्यैवं च मासव्युपरतिसमये स्वस्य साहित्यहेतोः ॥

गोलबन्धाधिकार में महद्वृत्तों (पूर्वापरवृत्त, याम्योत्तरवृत्त, क्षितिजवृत्त आदि) की रचना तथा लघुवृत्तों (मेषादिक द्वादश राशियों के अहोरात्रवृत्त) की रचना करके परमलम्बन-नति का स्वरूप प्रतिपादन कर आचार्य ने दृक्कर्म का आनयन किया है। ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में आचार्य ने जैसे गोलबन्ध कहा है वैसे ही सिद्धान्त शेखर में श्रीपति और सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय में भास्कराचार्य ने कहा है। ग्रहगोल और नक्षत्रगोल में पांच स्थिरवृत्त (पूर्वापरवृत्त, क्षितिजवृत्त, याम्योत्तरवृत्त, उन्मण्डल, विषुवद्वृत्त) कहे हैं। ये सब कक्षामण्डल के बराबर हैं। तथा ग्रहों के चलवृत्त मन्दनीचोच्चवृत्त=७, भौमादि ग्रहों के शीघ्रनीचोच्चवृत्त=५। मन्दप्रतिवृत्त=७, शीघ्रप्रतिवृत्त=५। सात ग्रहों के दृग्मण्डल दृक्क्षेप

गोलाध्याय

मण्डल, कक्षामण्डल = २१ चन्द्रादि ग्रहों के विमण्डल = ६, सबों का योग ५१ एकावन चलवृत्तों की संख्या है। सिद्धान्तशेखर में भी ऐसा ही है—

मन्दोच्चनीचवलयानि भवन्ति सप्तशैघ्रचारिणि, पञ्च च तथा प्रतिमण्डलानि।
दृक्क्षेप दृष्टयपमजानि च खेचराणामर्कं विनैव खलु षट् च विमण्डलानि।।

पञ्चाशदेकसहितानि च मण्डलानि पूर्वापरं वलयमुत्तरदक्षिणगं च।
क्ष्माजं तथा विषुवदुद्वलयाभिधाने पञ्चस्थिराणि कथितान्युडुखेचराणाम्।।

यन्त्राध्याय—

सप्तदश कालयन्त्राण्यतो धनुस्तुर्यगोलकं चक्रम्।
यष्टि: शङ्कुर्घटिका कपालकं कर्त्तरी पीठम्।।

सलिलं भ्रमोऽवलम्ब: कर्णश्छायादिनार्धमर्कोऽक्ष:।
नतकालज्ञानार्थं तेषां संसाधनान्यष्टौ।।

इससे धनुर्यन्त्र, तुरीययन्त्र, चक्रयन्त्र, यष्टियन्त्र, शङ्कुयन्त्र, घटी यन्त्र, कपालयन्त्र, कर्त्तरीयन्त्र, पीटसंज्ञक (फलक) यन्त्र, सलिल (जल), भ्रम (शाण), अवलम्बसूत्र, छाया-कर्ण, शङ्कुछाया, दिनार्धमान, सूर्य, अक्षर (अक्षांश), ये नतकाल के लिए सत्रह काल यन्त्र हैं। इन यन्त्रों में सलिल आदि आठ यन्त्र रचना के उपकरण हैं! सिद्धान्त-शेखर में—

गोलश्चक्रं कार्मुकं कर्त्तरी च कालज्ञाने यन्त्रमन्यत्कपालम्।
पीठं शङ्कु: स्याद्घटी यष्टिसंज्ञं गन्त्री यन्त्राण्यत्र दिक्संमितानि।।

इससे गोलयन्त्र, चक्रयन्त्र, धनुर्यन्त्र, कर्त्तरी नामक यन्त्र, कपालयन्त्र, पीठ (फलक) यन्त्र, शङ्कुनामक यन्त्र, घटी नामक-यन्त्र, यष्टियन्त्र, गन्त्री (शकट) ये श्रीपति द्वारा वर्णित दस यन्त्र हैं। शिष्यधीवृद्धिदतन्त्र में अधो लिखित बारह यन्त्रों का उल्लेख है—

गोलो भगणश्चक्रं धनुर्घटी शङ्कुशकटकर्त्तर्य:।
पीठकपालशलाका द्वादशयन्त्राणि सहयष्टया।।

कर्णश्छाया द्युदलं रविरक्षो लम्बको भ्रम: सलिलम्।
स्युर्यन्त्रसाधनानि प्रज्ञा च समुद्यमाश्चैवम्।।

भास्कराचार्य ने गोलाध्याय में केवल दस यन्त्र कहे हैं—

गोलो नाडीवलयं यष्टि: शङ्कुर्घटीचक्रम्।
चापं तुर्यं फलकं धीरेकं पारमार्थिकं यन्त्रम्।।

सूर्य सिद्धान्त में अधो लिखित यन्त्र विवरण है—

तुङ्गबीजसमायुक्तं गोलयन्त्रं प्रसाधयेत् ।
गोप्यमेतत्प्रकाशोक्तं सर्वगम्यं भवेदिह ।।

कालसंसाधनार्थाय तथा यन्त्राणि साधयेत् ।
एकाकी योजयेद्बीजं यन्त्रे विस्मय कारिणि ।।

शङ्कुयष्टि धनुश्चक्रैश्छायायन्त्रैरनेकधा ।
गुरुपदेशाद्विज्ञेयं कालज्ञानमतन्द्रितैः ।।

तोययन्त्रकपालाद्यैर्मयूरनरवानरैः ।
ससूत्ररेणुगर्भैश्च सम्यक्कालं प्रसाधयेत् ।।

परदाराम्बुसूत्राणि शुल्वतैलजलानि च ।
बीजानि पांसवस्तेषु प्रयोगास्तेऽपि दुर्लभाः ।।

ताम्रपात्रमधश्छिद्रं न्यस्तं कुण्डेऽमलाम्भसि ।
षष्टिर्मज्जत्यहोरात्रे स्फुटं यन्त्रं कपालकम् ।।
नरयन्त्रं तथा साधु दिवा च विमले रवौ ।
छाया संसाधनैः प्रोक्तं कालसाधनमुत्तमम् ।।

मानाध्याय

मानानि सौरचान्द्रार्क्षसावनानि ग्रहानयनमेभिः ।
मानैः पृथक् चतुर्भिः संव्यवहारोऽत्र लोकस्य ।।

इससे सौरमान, चान्द्रमान, नाक्षत्रमान और सावनमान, ये चार प्रकार के मान कहे गये हैं। इन्हीं चारों मानों से लोगों के सब व्यवहार होते हैं। किस किस मान से कौन कौन पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं यह सब प्रति पादित है। ब्राह्म, दिव्य, पित्र्य, प्राजापत्य, बार्हस्पत्य, सौर, सावन, चान्द्र, नाक्षत्र ये नौ मान हैं। इन मानों में से मनुष्यलोक में केवल सौर, चान्द्र, सावन और नाक्षत्र इन चार मानों की ही प्रधानता है। क्योंकि इन्हीं मानों से मनुष्यों के सब व्यवहार सम्पन्न होते हैं। सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्तशेखर, सिद्धान्त-शिरोमणि आदि सब ग्रन्थों में मानों के विषय में समान रूप से कहा गया है। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के इस अध्याय में भूभादैर्घ्य के भी साधन है।

संज्ञाध्याय में संज्ञा कहने के कारण दर्शाये हैं। सिद्धान्त इसका एक ही है। किस अंश में सूर्यसिद्धान्तादि भिन्न हैं। इसका प्रतिपादन कर आचार्य ने अपने सिद्धान्त के उत्तरार्ध में अनुक्रमणिका कही है। सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्तशेखर आदि

संज्ञाध्याय

अन्य सिद्धान्तग्रन्थों में संज्ञाध्याय नहीं हैं वस्तुतः इसकी आवश्यकता भी नहीं है। अध्याय के उपसंहार से पूर्व एक विशेष प्रश्न—

आग्नेये नैर्ऋत्ये वेष्टदिने संस्थितस्य योऽर्कस्य ।
शङ्कुच्छाये कथयति वर्षादपि वेत्ति सूर्यं सः ।।

रक्खा हुआ है। इसका उत्तर कोणशङ्कु के आनयन से स्फुट है।

ध्यान ग्रहोपदेशाध्याय-मूल ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त का अंग नहीं है। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त तो चौबीसवें (संज्ञाध्याय) अध्याय पर समाप्त हो जाता है। ध्यान ग्रहोपदेशाध्याय भी ब्रह्मगुप्त की ही एक कृति हैं। अतः परिशिष्ट के रूप इसे यहाँ संलग्न कर दिया गया है।

ध्यानग्रहोपदेशाध्यात्र

इसके चैत्रादि में मासगणानयन, चैत्रादि में दिनादिक, तिथिध्रुवसाधन, इद्रमासादि में रवि के आनयन प्रकार, प्रतिमास में चन्द्रकेन्द्र, तिथि ध्रुवक्षेप के आनयन का प्रतिपादन है। प्रतिदिन चालन, चन्द्रसाधन, औदयिक रविसाधन, ज्याखण्ड तथा केन्द्रज्या साधन का वर्णन है—

त्रिंशत्सनवरसेन्दुर्जिनतिथिविषयागृहार्धचापानाम् ।
अर्धज्याखण्डानि ज्याभुक्तैक्यं स भोग्यफलम् ।।
गतभोग्यखण्डकान्तर दलविकलवधाच्छतैर्नवभिराप्तैः ।
तद्युतिदलं युतोनं भोग्यादूनाधिकं भोग्यम् ।।

यह आचार्योक्त भोग्यखण्ड स्पष्टीकरण है। भास्कराचार्य ने इसी को सिद्धान्तशिरोमणि के स्पष्टाधिकार में "यातैष्ययोः खण्डकयोर्विशेषः शेषांशनिघ्नः" इत्यादि द्वारा लिखा है। भास्कराचार्य ने १२० त्रिज्या ग्रहण की हैं। यहाँ आचार्य ब्रह्मगुप्त ने १५० त्रिज्या ग्रहण को हैं। यहाँ यह बात बड़ी विचित्र लगती है कि आचार्योक्त विषयों को ही सिद्धान्त शेखर में श्रीपति ने सर्वत्र श्लोकान्तरों में लिखा है, परन्तु पता नहीं क्यों उन्होंने आचार्योक्त इस अपूर्व भोग्य खण्ड स्पष्टीकरण की चर्चा तक नहीं की। चन्द्र में भुजफल संस्कार, तिथि फलसंस्कार आदि सभी विषय विलक्षण है। आचार्य ने इस अध्याय में जो विषय लिख दिये हैं, सूर्यसिद्धान्त-सिद्धान्तशेखर- तथा सिद्धान्त शिरोमणि में वे नही हैं।

ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में जिन आचार्यों के नाम आये हैं। उनके सम्वन्ध में कुछ विचार करते हैं। सव सिद्धान्तों में आदिम या सबसे प्राचीन सिद्धान्त ब्रह्मसिद्धान्त ही है। इसी को लोग पितामह सिद्धान्त के नाम से भी कहते हैं। पञ्चसिद्धान्त का में वराहमिहिर ने बारहवें अध्याय को जिसमें केवल पांच आर्याएँ हैं, पैतामह सिद्धान्त के नाम से पुकारते हैं, उदाहरणतः—

रविशशिनोः पञ्चयुगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि ।
अधिमासस्त्रिंशद्भिर्मासैरवमस्त्रिषष्ट्याऽह्नम् ।।१।।

द्वयूनं शकेन्द्रकालं पञ्चभिरुद्धृत्य शेषवर्षाणाम् ।
द्विगुणमाद्यसिताद्यं कुर्याद् द्युगणं तदह्नयुदयात् ॥२॥
सैकषष्ट्यंशे गणे तिथिर्भमार्कं नवाहतेऽक्ष्यर्कैः ।
दिग्रसभागैः सप्तभिरूनं शशिभं धनिष्ठाद्यम् ॥३॥
*...

द्वयग्निनगेषूत्तरतः स्वमितमेष्यदिनमपि याम्यायनस्य ।
द्विघ्नं शशिरसभक्तं द्वादशहीनं दिनसमानम् ॥५॥

इसके अनुसार एक युग में सौर वर्ष = ५, सौरमाह ५ × १२ = ६०, अधिमास = २, चान्द्रमास = ६२, इसे तीस से गुणा करते से तिथि = १८६०, अवम = ३०, तिथियों में से इसे घटाने पर अहर्गण = १८३० ॥

आचार्य वराहमिहिर विक्रमादित्य के प्रसिद्ध नव रत्नों में से एक थे। इनके द्वारा बने ग्रन्थ 'लघुजातक, बृहज्जातक, विवाहपटल, बृहद्योगयात्रा, बृहत्संहिसा, समास संहिता और पञ्चसिद्धान्तिका है।

पौलिश सिद्धान्त, रोमक सिद्धान्त, वासिष्ठ सिद्धान्त, सौर (सूर्य) सिद्धान्त, और पैतामह सिद्धान्त, इन पाञ्च सिद्धान्तों के सार का संकलन रूप 'पञ्चसिद्धान्तिका' है। इस ग्रन्थ को को वराह मिहिराचार्य 'ताराग्रह कारिका तन्त्र' के नाम से पुकारते हैं। इस ग्रन्थ (पञ्चसिद्धान्तका) में 'पौलिश सिद्धान्त' नाम का एक अध्याय है। पौलिश सिद्धान्त के रचयिता के सम्बन्ध में बहुत मतमतान्तर हैं। वराहोक्त पौलिशसिद्धान्त में यवनपुर से उज्जयिनी का और वाराणसी का देशान्तर उल्लिखित है, जैसे—

यवनाच्चरजा नाड्यः सप्तावन्त्यां त्रिभागसंमिश्राः ।
वाराणस्यां त्रिकृतिः साधनमन्यत्र वक्ष्यामि ॥

शाकल्य संहितोक्त ब्रह्मसिद्धान्त में पौलिश सिद्धान्त का उल्लेख तथा पुलिशाचार्य के—

उज्जयिनी रोहीतक कुरुयमुना हिमनिवासमेरूणाम् ।
देशान्तरं न कार्यं तल्लेखामध्यसंस्थदेशेषु ॥

आदि विचार से 'पौलिश सिद्धान्त' सर्वमान्य था। परन्तु यह सिद्धान्त अभी उपलब्ध नहीं है।

सूर्य सिद्धान्त ही प्राचीनतम सिद्धान्त ग्रन्थ है, यह बहुत विद्वानों का मत है।

---

*प्रागर्धे पर्व यदा तदोत्तराऽतोऽन्यथ तिथिः पूर्वा ।
अर्कघ्ने व्यतिपाताद्युगणे पञ्चाम्बरहुताशैः ॥४॥

केचित् प्रत्यक्षसूर्याच्च भिन्नोऽयमिति यद्बलात् ।
वदन्ति मूढवादस्याप्रामाण्यात्तदसद्ध्रुवम् ॥

कमलाकर की इस उक्ति से स्वयं भगवान् सूर्य ही इस के रचयिता सिद्ध होते हैं । आश्चर्य तो इस बात का है कि 'सूर्यसिद्धान्त में—

त्रिंशत्कृत्यो युगे भानां चक्रं प्राक् परिलम्बते ।
तद्गुणाद्भूदिनैर्भक्ताद् द्युगणाद्यदवाप्यते ॥
तद्दोस्त्रिघ्ना दशाप्तांशा विज्ञेया अयनाभिधाः ।
तत्संस्कृताद् ग्रहात् क्रान्तिच्छायाचरदलादिकम् ॥

आदि से अयांशानयन किया गया है, परन्तु सूर्य सिद्धान्त के पश्चात् ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त के रचयिता आचार्य ब्रह्मगुप्त ने उसकी कोई चर्चा ही नहीं की । इस चर्चा न करने का कोई कारण भी समझ में नहीं आता है । सूर्यसिद्धान्त के उदयास्ताधिकार में "अभिजिद् ब्रह्म हृदयं स्वाती वैष्णव वासवाः" इत्यादि से भगवान् सूर्य को सदोदित नक्षत्र बतलाया गया हैं। इस श्लोक की सुधावर्षिणी टीका में जो—

देशज्ञानं बिना सदोदितनक्षत्राणां ज्ञानं न भवति, निरक्षे च सौम्य ध्रुवोऽप्य-दृश्योऽतः केनचिद् गोलानभिज्ञेनायं श्लोक प्रक्षिप्त इति लिखा गया है, सो ठीक नहीं है । पाताधिकार में—

आद्यन्तकालयोर्मध्यः कालोज्ञे योऽतिदारुणः ।
प्रज्वलज्ज्वलनाकारः सर्वकर्मसु गर्हितः ॥
एकायनगतं यावदर्केन्द्वोर्मण्डलान्तरम् ।
सम्भवस्तावदेवास्य सर्वकर्म विनाशकृत् ॥
स्नानदानजपश्राद्धव्रतहोमादिकर्मभिः ।
प्राप्यते सुमहच्छ्रेयस्तत्कालज्ञानतस्तथा ॥

इत्यादि से पातस्थितिकाल सब कर्मो का विनाशकारक कहा गया है । पातकाल में स्नान, दान, जप, श्राद्ध, व्रत, होम आदि कार्यों से लोग कल्याण लाभ करते हैं । तथा—

रवीन्द्वोस्तुल्यता क्रान्त्योर्विषुवत्सन्निधौ यदा ।
द्विर्भवेद्धि तदा पातः स्यादभावो विपर्ययात् ॥

से अपूर्व विषयों का प्रति पादन हुआ है । अर्थात् रविगोल-संधि समीप में जब रवि और चन्द्र का क्रान्तिसाम्य हो तब अल्प समय में ही दो बार पात होता है । जब रवि की अयनसन्धि समीप में क्रान्ति साम्याभाव होता तब बहुत कालपर्यन्त क्रान्ति साम्याभाव होता है, ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में भी पातस्थिति काल फल सूर्य सिद्धान्त में कथित के अनु-

ही कहा गया है। श्रीषेण, आर्यभट तथा विष्णुचन्द्र के विषय में संक्षेपरूप से पहले लिख चुके हैं !

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के अध्यक्ष डाक्टर सत्य प्रकाश जी डी. एस. सी महोदय का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूं, जिन्होंने आंगल भाषा में इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिख कर कृतार्थ किया।

सम्पादक मण्डल के अन्य सहयोगी ज्योतिषाचार्य श्री मुकुन्दमिश्र, श्री विश्वनाथ झा, श्री दयाशंकर दीक्षित एवं श्री ओंदत्तशर्मा शास्त्री एम. ए. एम. ओल. भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके सहयोग के बिना इस महान् ग्रन्थ का सम्पादन अति कठिन था।

नव प्रिंटर्स पद्म श्री प्रकाशन के स्वामी श्री रमेशचन्द्र जी का परिश्रम भी सराहनीय है। इसके अतिरिक्त उन सभी लोगों के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार प्रदर्शन करता हूं जिन्होंने अल्पमात्र भी सहयोग देकर मुझे कृतार्थ किया।

भृगु-आश्रम
३०-३-१९६६

विदुषामनुचर
रामस्वरूप शर्मा:

विषयानुक्रमणिका

परिशिष्ट

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

शृंगोन्नत्युत्तराध्यायः

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

७

शृंगोन्नत्युत्तराध्यायः

अथ शृङ्गोन्नत्युत्तराध्यायः प्रारभ्यते ।

अथ प्रश्नमाह ।

भुजकोटिकर्णशशिमानशुक्लसितसूत्रपरिलेखात् ।
प्रतिदिवसं प्रतिघटिकं यो वेत्ति स तन्त्रहृदयज्ञः ॥१॥

सु. भा.—शृङ्गोन्नतौ प्रतिदिवसं वा प्रतिघटिकं यो भुजं कोटिं कर्णं शशिमाने चन्द्रबिम्बे शुल्कं सितसूत्रं स्वभासूत्रं परिलेखं च वेत्ति स एव तन्त्रहृदयज्ञः सिद्धान्तग्रन्थमर्मज्ञ इति ॥ १ ॥

वि. भा.—प्रतिदिनं प्रतिघटिकं भुजं कोटिं कर्णं चन्द्रबिम्बे शुक्लं सितसूत्रं (स्वभासूत्रं) परिलेखं च शृंङ्गोन्नतौ यो जानाति स सिद्धान्तग्रन्थमर्मज्ञ इति । शृंङ्गोन्नत्यधिकारे पूर्वं भुजादयः साधिता एवातः परिलेखमत्र कथयति ॥१॥

अब शृंङ्गोन्नत्युत्तराध्याय प्रारम्भ किया जाता है ।

अब प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा—प्रत्येक दिन में प्रत्येक घटी में भुज–कोटि-कर्णों को चन्द्रबिम्ब में शुक्ल को, स्वभा सूत्र को, परिलेख को, शृंङ्गोन्नति में जो जानते हैं वे सिद्धान्तग्रन्थ के मर्मज्ञ हैं इति । शृङ्गोन्नत्यधिकार में पहले भुजादि साधित ही हैं । इसलिये यहां परिलेख ही को कहते हैं ॥१॥

इदानीं परिलेखमाह ।

प्राच्यपरा दिगभिमुखं शुक्लेतरपक्षयोर्लिखेद् भूमौ ।
अपवर्त्यैकेनेष्टेन राशिना कोटिभुजकर्णान् ॥२॥

परिकल्प्यार्कं बिन्दुं तस्माद्बाहुं यथादिशं दत्त्वा ।
बाह्वग्रात् प्राच्यपरां कोटिं तिर्यक् स्थितं कर्णम् ॥३॥
कर्णाग्रे चन्द्रमसं परिलिख्य सितं प्रवेश्य कर्णेन ।
शशिबिम्बे शुक्लाग्रात् परिलेखसमेन सूत्रेण ॥४॥
कर्णगतिस्थे नैशे शुक्ले परिलिख्य पश्चिमाभिमुखम् ।
राशिषु मेषतुलादिषु संशोध्य दिवाकरं चन्द्रात् ॥५॥
पूर्वाभिमुखं कर्कटमकरादिषु भवति शुक्लसंस्थानम् ।
एवं वा संस्थानं परिलिख्येन्दुं प्रसाध्य दिशिः ॥६॥

सु. भा.—एकेनेष्टेन राशिना प्रथमं कोटिभुजकर्णानपवर्त्य भूमौ शुक्लकृष्ण-पक्षयोः प्राच्यपरादिगभिमुखं लिखेत् । कथं लिखेदित्याह—परिकल्प्यार्कं बिन्दु-मिति—इष्टं बिन्दुमर्कं परिकल्प्य तस्माद्यथादिशं बाहुं बाह्वग्राद्यथादिशं प्राच्यपरां कोटिं तयोर्मध्ये तिर्यक् कर्णं च दत्त्वा कर्णाग्रे चन्द्रमसं परिलिख्य तत्र कर्णेन कर्णमार्गेण शशिबिम्बे सितं शुक्लं प्रवेश्य दत्त्वा ततः शुक्लाग्रात् परिलेखसमेन सूत्रेण स्वभासमेन मानेन कर्णेऽङ्कनं कृत्वा तत् केन्द्रात् स्वभया वृत्तं परिलिख्य कर्णगतिस्थे नैशे रात्रिसम्बन्धिनि शुक्ले शुक्लसंस्थानं भवति । शुक्लाग्रं कस्यां दिशि कर्णसूत्रे दत्त्वा परिलेखं कुर्यादित्याशङ्क्याह राशिषु मेषतुलादिष्विति । चन्द्राद्दिवाकरं विशोध्य शेषं कार्यम् । मेषादिराशित्रये तुलादिराशित्रये च शेषे पश्चिमाभिमुखं कर्कटादिराशित्रये मकरादिराशित्रये च शेषे पूर्वाभिमुखं शुक्लं देयमिति । एवं वा संस्थानमित्यस्याग्रे संबंधः ।

अत्रोपपत्तिः । 'यद्याम्योदक्तपनशशिनोरन्तरं सोऽत्र बाहुः'—इत्यादिना 'सूत्रेण बिम्बमुडुपस्य षडङ्गुलेन'—इत्यादिना च भास्करविधानेन ज्ञेया । यदा-ऽन्तरं राशित्रयाल्पं तदा शुक्लमानं च चन्द्रबिम्बार्धादल्पमतः शुक्लाङ्गुलं पश्चिमाभिमुखं कर्णसूत्रे दत्त्वा तस्मात् स्वभासूत्रेण परिलेखवृत्ते कृते शुक्लेन्दु-खण्डाकृतिरुत्पद्यते । यदा तदन्तरं तुलादित्रये तदा कृष्णं बिम्बार्धादल्पं तद्वशेनापि पश्चिमाभिमुखं युक्तम् । एवं कर्कटादित्रयेऽपि कृष्णेन्दुखण्डाकृतिर्मकरादिषु च मासस्य तुर्यचरणे शुक्लशृङ्गोन्नतिरुत्पद्यते तत्र पूर्वाभिमुखं शुक्ल संस्थानं भवति । अत्र का का स्थूलता वास्तवपरिलेखसाधनं च कथमित्येतदर्थं मत्कृता वास्तवचन्द्र-शृङ्गोन्नतिर्द्रष्टव्या ॥ २-६ ॥

वि. भा.—एकेनेष्टेन राशिना कोटिभुजकर्णानपवर्त्य भूमौ शुक्लकृष्ण-पक्षयोः पूर्वापरदिगभिमुखं लिखेत्, कथं लिखेदिति कथयति । इष्टं बिन्दुरविं परि-कल्प्य तस्माद् भुजं दत्वा भुजाग्राद्यथा दिशं पूर्वापरां कोटिं तयोर्मध्ये तिर्यक् कर्णं च दत्वा कर्णाग्रे चन्द्रबिम्बं विलिख्य तत्र कर्णमार्गेण चन्द्रबिम्बे शुक्लं दत्वा शुक्ला-

ग्रात् परिलेखतुल्येन सूत्रेण (स्वभा) समेन मानेन कर्णोऽङ्कनं कृत्वा तत्केन्द्रात् स्वभया वृत्तं परिलिख्य कर्णागतिस्थे रात्रिसम्बन्धिनि शुक्ले शुक्ल संस्थानं भवति शुक्लाग्रं कस्यां दिशि कर्णसूत्रे दत्वा परिलेखं कुर्यादित्याह। चन्द्रात्सूर्यं विशोध्य शेषं ग्राह्यम्। मेषादिराशित्रये तुलादिराशित्रये च शेषे पश्चिमाभिमुखं कर्कटादिराशित्रये मकरादिराशित्रये च शेषे पूर्वाभिमुखं शुक्लं देयमिति। एवं वा संस्थान मित्यस्याग्रे सम्बन्धः ॥

अत्रोपपत्ति :

यदा रविचन्द्रयोरन्तरं राशित्रयाल्पं तदा शुक्लमानं च चन्द्र बिम्बार्धदिल्पमतः शुक्लाङ्गुलं कर्णसूत्रे पश्चिमाभिमुखं दत्वा तस्मात् स्वभासूत्रेण परिलेखवृत्ते कृते शुक्लचन्द्र खण्डाकृतिर्जायते। यदा तदन्तरं तुलादिराशित्रये तदा कृष्णं बिम्बार्धदिल्पं तद्वशेनापि पश्चिमाभिमुखं युक्तम्। एवं कर्कटादित्रयेऽपि कृष्णचन्द्रखण्डाकृतिः। मकरादिषु मासस्य चतुर्थचरणे शुक्लशृङ्गोन्नतिरुत्पद्यते तत्र पूर्वाभिमुखं शुक्ल संस्थानं भवतीति। सिद्धान्तशेखरे "आदर्शोदरसोदरेऽवनितले बिन्दुं प्रकल्प्योष्णगुं स्वाशायां भुजमुत्तरेतरदिशं कोटिं तदग्रात्ततः। प्राक्चन्द्रेऽपरदिङ्मुखीमपरगे पूर्वायतां दापयेत् दोः कोट्यग्रगतां श्रुतिं शशिवपुः कोटिश्रवः संयुतौ ॥ शुक्लं च श्रुति सूत्रगाम्यपरतः शुक्लेऽसिते पूर्वतः कृष्णं व्यत्ययतोऽल्पकेन कृतयोः कार्यं परीलेखनम्। शुक्लाग्रात् परिलेखसूत्रविहिते वृत्तभ्रमे जायते संस्थानं नभसः स्थले प्रतिदिशं चण्डीशचूडामणेः ॥" अस्यार्थ :—आनीतं शुक्लमानं शुक्लपक्षे पश्चिमबिन्दोः कर्णसूत्रमार्गेण देयम्। कृष्णपक्षे पूर्वबिन्दोर्देयम्। कृष्णमानं व्यत्ययात् शुक्लपक्षे पूर्वबिन्दोः कृष्णपक्षे पश्चिमबिन्दोरित्यर्थः। आनीतयोः शुक्लकृष्णयोर्मध्ये न्यूनपरिमाणेन परिलेखनं कार्यम्। शुक्लकृष्णयोर्मध्ये योऽल्पस्तेनैव शृङ्गोन्नतिज्ञानार्थं परिलेखः कर्त्तव्य इति। शुक्लाग्रात् परिलेखसूत्रेण कृते वृत्ते चन्द्रस्य प्रतिदिशमाकाशस्य संस्थानं भूमौ ज्ञायते। शिष्यधीवृद्धिद तन्त्रे "यच्चिह्नं समभुवि भानुमान् स तस्मात् दातव्यः स्वदिशि भुजस्ततोऽपि कोटिः। प्रागिन्दावपरककुप्मुखी प्रतीच्यां प्रागग्रा दिनकरचिह्नतश्च कर्णः ॥ श्रवणकोटियुतौ शशिमण्डलं श्रवणसूत्रमिहापरपूर्वकम्। झषवशेन च शेषदिशौ ततः खटिकया सुपरिस्फुटमालिखेत् ॥ अपरतः श्रवणेन सितं नयेदसितमप्यसिते सितदीधितौ। धनददिग्भवदक्षिणदिग्भवैः परिधिभिर्जनयेच्च झषद्वयम् ॥ तिमिभवमुखपुच्छसक्तरज्ज्वोर्भवति च यत्र समागमः प्रदेशे। तत उडुपतिशुक्लचिन्हलग्नं समभिलिखेत् सितसिद्धये सुवृत्तम् ॥" लल्लोक्त प्रकार ईदृशोऽस्ति। सर्वेषां ब्रह्मगुप्त-लल्ल-श्रीपति-भास्कराचार्याणां शृङ्गोन्नति परिलेखः समान एव। सूर्य सिद्धान्ते "दत्वाऽर्क संज्ञितं बिन्दुं ततो बाहुं स्वदिङ्मुखम्। ततः पश्चान्मुखीं कोटिं कर्णं कोट्यग्रमध्यगम् ॥ कोटिकर्णं युताद्बिन्दोर्बिम्बं तात्कालिकं लिखेत्। कर्णसूत्रेण दिक् सिद्धि प्रथमं परिकल्प-

येत् ।। शुक्लं कर्णेन तद्बिम्बयोगादन्तमुखं नयेत् । शुक्लाग्रयाम्योत्तरयोर्मध्ये मत्स्यौ प्रसाधयेत् ।। तन्मध्यसूत्रसंयोगाद्बिन्दुत्रिस्पृग् लिखेद्धनुः । प्राग्बिम्बं यादृगेव स्यात् तादृक् तत्र दिने शशी ।। कोट्यादिक् साधनात् तिर्यक् सूत्रान्ते शृङ्ग-मुन्नतम् । दर्शयेदुन्नतां कोटिं कृत्वा चन्द्रस्य साकृतिः ।। कृष्णे षड्भयुतं सूर्यं विशो-ध्येन्दोस्तथा सितम् । दद्याद्वामं भुजं तत्र पश्चिमं मण्डलं विधोः ।।" ईदृशः परिलेख-विधिरस्ति ।।

अत्रोपपत्तिः ।

रविकेन्द्राद्याम्योत्तरवृत्तधरातले लम्बं कृत्वा लम्बमूले रविः कल्पितः । एवं चन्द्रकेन्द्राद्याम्योत्तरवृत्तधरातले यो लम्बस्तन्मूले चन्द्रः कल्पितः । ततो याम्योत्तर-वृत्तधरातले कल्पितरविचन्द्रयोर्याम्योत्तरमन्तरं तद् भुजयोः संस्कारात् स्पष्ट-भुजतुल्यम् । सूर्यस्यास्तकाले क्षितिजे स्थितत्वात् कल्पितरवियाम्योत्तरवृत्तधरातले याम्योत्तररेखायामेव भविष्यत्यतस्तयोरूर्ध्वाधरमन्तरं कोटिरूपं चन्द्रशङ्कुसमम् । तत्र परिलेखे लाघवार्थं शङ्कुद्वादशांशेन शङ्कुर्भुजस्तद्वर्गयोगमूलसमः कर्णश्चा-पवर्त्तितः । अतो रविबिन्दुतो भुजं दत्वा तदग्रादूर्ध्वाधररूपां कोटिं दत्वा कोटयग्र-रविबिन्दुगतं कर्णसूत्रं दत्तम् । कोटयग्रे कल्पितचन्द्रबिम्बं तत्र कल्पितरविः कर्णमार्गेण शुक्लं ददाति । अतस्तत्सूत्रे शुक्लं दत्तम् । कर्णरेखोपरि या याम्योत्तरा तिर्यग्रेखा तया छिन्नमर्धं बिम्बं रविणा शुक्लं भवति । अतो दृश्यवृत्ते तत्प्रान्तयोश्च शुक्लम् । अतस्तद्बिन्दुत्रयोपरिगतेन वृत्तखण्डेन चन्द्रखण्डाकृतिरुत्पद्यते । अत्र कोट्यूर्ध्वाधररेखोपरि या तिर्यग्रेखा तद्वशतो भुजान्यदिशि शृङ्गमुन्नतं भवति । एवमेव परिलेखो भास्कराचार्यस्याप्यस्ति । परन्तु केषामपि प्राचीनाचार्याणां शृङ्गोन्नतिपरिलेखः समीचीनो नास्तीति ।।२–६।।

अब परिलेख को कहते हैं ।

हि. भा.—एक किसी इष्ट राशि से भुज कोटि और कर्ण को अपवर्त्तन देकर भूमि में शुक्ल पक्ष और कृष्णपक्ष में पूर्व पश्चिम दिशा की तरफ लिखना चाहिये । कैसे लिखना चाहिये सो कहते हैं । इष्ट बिन्दु को रवि कल्पना कर उससे भुज देकर भुजाग्र से यथादिक् पूर्वापर कोटि देकर उन दोनों के मध्य में तिर्यक् कर्ण को देकर कर्ण में चन्द्र को लिखकर वहाँ कर्णमार्ग से चन्द्रबिम्ब में शुक्ल देकर शुक्लाग्र से परिलेख तुल्य सूत्र (स्वभातुल्य सूत्र) से कर्ण में अङ्कित कर उस बिन्दु को केन्द्रमान कर स्वभाव्यासार्ध से वृत्त लिखकर कर्णगतिस्थ रात्रि सम्बन्धी शुक्ल में शुक्ल संस्थान होता है । कर्ण सूत्र में शुक्लाग्र को किस दिशा में देकर परिलेख करना चाहिये सो कहते हैं । चन्द्र में सूर्य को घटा कर जो शेष रहे उसको ग्रहण करना चाहिये । मेषादि तीन राशियों में और तुलादि तीन राशियों में शेष में पश्चिमाभिमुख शुक्ल देना चाहिये । तथा कर्कटादि तीन राशियों में और मकरादि तीन राशियों में शेष में पूर्वाभिमुख शुक्ल देना चाहिये ।। इति ।

उपपत्ति ।

जब रवि और चन्द्र का अन्तर तीन राशि से अल्प होता है तब शुक्लमान भी चन्द्र बिम्बार्ध से अल्प होता है अतः कर्ण सूत्र में शुक्लाङ्गुल को पश्चिमाभिमुख देकर वहां से स्वभासूत्र व्यासार्ध से परिलेख वृत्त करने से शुक्ल चन्द्रखण्डाकृति बनती है। जब वह अन्तर तुलादि तीन राशि में हो तब कृष्ण बिम्बर्धाल्प होता है उसके वश से पश्चिमाभिमुख युक्त है। एवं कर्क्यादि तीन राशियों में भी कृष्णचन्द्र खण्डाकृति होती है। मकरादि तीन राशियों में मास के चतुर्थचरण में शुक्ल शृङ्गोन्नति बनती है। वहां पूर्वाभिमुख शुक्ल संस्थान होता है। सिद्धान्त शेखर में 'आदर्शोदर सोदरेऽवनितले बिन्दुं प्रकल्प्योष्णगुं स्वाशायां' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से श्रीपति ने परिलेख प्रकार लिखा है। शिष्यधीवृद्धिद तन्त्र में 'यच्चिह्नं समभुवि भानुमान् स तस्मात् दातव्यः स्वदिशि भुजः' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोकों से लल्लाचार्योक्त प्रकार भी आचार्यो (ब्रह्मगुप्त)क्त प्रकार और श्रीपत्युक्त प्रकार तथा भास्करोक्त शृङ्गोन्नति प्रकार के समान ही है। सूर्य सिद्धान्त में 'दत्वाऽर्क संज्ञितं बिन्दुं ततो बाहुं स्वदिङ्मुखम्' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोकों से सूर्य सिद्धान्तकार ने परिलेख प्रकार लिखा है इसी तरह के परिलेख भास्करोक्त भी हैं लेकिन कोई भी प्राचीनाचार्योक्त प्रकार समीचीन नहीं है इति ।।२–६।।

इदानीं प्रकारान्तरेण परिलेखमाह ।

बाहुज्येन्दुदलगुणा कर्णविभक्ता भुजान्यदिक् चन्द्रे ।
कर्णोभुजाग्रतश्चन्द्रमध्यतः पूर्ववच्छेषम् ।।७।।

सु. भा.—वा एवं वक्ष्यमाणं संस्थानं शुक्लसंस्थानं ज्ञेयं। अभीष्टस्थाने केन्द्रं प्रकल्प्य चन्द्रबिम्बं परिलिख्य दिशश्च प्रसाध्य ततः पूर्वशृङ्गोन्नत्यध्यायविधिना बाहुज्या भुजा साध्या सा चन्द्रदलेन चन्द्रबिम्बार्धेन गुणा कर्णेन विभक्ता सा चन्द्रे चन्द्रबिम्बेऽन्यदिक् भुजा भवति। ततश्चन्द्रमध्यतश्चन्द्र केन्द्राद्भुजायतश्च कर्णसंस्थानं ज्ञेयम्। ज्ञाते कर्ण संस्थाने शेषं पूर्ववत् ज्ञेयम्।

अत्रोपपत्तिः। अत्र रवेर्यद्दिक् चन्द्रः स प्रथमं भुजः साधितो भुजाग्राच्चन्द्र-केन्द्रगता रेखा कोटिः। कोटिसूत्रमेव [चन्द्रबिम्बे पूर्वापररेखा। कर्णसूत्रं च चन्द्र-बिम्बपरिधौ कोटिसूत्राद् भुजविपरीतदिशि लग्नं तत्स्थानज्ञानार्थं चन्द्रबिम्बार्धे भुजः परिणीतस्ततः कर्णसंस्थानज्ञानं सुगमम्।। ७ ।।

वि. भा.–पूर्वोक्तपरिलेखश्लोकानामन्ते 'एवं वा संस्थानम्' इत्यस्ति एतस्यार्थः वा एवमग्रे कथितं शुक्लसंस्थानं बोध्यम्। इष्टस्थाने कमपि बिन्दुं केन्द्रं मत्वा चन्द्रबिम्बं विलिख्य दिक्साधनं कृत्वा शृङ्गोन्नत्यध्यायोक्तविधिना भुजज्या (भुजा) साध्या सा चन्द्रबिम्बार्धेन गुणा कर्णेन भक्ता तदा चन्द्र बिम्बेऽन्यदिक्

भुजा भवति । ततश्चन्द्रकेन्द्राद् भुजाग्रतश्च कर्णसंस्थानं ज्ञेयम् । अवशिष्टं पूर्ववदेव बोद्धव्यम् ॥

अत्रोपपत्तिः ।

रवेर्यस्यां दिशि चन्द्रस्तत्र प्रथमंभुजः साधितः । भुजाग्राच्चन्द्रबिम्बकेन्द्रगता रेखाकोटिः । इयमेव कोटिरेखा चन्द्रबिम्बे पूर्वापररेखा । कर्णसूत्रं च चन्द्रबिम्ब-परिधौ कोटिसूत्राद् भुजविपरीतदिशि लग्नं तत्स्थानज्ञानार्थं चन्द्रबिम्बार्धे भुजः परिणतः कृतस्ततः कर्णसंस्थानज्ञानं सुलभम् ॥७॥

अब प्रकारान्तर से परिलेख को कहते हैं ।

हि. भा.—अभीष्ट स्थान में केन्द्र मान कर चद्र बिम्ब को लिखकर दिशाओं का ज्ञान करना चाहिये तब पूर्वशृङ्गोन्नत्यध्यायोक्त विधि से भुजज्या साधन करना उसको चन्द्र बिम्बार्ध से गुणाकर कर्ण से भाग देने से फल चन्द्र बिम्ब में अन्य दिशा की भुजज्या होती है । तब चन्द्र केन्द्र से और भुजाग्र से कर्ण संस्थान समझना चाहिये । अवशिष्ट विषय पूर्ववत् समझना चाहिये इति ॥

उपपत्ति ।

रवि से जिस दिशा में चन्द्र है वहाँ पहले भुज साधित है । भुजाग्र से चन्द्रकेन्द्र गत रेखा कोटि है । कोटि रेखा ही चन्द्रबिम्ब में पूर्वापर रेखा है । कर्णसूत्र चन्द्रबिम्ब परिधि में कोटिसूत्र से भुज विपरीत दिशा में लगता है उस स्थान के ज्ञान के लिये चन्द्र बिम्बार्ध में भुज को परिणत किया गया, तब कर्ण संस्थानज्ञान सुलभ ही है इति ॥७॥

इदानीं फलके परिलेखमाह ।

प्राच्यपरे विपरीते फलकेऽन्यत् सर्वमुक्तवच्छेषम् ।
शृङ्गोन्नतिपरिलेखाश्चत्वारः शीतकिरणस्य ॥८॥

सु. भा.—फलके गृहणपरिलेखवत् प्राच्यपरे दिशौ विपरीते कार्ये । अन्य-त्सर्वं शेषमवशिष्टं कर्मोक्तवत् कार्यम् । एवं शीतकिरणस्य चन्द्रस्य शृङ्गोन्नति-परिलेखाश्चत्वारो भवन्ति । भूमौ प्रकारद्वयं तद्वशतः फलके प्रकारद्वयमिति चत्वारः परिलेखप्रकारा भवन्तीति ।

अत्रोपपत्तिः । ग्रहण परिलेखवत् फलकं परिवर्त्याकाशे संस्थाप्य सर्वा दिशो वास्तवा बोध्या इति ॥ ८ ॥

वि. भा.—फलके पर्वापरे दिशौ विपरीते कार्ये । अन्यत् सर्वं शेषं कर्मोक्तवत्

कर्त्तव्यम् । एवं चन्द्रस्य शृङ्गोन्नति परिलेखाश्चत्वारो भवन्ति । प्रकारद्वयं भूमौ तद्वशतः प्रकारद्वयं फलके इति परिलेखस्य चत्वारः प्रकारा भवन्तीति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

पूर्वं २-६ श्लोकोक्तपरिलेखोपपत्तौ सूर्यसिद्धान्तोक्तप्रकारो योऽस्ति स फलके परिलेखप्रकारोऽस्ति तेनैव फलके परिलेखचमत्कृतिर्ज्ञातव्येति ॥८॥

अब फलक में परिलेख को कहते हैं ।

हि. भा.—फलक में पूर्वदिशा और पश्चिम दिशा को विपरीत करना चाहिये। अन्य सब अवशिष्ट कर्म पूर्ववत् करना चाहिये। इस तरह चन्द्र का शृङ्गोन्नतिपरिलेख चार प्रकार का होता है। दो प्रकार भूमि पर और उसके वश से दो प्रकार फलक पर ये चार प्रकार परिलेख के होते हैं इति ।

इदानीं विशेषमाह ।

ग्रहयोगेन्दुच्छायाग्रहोदयामयभग्रहमुनीनाम् ।
तत्क्रान्तिज्याप्रश्नोत्तराणि भग्रहयुतौ न पृथक् ॥९॥

सु. भा.—अत्र मध्यगति-स्पष्टगति-त्रिप्रश्न-ग्रहण-शृङ्गोन्नत्यध्यायेषु पंचस्वेवोत्तराधिकारा आचार्येणोक्ता अन्येषु किमु नेत्याशङ्क्याह-ग्रहयोगेन्दुच्छायेति ग्रहयोगो ग्रहयुतिः । इन्दुच्छाया चन्द्रच्छायासाधनम् । ग्रहोदयास्तमयाधिकारः । भानां गृहस्य लुब्धकस्य मुनेरगस्त्यस्य चोदयास्तादिसाधनम् । एतेषां तथा भगृहयुत्यधिकारे च मया पृथक्-पृथक् तत्क्रान्तिज्या प्रश्नोत्तराणि तेषां क्रान्तिज्यादिभिर्ये प्रश्नास्तथोत्तराणि च नोक्तानि तत्प्रश्नोत्तराणां पूर्वप्रतिपादितपञ्चाध्याय प्रश्नोत्तरान्तर्गतत्वादित्याचार्याशय इति ॥ ९ ॥

वि. भा.—ग्रहयुतिः । चन्द्रच्छायासाधनम् । ग्रहाणामुदयास्ताधिकारः । नक्षत्राणां ग्रहस्य लुब्धकस्य मुनेरगस्त्यस्य चोदयास्तादि साधनम् । एतेषां तथा भग्रहयुत्यधिकारे पृथक् पृथक् तत् क्रान्तिज्या प्रश्नोत्तराणि तेषां क्रान्तिज्यादिभिर्ये प्रश्नास्तथोत्तराणि च न कथितानि, अधोलिखितपञ्चाध्यायप्रश्नोत्तरान्तर्गतत्वात्-मध्यगति–स्पष्टगति–त्रिप्रश्न–ग्रहण–शृङ्गोन्नत्यध्यायेषु पञ्चस्वेवोत्तराधिकारा आचार्येण कथिताः ॥९॥

अब विशेष कहते हैं ।

हि. भा.—ग्रहयुति, चन्द्रच्छाया साधन, ग्रहों के उदयास्ताधिकार, नक्षत्रों के ग्रह के

लुब्धक मुनि, अगस्त्य के उदयास्तादि साधन। इन सबों के तथा भग्रहयुत्यधिकार में पृथक् पृथक् क्रान्तिज्यादि से प्रश्न और उत्तर नहीं कहा गया है, क्योंकि वे अधो लिखित पांच अध्यायों के प्रश्नोत्तरान्तर्गत है। मध्यगति–स्पष्टगति–त्रिप्रश्न–ग्रहण--शृङ्गोन्नति इन पांच अध्यायों में ही उत्तराधिकार को आचार्य ने कहा है इति ॥९॥

इदानीमध्यायोपसंहारमाह।

इति परिलेखाध्यायः शशाङ्कशृङ्गोन्नतेर्भुजाद्येषु।
शशिशृङ्गोन्नत्युत्तरमार्यादशकेन सप्तदशः ॥१०॥

सु. भा.—इति भुजाद्येषु साधनेषु शशिशृङ्गोन्नत्युत्तरं नाम शशिशृङ्गोन्नतेः परिलेखाध्याय आर्यादशकेन सप्तदशो जात इति ॥ १० ॥

मधुसूदनसूनुनोदितो यस्तिलकः
श्रीपृथुनेह जिष्णुजोक्ते।
हृदितं विनिध्याय नूतनोऽयं,
रचितः शृङ्गविधौ सुधाकरेण ॥

इति श्रीकृपालुदत्तसूनुसुधाकरद्विवेदिविरचिते ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तनूतनतिलके शृङ्गोन्नत्युत्तराध्यायः सप्तदश ॥ १७ ॥

वि. भा.—इति भुजाद्येषु साधनेषु चन्द्रशृङ्गोन्नत्युत्तरं नाम चन्शृङ्गोन्नतेः परिलेखाध्याय आर्यादशकेन सप्तदशः समाप्तो जात इति ॥१०॥

इति ब्राह्मस्फुट सिद्धान्ते चन्द्रशृङ्गोन्नत्युत्तराध्यायः सप्तदशः ॥१७॥

अब अध्याय के उपसंहार को कहते हैं।

हि. भा.—भुजादि साधनों में चन्द्रशृङ्गोन्नति का चन्द्रशृङ्गोन्नत्युत्तरनामक दश आर्याओं से युक्त सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ इति ॥१७॥

इति ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में चन्द्रशृङ्गोन्नति का उत्तराध्याय
(सत्रहवां अध्याय) समाप्त हुआ।

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

कुट्टकाध्यायः

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

अथ कुट्टकाध्यायः

कुट्टकाध्यायः प्रारभ्यते । तदारम्भप्रयोजनं कथ्यते ।

प्रायेण यतः प्रश्नाः कुट्टाकाराद्दते न शक्यन्ते ।
ज्ञातुं वक्ष्यामि ततः कुट्टाकारं सह प्रश्नैः ॥१॥

सु. भा.—कुट्टाकाराद्दते विना यः प्रायेण बाहुल्येन गणकैः प्रश्ना ज्ञातुं न शक्यन्ते ततः प्रश्नैः सह कुट्टाकारं वक्ष्यामीति ॥ १ ॥

वि. भा.—यतः प्रायेण (बाहुल्येन) कुट्टाकारं (कुट्टकं) बिना गाणितिकैः प्रश्ना ज्ञातुं न शक्यन्ते ततः (तस्मात्कारणात्) प्रश्नैः सह कुट्टाकारं कथयामीति ॥१॥

अब कुट्टकाध्याय प्रारम्भ किया जाता है । उसके आरम्भ करने के प्रयोजन को कहते हैं ।

हि. भा.—क्योंकि प्रायः कुट्टाकार बिना गणक प्रश्नों को समझने में समर्थन नही होते हैं इसलिये प्रश्नों के साथ कुट्टाकार (कुट्टक) को कहता हूं इति ॥१॥

इदानीं कुट्टकादीनां प्रशंसामाह ।

कुट्टकखर्णधनाव्यक्तमध्यहरणैकवर्णभावितकैः ।
आचार्यस्तन्त्रविदां ज्ञातैर्वर्गप्रकृत्या च ॥२॥

सु. भा.—कुट्टकेन । खेन शून्यसङ्कलनादिना । ऋणधनयोः सङ्कलनादिना । अव्यक्तसङ्कलनादिना । मध्यहरणेन मध्यमाहरणेन वर्गसमीकरणेन । एकवर्णसमीकरणेन । भावितेन । एतैर्ज्ञातैर्वर्गप्रकृत्या च ज्ञातया तन्त्रविदां मध्ये गणक आचार्यो भवत्यतस्तेषां ज्ञानमावश्यकमिति ॥ २ ॥

वि. भा.—कुट्टकेन गणितेन, खेन (शून्ययोगान्तरादिना) ऋणधनयोर्योगान्तरादिना, अव्यक्तानां योगान्तरादिना, मध्यमाहरणेन, एकवर्णसमीकरणेन, भावितसंज्ञकगणितेन एतैर्ज्ञातैर्वर्गप्रकृत्या च ज्ञातया ज्योतिर्विदां मध्ये गणक आचार्यो भवतीति ।। सिद्धान्तशेखरे "वस्वर्णकुट्टककृतिप्रकृति प्रभेदानव्यक्तवर्णसदृशे च बीजे । ते मध्यमाहरणभावितके च बुद्ध्वा निःसंशयं भवति दैवविदां गुरुत्वम् ।।" श्रीपतिनाऽप्यव्यक्तगणितभेदास्तत्प्रशंसा च कृतेति ।।२।।

अब कुट्टक आदियों की प्रशंसा को कहते हैं ।

हि. भा.—कुट्टकगणित, शून्य के सङ्कलनादि, ऋण और धन के सङ्कलनादि, अव्यक्तों के सङ्कलनादि, मध्यमाहरण, एक वर्णसमीकरण, भावितगणित, वर्ग प्रकृति इन सबों के समझदार गणक ज्योतिःशास्त्रज्ञों के मध्य में आचार्य होते हैं । सिद्धान्तशेखर में 'वस्वर्ण कुट्टककृतिप्रकृतिप्रभेदान्' इत्यादि वि. भा. में लिखितश्लोक से श्रीपति ने अव्यक्त गणित के भेद और उनकी प्रशंसा की हैं इति ।।२।।

इदानीं कुट्टकमाह ।

अधिकाग्रभागहाराद्नाग्रच्छेदभाजिताच्छेषम् ।
यत्तत् परस्परहृतं लब्धमधोऽधः पृथक् स्थाप्यम् ।।३।।
शेषं तथेष्टगुणितं यथाग्रयोरन्तरेण संयुक्तम् ।
शुध्यति गुणकः स्थाप्यो लब्धं चान्त्यादुपान्त्यगुणः ।।४।।
स्वोर्ध्वोऽन्त्ययुतोऽग्रान्तो हीनाग्रच्छेदभाजितः शेषम् ।
अधिकाग्रच्छेदहृतमधिकाग्रयुतं भवत्यग्रम् ।।५।।

सु. भा.—यत्र कोऽपि राशिरेकेन हरेण हृतोऽयं शेषः स एव राशिरपरेण हरेण हृतोऽयं शेष इति छेदद्वयं शेषद्वयं चोद्दिश्य तं राशिं कोऽपि पृच्छति तत्राधिकाग्रभागहारादधिकशेषसंबंधिहारात् किं विशिष्टादूनाग्रच्छेदभाजितादल्पशेषसंबंधिहारहृताच्छेषं यत् यत् परस्परहृतं लब्धं च पृथगधोऽधः स्थाप्यम् । एतदुक्तं भवति । अधिकाग्रभागहारेऽल्पाग्रभागहारेण हृते यच्छेषं तेनाल्पाग्रभागहारो विभक्तो यदत्र शेषं तेन प्रथमशेषं भक्तं पुनरत्र यच्छेषं तेन द्वितीयशेषं भक्तमेवं यथेच्छं कर्म कर्तव्यम् । फलानि चाधोऽधः स्थाप्यानि । एवमभीष्टं शेषं तथा केनापीष्टेन गुणितं यथाऽग्रयोरन्तरेण संयुक्तं तद्भाजकेनोपान्तिमशेषेण हृतं शुध्यति । एवं सति स गुणकः पूर्वस्थापितफलानामधः स्थाप्यो लब्धं च गुणकस्याधः स्थाप्यम् । ततोऽन्त्यात् कर्म कर्तव्यम् । कथमित्याहोपान्त्यगुण इति स्वोर्ध्वं उपान्त्यगुणोऽन्त्ययुतस्ततस्तदन्त्यं त्यजेदेवमग्रान्तोऽन्त्ये य ऊर्ध्वराशिः स हीनाग्रच्छेदभाजित ऊनशेषसम्बन्धिहरेण भक्तस्तत्र यच्छेषं तदधिकशेषहरेण गुणितमधिकशेष

युतं सराशिर्भवति। स एव छेदवधस्याग्रं भवति इति—अग्रिमसूत्रेण सम्बंधः। अत्रैतदुक्तं भवति। यदि स राशिश्छेदयोर्वधसमेन हरेण भक्तस्तदा तद्धराल्पत्वात् स राशिरेव शेषं भवतीति।

यथा मदुक्तमुदाहरणम्—

चतुस्त्रिंशद्धृतो द्व्यग्रः पंक्त्यग्रो विश्वभाजितः।
तं राशिं शीघ्रमाचक्ष्व यदि जानासि कुट्टकम्॥

अत्र ३४ छेदस्य शेषम् २।१३ छेदस्य शेषम् १०। अतोऽधिकाग्रभागहारः=१३। ऊनाग्रभागहारः=३४। अनेनाधिकाग्रभागहारे हृते शेषम्। ततः परस्परहृते न्यासः—

```
१३)३४(२
   २६
   ---
    ८)१३(१
       ८
      ---
       ५)८(१
         ५
        ---
         ३)५(१
           ३
          ---
           २
```

फलवल्ली =
२	३६
१	१४′
१	८′
१	६′
२′	
४′	

अत्रैतावत् कर्मकृत्वा प्राप्तं शेषं २ यदीष्टद्वयेन गुण्यते तदा गुणनफलम्=४। इदमग्रान्तरेण ८ नेन युक्तम्=१२। इदं तद्धरेण ३ नेन भक्तं लब्धं निरग्रम्=४ अतः फलानामधो गुणकस्तदधो लब्धं च संस्थाप्योपान्तिमेन स्वोर्ध्वे हतेन्त्येन युते तदन्त्यं त्यजेदित्यादिनाऽग्रान्तः=३६। अग्रं हीनाग्रच्छेदेना ३४ नेन भाजितो जातं शेषम्=२। इदमधिकाग्रभागहारहतमधिकाग्रयुतं जातो राशिः=३६। अयं यदि छेदयोर्वधसमेन हारेणा—$३४ \times १३ = ४४२$ नेन विभज्यते तदा शेषं राशिसममेव भवति। यदि वल्ली समा स्यात् तदैवं कर्म कर्तव्यं यदि विषमा तदा गुणकाधो यल्लब्धं स्थापितं तद्दणं प्रकल्प्य बीजप्रक्रियया योगान्तरन्तादि कर्म कर्तव्यम्। इदं वक्ष्यति चाचार्योऽग्रे १३ सूत्रेणेति। अभीष्टशेषं केन गुणमग्रान्तरयुतं तद्धरभक्तं शुध्यतीत्यत्र यदि शेषं रूपसमं भवेत् तदा तच्छेषमग्रान्तरसमेन गुणकेन गुणमग्रान्तरमेवातस्तत्राग्रान्तरशोधनेन तद्धरभक्तेन लब्धं निरग्रं शून्यं लाघवेन विदितं भवेदतो भास्कराचार्येण 'मिथो भजेत् तौ दृढभाज्यहारौ यावद्विभाज्ये भवतीह रूपम्'—इत्युक्तमिति सर्वं मत्कृतकुट्टकोपपत्त्या स्फुटम्। (द्रष्टव्ये मच्छोधिते भास्करलीलावतीबीजे)।

अत्रोपपत्तिः। कल्प्यतेऽधिकाग्रम्=$शे_१$, तद्धरश्च=$ह_१$। ऊनाग्रम्=$शे_२$।

तद्धरश्च $=ह_2$ । अथ यथाऽधिकाग्रतद्धाराभ्यामालापो घटते तथा कल्पितं राशिमानम् $=हा_1 का+शे_1$ । इदमूनाग्रहारेण भक्तं लब्धं नीलकं तद्गुणितहरस्तच्छेषयुतो जातः पूर्वराशिसमः ।

$$ह_2 नी+शे_2=ह_1 का+शे_1 ।$$

समशोधनादिना नीलकमानमभिन्नम् $=$ नी $= \dfrac{ह_1 का + (शे_1 - शे_2)}{ह_2}$

अत्र $ह_1$, $ह_2$ भाज्यहाराभ्यां यदि कुट्टकक्रिया क्रियते तदा यद्राशियुग्मं स्यात् तत्राधरो राशिरेवाचार्यस्याग्रान्तः स $ह_2$ अनेनोनाग्रहरेण तष्टः शेषं कालकमानं 'ते भाज्यभाजकमाने भवतः' इति भास्करबीजेन कालकमानमूनाग्रहराल्पं जातं तदधिकाग्रहारेण हतं तच्छेषयुतं राशिमानं स्यादिति । अथ परमं कालकमानम् $=ह_2 -१$ । इद$-ह_1$ मनेन गुणं $शे_1$ युतं जातम् $=ह_1 ह_2-ह_1+शे_1=ह_1 ह_2-(ह_1-शे_1)$ ।

अत्र प्रश्नानुसारेण $ह_1>शे_1$ । अत $ह_1-शे_1$ इदं धनात्मकं तेन पूर्वागतं राशिमानं सर्वदा$-ह_1 ह_2$ ऽस्मादल्पमतश्छेदवधहरेण भक्तं राशिमानं शेषं राशिमानसममेवेत्युपपन्नं छेदवधस्य भवत्यग्रमिति ॥ ३–५ ॥

वि. भा.—कश्चित् भाज्यः केनचिद्धरेण भक्तोऽयं शेषः स एव भाज्योऽपरेण हरेण भक्तश्चायं शेष इति हरद्वयं शेषद्वयं चोक्त्वा स भाज्यः क इति प्रश्ने जायमाने, अधिकशेषसम्बन्धिहरमल्पशेषसम्बन्धिहरेण विभज्यावशेषं परस्परं विभजेत् अयमर्थः—अधिकशेष हरेऽल्पशेषहरेण भक्ते यच्छेषं तेनाल्पशेषहरे भक्ते यच्छेषं तेन प्रथम शेषे भक्ते यच्छेषं तेन द्वितीयशेषं भजेदिति क्रिया वारंवारं कार्या, फलानि चाधोऽधः स्थाप्यानि । एवमभीष्टं शेषं तथा केनापीष्टेन गुणितं यथा शेषयोरन्तरेण युतं तद्धरेणोपान्तिमशेषेण भक्तं शुध्यति । एवं सति स गुणकः पूर्वस्थापितफलानामधः स्थाप्यः । लब्धं च गुणकस्याधः स्थाप्यम् । ततोऽन्त्यात्कर्म कर्त्तव्यम् । स्वोर्ध्वे उपान्त्यगुणोऽन्त्ययुतस्तदन्त्यं त्यजेत् । एवमन्त्ये य ऊर्ध्वराशिः स हीनशेषसम्बन्धिहरेण भक्तो यच्छेषं तदधिकशेषेण गुणितं—अधिकशेषयुतं तदा स राशिर्भवति । स एव छेदवधस्याग्रं भवतीत्यस्याग्रिमसूत्रेण सम्बन्धः ।

अत्रोदाहरणं म. म. सुधाकरद्विवेद्युक्तम् ।

चतुस्त्रिंशद्धृतोद्व्यग्रः पङ्क्त्यग्रो विश्वभाजितः । तं राशिं शीघ्रमाचक्ष्व यदि जानासि कुट्टकम् । अत्र ३४ हरस्य शेषम् $=२$ । तथा १३ हरस्य शेषम् $=१०$ अतोऽधिकशेषहरः $=१३$ । अल्पशेषहरः $=३४$ । अनेनाधिकशेषहरे भक्ते शेषम् $=१३$, ततः परस्परभजनेन जाता वल्ली उपान्तिमेन स्वोर्ध्वे हतेऽन्त्येन युते तदन्त्यं

२	३६
१	१४
१	८
२	६

त्यजेदित्यादिनाऽग्रान्तः=३६ अयं हीनाग्रच्छेदेना (हीनशेषहरेण) ऽनेन भक्तो जातं शेषम्=२। इदमधिकाग्रभागहार (अधिक शेषहर) गुणित-मधिकशेषयुतं जातो राशिः=३६ अयं यदि हरयोर्घातसमेन हरेण ३४×१३=४४२ नेन विभज्यते तदा शेषं राशिसममेव भवति। एवं वल्ली यदि समा स्यात् तदैवं कर्म कर्त्तव्यम्। यदि च विषमा तदा गुणकाधो यल्लब्धमस्ति तद्दणं प्रकल्प्य बीजक्रियया योगान्तरादि कर्म कर्त्तव्यम्। अभीष्ट-शेषं केन गुणमग्रान्तर (शेषान्तर) युतं तद्धरभक्तं शुध्यतीत्यत्र यदि शेषं रूपसमं भवेत् तदा तच्छेषं शेषान्तरसमेन गुणकेन गुणं शेषान्तरमेवातस्तत्र शेषान्तर-शोधनेन तद्धरभक्ते न लब्धं निरग्रं शून्यं विदितं भवेदतो 'मिथो भजेत्तौ दृढभाज्य-हारौ यावद्विभाज्ये भवतीह रूपम्' भास्कराचार्येण कथितम्। सिद्धान्तशेखरे 'अल्पाग्रहृत्या बृहदग्रहारं छित्त्वाऽवशेषं विभजेन्मिथोऽतः। अग्रान्तरं तत्र युतिं प्रकल्प्य प्राग्वद्गुणः स्यादधिकाग्रहारः। तेनाहतः स्वाग्रयुतस्तदग्रं छेदाहृतिः। श्रीपत्युक्तप्रकारोऽयमाचार्योक्तप्रकारानुरूप एव। बीजगणिते लीलावत्यां च 'भाज्यो हारः क्षेपकश्चापर्त्यं' इत्यादिना आचार्योक्तापेक्षयाऽतीवस्पष्टरूपेण भास्कराचार्येण प्रदिपादितोऽस्तीति ॥

अत्रोपपत्तिः

कल्प्यतेऽधिक शेषम्=शे। तद्धरश्च=ह। अल्पशेषम्=शे′। तद्धरश्च=ह′, यदाऽधिकशेषतद्धराभ्यामालापो घटते तथा कल्पितं राशिमानम्=ह. क+शे इदमल्पशेषहरेण भक्तं लब्धं न तद्गुणितहरस्तच्छेषयुतो जातः पूर्वराशिसमः।

ह′. न+शे′=ह. क+शे समशोधनादिना न मानमभिन्नम्=न= (ह. क+(शे−शे′))/ह′

अत्र ह, ह′ भाज्यहाराभ्यां यदि कुट्टकक्रिया क्रियते तदा यद्राशिद्वयं तत्राधो ह′ अनेन अल्पशेषहरेण भक्तः शेषं गुणकरूपं क मानमल्पशेषहराल्पं जातं तदधिक-शेषहरेण गुणं तच्छेषयुतं राशिमानं भवति। अथ परमं क मानम्=ह′−१ इदं−ह अनेन गुणितं शे युतं जातम्=ह. ह′—ह+शे=ह. ह′—(ह—शे)। अथ प्रश्नानु-सारेण ह>शे अतः ह—शे इदं धनात्मकं तेन पूर्वागतं राशिमानं सर्वदा−ह, ह′ अस्मादल्पमतो हरघातहरेण भक्तं राशिमानं शेषं राशिमानसममेव।'अधिग्रकाभाग-हारं छिन्द्यादूनाग्रभागहारेण। शेषपरस्परभक्तं मतिगुणमग्रान्तरे क्षिप्तम्॥ अध उपरिगुणितमन्त्ययुगूनाग्रच्छेदभाजिते शेषम्। अधिकाग्रच्छेदगुणं द्विच्छेदाग्र-मधिकाग्रयुतम्॥" इत्यार्यभटोक्तप्रकारस्यैव ब्रह्मगुप्तश्रीपत्योः प्रकारश्च पुनरूपपा-दनमिति॥३—५॥

अब कुट्टक को कहते हैं ।

हि. भा.—किसी राशि को एक हर से भाग देने से जो शेष रहता हैं वही उसी राशि को दूसरे हर से भाग देने से रहता है । तब यह राशि क्या है । अधिक शेष सम्बन्धी हर में अल्पशेष सम्बन्धी हर से भाग देने से जो शेष रहता है उसको परस्पर भाग देने से लब्ध को पृथक् अधोऽधः स्थापन करना । अधिकशेष सम्बन्धी हर में अल्पशेष सम्बन्धी हर से भाग देने से जो शेष रहता है उससे अल्पशेष सम्बन्धी हार को भाग देने से जो शेष रहता है उससे प्रथम शेष को भाग देना । फिर यहां जो शेष रहे उससे द्वितीय शेष को भाग देना । इस तरह बराबर कर्म करना चाहिये । फलों को अधोऽधः स्थापन करना । इस तरह अभीष्ट शेष को किसी इष्ट से गुणा कर दोनों शेषों को जोड़ना जिससे वह भाजक (हर) उपान्तिम शेष से शुद्ध हो । इस तरह वह गुणक पूर्वस्थापित फलों के अधः स्थापन करना । तब अन्त से कर्म करना चाहिये । कैसे सो कहते हैं । ऊर्ध्वाङ्क को उपान्त्य से गुणाकर अन्त्य को जोड़ देना चाहिये, उस अन्त्य को त्याग देना चाहिये । इस तरह अन्त्य में जो ऊर्ध्व राशि होता है उसको अल्प शेष सम्बन्धी हर से भाग देने से जो शेष रहे उसको अधिक शेष सम्बन्धी हर से गुणाकर अधिक शेष को जोड़ने से राशि होता है ।।

यहां म. म. सुधाकर द्विवेदी का उदाहरण है ।

हि. भा.— किसी राशि को चौंतीस से भाग देने से दो शेष रहता है और तेरह से भाग देने से दश शेष रहता है उस राशि को कहो ।।

यहां ३४ हर का शेष=२ है । १३ हर का शेष=१० है । इसलिये अधिक शेष सम्बन्धी हर=१३ अल्प शेष सम्बन्धी हर=३४ है । इसमे अधिक शेष सम्बन्धी हर को भाग भाग देने से शेष=१३ तब परस्पर भाग देने से वल्ली

२	३६
१	१४
१	८
२	६

'उपान्तिमेन स्वोर्ध्वे हतेऽन्त्येन युतं तदन्त्यं त्यजेत्' इत्यादि से अग्रान्त=३६ इसको अल्प शेष सम्बन्धी ३४ इस हर से भाग देने से शेष=२, इसको अधिक शेष सम्बन्धी हर से गुणाकर अधिक शेष को जोड़ने से राशि=३६, इसको यदि दोनों हरों के घात के बराबर हर ३४×१३=४४२ से भाग देने से शेष राशि के बराबर होता है। यदि वल्ली सम रहे तब ही इस तरह कर्म करना । यदि वल्ली विषम रहे तब गुणक के नीचे जो लब्ध स्थापित है उसको ऋण कल्पना कर बीज क्रिया से योग अन्तर आदि कर्म करना चाहिये । इष्ट शेष को किस से गुणाकर दोनों शेषों के अन्तर को जोड़कर हर से भाग देने से शुद्ध होता है यहां यदि शेष रूप १ के बराबर हो तब शेष को शेष द्वय के अन्तर तुल्य गुणक से गुणा करने से शेषद्वय का अन्तर ही रहता है इसलिये उसमें शेषान्तर को घटाकर हर से भाग देने से लब्ध निःशेष शून्य होता है अतः लीलावती में 'मिथो भजेत्तौ दृढ़भाज्य हारौ' इत्यादि भास्कराचार्य ने कहा है ।

उपपत्ति।

कल्पना करते हैं अधिक शेष = शे। उसका हर = ह। अल्प शेष = $\overset{।}{\text{शे}}$, इसका हर = $\overset{।}{\text{ह}}$ जिस तरह अधिक शेष और उसके हर से आलाप घटे वैसे कल्पित राशिमान = ह. क + शे इसको अल्प शेष सम्बन्धी हर से भाग देनेसे लब्ध न तद्‌गुणित हर में शेष जोड़ने से पूर्व राशि के समान हुआ ह. क + शे = $\overset{।}{\text{ह}}$. न + $\overset{।}{\text{शे}}$ समशोधन आदि करने से न मान अभिन्नात्मक = $\frac{\text{ह. क} + (\text{शे} - \overset{।}{\text{शे}})}{\overset{।}{\text{ह}}}$ यहां ह, $\overset{।}{\text{ह}}$ इन भाज्य और हर से यदि कुट्टक क्रिया की जाती है तो जो राशिद्वय होता है उनमें नीचे की राशि ही आचार्य का अग्रान्त है उसको $\overset{।}{\text{ह}}$ इस अल्प शेष हार से भाग देने से शेष क मान होता है 'ते भाज्य तद् भाजक वर्णमाने' इस भास्करोक्ति से क मान अल्प शेष सम्बन्धी हर से अल्प हुआ। उसको अधिक शेष सम्बन्धी हर से गुणाकर शेष जोड़ने से राशिमान होता है। परम क मान = $\overset{।}{\text{ह}}$ — १ इसको — ह से गुणाकर शे जोड़ने से ह. $\overset{।}{\text{ह}}$ − ह + शे = ह. $\overset{।}{\text{ह}}$ — (ह — शे)। यहां प्रश्न के अनुसार ह > शे इसलिये ह — शे यह धनात्मक है। अतः पूर्वगत राशिमान सदा — ह, $\overset{।}{\text{ह}}$ इससे अल्प होगा इसलिये शेष घात तुल्य हर से राशि मान को भाग देने से शेष राशिमान के बराबर ही होता है इति ॥३—५॥

इदानीं विशेषमाह

छेदवधस्य द्वियुगं छेदवधो युगगतं द्वयोरग्रम्।
कुट्टाकारेणैवं व्यादिग्रहयुगगतानयनम् ॥ ६ ॥

सु. भा.—छेदवधस्य पूर्वश्लोकेन सम्बन्धः पूर्वं प्रतिपादितः। द्वियुगं द्वयोर्ग्र-हयोर्योगश्छेदयोर्वधो भवति तथा युगगतमन्तिमयोगाद्यद्गतं तद्द्वयोश्छेदयोरग्रं शेषं भवति। एवं कुट्टाकारेण व्यादिग्रहयुगगतानयनं कार्यम्। अत्रैतदुक्तं भवति। यथैको ग्रहो दिन चतुस्त्रिंशता ऽन्यश्च त्रयोदशदिनैरेकं भगणं भुंक्ते। तयोरन्तिम-युतेर्दशदिनानि व्यतीतानि तदा कल्पात् कियन्ति दिनानि व्यतीतानीति प्रश्ने को राशिश्चतुस्त्रिंशद्धृतो दशशेषस्त्रयोदशहृतश्च दशशेष इति प्रश्नोत्तरेणैवोत्तरसिद्धिः। अत्राग्रयोः समत्वादधिकाग्रहरश्चतुस्त्रिंशदेव कल्पितस्ततः पूर्वप्रकारेणाग्रयोरन्तरं शून्यं गृहीत्वा गुणाकारं शून्यं प्रकल्प्याग्रान्तः शून्यसमो वा द्वितीयहारसमस्तदा राशिः = $\text{ह}_1 \text{ह}_2 + \text{शे}$, अयमग्रश्छेदवधश्च छेद इत्येकस्य प्रकल्प्यान्यस्यैक भगण-कालस्तद्धरस्तदग्रश्च पूर्वशेषसमः = शे, इति प्रकल्प्य पुनः कुट्टाकारेणैव विधिना

'ग्रहत्रयान्तिमयुतेर्दशदिनानि व्यतीतानि तदा कल्पगतं कि' मिति प्रश्नोत्तरमानेयम् । एवं त्र्यादिग्रहयुगगतानयनं कार्यम् ॥ ६ ॥

वि. भा.—छेदवधस्यैतस्य पूर्वश्लोकेन सम्बन्धः । द्वियुगं (द्वयोर्ग्रहयोर्योगः) छेदवधो भवति । युगगतं (अन्तिमयोगाद्यद्गतं) तत् द्वयोश्छेदयोरग्रं (शेषं) भवति, एवं कुट्टाकारेण त्र्यादिग्रहयुगगतानयनं कार्यम् । यथैको ग्रहो दिनचतुस्त्रिंशताऽन्यश्च त्रयोदशदिनैरेकं भगणं भुङ्क्ते तयोरन्तिमयुतेर्दशदिनानि व्यतीतानि तदा कल्पात् कियन्ति दिनानि व्यतीतानीति प्रश्ने को राशिश्चतुस्त्रिंशद् भक्तो दशशेषस्त्रयोदशभक्तश्च दशशेष इति प्रश्नोत्तरेणैव तदुत्तरसिद्धिः । अत्र शेषयोः समत्वादधिकशेषसम्बन्धिहरश्चतुस्त्रिंशदेव कल्पितः । ततः पूर्वप्रकारेण शेषयोरन्तरं शून्यं गृहीत्वा गुणकारं शून्यं प्रकल्प्याग्रान्तः शून्यसमो वा द्वितीयहारसमस्तदा राशिः=ह. ह+शे अयं शेषो हरघातश्च हर इत्येकस्य प्रकल्प्यान्यस्यैकभगणकालस्तद्धरस्तच्छेषश्च पूर्वशेषसमः=शे इति प्रकल्प्य पुनः कुट्टाकारेणैव ग्रहान्तिमयुतेर्दशदिनानि व्यतीतानि तदा कल्पगतं किमिति प्रश्नोत्तरमानेयम् । एवं त्र्यादिग्रह युगगतानयनं कर्त्तव्यमिति ॥ ६ ॥

अब विशेष कहते हैं ।

हि. भा.—दो ग्रहों का योग छेदवध (हर घात) होता है अन्तिम योग से जो गत है वह दोनों हर का शेष होता है । एवं कुट्टाकार से त्र्यादि ग्रहयुगगतानयन करना चाहिये । जैसे एक ग्रह चौंतीस दिन में अन्य ग्रह तेरह दिन में एक भगण को भोग करता है । दोनों का अन्तिम योग से दश दिन का समय व्यतीत हुआ तब कल्प से कितने दिन व्यतीत हुए इस प्रश्नमें कौन राशि है—जिस को चौंतीस से भाग देने से दस शेष रहता है । तेरह से भाग देने से दस शेष रहता है इस प्रश्न के उत्तर ही से उसकी उत्तर सिद्धि होती है । यहां शेषद्वय के समत्व से अधिक शेष सम्बन्धी हर चौंतीस ही कल्पना किया गया । तब पूर्व प्रकार से दोनों शेषों के अन्तर को शून्य मानकर गुणकार को शून्य कल्पना कर एक भगण काल—उसका हर और शेष पूर्वशेष शे के बराबर कल्पनाकर पुनः कुट्टक से ग्रह के अन्तिम योग से दश दिन व्यतीत हुए तब कल्पगत क्या है इस प्रश्न का उत्तर लाना चाहिये । इस तरह तीन आदि ग्रहों का युग गतानयन करना चाहिये ॥ ६ ॥

इदानीं भगणादिशेषतोऽहर्गणानयनमाह ।

भगणादिशेषमग्रं छेदहृतं खं च दिनजशेषहृतम् ।
अनयोरग्रं भगणादि दिनजशेषोद्धृतं द्युगणः ॥ ७ ॥

सु. भा.—भगणादिशेषं छेदहृतमग्रं भवति । खं शून्यं दिनजशेषहृतमेकदिन-

संबन्धि यद्भगणादिशेषं तद्दिनजशेषं तेन हृतं द्वितीयमग्रं कल्प्यम्। भगणादिशेष-मेकमग्रं तच्छेदो दृढकुदिनादि। शून्यमपरमग्रं तच्छेदो दिनजशेषमिति प्रकल्प्यानयोश्छेदयोर्वधसमे छेदे पूर्वोक्तकुट्टाकारेणाग्रं साध्यं तद्भगणादि दिनजशेषोद्धृतं द्युगणोऽहर्गणः स्यादिति।

अत्रोपपत्तिः। अहर्गणप्रमाणं या। इदं कल्पभगणगुणं कुदिनहृतं लब्धं गतभगणाः का। शेषं कल्प्यते भशे। ततो जातं समीकरणम्। कभ. या= ककु. का+भशे।

$$\therefore \text{या} = \frac{\text{ककु. का+भशे}}{\text{कभ}}$$

अत्र ककु, कभ भाज्यहाराभ्यां यौ राशी तत्राधरः कभ तष्टः शेषं कालकमानम्। परन्तु यद्यधिकाग्रम्=-भशे, तच्छेदः=ककु। ऊनाग्रम्=० तच्छेदश्च दिनजभगणशेषम्=कभ। तदाऽऽचार्योक्त कुट्टाकारेण छेदवधच्छेदेऽग्रमानम्=का. ककु +भशे। अत इदमग्रं दिनजशेषहृतं लब्धं यावत्तावन्मानमहर्गणः स्यादिति एवं राश्यादिशेषेऽपि तत्तच्छेदाभ्यां छेदवधच्छेदेऽग्रमानीय तदग्रं तद्दिनजशेषहृतं लब्धमहर्गणो भवतीत्युपपन्नमिति।

अत्र कोलब्रूकानुवादानुसारेण प्रश्नरूपार्यायास्त्रुटिः सा च
(इष्टभगणशेषाद्वा राश्यंशकलाविलिप्तिकाशेषात्।
आनयति द्युगणं यः कुट्टाकारं स जानाति ॥ ९ ॥)
एवं भवितुमर्हति। इयमार्या च स्पष्टार्था ॥ ९ ॥

वि. भा. - भगणादिशेषं (भगणशेषम्। राशिशेषम्। कलाशेषम्। विकलाशेषम्। तत् षष्ट्यंशादि शेषं छेदहृतं (छेदेन कुदिनात्मकेन भक्तं) अग्रं (शेषं) भवति। दिनजशेषेण (एकदिनसम्बन्धिभगणादिशेषेण) खं (शून्यं) भक्तं द्वितीय शेषं कल्प्यम्। अत्रायमर्थः—भगणादिशेषमेकमग्रं (शेषं) तच्छेदो (हरः) दृढकुदिनानि। शून्यं द्वितीयमग्रं तच्छेदो दिनजशेषमिति प्रकल्प्य अनयोश्छेदाहृतितुल्ये छेदे पूर्वोक्तकुट्टकरीत्याऽग्रं (शेषं) साध्यं तद्भगणशेषेण भक्तं लब्धमहर्गणो भवेदिति ॥

अत्रोपपत्तिः।

अत्र कल्प्यते ऽहर्गणमानम्=य। तदा ऽनुपातो यदि कल्पकुदिनैः कल्पभगणा लभ्यन्ते तदाऽहर्गणेन किमित्यनुपातेन समागच्छन्ति गतभगणाः, भगणशेषं च, तदाऽनुपातस्वरूपम्= $\frac{\text{कल्पभ} \times \text{य}}{\text{ककु}}$ =गभगण+ $\frac{\text{भशे}}{\text{ककु}}$ छेदगमेन कल्पभ × य

=ककु × गभगण + भशे पक्षौ (कल्पभ) भक्तौ तदा य= $\frac{\text{ककु} \times \text{गभगण} + \text{भशे}}{\text{कल्पभ}}$

अत्र ककु, कल्पभ भाज्यहाराभ्यां यौ राशी तत्राधरः कल्पभभक्तः शेषं गतभगण-मानम् । परन्तु यद्यधिक शे=भशे, तद्धरः=ककु, अल्पशेषं = ०, तद्धरः=कभगण तदा कुट्टकविधिना छेदवध (हरघात) समे हरे शेष मानम्=गतभगण. ककु+भशे अत इदं शेषमानं कल्पभगणभक्तं लब्धं य मानं भवेद्राश्यादिशेषेऽपि तत्तच्छेदाभ्यां छेदघातसमे छेदेऽग्र (शेष) मानीय तत्कल्पभगणभक्तमहर्गणो भवतीति ॥ सिद्धान्त शेखरे "चक्रर्क्षभागकलिका विकलादिशेषमग्रं स्वहारविहृतं भगणादि-भक्तम् । न्यूनाग्रमत्र हि फलं भगणादिनाप्तं लब्धं भवेद्दिनगणस्त्वपवर्त्तिते स्यात् ॥" श्रीपत्युक्तोऽयं प्रकार आचार्योक्तिप्रकार सम एवेति ॥७॥ अत्र कोलब्रूकानुवादानुसारेण प्रश्नरूपार्यायास्त्रुटिर्वर्त्तते सा च 'इष्ट भगणशेषाद्वा राश्यंश-कलाविलिप्तिकाशेषात् । आनयति द्युगणं यः कुट्टाकारं स जानाति एवं भवि-तुमर्हतीति ॥९॥

अब भगणादि शेष से अहर्गणानयन कहते हैं ।

हि. भा.—भगणादि शेष (भगण शेष, राशिशेष, कलाशेष, विकलाशेष, उसके षष्ट्यं (६०) शादि शेष) को छेद (दृढ़कुदिन) से भाग देने से अग्र (शेष) होता है । एक दिन सम्बन्धी भगणादिशेष (दिनज शेष) से शून्य को भाग देने से द्वितीयशेष होता है । अर्थात् भगणादि शेष एक अग्र (शेष) उसका छेद (हर) दृढ़ कुदिन । और शून्य द्वितीय अग्र उसका छेद दिनज शेष कल्पना कर दोनों छेदों के घात तुल्य छेद में कुट्टक रीति से अग्र(शेष)साधन करना उसको भगणशेष से भाग देने से लब्ध अहर्गण होता है । यहां कोलब्रूक साहब के अनुवादानुसार प्रश्नरूप आर्या की त्रुटि है वह संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक के सदृश होना चाहिये ॥६॥

उपपत्ति ।

कल्पना करते हैं अहर्गण प्रमाण=य तब अनुपात करते हैं यदि कल्प कुदिन में कल्प भगण पाते हैं तो अहर्गण में क्या इस अनुपात से आते हैं गतभगण और भगणशेष । तब अनुपात स्वरूप= $\frac{\text{कल्पभ.} \text{ य}}{\text{ककु}}$ = गतभ+ $\frac{\text{भशे}}{\text{ककु}}$, छेदगम से कल्पभ. य=ककु. गतभ+भशे, दोनों पक्षों को कल्पभ भाग देने से य= $\frac{\text{ककु.} \text{ गतभ} + \text{भशे}}{\text{कभ}}$ यहां ककु, कल्पभ भाज्य और हार से जो दो राशिप्रमाण होता है उसमें अधर (नीचे की) राशि को 'कल्पभ' से भाग देन से शेष गतभगण का मान होता है । परन्तु यदि अधिकाग्र=भशे, उसका हर=ककु, अल्पाग्र=०, उसका हर=कभगण । तब कुट्टक विधि से छेदवध तुल्य छेद में शेषमान=गत-

भगरण. कक्ु+भशे इसलिये इस शेषमान को कल्पभगरण से भाग देने से लब्ध य मान होता है। राश्यादिशेष में भी तत् तत् शेष के छेदद्वय से छेदद्वय घात तुल्य छेद में अग्र (शेष) को लाना चाहिये, उसको कल्पभगरण से भाग देने से अहर्गण होता है ।। सिद्धान्तशेखर में "चक्रर्क्षभाग कलिका विकलादिशेषं" इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से, श्रीपति ने आचार्योक्त प्रकार के सदृश ही कहा है इति ।। ९ ।।

इदानीं विशेषमाह ।

दिनजभगरणादि शेषं येन गुणं मण्डलादिशेषकयोः ।
सदृशच्छेदोद्धृतयोस्तद्घातमहर्गणाद्यमतः ।।८।।

सु. भा.—उद्दिष्टं मण्डलादिभगणादिशेषं यदि येन केनापीष्टेन गुणं भवेत् तदा द्वे शेषे सदृशच्छेदे च कृत्वा ततस्तयोः शेषकयोः सदृशच्छेदोद्धृतयोश्च कृत्वा 'भगरणादिशेषमग्रं छेदहृत' मित्यादिविधिना तद्घातसम्बन्ध्यग्रं साध्यं तदा तदग्रं तज्जातीयं कल्पगतं भवेदतोऽहर्गणाद्यं भवति । यथा कस्मिन् घटिकात्मके कल्पगते चन्द्रस्य भगरणशेषं ४१०५ भवेत् । यदि १३७ दिनैश्चन्द्रभगरणाः पञ्च ५ भवन्ति । अत्र यदि दिनानि १३७ षष्टिगुणानि कृत्वा १३७—६०=८२२० अयं हरः कल्प्यते तदा सच्छेदमुद्दिष्टभगरणशेषम् $=\frac{४१०५}{८२२०}$ । दिनजभगरणशेषं पूर्ववत् ५ । ततः 'खं च दिनजशेषहृत' मित्यादिनोनाग्रं सच्छेदम्=$\frac{०}{५}$ । अथ सच्छेदे शेषे $\frac{४१०५}{८२३०}$ । $\frac{०}{५}$ । अत्र शेषयोः सच्छेदयोः पञ्चभिरपवर्त्य जाते नूतने सच्छेदे शेषे $\frac{८२१}{१६४४}$ । $\frac{०}{१}$ । अधिकाग्रभागहारा दूनाग्रछेदभाजिताच्छेषमित्यादिना प्रथमशेषम् = ० । तच्छेदः=१ । शून्येनेष्टेन गुणकारेण गुणितं प्रथमशेषं लब्धमग्रान्तरेण युतं ८२१ तच्छेदेन १ हृतं लब्धं निरग्रम्=८२१ । अत्र पूर्वलब्ध्यभावाद्वल्ली ८२१/०/१ } अग्रान्तः =० । ऊनाग्रच्छेदभाजितः शेषम्=० । अधिकाग्रच्छेदहतमिदमधिकाग्रयुतं जातो राशिः ८२१ । इदं घट्यात्मकं कल्पगतं तत् षष्टिहृतं जातं कल्पगतं दिनादि १३ । ४१ ।।

अत्रोपपत्तिः । 'भगणादिशेष' मित्यादि पूर्वसूत्रान्तर्गतैव ।। ८ ।।

वि. भा.—मण्डलादि (भगरणादि) शेषं येन केनापीष्टेन यदि गुणं भवेत्तदा द्वेशेषे सदृशच्छेदे च कृत्वा तयोः शेषयोः सदृशच्छेदभक्तयोः कृत्वा 'भगरणादिशेषमग्रं छेदहृत' मित्यादिना तद्घातसम्बन्ध्यग्रं साध्यं तदा तदग्रं तज्जातीयं कल्पगतं भवेत्ततो ऽहर्गणाद्यं भवतीति ।

यथा कस्मिंन् घटिकात्मके कल्पगते चद्रस्य भगणशेषं ४१०५ भवेत् । यदि १३७ दिनैश्चन्द्रभगणाः पञ्च ५ भवन्ति । अत्र यदि दिनानि $\times$ ६० $=$ १३७ $\times$ ६० $=$ ८२२० कृत्वा हरः कल्प्यते तदा सच्छेदमुद्दिष्टभगणशेषम् $= \frac{४१०५}{८२२०}$, पूर्ववत् दिनज भगणशेषम् $=$ ५ । ततः 'खेच दिनज शेषहृत' मित्यादिना ऽल्पाग्रं सच्छेदम् $= \frac{०}{५}$ । अथ सच्छेदे शेषे $\frac{४१०५}{८२२०}$, $\frac{०}{५}$ अत्र शेषयोः सच्छेदयोः पञ्चभिरपवर्त्य जाते नवीने सच्छेदेशेषे $\frac{८२१}{१६४४}$, $\frac{०}{१}$, अधिकाग्रभागहारादूनाग्रच्छेद भाजितादित्यादना प्रथमशेषम् $=$ ० । तच्छेदः $=$ १, शून्येनेष्टेन गुणकारेण गुणितं प्रथमशेषं लब्धं शेषान्तरेणयुतं ८२१ तच्छेदेन १ हृतं लब्धं निरग्रम् $=$ ८२१ अत्र पूर्वलब्ध्यभावात् वल्ली $\frac{०}{८२१}$

इदं घटयात्मकंकल्पगतं तत् षष्टिभक्तं कल्पगतं दिनादि ॥१३।४१॥

अत्रोपपत्तिः ।

'भगणादिशेषमग्रं छेदहृतं खं च दिनजशेषहृत' मित्यादेरुपपत्तिदर्शनस्फुटेति ॥८॥

अब विशेष कहते हैं ।

हि. भा.—भगणादि शेष को यदि जिस किसी इष्ट से गुणा करते हैं तो दो शेष और (सदृशच्छेदों) को करके सदृशच्छेद से भक्त उन दोनों शेषों को करके 'भगणादि शेषमग्रं छेदहृतं' इत्यादि से उसका घात सम्बन्धी अग्र (शेष) साधन करना चाहिये तब वह अग्र तज्जातीय कल्पगत होता है उससे अहर्गणादि होता है जैसे किसी घटिकात्मक कल्पगत में चन्द्र का भगण शेष ४१०५ होता है । यदि १३७ दिनों में चन्द्र भगण ५ होता है । यहां यदि इनको दिन १३७ $\times$ ६० $=$ ८२२० करके हरकल्पना की जाय तब सच्छेद (छेदसहित) उद्दिष्ट भगण शेष $= \frac{४१०५}{८२२०}$, पूर्ववत् दिनज भगण शेष $=$ ५ तब 'खं च दिनजशेषहृतं' इत्यादि से सच्छेद अल्पाग्र $= \frac{०}{५}$, सच्छेद शेषद्वय $\frac{४१०५}{८२२०}$, $\frac{०}{५}$ यहां छेद सहित शेषद्वय को पांच से अपवर्त्तन देने से नवीन छेद सहित शेषद्वय $\frac{८२१}{१६४४}$, $\frac{०}{१}$ 'अधिकाग्रभागहारा दूनाग्रच्छेद भाजितात्' इन्यादि से प्रथम शेष $=$ १० । उसका छेद $=$ १, शून्य इष्ट गुणकार से गुणित प्रथम शेष में शेषान्तर ८२१ को जोड़ देने से जो होता है उसको छेद से भाग देने से लब्ध निरग्र $=$ ८२१, यहां पूर्वलब्धि के अभाव के कारण वल्ली $\frac{०}{८२१}$, यह घटयात्मक कल्प गत है इसको साठ से भाग देने से कल्पगत दिनादि ॥ १३।४१ इति ॥

उपपत्ति ।

'भगणादि शेषमग्रं छेदहृतं खं च दिनजशेषहृतम्' इत्यादि की उपपत्ति देखने से स्फुट है ॥८॥

इदानीं स्थिरकुट्टकमाह ।

हृतयोः परस्परं यच्छेषं गुणकारभागहारकयोः ।
तेन हृतौ निश्छेदौ तावेव परस्परं हृतयोः ॥९॥

लब्धमधोऽधः स्थाप्यं तथेष्टगुणकारसङ्गुणं शेषम् ।
शुध्यति यथैकहीनं गुणकः स्थाप्यः फलं चान्त्यात् ॥१०॥

अप्रान्तमुपान्त्येन स्वोर्ध्वो गुणितोऽन्त्यसंयुतोभक्तम् ।
निःशेषभागहारेणैवं स्थिरकुट्टके शेषम् ॥११॥

सु. भा.—यो राशिः केनचिदुद्दिष्टेन गुणकेन गुणित एकहीन उद्दिष्टभागहारेण भक्तः शुध्यति स क इति प्रश्नोत्तरार्थं प्रथमं गुणभागहारयोर्महत्तमापवर्तनमानीयते । परस्परं हृतयोर्गुणाकारभागहारकयोरन्ते यच्छेषं तेन हृतौ तौ गुणभागहारौ निश्छेदौ दृढौ भवत इति । ततस्तयोर्द्वयोर्गुणभागहारयोः परस्परं हृतयोर्लब्धमधोऽधः स्थाप्यं पूर्वप्रतिपादितकुट्टाकारविधिना । एवमिदं कर्म यथेच्छशेषपर्यन्तं कर्तव्यम् । ततस्तच्छेषं तथा केनापीष्टगुणाकारेण गुणितं रूपेण हीनं तच्छेषसम्बन्धिच्छेदेन हृतं यथा शुध्यति । एवं सतीष्टगुणाकारः पूर्वाधोऽधः स्थापितफलानामधः स्थाप्यस्तदन्त्याच्च फलं स्थाप्यम् । एवं सम्पन्नायां वल्ल्यामुपान्त्येन स्वोर्ध्वो गुणितोऽन्त्येन संयुत एवं कुट्टाकारविधिनैवाग्रान्तं कर्म कर्त्तव्यम् । तत् निःशेषभागहारेण दृढभागहारेण भक्तं शेषमेवं स्थिरकुट्टको भवतीति । अत्र प्रथमं गुणकारेण भागहारो विभाज्यः।

अत्रोपपत्तिः । 'परस्पर भाजितयोर्ययोर्यः शेषस्तयोः स्यादपवर्तनं सः' इत्यादि भास्करविधिना स्फुटा इहाचार्येण रूपविशुद्धौ गुण एव साधितोऽतोऽत्राधरराशिरेवाग्रान्तो दृढभागहारेण तष्ट इति सर्वं भास्करकुट्टकप्रकरणेन स्फुटम् ॥ ९-११ ॥

अत्रकोलब्रूकानुवादानुसारेण प्रश्नरूपार्यायास्त्रुटिः सा च ।
(भगणादिशेषतोऽर्कस्यान्येषां वा दिवागणार्थं त्वम् ।
स्थिरकुट्टकं प्रचक्ष्व कुट्टार्णव पारगोऽसि यदि ॥ १४ ॥)
एवं भवितुमर्हति ।

वि. भा.—यो राशिः केनचिदुद्दिष्टेन गुणकेन गुणितः, एकहीनः, उद्दिष्ट-

हरेण भक्तः शुध्यति स राशिः कः। प्रथमं गुणहरयोर्महत्तमापवर्त्तनमानीयते। परस्परं भक्तयोर्गुणहरयोरन्ते यच्छेषं तेन भक्तौ तौ (गुणहरौ भवतः) दृढौ गुणहरौ भवतः। ततो दृढयोर्गुणहरयोः परस्परं भक्तयोर्लब्धान्यधोऽधः स्थाप्यानि, पूर्वप्रदर्शितकुट्टकनियमेन। इदं कर्म तावत्पर्यन्तं कर्त्तव्यं यावदन्ते रूपं शेषं तिष्ठेत्। तच्छेषं तथा केनापि गुणकेन गुणितं रूपेण हीनं तच्छेषसम्बन्धिहरेण भक्तं शुध्यति। सत्येवं गुणकः पूर्वाधोऽधः स्थापितकलानामधः स्थाप्यः, तदन्तात्फलं स्थाप्यम्। एवं जातायां वल्यां उपान्तिमेन स्वाध्र्वो गुणितोऽन्त्येन युत इति कुट्टकविधिना शेषान्तं यावत्कर्म कर्त्तव्यम्। तत् दृढभागहारेण (दृढहरेण) भक्तं शेषमेव स्थिरकुट्टको भवतीति॥

अत्रोपपत्तिः।

अथ महत्तमापवर्त्तनार्थं कल्प्यते। भाज्यः=य। भाजकः=क, भाजकेन भक्ते भाज्ये लब्धं=न शेषम्=प। पुनः प अनेन स्वहारे क भक्ते लब्धं=ल, शेषम्=ह, पुनरनेन शेषेण स्वहारे प भक्ते लब्धं=र, शेषम्=० तदाऽवश्यमेव य, क माने ह अनेन निःशेषौ भवेताम्। हरलब्ध्योर्घातः शेषयुतो भाज्यसमो भवतीति तेन. य=क. न+प। क=प. ल+ह। प=ह. र एतत् समीकरणत्रयावलोकनेन स्फुटमवसीयते यत् प अयं ह अनेन निःशेषः स्यात्। ततः क अयमपि तेनैव निःशेषो भवेत्। एवं क, प अनयोर्निःशेषत्वात् य अयमपि ह अनेन निःशेषो भवेदेवेति। एतावता 'हृतयोः परस्परं यच्छेषं गुणकार भागहारकयो' रित्याचार्योक्तमुपपन्नम्। सिद्धान्तशेखरे "परस्परं भाजितयोस्तु शेषकं तयोर्द्वयोरप्यपवर्त्तनं भवेत्। तदुद्धृतच्छेदविभाजकौ क्रमादभीष्टनिघ्नौ तु गुणाप्तयोः क्षिपेत्" श्रीपत्युक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेवास्ति, तथा लीलावत्यां "परस्परं भाजितयोर्ययोर्यः शेषस्तयोः स्यादपवर्त्तनं सः तेनापवर्त्तेन विभाजितौ यौ तौ भाज्यहारौ दृढसंज्ञकौ स्तः॥" इति भास्करोक्तमपि-आचार्योक्तानुरूपमेवास्ति। आचार्येणात्र रूपशुद्धौ गुणक एव साधितोऽतोऽत्राधरराशिरेवाग्रान्तो दृढभागहारेण भक्त इति ॥९-११॥

कोलब्रूकानुवादानुसारेण प्रश्नरूपार्यायास्त्रुटिरस्ति सा च 'भगणादिशेषतोऽर्कस्यान्येषां वा दिवा गणार्थं त्वम्। स्थिरकुट्टकं प्रचक्ष्व कुट्टार्णवपारगोऽसि यदि'॥१४॥ एवं भवितुमर्हति।

अथ स्थिर कुट्टक को कहते हैं।

हि. भा.—जिस राशि को किसी उद्दिष्ट गुणक से गुणाकर एक घटा कर उद्दिष्ट हर से भाग देने से शुद्ध होता है वह राशि क्या है। पहले गुणक और हर का महत्तमापवर्त्तन लाते हैं। परस्पर गुणक और हर को भाग देने से अन्त में जो शेष रहता है उससे

गुणक और हर को भाग देने से दृढ़ संज्ञक गुणक और हर होता है तब दृढ़ गुणक और हर को परस्पर भाग देने से जो लब्धियाँ हो उन्हें अधोऽधः स्थापन करना चाहिये। पूर्व प्रदर्शित कुट्टक नियम से इस कर्म को तब तक करना चाहिये जब तक अन्त में रूप शेष रह जाय। उस को किसी गुणक से गुणाकर रूप को घटा कर उस शेष सम्बन्धी हर से भाग देने से शुद्ध हो जाय। इस तरह पूर्वाधोऽधः स्थापित फलों के नीचे गुणक को स्थापन करना चाहिये। अन्त में फल स्थापन करना चाहिये। इस तरह वल्ली सम्पन्न होने पर उपान्त्य से ऊर्ध्वाङ्क को गुणाकर अन्त्य को जोड़ना। इस कुट्टक विधि से अग्रान्तपर्यन्त कर्म करना चाहिये। उसको दृढ़ भाग हार से भाग देने से शेष ही स्थिर कुट्टक होता है ।।

उपपत्ति ।

महत्तमापवर्त्तन के लिये कल्पना करते हैं भाज्य=य । भाजक=क, भाज्य में भाजक से भाग देने से लब्ध=न, शेष=प । पुनः प इससे अपने हर क को भाग देने से लब्ध=ल, शेष=ह । पुनः इस शेष से अपने हर प में भाग देने से लब्ध=र, शेष=० तब अवश्य ही य, क, का मान ह इससे निः शेष होगा, हर और लब्धि के घात में शेष को जोड़ देने से भाज्य के के बराबर होता है इसलिये य=क. न+प। क=प. ल+ह। प=ह. र इन तीनों समीकरणों को देखने से स्फुट समझ में आता है कि प यह ह इससे निः शेष होगा, तब क यह भी उसी से निः शेष होगा इस तरह क, और प के निःशेषत्व से य यह भी ह इससे निः शेष होगा ही। इससे 'हृतयोः परस्परं यच्छेषं भाग-भागहारकयोः' इत्यादि आचार्योक्त उपपन्न हुआ। आचार्य ने रूप शुद्धि में गुणक ही साधन किया है इसलिये यहां अधर राशि ही को दृढ़ भाग हार से भाग दिया गया है। सिद्धान्तशेखर में 'परस्परं भाजितयोस्तु शेषकं तयोर्द्वयोरप्य-पवर्त्तनं भवेत्' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से श्रीपति ने आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है। तथा लीलावती में 'परस्परं भाजितयोर्ययोर्यः शेषः' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित पद्य से भास्कराचार्य ने भी आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है ।।९-११।। कोलब्रूक साहिब के अनुवाद के अनुसार प्रश्नरूप आर्या की त्रुटि है वह संस्कृतोपपत्ति में लिखित पद्य के अनुसार होना चाहिये ।।१४।।

इदानीं स्थिरकुट्टकादहर्गणमाह ।

इष्टभगणादिशेषात् स्वकुट्टकगुणात् स्वभागहारहृतात् ।
शेषं द्युगणो गतनिरपवर्त्तगुणभागहारयुतः ।।१२।।

सु. भा.—यदि भगणशेषमिष्टं तदा कल्पभगणा गुणकारः। यदा राशि-शेषमिष्टं तदा द्वादशगुणाः कल्पभगणा गुणकारः। भागहारस्तु सर्वदैव कल्प-कुदिनानि ज्ञेयानि। एक गुणाकारभागहाराभ्यां स्थिरं स्वकुट्टकं विधाय तत इष्टभगणादिशेषात् किं विशिष्टात् स्वकुट्टकगुणात् पुनः किं विशिष्टात् स्वभागहार-

हृताद्यच्छेषं स द्युगणोऽहर्गणो भवति स गत निरपवर्त्तगुणभागहारयुतोऽनेकधा भवति । गतः प्राप्तो निरपवर्त्तेन येनापवर्त्तेन गुणसम्बन्धी यो भागहारस्तेनार्थाद् दृढभागहारेण युतोऽनेकधा भवतीति ।

अत्रोपपत्तिः । 'क्षेपं विशुद्धिं परिकल्प्य रूपं पृथक् तयोर्ये गुणकारलब्धी'— इति भास्करविधिना स्फुटा ।। १२ ।।

वि. भा.--यदि भगणशेषमिष्टं तदा कल्प भगणा गुणकारः । यदि च राशि शेषमिष्टं तदा द्वादशगुणाः कल्पभगणा गुणकारः । भागहरस्तु सदैव कल्पकुदिनानि ज्ञातव्यानि । एवं गुणकहाराभ्यां स्थिरं स्वकुट्टकं विधाय स्वकुट्टकगुणात्–स्वभागहारभक्तादिष्टभगणादिशेषाद्यच्छेषं सोऽहर्गणो भवति । निरपवर्त्तेन गुणसम्बन्धी गतः (प्राप्तः) यो भागहारस्तेनार्थाद् दृढ़भागहारेण युतोऽनेकधा भवतीति ।।

अत्रोपपत्तिः ।

$\frac{\text{भाज्य. गु} - १}{\text{हा}}$ = ल अत्र कुट्टकयुक्त्या ये गुणलब्धी ते ऋणात्मकक्षेपे । ततः ऋणात्मकरूपक्षेपे यदि समागतगुणलब्धी तदेष्ट ऋणात्मकक्षेपे किं ये गुणलब्धी ते स्वहारभक्ते तदा वास्तवगुणलब्धी भवेताम् । लीलावत्यां 'क्षेपं विशुद्धिं परिकल्प्य रूपं पृथक् तयोर्ये गुणकारलब्धी' इत्यादि भास्करोक्तमप्येतादृशमेव । सर्वत्रैव भास्करोक्तौ यादृशी विषयप्रतिपादने स्पष्टता न तादृशी-आचार्योक्ताविति ।।१२।।

अब स्थिर कुट्टक के लिये अहर्गण को कहते हैं ।

हि. भा.—यदि भगण शेष इष्ट है तो कल्प भगण गुणकार होता है । यदि राशि शेष इष्ट है तो बारह गुणित कल्प भगण गुणकार होता है । भाग हार सदा कल्प कुदिन होता है । इस तरह गुणकार और भाग हार से स्थिर स्वकुट्टक करके स्वकुट्टक गुणित और स्वभाग हार से भक्त इष्ट भगणादि शेष से जो शेष हो वह अहर्गण होता है दृढ़ भाग हार को जोड़ने से अनेकधा होता है इति ।।

उपपत्ति ।

$\frac{\text{भाज्य. गु} - १}{\text{हा}}$ = ल । यहां कुट्टक नियम से जो गुणक और लब्धी आती है वे ऋणात्मक रूपक्षेप में । तब अनुपात करते हैं यदि ऋणात्मक रूपक्षेप में ये गुणक और लब्धि तो इष्ट ऋणात्मक क्षेप में क्या इससे जो गुणक और लब्धी हो उन्हें अपने हर से भाग देने से वास्तव गुणक और लब्धि होती हैं । लीलावती में 'क्षेपं विशुद्धि परिकल्प्य रूपं' इत्यादि भास्करोक्त भी इसी तरह है इति ।।१२।।

स्थिरकुट्टकेन विकलादिशेषाद् ग्रहाहर्गणयोरानयनं ब्रह्मगुप्तेन भास्कराचार्येण चोक्तं, प्राचीनैः प्राधान्येन विकलादिशेषादहर्गणानयनार्थमेव कुट्टकविधिरुक्तः। भास्कराचार्येण च लीलावत्यां 'अस्य गणितस्य ग्रहगणिते महानुपयोगस्तदर्थं किञ्चिदुच्यते' इत्युक्त्वा तद्विधिश्च "कल्प्याथ शुद्धिर्विकलावशेषं षष्टिश्च भाज्यः कुदिनानि हारः। तज्जं फलं स्युर्विकला गुणस्तु लिप्ताग्रमस्माच्च कलालवाग्रम्। एवं तदूर्ध्वं च तथाधिमासावमाग्रकाभ्यां दिवसा रवीन्द्वोः॥" विधिरुक्तः। ग्रहस्य विकलाशेषाद्ग्रहाहर्गणयोरानयनम्। तद्यथा। तत्र षष्टिर्भाज्यः। कुदिनानि हारः। विकलावशेषं शुद्धिरिति प्रकल्प्य गुणलब्धी साध्ये तत्र लब्धिर्विकलाः स्युः। गुणः कलाशेषम्। एवं कलावशेषं शुद्धिः। षष्टिर्भाज्यः। कुदिनानि हारः। लब्धिः कलाः, गुणो भाग (अंश) शेषम्। भागशेषं शुद्धिः। त्रिंशद्भाज्यः। कुदिनानि हारः फलं भागाः। गुणो राशिशेषम्। एवं राशिशेषं शुद्धिः। द्वादशभाज्यः। कुदिनानि हारः। फलं गतराशयः। गुणो भगणशेषम्। कल्पभगणा भाज्यः। कुदिनानि हारः। भगणशेषं शुद्धिः। फलं गतभगणाः। गुणोऽहर्गणः स्यात्। अहर्गणज्ञानेन ग्रहज्ञानं सुगममेव। यद्यपि श्रीपतिना कुट्टकाध्यायेऽयं विषयो (विकलादि शेषाद्ग्रहाहर्गणयोरानयनं) नोक्तस्तथापि प्रश्नाध्याये-एतद्विषयक प्रश्नो विलिखितो यथा "यो राशिशेषादथ भागशेषाल्लिप्ताविलिप्तोद्भवशेषतो वा। अहोगतं तत्परशेषतोऽपि जानाति खेटं च स कुट्टकज्ञः॥" अर्थात् भगणादि ग्रहानयने यो राशिशेषस्तस्मात्। भागशेषात् भगणादि ग्रहानयन एव योंऽशशेषस्तस्मात्। भगणादिग्रहानयने कलाशेषाद्विकलाशेषाद्वा। खेटं (ग्रहं) तत्परशेषतोऽपि कला विकलादीनां षष्ट्यं शेषु मुहुर्वर्धितेषु तत्परतोऽपि यः शेषस्तस्मादपि च यो गणको गतमहर्गणं जानाति स कुट्टकज्ञोस्तीति॥

अस्योपपत्तिः। कल्पकुदिनैः कल्पभगणा लभ्यन्ते तदाऽहर्गणेन किमिति त्रैराशिकेनाऽभीष्टदिने भगणादिग्रहानयनं क्रियते। तत्र पूर्वोक्तानुपातेन लब्धा भगणाऽवशिष्टं भगणशेषम्। तच्च भगणशेषं द्वादशगुणं कल्पकुदिनैर्भक्तं लब्धा राशयः। शेषं राशिशेषं भवति। पुना राशिशेषं त्रिंशद्गुणितं कल्पकुदिनैर्भक्तं लब्धा अंशाः शेषं चांशशेषं भवति। तदंशशेषं षष्ट्या गुणितं कल्पकुदिनैर्भक्तं लब्धाः कलाः शेषं च कलाशेषम्। कलाशेषमपि षष्ट्या गुणितं कल्पकुदिनैर्भक्तं लब्धा विकला भवन्ति शेषं विकलाशेषमिति भगणादिशेषाणां परिभाषा। अतोऽत्र राश्यादिशेषात् ग्रहानयने कुट्टकगणितानुसारेण सम्भवे सति भाज्यहारक्षेपाः केनाप्यङ्केनापवर्त्तनीयाः। ततः पूर्वकथितरीत्या कलाशेषस्य गुणकः षष्टिः हारो दृढकुदिनानि। अथ येन गुणकेन गुणितश्छेदो विकलाशेषयुतः स्वगुणकेन षष्ट्या भक्तो निःशेषो भवति स गुणको ग्रहविकला भवन्ति फलं च कलाशेषम्। एवं कलाशेषात् कला अंशशेषं च भवति। एवमन्ते भगणशेषज्ञानं भवेत् तस्मादहर्गणज्ञानं च भवति।

यथा कलाशेषं षष्टिगुणं दृढ़कुदिनभक्तं लब्धं गृहविकला: शेषं च विकलाशेष-मिति। हरलब्ध्योर्घात: क्षेपयुतो भाज्यराशिसम: ६० × कशे = गृवि × दृकु + विशे ∴ कशे = $\frac{\text{गृवि} \times \text{दृकु} + \text{विशे}}{६०}$ अतो दृढ़कुदिनमानं येन गुणं विकलाशेषयुतं षष्टि-भक्तं निरग्रं भवति। स गुणको गृहविकला:। फलं च कलाशेषमिति। एवं स्वस्वशेषगुणच्छेदाभ्यां तत्तच्छेषमाने भवत इति। भगणादिशेषादहर्गणानयन-विधिरार्यभटीये महासिद्धान्ते—

भगणाद्यग्राणि स्यु: क्षेपा ऋण संज्ञका: क्वहाश्छेद:।
भगणादीनां भाज्याभगणार्यंखा[1] गना तना तेना ॥
विकलाशेषोत्पन्नं फलं विलिप्ता गुण: कलाशेषम्।
लिप्ताग्रोत्पन्न फलं लिप्तागुणकोंऽशशेषं स्यात् ॥
लवशेषजफलमंशा गुणको राश्यग्रकं भवति।
राश्यग्रोत्पन्नफलं गृहाणि गुणको भवेद् भगणशेषम् ॥
मण्डलशेषप्रभवं फलं च चक्राण्यहर्गणो गुणक: ॥" इति ॥

स्थिर कुट्टक से ग्रहानयन और विकलादिशेष से अहर्गणानयन ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्यने किया है। विकलादिशेष से अहर्गणानयन को ही प्राचीनाचार्य प्रधानरूप से कुट्टक विधि कहते हैं। भास्कराचार्य ने लीलावती में 'अस्य गणितस्य ग्रहगणिते महानुपयोग-स्तदर्थं किञ्चिदुच्यते' यह कहकर उसकी विधि "कल्प्याथ शुद्धिर्विकलावशेषं षष्टिश्च भाज्य: कुदिनानि हार:" तज्जं फलं स्युर्विकला गुणस्तु लिप्ताग्रमस्माच्च कलालवाग्रम्। एवं तदूर्ध्वं च तथा इत्यादि से भास्कराचार्य ने विधि कही है। ग्रह के विकलाशेष से ग्रहानयन अहर्ग-णानयन करते हैं। जैसे—साठ भाज्य। कुदिन हर, विकलावशेष शुद्धि ये कल्पना कर गुणक और लब्धि साधन करना चाहिये, यहां लब्धि विकला होती है। और गुणक कलाशेष। एवं कलाशेष शुद्धि। साठ भाज्य। कुदिन हर इससे लब्धि कला होती है और गुणक भाग (अंश) शेष होता है। भागशेष शुद्धि, तीस भाज्य, कुदिनहर इससे लब्धि गतराशि प्रमाण होता है। गुणक भगणशेष होता है। कल्पभगण भाज्य। कुदिन हर, भगणशेष शुद्धि इससे लब्धि गतभगण होता है। गुणक अहर्गण होता है। अहर्गण ज्ञान से ग्रहानयन सुगम ही है। यद्यपि श्रीपति ने कुट्टकाध्याय में इस विषय को (विकलादिशेष से ग्रहानयन और अहर्गणा-नयन) नहीं कहा है। तथापि प्रश्नाध्याय में एतद्विषयक प्रश्न लिखे हैं जैसे—

'यो राशिशेषादथ भागशेषा'दित्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से स्पष्ट किया है। अर्थात् भगणादि ग्रहानयन में जो राशि शेष है उससे, भगणादिग्रहानयन में ही जो अंश शेष है उससे भगणादि ग्रहानयन में कलाशेष से या विकलाशेष से ग्रह को और अहर्गण को जो गणक जानते हैं वे कुट्टकज्ञ हैं।

(१) यंखा = १२। गना = ३०। तना = ६०। तेना = ६० द्वितीयार्यभटकृते महा-सिद्धान्ते एवमेव केरलमतानुसारी सवत्रैव संख्यापाठोऽस्तीति।

इसकी उपपत्ति ।

यदि कल्प कुदिन में कल्पभगरा पाते हैं तो अहर्गरा में क्या इस त्रैराशिक से अभीष्ट दिन में भगरादि ग्रहानयन करते हैं। उपर्युक्तानुपात से लब्ध भगरा होता है और शेष भगरा शेष है। इस भगरा शेष को बारह से गुरगा कर कल्प कुदिन से भाग देने से लब्ध राशिप्रमारा होता है। शेष राशि शेष है। राशि शेष को तीस से गुराकर कल्प कुदिन से भाग देने से लब्ध अंश होता है। शेष अंश शेष होता है। इस अंश शेष को साठ से गुरगा कर कल्पकुदिन से भाग देने से लब्धि कला होती है। और शेष कला शेष होता है। कला-शेष को साठ से गुराकर कल्पकुदिन से भाग देने से लब्धि विकला होती है। शेष विकला शेष होता है। यही भगरादिशेषों की परिभाषा है। अतः यहां राश्यादि शेष से ग्रहानयन में कुट्टक गरिगतानुसार सम्भव रहने पर किसी अङ्क से भाज्य हार-क्षेपों को अपवर्त्तन देना चाहिये। तब पूर्वकथित रीति से कलाशेष के गुराक साठ, हार दृढ़कुदिन, जिस गुराक से गुरिगत छेद में विकलाशेष जोड़कर अपने गुराक साठ से भाग देने से निःशेष हो वह गुराक ग्रहविकला होती है। लब्धिकला शेष होता है। कलाशेष से कला अंश शेष होता है। इस तरह अन्त में भगराशेष ज्ञान होता है। उससे अहर्गरगानयन भी होता है। जैसे कलाशेष को साठ से गुराकर दृढ़ कुदिन से भाग देने से लब्धि ग्रहविकला होती है और शेष विकला शेष होता है। हर और लब्धि के घात में क्षेप को जोड़ने से भाज्य के बराबर होता है

$$\therefore ६० \times \text{कशे} = \text{ग्रवि. दृकु} + \text{विशे} \quad \therefore \frac{\text{ग्रवि. दृकु} + \text{विशे}}{६०} = \text{कशे}$$ अतः दृढ़कुदिन मानं जिस गुराक से गुराकर विकला शेष को जोड़कर साठ से भाग देने से निरग्र (निःशेष) हो वह गुराक ग्रहविकला होती है। और लब्धि कलाशेष होता है। भगरादि शेष से अहर्गरगा-नयन की विधि आर्यभटीय महासिद्धान्त में है जैसे—

'भगराद्यग्रारिग स्युः क्षेपा ऋरग संज्ञकाः कुद्दाश्छेदः।
भगरादीनां भाज्या भगरगा यंखा[1] गना तना तेना ॥'

इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोकों से स्फुट है इति ॥

भास्कराचार्येरग 'कल्प्याथ शुद्धिर्विकलावशेषमित्यादौ' कथ्यते यदस्य ग-रिगतस्य ग्रहगरिगते महानुपयोगस्तदुपयोगित्वसम्बन्धे विचार्यते। यथा भगरगा-दिशेषतोऽहर्गरगानयनार्थं दृढभगराशेषं चक्रविकलाभिर्गुरिगतं दृढकुदिनैर्भक्तं लब्धं विकलात्मकग्रहः शेषं विकलाशेषं तत्स्वरूपम् $= \frac{\text{दृभशे} \times \text{चवि}}{\text{दृकुदि}} = \text{विग्र} + \frac{\text{विशे}}{\text{दृकुदि}}$ छेदगमेन दृभशे × चवि = दृकुदि. विग्र + विशे अतः दृभशे

1. यंखा = १२। गना = ३०। तना = ६०। तेना = ६० द्वितीयार्यभटकृत महा-सिद्धान्त में इसी तरह केरलमतानुसारी सब जगह संख्याओं के पाठ हैं।

$= \frac{\text{दृकुदि. विग्र}+\text{विशे}}{\text{चवि}}$, विग्र = विकलात्मकग्रह । विशे = विकलाशेष । चवि = चक्रविकला। अत्र यदि चक्रविकलातो विकलाशेषमल्पं तदा ऽस्मिन् $\frac{\text{दृकुदि. विग्र}}{\text{चवि}}$ स्वरूपेऽपि शेषेणावश्यं भवितव्यम् यतो दृढ़भगणस्वरूपे दृढ़कुट्टकावसरः । कुट्टकस्य सार्वदिक दृढ़त्वमस्त्येवातो विकलाशेषस्य शेषस्य च योगश्चक्रविकलासमः । अन्यथा दृढ़त्वाभावापत्तिः । अथ यदि लब्धिः = ल तदा भशे = $\frac{\text{ल. चवि} + \text{शे} + \text{विशे}}{\text{चवि}}$ अर्थात् ल + $\frac{\text{विशे}+\text{शे}}{\text{चवि}}$ परन्त्वत्र शे < चवि, विशे < चवि परञ्च दृढ़भगणशेषं निरवयवमतः शे + विशे = चवि अतः $\frac{\text{शे}+\text{विशे}}{\text{चवि}} = १$ । तेन ल + १ = दृभशे अन्यथा दृढ़त्वाभावात्कुट्टकस्याव्याप्तिः । अतः चवि — शे = विशे, यदि शे = ० तदा विशे = चवि । यदि चवि-शे > दृकु स्यात्तदा 'येनच्छिन्नौ भाज्यहारावित्यादि' युक्त्या खिलोद्दिष्टत्वात् दृढभगणशेषमपि खिलम् । अखिलोदाहरणसत्वे 'कल्प्याथ शुद्धिर्विकलावशेष' मित्यादिना ऽहर्गणः साध्यः । अथ पूर्वानीतभगणशेषस्वरूपे छेदगमादिना $\frac{\text{दृभशे. चवि-विशे}}{\text{दृकु}}$ = विग्र अत्र कुट्टकयुक्त्या ऽहर्गणज्ञानं सुलभम् । परञ्चोक्तस्वरूप एव भशे. चवि-विग्र. दृकु = विशे., अस्मिन् इ. चवि योजनेन तुल्य-गुणक पृथक् करणेन च (दृभशे. इ) चवि-विग्र = विशे + इ. चवि अत्र यदि विशे + इ. चवि-दृकु तदा दृभगशे. + इ. = भगशे – विशे + इ. चवि = विशे अस्मादपि कल्प्याथ शुद्धिर्विकलावशेषमित्यादिना ऽहर्गणः साध्य इति ॥

भास्कराचार्य लीलावती में 'कल्प्याथ शुद्धि विकलावशेषं' इत्यादि कहते हैं कि 'अस्य गणितस्य ग्रहगणिते महानुपयोगः' अर्थात् इस गणित के ग्रहगणित में बहुत उपयोगिता है । उसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार करते हैं। यथा भगणादिशेष से अहर्गणानयन के लिये दृढ़भगणशेष को चक्र विकला से गुणाकर दृढ़कुदिन से भाग देने से लब्ध विकलात्मक ग्रह होता है शेषविकला शेष रहता है उसका स्वरूप = $\frac{\text{दृभशे. चवि}}{\text{दृकुदि}}$ = विग्र + $\frac{\text{विशे}}{\text{दृकुदि}}$ छेदगम से दृभशे. चवि = दृकुदि.विग्र + विशे । अतः $\frac{\text{दृकुदि. विग्र}+\text{विशे}}{\text{चवि}}$ = दृभशे । विग्र = विकलात्मकग्र, विशे = विकलाशेष, चवि = चक्रविकला, यहां यदि चक्रविकला से विकला-शेष अल्प है तब $\frac{\text{दृकुदि.विग्र}}{\text{चवि}}$ इस स्वरूप में भी शेष अवश्य होना चाहिये, क्योंकि दृढ़भग-णस्वरूप में दृढ़ कुट्टक का अवसर है, कुट्टक का सार्वदिक दृढ़त्व है ही इसलिये विकलाशेष

और शेष का योग चक्र विकला के समान है। अन्यथा दृढ़त्वाभाव रूप आपत्ति होगी। यदि लब्धि = ल तब भशे = $\frac{\text{ल. चवि}+\text{शे}+\text{विशे}}{\text{चवि}}$ अर्थात् ल + $\frac{\text{शे}+\text{विशे}}{\text{चवि}}$ परन्तु यहां शे < चवि, विशे < चवि लेकिन दृढ़ भगरण शेष निरवयव है इसलिये शे + विशे = चवि $\therefore$ $\frac{\text{शे}+\text{विशे}}{\text{चवि}}$ = १, इसलिये ल + १ = दृभशे अन्यथा दृढ़त्व के अभाव से कुट्टक की अव्याप्ति होगी, अतः चवि--शे = विशे, यदि शे = ० तब विशे = चवि, यदि चवि-शे > दृकुदि तब 'येनच्छिन्नौ भाज्यहारौ' इत्यादि युक्ति से उदाहरण के खिलत्व से दृढ़भगणशेष भी खिल होगा। अखिल उदाहरण के रहने से 'कल्प्याथशुद्धिर्विकलावशेषं' इत्यादि भास्करोक्त से अहर्गण साधन करना, पूर्वानीत भगणशेषस्वरूप में छेदगमादि से $\frac{\text{दृभशे. चवि}-\text{विशे}}{\text{दृकु}}$ = विग्र। यहां कुट्टक की युक्ति से अहर्गणज्ञान सुलभ है। परञ्च उक्त स्वरूप ही में भशे. चवि-विग्र. दृकु=विशे इसमें इ. चवि जोड़ने से और तुल्य गुणक पृथक् करने से (दृभशे.इ) चवि-विग्र = विशे + इ. चवि। यहां यदि विशे+इ. चवि-दृकुदि तब दृभशे + इ = भगशे × विशे + इ. चवि=विशे, इससे भी 'कल्प्याथ शुद्धि विकलावशेषं' इत्यादि से अहर्गण साधन करना चाहिए इति ॥ १२ ॥

इदानीं स्थिरकुट्टके विशेषमाह।

एवं समेषु विषमेष्वृणं धनं धनमृणं यदुक्तं तत्।
ऋणधनयोर्व्यस्तत्वं गुण्यप्रक्षेपयोः कार्यम् ॥१३॥

सु. भा.—एवं पूर्वागतवल्लीस्थफलेषु समेषु कर्म भवति। विषमेषु फलेषु च यदिष्टगुणाकारतो लब्धं भवेत् तत्तत्र यद्धनं वा ऋणमुक्तं स्यात् तत् क्रमेण ऋणं धनं कार्यम्। एवमृणधनयोर्गुण्यप्रक्षेपयोश्च व्यस्तत्वं कार्यम्। अत्रैतदुक्तं भवति। यदि गुणो धनः क्षेपश्च क्षयस्तत्र धनगुणक्षेपाभ्यां कर्म कर्तव्यम्। यत्र च गुणोऽधनः क्षेपश्च धनस्तत्र धनेन गुणेन ऋणक्षेपे कुट्टकः कर्त्तव्य इति।

अत्रोपपत्तिः। 'एवं तदैवात्र यदा समास्ताः' इत्यादिभास्करविधिना स्फुटा। इहाचार्येण प्रथमं गुणकारेण भागहारो विभाजितोऽतोऽत्र द्वितीय लब्धितौ वल्ली सम्पन्ना तेन समायां वल्ल्यामृणक्षेपेऽन्यथा धनक्षेपे भवतीति। 'ऋणभाज्ये धनक्षेपे' इत्यादिविधिना शेषोपपत्तिः स्फुटेति ॥ १३ ॥

वि. भा.—विषमेषु फलेषु यदिष्टगुणाकारतो लब्धं भवेत्तत्तत्र यद्धनं वा ऋणमुक्तं तत् क्रमेण ऋणं धनं कार्यम्। एवमृणधनयोर्गुण्यप्रक्षेपयोश्च व्यस्तत्वं कार्यम्। यदि गुणो धनः क्षेपश्चर्णं तत्र धनगुणक्षेपाभ्यां कर्म कार्यम्। यत्र च गुणो

ऋणात्मकः क्षेपश्च धनात्मकस्तत्र धनात्मकगुणेन ऋणक्षेपे कुट्टकः कर्त्तव्य इति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

$\frac{\text{भा. गु+क्षे}}{\text{हा}}$ = ल ∴ भा. गु+क्षे = हा. ल ……………(क)

इ. भा. हा = इ. भा. हा …………(ख)

(ख) अत्र समीकरणे (क) समीकरणं विशोध्यते तदा इ. भा. हा—(भा. गु+क्षे) = इ. भा. हा—हा. ल = इ. भा. हा—भा. गु—क्षे = भा (इ. हा—गु)—क्षे = हा (इ. भा—ल)। अत्र यदि इ = १ तदा भा (हा—गु)—क्षे = हा (भा—ल) अतः $\frac{\text{भा (हा—गु)—क्षे}}{\text{हा}}$ = भा—ल अत्र यदि हा—गु = गु'। भा—ल = ल' तदा $\frac{\text{भा. गु'—क्षे}}{\text{हा}}$ = ल', लीलावत्यां 'यदा गतौ लब्धिगुणौ विशोध्यौ स्वतक्षणाच्छेमितौ तु तौ स्त' इति भास्करोक्तमप्याचार्योक्त सदृशमेव। अथ भा. गु+क्षे = हा. ल, उभयत्रापि इ. भा. हा योजनेन भा. गु+क्षे+इ. भा. हा = हा. ल+इ. भा. हा = भा (गु+इ. हा)+क्षे = हा (ल+इ. भा) अत्र यदि गु+इ. हा = गु', ल+इ. भा = ल' तदा भा. गु'+क्षे = हा. ल' एतावताऽऽचार्योक्तमुपपन्नम्। सिद्धान्त शेखरे "तदुद्धृतच्छेदविभाज्यकौ क्रमादभीष्टनिघ्नौ तु गुणाप्तयोः क्षिपेत्" श्रीपत्युक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेवेति ॥१३॥

अब स्थिर कुट्टक में विशेष कहते हैं ।

हि. भा.—इस तरह पूर्वागत वल्लीस्थ फल में कर्म होता है। विषम फल में इष्ट गुणकार से जो लब्ध हो वह वहां जो धन वा ऋण कथित है वह क्रम से ऋण और धन करना चाहिये। एवं ऋण गुण्य और धन क्षेप को विलोमत्व करना चाहिये। यदि गुणक धन हो और क्षेप ऋण हो वहां धनात्मक गुणक और क्षेप से कर्म करना चाहिये। जहां गुणक ऋण हो और क्षेप धन हो वहां धनात्मक गुणक से ऋण क्षेप में कुट्टक करना चाहिये इति ॥

उपपत्ति ।

$\frac{\text{भा. गु+क्षे}}{\text{हा}}$ = ल. अतः भा. गु+क्षे = हा. ल …………………(क)

इ. भा. हा = इ. भा. हा ……………(ख)

(ख) समीकरण में से (क) समीकरण को घटाने से इ. भा. हा—(भा. गु+क्षे) = इ. भा. हा—हा. ल = इ. भा. हा—भा. गु—क्षे = भा (इ. हा—गु)—क्षे = हा

(इ. भा—ल)। यहां यदि इ=१ तब भा (हा—गु)—क्षे=हा (भा—ल) अतः $\frac{\text{भा (हा—गु)—क्षे}}{\text{हा}}$ = भा—ल, यहां यदि हा—गु=गु' । भा—ल=ल' तब $\frac{\text{भा. गु'—क्षे}}{\text{हा}}$ =ल', लीलावती में 'यदा गतौ लब्धिगुणौ विशोध्यौ' इत्यादि भास्करोक्त इससे उपपन्न होता है जो कि आचार्योक्त के सदृश ही है। भा. गु+क्षे=हा. ल दोनों में इ. भा. हा जोड़ने से भा. गु+क्षे+इ. भा. हा=हा. ल+इ. भा. हा=भा (गु+इ. हा)+क्षे=हा (ल+इ. भा) यहां यदि गु+इ. हा=गु' । ल+इ. भा=ल' तब भा. गु'+क्षे=हा. ल' इससे आचार्योक्त उपपन्न होता है। सिद्धान्तशेखर में 'तदुद्धृतच्छेदविभाजकौ क्रमादभीष्टनिघ्नौ' इत्यादि श्रीपत्युक्त भी उपपन्न हुआ जो कि आचार्योक्त के अनुरूप है इति ॥१३॥

इदानीं विलोमगणितमाह।

गुणकश्छेदो छेदो गुणको धनमृणमृणं धनं कार्यम्।
वर्गः पदं पदं कृतिरन्त्याद्विपरीतमाद्यं तत् ॥१४॥

सु. भा.—अन्त्याद् दृश्याद्विपरीतं कार्यं तदाऽऽद्यमाद्यराशिमानं भवेत्। शेषं स्पष्टार्थम्। 'छेदं गुणं गुणं छेदं वर्गं मूलं पदं कृतिम्'—इत्यादि भास्करोक्त मेतदनुरूपमेव ॥ १४ ॥

वि. भा.—अन्त्यात् (दृश्यात्) गुणको हरः। छेदोहरः गुणकः। धनं ऋणं, ऋणं धनं, वर्गो मूलं, मूलं वर्गः, इति सर्वं दृश्ये कार्यं तदाऽऽद्यराशिमानं भवेत्। सिद्धान्तशेखरे "गुणो हरो हरो गुणः पदे कृतिः कृतिः पदम्। क्षयो धनं धनं क्षयः प्रतीपकेन दृश्यके ॥" श्रीपत्युक्तमिदं "गुणकारा भागहरा भागहरा ये भवन्ति गुणकाराः। यः क्षेपः सोऽपचयोऽपचयः क्षेपश्च विपरीते ॥"इत्यार्यभटोक्तस्यानुरूपमेव आचार्यो (ब्रह्मगुप्त) क्तमप्यार्यभटोक्तानुरूपमेव। गुणकारा भागहरा इत्यादेर्गणितार्थमार्यभटीयटीकाकारस्य परमेश्वरस्योदाहरणम्। कस्त्रिघ्नः पञ्चभिर्भक्तः षड्भिर्युक्तः पदीकृतः। एकोनो वर्गितो वेदसंख्यः स गणक उच्यताम् ॥ छेदं गुणं गुणं छेदं वर्गं मूलं पदं कृतिम्। ऋणं स्वमित्यादि भास्करोक्तमाचार्योक्तानुरूपमेवास्ति। गणेशदैवज्ञोक्तमुदाहरणम्। राशेर्यस्य कराहतस्य च पदं स्वाष्टांशयुग्वर्गितं रामाप्तं च निजैस्त्रिभिर्नवलवैरूनं स नूनः पुनः। शिष्टं वेदमितं विलोमविधिना तं ब्रूहि राशिं सखे चेत्पाटीगणिताटवीप्रकटितं शार्दूलविक्रीडितम् ॥"

अब विलोम गणित को कहते हैं।

हि. भा.—अन्त्य (दृश्य) से गुणक को हर, हर को गुणक, धन को ऋण, ऋण

को धन, वर्ग को मूल, मूल को वर्ग यह सब कर्म दृश्य में करना चाहिये तब आद्यराशि मान होता है ॥१४॥

उपपत्ति ।

राशि में जिन कर्मों को करने से दृश्य के बराबर हो, दृश्य में उन्हीं कर्मों की विलोम क्रिया से इष्ट राशि मान होता है ॥ सिद्धान्तशेखर में 'गुणो हरो हरो गुणः पदं कृतिः' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से श्रीपति ने आचार्य के अनुरूप ही कहा है । 'गुणकारा भागहरा भागहरा ये भवन्ति गुणकारा' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित आर्यभटोक्त प्रकार के अनुरूप ही आचार्यो (ब्रह्मगुप्त) क्तप्रकार भी है । लीलावती में 'छेदं गुणं गुणं छेदं वर्गं मूलं पदं कृतिम्' – इत्यादि भास्करोक्त भी आचार्योक्त के अनुरूप ही है इति ॥१४॥

इदानीं प्रश्नमाह ।

यो जानाति युगादिग्रहयुगयातैः पृथक् पृथक् कथितैः ।
द्वित्रिचतुःप्रभृतीनां कुट्टाकारं स जानाति ॥१५॥

सु. भा.—द्विचतुःप्रभृतीनां पृथक्-पृथक् कथितैर्ग्रहयुगयातैर्यो युगादि जानाति स कुट्टाकारं जानातीत्यहं मन्ये । अस्योत्तरं 'छेदवधस्य द्वियुग' मिति षष्ठसूत्रेण स्फुटम् । कोलब्रूकसाहबेन यत्पुस्तकादस्याङ्गलभाषायामनुवादः कृतस्तस्मिन्नयं सप्तमः श्लोकः ॥ १५ ॥

अत्रोदाहरणं चतुर्वेदाचार्येण कल्पे रविभगणाः ३० । चन्द्रभगणाः ४०० । कुजभ. १६ । बुभ. १३० । गुभ. ३ । शुभ. ५० । शभ. १ । च. उ. भ. ४ । च. पा. भ. २ । भदिनानि १०९९० । सौरमासाः ३६० । चान्द्रमासाः ३७० । अधिमासाः १० । सौरदिनानि १०८०० । चान्द्रदिनानि १११०० । क्षयाहाः १४० । सावनदिनानि १०९६० ।

एकस्मिन् दिने भगणात्मिका गतिश्च ।

र.	चं.	भौ.	बु. उ.	गु.	शु. उ.	श.	च. उ.	च. पा.
$\frac{३}{१०९६}$	$\frac{५}{१३७}$	$\frac{१}{६८५}$	$\frac{१३}{१०९६}$	$\frac{३}{१०९६०}$	$\frac{५}{१०९६}$	$\frac{१}{१०९६०}$	$\frac{१}{२७४०}$	$\frac{१}{५४८०}$

कल्पिता । इति सर्वं कोलब्रूकानुवादतो ज्ञायते ।
चतुर्वेदटीकाऽस्याध्यायस्य नोपलब्धाऽस्माभिः ॥ १५ ॥

वि. भा.—द्वित्रिचतुः प्रभृतीनां (द्वित्र्यादीनां) पृथक् पृथक् कथितैर्ग्रहयुगयातैर्यो युगादि जानाति स कुट्टाकारं (कुट्टकगणितं) जानातीति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

पूर्वोक्ते 'अधिकाग्रभागहारादूनाग्रच्छेद भाजिताच्छेषम् । यत् तत् परस्पर-हृतं लब्धमधोऽधः पृथक् स्थाप्यम्, इत्यादिश्लोकेषु श्रीमतां म. म. सुधाकरद्विवेदिम-होदयानामुदाहरणम् । चतुस्त्रिंशद्धृतोद्व्यग्रः पंक्त्यग्रोविश्वभाजितः । तं राशिं शीघ्रमाचक्ष्व यदि जानासि कुट्टकम् ।। एतदनुसारेण "यद्येको ग्रहो दिनचतुस्त्रिंशताऽन्यश्च त्रयोदशदिनैरेकं भगणं भुंक्ते तयोरन्तिमयुतेर्दश दिनानि व्यतीतानि तदा कल्पात् कियन्ति दिनानि व्यतीतानीति" प्रश्ने को राशिश्चतुस्त्रिंशद्धृतोदशशेष-स्त्रयोदशहृतश्च दशशेष इति प्रश्नोत्तरेणैवोत्तरसिद्धिः । एवं त्र्यादिग्रहाणामपि युगगतानयनं भवति ।। अत्रोदाहरणार्थं चतुर्वेदाचार्येणं कल्पे रविभगणाः=३०, चन्द्रभगणाः=४००, कुजभगणाः=१६, बुधभगणाः=१३०, गुरुभगणाः=३, शुक्र-भगणाः=५० । शनि भगणाः=१, चन्द्रोच्च भगणाः=४, चन्द्रपातभगणौ=२, भदिनानि=१०९९०, सौरमासाः=३६०, चान्द्रमासाः=३७०, अधिमासाः=१०, सौरदिनानि=१०८००, चान्द्रदिनानि=१११००, क्षयाहाः=१४०, सावन दिनानि =१०९६०, एकस्मिन् दिने भगणात्मिका गतिश्च । राशौ येन कर्मणा दृश्यतुल्यो भवेत्तद्विलोमेनैव तेनैव कर्मणा दृश्ये क्रियाकरणेनेष्टराशिर्भवेत् ।

(क)

र	चं	मं	बुउ	गु	शुउ	श	चंउ	चंपा
३	५	१	१३	३	५	१	१	१
१०९६	१३७	६८५	१०९६	१०९६०	१०९६	१०९६०	२७४०	५४८०

कल्पिता, इतिसर्वं कोलब्रूकानुवादतो ज्ञायत इति ।।१५।।

अब प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा—दो तीन आदि ग्रहों के अलग-अलग कथित ग्रह गतयुग से जो युगादि को जानते हैं वे कुट्टक को जानते हैं ।। इसके उत्तर के लिये—

उपपत्ति ।

पूर्वोक्त 'अधिकाग्रभागहारादूनाग्रच्छेद भाजिताच्छेषम्' इत्यादि श्लोकों में म. म. श्रीमान् सुधाकर द्विवेदी जी के उदाहरण हैं, जैसे किसी राशि को चौंतीस से भाग देने से दो शेष रहता है, तथा तेरह से भाग देने से दस शेष रहता है उस राशि को कहो । इसके अनुसार यदि एक ग्रह चौंतीस दिनों में और अन्य ग्रह तेरह दिनों में एक भगण को भोग

करते हैं दोनों की अन्तिम युति (योग) से दश दिन व्यतीत हुए तब कल्प से कितने दिन व्यतीत हुए ? इस प्रश्न में 'कौन राशि है जिसको चौंतीस से भाग देने से दस शेष रहता है, तथा उसी राशि को तेरह से भाग देने से भी दस शेष रहता है इस प्रश्न के उत्तर ही से उत्तर सिद्धि होती है। इस तरह तीन आदि ग्रहों का भी युगगतानयन होता है। यहां उदाहरण के लिये चतुर्वेदाचार्य ने, कल्प में रवि भगण = ३०, चन्द्रभगण = ४००, कुजभगण = १६, बुधभगण = १३०, गुरुभगण = ३, शुक्रभगण = ५०, शनिभगण = १, चन्द्रोच्चभगण = ४, चन्द्रपातभगण = २, भदिन = १०९९०, सौरमास = ३६०, चान्द्रमास ३७०, अधिमास = १०, सौरदिन = १०८००, चान्द्रदिन = १११००, क्षयाह = १४०, सावनदिन = १०९६०, तथा एक दिन में भगणात्मक गति की संस्कृतोपपत्ति में लिखित (क) के अनुसार कल्पना की। यह सब कोलब्रूक साहेब के अनुवाद से विदित होता है इति ॥१५॥

इदानीमन्यं प्रश्नमाह ।

भगणाद्यमिष्टशेषं कदेन्दुदिवसे रवेर्गुरुदिने वा ।
ज्ञदिने राशीन् कथयति कुट्टाकारं स जानाति ॥१६॥

सु. भा.—रवेर्भगणाद्यमिष्टशेषं भगणादिशेषमिष्टं कदा चन्द्रदिने वा गुरुदिने ज्ञदिने भवतीति विज्ञाय यश्च रवे राशीन् राश्यादिरविं कथयति स कुट्टाकारं जानातीत्यहं मन्ये। अर्थाद्भगणशेषादहर्गणमानयेति प्रश्नः ।

अस्योत्तरं १२ सूत्रेण स्फुटम् । अत्रकुट्टके तावद्धरएकादिगुणः क्षेप्यो यावद-भीष्टो वारो भवेदिति ॥ १६ ॥

वि. भा.—रवेरिष्टं भगणादिशेषं कदा चन्द्रदिने वा गुरुदिने वा बुधदिने भवतीति ज्ञात्वा राश्यादिरविं यः कथयति स कुट्टाकारं जानातीति, अर्थाद् भगण शेषादहर्गणमानयेति प्रश्नः ।

अत्रोपपत्तिः ।

उपपत्तिः पूर्वं प्रदर्शिताऽपि सौकर्यार्थं विलिख्यते । कल्प्यतेऽहर्गणमानम् = य, तदा कल्पकुदिनैः कल्पभगणा लभ्यन्ते तदा ऽहर्गणेन किं लब्धं गतभगणाः शेषं कल्प्यते भगणशेषम् तदा तत्स्वरूपम् $= \frac{\text{कल्पभ.}\ \text{य}}{\text{ककु}} = \text{गभ} + \frac{\text{भशे}}{\text{ककु}}$ छेदगमेन कल्पभ . य = ककु. गभ + भशे। ततः $\frac{\text{ककु.}\ \text{गभ} + \text{भशे}}{\text{कल्पभ}} = \text{य}$ । अत्र ककु, कल्पभ भाज्यहाराभ्यां यौ राशी तत्राधरः कभ भक्तः शेषं गभमानम् । परन्तु यद्यधिकाग्रम् = भशे । तच्छेदः ककु । ऊनाग्रम् = ०, तच्छेदः = कभ तदाऽऽचार्योक्तकुट्टकप्रकारेण[1] छेदवधच्छेदेऽ-

(१) अधिकाग्रभागहाराद्वनाग्रच्छेदभाजिताच्छेषमित्यादिना.

ग्रमानम्=गभ. ककु+भशे, अत इदमग्रं कल्पभगणभक्तं लब्धं य मानं स्यादर्थादहर्गणो भवेत् । ततो रविज्ञानं सुगममेव ॥१६॥

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि· भा.—रवि के इष्ट भगणादिशेष कब चन्द्रदिन में वा गुरुदिन में वा बुधदिन में होता है इसको जानकर जो राश्यादिरवि को कहते हैं वे कुट्टक को जानते हैं । अर्थात् भगणशेष से अहर्गणानयन के लिये प्रश्न है ।

उपपत्ति ।

कल्पना करते हैं अहर्गणमान=य । तब अनुपात करते हैं कल्पकुदिन में कल्पभगण पाते हैं तो अहर्गण में क्या इससे लब्ध गतभगण, शेष भगणशेष होता है इसका स्वरूप$=\frac{\text{कभ.य}}{\text{ककु}}$ $=\text{गभ}+\frac{\text{भशे}}{\text{ककु}}$ छेदगम से कभ . य = ककु . गभ + भशे ∴ $\frac{\text{ककु. गभ}+\text{भशे}}{\text{कभ}}$ = य । यहां ककु, कभ भाज्य, हारों से जो राशिद्वय होता है उसमें अधरराशि को कल्पभगण से भाग देने से शेष गत भगणमान होता है । लेकिन यदि अधिकाग्र = भशे उसका छेद = ककु । ऊनाग्र = ० । उसका छेद = कभ तब आचार्योक्त कुट्टक प्रकार से छेदघात तुल्य छेद में अग्र (शेष) मान = ककु . गभ + भशे । इस अग्र को कल्पभगण से भाग देने से लब्ध य मान होता है वही अहर्गण है । अहर्गण ज्ञान से रवि का ज्ञान सुलभ ही है इति ॥ १६ ॥

इदानीमन्यं प्रश्नमाह ।

ज्ञदिने यदंशशेषं विकलाशेषं कदा तदिन्दुदिने ।
भानोरथवा शशिनो यः कथयति कुट्टकज्ञः सः ॥ १७ ॥

सु. भा.—भानोरथवा शशिनश्चन्द्रस्य यदंशशेषं वा विकलाशेषं बुधदिने दृष्टं तदेव कदा चन्द्रदिने भवतीत्यस्योत्तरं यः कथयति स एव कुट्टकज्ञ इत्यहं मन्ये ।

अस्योत्तरं १२ सूत्रेण स्फुटम् ॥ १७ ॥

वि. भा.—भानोः (सूर्यस्य) शशिनः (चन्द्रस्य) यदंशशेषं विकलाशेषं वा बुधदिने दृष्टं तच्चन्द्र दिने कदा भवतीत्यस्योत्तरं यः कथयति सः कुट्टक पण्डित इति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

इष्टभगणादिशेषात् स्वकुट्टकगुणात् स्वभागहारहृतादित्यादिना स्फुटैवास्तीति ॥ १७ ॥

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा.—सूर्य और चन्द्र का जो अंशशेष वा विकलाशेष बुधदिन में देखा गया वही चन्द्रदिन में कब होता है इसका उत्तर जो जानते हैं वे कुट्टक के पण्डित है । इति ।।

उपपत्ति ।

'इष्ट भगणादिशेषात् स्वकुट्टकगुणात्' इत्यादि १२ सूत्र से स्फुट है इति ।।१७।।

इदानीमन्यं प्रश्नमाह ।

तिथिमान दिनेष्विष्टा ये ऽर्काद्यास्ते पुनः कदा तेषु ।
इष्टगृहवारेषु यः कथयति कुट्टकज्ञः सः ।। १८ ।।

सु. भा.—तिथिमानदिनेषु चान्द्रसौरसावनदिनेष्वर्थादुद्दिष्टाहर्गणे येऽभीष्टा अर्काद्यास्त एव पुनः कदेष्टग्रहवारेषु तेषु चान्द्रसौरसावनदिनेषु भवन्ति । इति यः कथयति स एव कुट्टकज्ञ इत्यहं मन्ये । यस्मिन्नहर्गणे येऽभीष्टा गृहा आगतास्तत्समा एव कदेष्टवारेऽन्यस्मिन्नहर्गणे ते भवन्तीति प्रश्नः ।

अस्योत्तरं च १२ सूत्रेण स्फुटम् ।। १८ ।।

वि. भा.—तिथिमानदिनेषु (चान्द्रसौरसावनदिनेष्वर्थादुद्दिष्टाहर्गणे) ये इष्टा रव्यादयस्त एव पुनःकदेष्टग्रहवारेषु चान्द्रसौरसावनदिनेषु भवन्तीत्यर्थाद्यस्मिन्नहर्गणे ये ऽभीष्टा गृहा समागतास्तत्तुल्या एव कदेष्टवारे ऽन्यस्मिन्नहर्गणे ते भवन्तीति यः कथयति सः कुट्टकपण्डितोऽस्तीति । 'इष्टभगणादिशेषादि'-त्यादि १२ सूत्रेणाऽस्योपपत्तिः स्फुटैवास्तीति ।। १८ ।।

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं ।

हि. भा.—चान्द्र सौर सावन दिनों में अर्थात् उद्दिष्टाहर्गण में जो इष्ट रवि आदि ग्रह हैं वही पुनः कब इष्टग्रह वारों में उन चान्द्र सौर सावन दिनों में होते हैं अर्थात् जिस अहर्गण में जो अभीष्टग्रह आये हैं उनके बराबर ही कब इष्टवार में अन्य अहर्गण में वे होते हैं यह प्रश्न है इसको जो कहते हैं वे कुट्टक के पण्डित है ।। इसकी उपपत्ति 'इष्ट भगणादिशेषात्' इत्यादि १२ सूत्र से स्पष्ट ही है इति ।। १८ ।।

इदानीं बालावबोधार्थं पूर्वप्रश्नोत्तरं कथयति ।

इष्टभगणादिशेषाद् द्युगणस्तत् कुट्टकेन संयुक्तः ।
तच्छेददिनैस्तावद्दिनवारो यावदिष्टः स्यात् ।। १९ ।।

सु. भा.—इष्टभगणादिशेषात् तत्कुट्टकेन १२ सूत्रविधिना प्रथमं द्युगणोऽह-र्गणः साध्यः स तावत् तच्छेददिनैः संयुक्तो यावदिष्टो वारः स्यादिति स्पष्टम् ॥१९॥

वि. भा.—इष्टभगणादिशेषात् पूर्ववत् (इष्टभगणादिशेषादित्यादि १२ सूत्रानुसारेण) अहर्गणः साध्यः स तावत्तच्छेददिनैः संयुक्तः कार्यो यावदिष्टो दिनवारः स्यादिति ॥ १९ ॥

अब बालकों के बोध के लिये पूर्व प्रश्न के उत्तर को कहते हैं ।

हि. भा.—इष्टभगणादिशेष से पूर्ववत् ('इष्टभगणादि शेषात्' इत्यादि १२ सूत्र के अनुसार) अहर्गण साधन करना चाहिये उसमें तब तक उन छेददिनों को जोड़ना चाहिये जब तक इष्ट दिनवार हो इति ॥ १९ ॥

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह ।

यो राश्यादीन् दृष्ट्वा मध्यस्येष्टस्य कथयति द्युगणम् ।
द्व्यादिग्रहसंयोगात् ग्रहान्तराद्वा स कुट्टज्ञः ॥ २० ॥

सु. भा.—य इष्टग्रहस्य मध्यस्य राश्यादीन् दृष्ट्वा द्युगणं कथयति । वा द्व्यादिग्रहसंयोगाद् द्युगणं कथयति वा द्वयोर्ग्रहयोरन्तराद्द्युगणं कथयति स कुट्टज्ञ कुट्टकज्ञ इत्यहं मन्ये ॥ २० ॥

वि. भा.—इष्टग्रहस्य मध्यस्य राश्यादीन् दृष्ट्वा योऽहर्गणं कथयति । वा द्व्यादिग्रहसंयोगादहर्गणं कथयति । वा ग्रहान्तरात् (द्वयोर्ग्रहयोरन्तरात्) अह-र्गणं कथयति स कुट्टकपण्डितो ऽस्तीति ॥ २० ॥

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं ।

हि. भा.—मध्यम इष्ट ग्रह के राश्यादि को देखकर जो अहर्गण को कहते हैं । वा दो आदि ग्रहों के संयोग से अहर्गण को कहते हैं । वा दो ग्रहों के अन्तर से अहर्गण को कहते हैं वे कुट्टक के पण्डित हैं इति ॥ २० ॥

इदानीं पूर्वप्रश्नस्योत्तरमाह ।

निश्छेदभागहाराद्राश्यादिकलादिना हताद् भक्तात् ।
भमणकलाभिर्लब्धं मण्डलशेषं दिनगणोऽस्मात् ॥ २१ ॥

सु. भा.—निश्छेदभागहाराद् दृढकुदिनमानात् किं विशिष्टाद् राश्यादिकला-दिना ग्रहकलात्मकप्रमाणेन हताच्चक्रकलाभिर्भक्ताद्यल्लब्धं तद्भगणशेषं स्यादस्मात् पूर्वोक्तविधिना दिनगणो भवतीति ।

अत्रोपपत्तिः। दृढभगणशेषं चक्रकलागुणं दृढकुदिनभक्तं कलात्मकग्रहो भवत्यतस्तद्विपरीतेन कलात्मकग्रहो दृढकुदिनगुणश्चक्रकलाभक्तो दृढभगणशेषं स्यात्। ततो दृढभगणा भाज्यं दृढभगणशेषं ऋणक्षेपं दृढकुदिनमानं हारं च प्रकल्प्य कुट्टाकारेण गुणमानमहर्गणः स्यात्। ग्रहयोगकलातो वाऽन्तरकलातो यद्दृढभगणशेषं स्यात् तत्र दृढभगणयोगं वा दृढभगणान्तरं भाज्यं प्रकल्प्य पूर्ववत् कुट्टकेनाहर्गणः साध्यः॥

वि. भा.—निश्छेदभागहारात् (दृढ़कुदिनात्) राश्यादिकलादिना (ग्रहक-लात्मकमानेन) गुणितात्, भगणकला (चक्रकला) भिर्भक्तात् लब्धं मण्डलशेषं (भगणशेषं) भवति, अस्मात्पूर्ववदहर्गणो भवतीति॥

अत्रोपपत्तिः

$\frac{\text{दृढ़भगणशे} \times \text{चक्रकला}}{\text{दृढ़कुदिन}}$ = कलात्मकग्रह छेदगमेन दृढ़भगण शे $\times$ चक्रकला = दृढ़कुदिन $\times$ कलात्मकग्र, अतः $\frac{\text{दृढ़कुदिन} \times \text{कलात्मकग्रह}}{\text{चक्रक}}$ = दृढ़भगण-शेष ततः $\frac{\text{भाज्य} = \text{दृढ़भगण} - \text{दृढ़भगणशे} = \text{क्षेप}}{\text{दृढ़कुदिन}}$ अत्र कुट्टकेन यो गुणः स एवाहर्गणो भवति। ग्रहयोगकलातोऽन्तरकलातो वा यद् दृढ़भगणशेषं भवेत्तत्र दृढभगणयोगं दृढ़भगणान्तरं वा भाज्यं प्रकल्प्य पूर्ववत् कुट्टकेनाहर्गणः साध्य इति॥२१॥

अब पूर्वप्रश्न के उत्तर को कहते हैं।

हि. भा.—निश्छेदभागहार (दृढ़कुदिन) को ग्रहकलात्मक मान से गुणाकर भगण-कला (चक्रकला) से भाग देने से लब्ध मण्डल (भगण) शेष होता है इससे पूर्ववत् अहर्ग-ण होता है इति।

उपपत्ति।

$\frac{\text{दृढ़भगणशे} \times \text{चक्रकला}}{\text{दृढ़कुदिन}}$ = कलात्मकग्रह। छेदगम से दृढ़भगणशे $\times$ चक्रकला = कलात्मकग्र $\times$ दृढ़कुदिन, अतः $\frac{\text{कलात्मकग्रह} \times \text{दृढ़कुदिन}}{\text{चक्रकला}}$ = दृढ़भगणशेष। ततः $\frac{\text{भाज्य} = \text{दृढ़भगण} - \text{दृढ़भगणशे} = \text{क्षेप}}{\text{दृढ़कुदिन}}$ यहां कुट्टक से जो गुणक होता है वही अहर्गण होता है। ग्रह योगकला से वा अन्तर कला से जो दृढ़भगण शेष होता है वहां दृढ़-

भगण योग को वा दृढ़भगणान्तर को भाज्य कल्पनाकर पूर्ववत् कुट्टक से अहर्गण साधन करना चाहिये इति ॥ २१ ॥

इदानीं विशेषमाह ।

एवं राश्यंकला विकला शेषादहर्गणः प्राग्वत् ।
नष्टस्थेष्विष्टान् तान् कृत्वा भक्त्वोक्तवच्छेषन् ॥ २२ ॥

सु. भा.—एवं राशिशेषात् अंशशेषात् कलाशेषात् विकलाशेषाच्च प्राग्वदहर्गणः स्यात् । किं कृत्वा नष्टस्थेषु विकलाकलादिमानेषु भक्त्वा विभज्येष्टान् तान् विकलादीन् कृत्वा शेषं भगणशेषमहर्गणं चोक्तवत्कार्यम् । अत्रैतदुक्तं भवति । षष्टिर्भाज्यो विकलाशेषमृणक्षेपो दृढकुदिनानि हार इति प्रकल्प्य यः कुट्टकः सकलाशेषस्तेन षष्टिर्हता विकलाशेषोना दृढकुदिनहृता फलं विकला अभीष्टा स्युस्ततः कलाशेषमृणक्षेपं षष्टि भाज्यं दृढकुदिनानि हारं प्रकल्प्य यः कुट्टकः स चांशशेषस्तेन षष्टिर्गुणा कलाशेषोना दृढकुदिनभक्ता फलं कला अभीष्टाः स्युः । एवं राशि शेषानयने त्रिंशद्भाज्यो भगणशेषानयने च द्वादशभाज्यकल्प्यः । भगणशेषतः पूर्वविधानेनाहर्गणो गतभगणाश्च साध्याः । 'कल्प्याथ शुद्धिर्विकलावशेषम्'—इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ॥ २२ ॥

वि. भा.—एवं राशिशेषात्-अंशशेषात् कलाशेषात् विकलाशेषात् पूर्ववदहर्गणः स्यात् कथं तदुच्यते । नष्टस्थेषु विकला कलादिमानेषु भक्त्वा (विभज्य) इष्टान् तान् विकलादीन् कृत्वा शेषं (भगणशेषं) अहर्गणंच पूर्ववत्कार्यम् । यथा षष्टिभाज्यः । दृढ़ कुदिनानि हारः । विकलाशेषं शुद्धिरिति प्रकल्प्य कुट्टकविधिना गुणाप्ती साध्ये तत्र लब्धिर्विकलाःस्युः । गुणस्तु कलावशेषम् । ततः कलावशेषं शुद्धिः । षष्टिर्भाज्यः । दृढ़कुदिनानि हार इति प्रकल्प्य कुट्टकेन गुणाप्ती साध्ये तत्र लब्धिः कलाः । गुणोंऽशशेषम् । अंशशेषं शुद्धिः । त्रिंशद् भाज्यः । दृढ़कुदिनानि-हारः । अत्र कुट्टकेन लब्धिरंशाः । गुणो राशिशेषम् । एवं राशिशेषं शुद्धिः । द्वादश भाज्यः । कुदिनानि हारः । अत्र कुट्टकेन लब्धिर्गतराशयः । गुणोभगणशेषम् । कल्पभगणा भाज्यः । कुदिनानि हारः । भगणशेषं शुद्धिः । अत्र लब्धिर्गतभगणाः । गुणोऽहर्गणः स्यादिति । लीलावत्यां 'कल्प्याथ शुद्धिर्विकलावशेषं षष्टिश्च भाज्यः कुदिनानि हार' इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेवेति ॥ २२ ॥

अब विशेष कहते हैं ।

हि. भा.—एवं राशिशेष से, अंश शेष से, कलाशेष से, विकलाशेष से अहर्गण होता है । कैसे होता है सो कहते हैं । विकला-कलादि मानों में भाग देकर इष्टविकलादि करके भगणशेष और अहर्गण पूर्ववत् करना चाहिये । जैसे-साठ को भाज्य, दृढ़कुदिन को-

हार, विकलाशेष को ऋणक्षेप कल्पना कर कुट्टक विधि से गुणक और लब्धि साधन करना, उनमें लब्धि विकला होती है, और गुणक कलाशेष होता है। इसके बाद साठ को भाज्य, दृढकुदिन को हार, कलावशेष को ऋणक्षेप कल्पना कर कुट्टक से गुणक और लब्धि साधन करना चाहिए, उनमें लब्धिकला होती है। गुणक अंश शेष होता है। एवं तीस को भाज्य, दृढ़कुदिन को हार, अंशशेष को ऋणक्षेप कल्पना कर कुट्टक से जो गुणक और लब्धि होती है उनमें लब्धि अंश होता है। गुणक राशिशेष होता है। एवं द्वादश को भाज्य, दृढ़कुदिन को हार, राशिशेष को ऋण क्षेप मान कर कुट्टक से लब्धिगत्त राशिमान होता है, गुणक भगणशेष होता है। एवं कल्प भगण को भाज्य, कुदिन को हार, भगणशेष को ऋणात्मक क्षेप क्षेपकल्पना कर कुट्टक से लब्धि गतभगण होता है, गुणक अहर्गण होता है, लीलावती में 'कल्प्याथ शुद्धिर्विकलावशेषं' इत्यादि भास्करोक्त इसके अनुरूप ही है इति ॥ २२

इदानीमन्यं प्रश्नमाह।

राश्यंशकला विकलाशेषात् कथितादभीष्टतो नष्टान्।
यः साधयत्युपरितनान् समध्यमान् कुट्टकज्ञः सः ॥ २३ ॥

सु. भा.—अभीष्टतः कथितान्निर्दिष्टात् राशिशेषत् वांऽशशेषात् वा कलाशेषादथवा विकलाशेषाच्च यो नष्टान् विकलादीन् तथोपरितनानुपरिशेषान् विकलाशेषतः कलाशेषं कलाशेषादंशशेषमित्यादीन् समध्यमान् मध्यमग्रहसहितान् साधयति स एव कुट्टकज्ञः। निर्दिष्टादेकशेषात् मध्यमग्रहं य आनयति स एव कुट्टकज्ञ इत्यर्थः। अस्योत्तरं पूर्वसूत्रेण स्फुटमपि बालावबोधार्थमग्रे वक्ष्यति ॥ २३ ॥

वि. भा.—अभीष्टतः कथितान्निर्दिष्टात् राशिशेषादंश शेषाद्वा कलाशेषाद्विकलाशेषाद्वा नष्टान् (विकलादीन्) उपरितनान् (उपर्युक्तशेषान्) मध्यमग्रहसहितान् यः साधयति सः कुट्टकज्ञः। निर्दिष्टादेकशेषान्मध्यग्रहानयनं यः करोति सः कुट्टकज्ञ इति। अस्योत्तरं यद्यपि पूर्वसूत्रेण स्पष्टमप्यस्ति तथाप्याचार्येणाऽग्रे कथ्यते ॥ २३ ॥

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं।

हि. भा.– अभीष्ट से कथित राशिशेष से अथवा अंशशेष से, कलाशेष से अथवा विकलाशेष से विकलादि को तथा उपर्युक्त शेष मध्य ग्रह सहित को जो व्यक्ति साधन करता है अर्थात् निर्दिष्ट एकशेष से मध्यम ग्रहानयन करता है वह कुट्टकज्ञ है, यद्यपि इसका उत्तर २२ सूत्र से स्पष्ट है तथापि आचार्य आगे कहते हैं इति ॥ २३ ॥

इदानीमुत्तरमाह ।

येन गुणः शेषयुतश्छेदः शुध्यति हृतः स्वगुणकेन ।
तद्भुक्तं शेषं फलमेवं शेषात् ग्रहद्युगणौ ॥ २४ ॥

सु. भा.—छेदो दृढकुदिनमानं येन गुणः शेषयुतः स्वगुणकेन हृतः शुध्यति स गुणश्च तद्भुक्तं तस्य ग्रहस्य भुक्तं भवति स्वगुणकेन हृतं यत् फलं प्राप्तं तच्छेषमुपरिशेषं भवति। एवं शेषात् ग्रहार्हगणौ द्वावेव भवतः। अत्रैतदुक्तं भवति। यथा कलाशेषस्य गुणकः षष्टिश्छेदो दृढकुदिनानि। तत्र येन गुणेन गुणितश्छेदो विकलाशेषयुतः स्वगुणकेन षष्टिमितेन हृतः शुध्यति स गुणो ग्रहविकला भवन्ति फलं च कलाशेषं ज्ञेयेमेवं कलाशेषात् कला अंशशेषं च सिध्यति। एवमन्ते भगण-शेषज्ञानं तस्मादहर्गणज्ञानं च भवति।

अत्रोपपत्तिः। यथा कलाशेषं षष्टिगुणं दृढकुदिनहृतं लब्धं ग्रहविकलाः शेषं च विकलाशेषम्। अतो हरो लब्धिगुणः शेषयुतो भाज्यराशिसमः।

$$६० \times कशे = ग्रवि \times दृकु + विशे$$

$$\therefore\ कशे \frac{ग्रवि \times दृकु + विशे}{६०}$$

अतो दृढकुदिनमानं येन गुणं विकलाशेषयुतं षष्टिभक्तं शुध्यति स गुणो ग्रहविकलाः फलं च कलाशेषम्। एवं स्व स्वशेषगुणकच्छेदाभ्यां तत्तच्छेषमाने भवत इत्युपपद्यते ॥ २४ ॥

वि. भा.—छेदो (दृढ़कुदिनमानं) येन गुणः शेषयुतः स्वगुणकेन भक्तः शुध्यति स गुणस्तस्य ग्रहस्य भुक्तं भवति स्वगुणकेन भक्तं सद्यत्फलं लब्धं तदुपरि शेषं भवति। एवं शेषात् ग्रहाहर्गणौ भविष्यतः। यथा कलाशेषस्य गुणकः षष्टिर्दृढ़-कुदिनानि हरः। तत्र येन गुणकेन गुणितो हरो विकलाशेषयुतः स्वगुणकेन षष्टि-तुल्येन भक्तः शुध्यति स गुणो ग्रहविकलाः स्युः फलं कलाशेषमेवं कलाशेषात् कला अंशशेषं सिध्यति। एवमन्ते भगण-शेषज्ञानं भवेत्तस्मादहर्गणो भवेदिति ॥

अत्रोपपत्तिः।

कलाशेषं षष्टिगुणं दृढ़कुदिनभक्तं लब्धं ग्रहविकलाः शेषं विकलाशेषम्

तत्स्वरूपम् $= \frac{६० \times कलाशे}{दृढ़कु} = ग्रहविकला + \frac{विकलाशे}{दृढ़कु}$ छेदगमेन $६० \times कलाशे =$

$दृढ़कु \times ग्रहविकला + विकलाशे$, पक्षौ षष्टिभक्तौ तदा $\frac{दृढ़कु \times ग्रहविकला + विकलाशे}{६०}$

=कलाशे, अतो दृढ़कुदिनं येन गुणं विकलाशेषयुतं षष्टिभक्तं शुध्यति स गुणो ग्रहविकलाः। फलं कलाशेषम् एवं स्वस्वशेषगुणकहराभ्यां तत्तच्छेषमाने भवत इत्युपपन्नं भवतीति ॥२४॥

अब उत्तर कहते हैं।

हि. भा.— दृढ़कुदिन (हर) को जिस से गुणा कर शेष जोड़कर अपने गुणक से भाग देने से शुद्ध हो तब वह गुणक उस ग्रहका भुक्त होता है। अपने गुणक से भाग देने से जो फल होता है वह उपरिशेष होता है इस तरह शेष से ग्रह और अहर्गण होता है, जैसे कलाशेष का गुणक साठ है, दृढ़कुदिन हर है वहां जिस गुणक से गुणित हर में विकला शेष को जोड़ कर साठतुल्य अपने गुणक से भाग देने से शुद्ध होता है तब वह गुणकग्रह विकला होती है और फल कलाशेष होता है, एवं कलाशेष से कला और अंशशेष सिद्ध होता है। इस तरह अन्त में भगण शेष ज्ञान होता है उससे अहर्गणज्ञान होता है इति ॥

उपपत्ति।

कला शेष को साठ से गुणा कर दृढ़कुदिन से भाग देने से लब्ध ग्रह विकला और शेष विकला शेष। उसका स्वरूप $= \frac{६० \times \text{कलाशे}}{\text{दृढ़कु}} = \text{ग्रह विकला} + \frac{\text{विकलाशे}}{\text{दृढ़कु}}$ छेदगम से ६० $\times$ कलाशे $=$ दृढ़कु $\times$ ग्रह विकला $+$ विकलाशे। दोनों पक्षों को साठ से भाग देने से, कलाशे $= \frac{\text{दृढ़कु} \times \text{ग्रह विकला} + \text{विकलाशे}}{६०}$ अतः दृढ़कुदिन को जिससे गुणाकर विकला शेष को जोड़कर साठ से भाग देने से शुद्ध होता है वह गुणक ग्रह विकला है और फल कला शेष है एवं अपने अपने शेष गुणक हरों से अपने अपने शेष मान होते हैं, इससे उपपन्न हुआ ॥२४॥

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह।

जानाति यो युगगतं कथितादधिमासशेषकादिष्टात्।
अवमावशेषतो वा तद्योगाद्वा स कुट्टज्ञः ॥२५॥

सु. भा.—इष्टादधिमासशेषाद्वा कथितादधिमासशेषाद्यो युगगतं जानाति। वा कथितादवमावशेषात् क्षयशेषाधो युगगतं जानाति। वा तयोरधिशेषक्षयशेषयोर्योगाद्यो युगगतं जानाति स एव कुट्टकज्ञ इत्यहं मन्ये।

अत्र 'तथाऽधिमासावमाग्रकाभ्यां दिवसा रवीन्द्वो'—इत्यादिभास्करविधिनाऽऽद्य प्रश्नद्वयोत्तरं स्फुटम्। तृतीये चान्द्रेभ्यो येऽधिमासा यच्च तच्छेषं सौरेभ्योऽपि त एवाधिमासास्तच्च शेषम्। अतो गतेन्दुदिनप्रमाणं या १ गताधिमासप्रमाणं च का १। तदाऽधिशेषप्रमाणं च=कअधिमा $\times$ या—कचादि $\times$ का=अधिशे।

एवं यदि गतक्षयाहमानं नी १ तदा कक्ष × या—कचादि × नी = क्षशे ।

द्वयोर्योगेन या (कअधिमा + कक्ष) — कचादि (का + नी) = अधिशे +

$$\text{क्षशे} = \text{यो} \therefore \text{का} + \text{नी} = \frac{\text{या (कअधिमा—कक्ष)—यो}}{\text{कचादि}}$$

अतः कल्पाधिमासक्षयाहयोगं भाज्यमधिमासक्षयशेषयोगमृणाक्षेपं कल्पचान्द्रदिनं हारं प्रकल्प्य यः कुट्टकः स एव गतेंदुदिनानि तेभ्यः सौरसावनदिनानि च स्फुटानि भवन्ति । इत्यनेन तृतीय प्रश्नोत्तरं स्फुटम् ॥ २५ ॥

वि. भा.—इष्टादधिमासशेषात् वा कथितादधिमासशेषाद्यो युगगतं जानाति । वा कथितादवमावशेषतो युगगतं जानाति । वा तद्योगात् (अधिशेषावमशेषयोर्योगात्) युगगतं जानाति स कुट्टकज्ञ इति ।

अत्रोपपत्तिः ।

कल्पाधिमासा भाज्यः । रविदिनानि हारः । अधिमासशेषं शुद्धिः । अत्र कुट्टकविधिना गुणाप्ती साध्ये तत्र लब्धिर्गताधिमासाः । गुणो गतरविदिवसाः । एवं युगावमानि भाज्यः । चान्द्रदिवसा हारः । अवमशेषं शुद्धिः । अत्रापि कुट्टकविधिना गुणलब्धी साध्ये तत्र लब्धिर्गतावमानि गुणो गतचान्द्रदिवसा इति, लीलावत्यां 'तथाधिमासावमाग्रकाभ्यां दिवसा रवीन्द्वो' रिति भास्करेण स्पष्टमेवोक्तम् एतावता प्रथमप्रश्नद्वयोत्तरं जातम् ।

अथ तृतीयप्रश्नोत्तरम् ।

अत्रेष्टचान्द्रप्रमाणम् = य । अस्मादधिमासावमयोस्तच्छेषयोश्च माने ज्ञात्वा स्वस्वशेषोने कृते तयोः स्वरूपे $\frac{\text{क अमा. य — अधिशे}}{\text{कचां}}$ = गताधिमासाः ।
$\frac{\text{क अवम. य — अवशे}}{\text{कचां}}$ = गअवम, अत्र को हरश्चेद् गुणकौ विभिन्नौ तदा गुणैक्यमित्यादि संश्लिष्टकुट्टक युक्त्या कल्पाधिमासावमयोगतुल्ये भाज्ये तयोरेव शेषयोगतुल्ये ऋणाक्षेपे यो गुणः स एवेष्टचान्द्रसमस्तस्मात्सौरसावनदिनानि स्फुटानि भवन्तीति । एतेन तृतीयप्रश्नोत्तरं स्फुटं जातम् ॥ २५ ॥

अब तृतीय प्रश्न के उत्तर को कहते हैं ।

हि. भा.—यहां कल्पना करते हैं इष्ट चान्द्र प्रमाण = य । इस से अधिमास और अवम तथा उन दोनों का शेष जानकर अपना अपना शेष घटाने से उन दोनों के स्वरूप

$\frac{\text{क अमा. य—अधिशे}}{\text{कचां}}$ = गताधिमा, $\frac{\text{क अवम. य—अवमशे}}{\text{कचां}}$ = ग अवम, यहां 'एको हरश्चेद्गुणकौ विभिन्नौ' इत्यादि भास्करोक्त संश्लिष्ट कुट्टक युक्ति से कल्पाधिमास कल्पावम योगतुल्य भाज्य में उन्हीं दोनों के शेष योगतुल्य ऋण क्षेप में जो गुणक होगा वही इष्ट चान्द्र (य) के बराबर होगा उस से सौर सावन दिन स्फुट होते हैं। इस से तृतीय प्रश्न का उत्तर स्फुट हो गया, इति ॥ २५ ॥

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह ।

इष्टेषु मानदिवसेष्वधिमासन्यूनरात्रशेषे वा ।
भूयस्ते यः कथयति पृथक् पृथग्वा स कुट्टज्ञः ॥ २६ ॥

सु. भा.—इष्टेषुमानदिवसेषु सौरचान्द्रसावनदिनेषु ये अधिमासन्यूनरात्रशेषे स्तस्ते एव भूयः कदा भविष्यत इति यः पृथक्-पृथक् कथयति स एव कुट्टज्ञः कुट्टकज्ञ इत्यहं मन्ये। इष्टदिने यदधिशेषं तदेव पुनः कदावेष्टदिने यदवमशेषं तदेव पुनः कदा वेष्टदिने योऽधिमासक्षयशेषयोगः स एव पुनः कदा भविष्यतीति प्रश्नत्रयम्। पूर्वमधिशेषात् क्षयशेषाद्वा तयोर्योगाद्यथा कुट्टकविधिना गतेन्दुदिनराशिरानीतः स 'इष्टाहतस्वस्वहरेण युक्तो' ऽनेकधा भवति यत्रापि तदेवाधिमासशेषादिकं भवतीत्युत्तरं स्फुटम् ॥ २६ ॥

(इयमार्या कोलब्रूकानुवादे नास्ति)

वि. भा.—इष्टेषु मानदिवसेषु (सौरचान्द्रसावनदिनेषु) ये अधिमासावमशेषे भवतस्त एव भूयः कदा भविष्यत इति पृथक् पृथक् यः कथयति स कुट्टकज्ञोऽस्तीति॥ इष्टदिने यदधिशेषं तदेव पुनः कदा वेष्टदिने यदवमशेषं तदेव पुनः कदा वेष्टदिने योऽधिमासावम शेषयोगः स एव पुनः कदा भविष्यतीति प्रश्नत्रयमस्ति। पूर्वमधिशेषादवमशषात्तयोर्योगाच्च कुट्टकविधिनायथागत चान्द्रदिनप्रमाणमानीतं तदेव 'इष्टाहतस्वस्वहरेण युक्ते' इत्यादिनाऽनेकधा भवति, अत्रापि तदेवाधिमासशेषादिकं भवतीति ॥ २६ ॥

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं।

हि. भा.—सौर चान्द्र सावन दिनों में जो अधिशेष और अवम शेष है वही बार बार कब होगें इसको पृथक् पृथक् जो कहते है वे कुट्टक के पण्डित है। इष्ट दिन में जो अधिशेष है वही फिर कब होगा वा इष्ट दिन में जो अवमशेष योग है वही फिर कब होगा वा इष्ट दिन में अधिमासावमशेषयोग है वही फिर कब होगा ये तीन प्रश्न हैं। पूर्व में अधिशेष से अवम शेष से और उन दोनों के योग से जैसे कुट्टक विधि से गत चान्द्र

दिन प्रमाण लाये गये। वही 'इष्टाहत स्वस्वहरेण युक्ते' इत्यादि से अनेक प्रकार होते हैं यहां भी वही अधिमास शेषादिक होते हैं इति ।। २६ ।।

इदानीमन्यं प्रश्नमाह।

अंशकशेषात् त्र्यूनात् सप्तहृतान्मूलमूनमष्टाभिः।
नवभिर्गुणं सरूपं कदा शतं बुधदिने सवितुः ।। २७ ।।

सु. भा.—सवितुः सूर्यस्यांशकशेषात् त्र्यूनात् सप्तहृद्यन्मूलं तदष्टाभिर्न्यूनं नवभिर्गुणमेकेनाढ्यं बुधदिने कदा शतं भवति।

	ऋ	भा	मू	ऋ	गु	ध	द
न्यासः। अंशे।	३	७	०	८	९	१	१००
	ध	गु	व	ध	भा	ऋ	द
विलोमगणितेन।	३	७	०	८	९	१	१००

लब्धमंशशेषम्=५७० । अस्मादहर्गणो बुधदिने पूर्ववत् सिध्यति ।। २७ ।।

वि. भा.—सवितुः (सूर्यस्य) अंशक शेषात् त्रिभिर्हीनात् सप्तभक्तान्मूलं यत्तदष्टाभिर्हीनं नवभिर्गुणमेकेन युतं बुधदिने कदाशतं भवतीति।

न्यासः

ऋ—३	ऋ—३ ध
ह—७	ह—७ गु
मू—०	मू—० व
ऋ—८	ऋ—८ ध
गु—९	गु—९ ह
ध—१	ध—१ ऋ
दृश्यम्=१००	दृश्यम्=१००

छेदं गुणं गुणं छेदं वर्गं मूलमित्यादिना विलोमगणितेनांशशेषम् = ५७० अस्मादहर्गणो बुधदिने सिध्यतीति ।। २७ ।।

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं।

हि. भा.—सूर्य के अंश शेष में तीन घटाते हैं। सात से भाग देते हैं। उसकी मूल जो होता है उसमें से आठ घटाते हैं, फिर उसको नौ से गुणा करते हैं, एक जोड़ते हैं बुधदिन में कब सौ होता है इति।

न्यास

ऋ—३	—३ – ध
ह—७	ह—७—गु
मू—०	मू—०—व
ऋ—८	ऋ—८—ध
गु—६	गु—६—ह
ध—१	ध – १—ऋ
दृश्य—१००	दृश्य—१००

छेदंगुणं गुणं छेदं वर्गं मूलं इत्यादि भास्करोक्त विधि से इस विलोम गणित से अंश शेष=५७० इससे बुधदिन में अहर्गण सिद्ध होता है इति ॥ २७ ॥

इदानीमन्य प्रश्नमाह ।

त्र्यूनाधिमासशेषान्मूलं द्व्यधिकं विभाजितं षड्भिः ।
द्व्यूनं वर्गितमधिकं नवभिर्नवतिः कदा नवतिः ॥ २८ ॥

सु. भा.—अधिमासशेषात् त्र्यूनाद्यन्मूलं तद् द्वाभ्यां युतं षड्भिर्विभाजितं फलं द्व्यूनं वर्गितं नवभिरधिकं कदा नवतिर्भवति ।

	ऋ	मू	ध	भा	ऋ	व	ध	ह
न्यासः । अधिशे ।	३	०	२	६	२	०	९	९०
	ध	व	ऋ	गु	ध	मू	ऋ	ह
विलोमगणितेन ।	३	०	२	६	२	०	९	९०

अधिमासशेषम्=४०९६ कोलब्रूकानुवादे 'षड्भिः' स्थाने 'द्वाभ्यां' इति पाठः । अधिशेषात् पूर्वप्रकारेणाहर्गणानयनं सुगममिति ॥ २८ ॥

वि. भा.—अधिमास शेषात् त्रिभिर्हीनात् मूलं यत्तद् द्वाभ्यां युतं षड्भिर्भक्तं लब्धं द्वाभ्यां हीनं वर्गितं नवभिर्युतं कदा नवतिर्भवतीति ॥

न्यासः

ऋ--३	ऋ—३—ध
मू—०	मू—०—व
ध—२	ध—२—ऋ
ह—६	ह—६—गु
ऋ—२	ऋ—२—ध
व—०	व--०—मू
—९	ध—९—ऋ
दृश्य=९०	दृश्य=९०

'छेदंगुणं गुणं छेद मि'त्यादि भास्करोक्त्या इति विलोमगणितेनाधिमास शेषम्=४०९६ अधिशेषात् पूर्वोक्त प्रकारेणाहर्गण ज्ञानं सुखेन भवतीति ।
कोलब्रूकानुवादे षड्भिः स्थाने द्वाभ्याम् पाठोऽस्तीति ॥ २८ ॥

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं

हि. भा.—अधिमास शेष में तीन घटाकर मूल जो होता है उसमें दो जोड्ते हैं छः से भाग देते हैं लब्ध जो होता है उसमें दो घटाते हैं उसके वर्ग में नौ जोड़ते हैं तो कब नव्वे होता है, इति ।

न्यास

ऋ—३	ऋ—३—ध	
मू—०	मू—०—व	
ध—२	ध—२—ऋ	
ह—६	ह—६—गु	
ऋ—२	ऋ—२—ध	
व—०	व—०—मू	
ध—६	ध—६—ऋ	
दृश्य—६०	दृश्य—६०	

छेदं गुणं गुणं छेदं इत्यादि भास्करोक्ति से इस विलोम गणित से अधिमास शेष=४०९६ अधिशेष से पूर्वोक्त प्रकार से अहर्गण ज्ञान सुगमता से होता है इति ।।२८।।

इदानीमन्यं प्रश्नमाह ।

अवमावशेषवर्गो व्येको विंशतिविभाजितो द्व्यधिकः ।।
अष्टगुणो दशभक्तो द्वियुतोऽष्टादश कदा भवति ।। २९ ।।

सु. भा.—स्पष्टार्थम् ।

	ध	ऋ	भा	ध	गु	भा	ध	दृ
न्यासः । क्षशे	०	१	२०	२	८	१०	३	१८
	मू	ध	गु	ऋ	भा	गु	ऋ	दृ
विलोमगणितेन ।	०	१	२०	२	८	१०	२	१८

क्षयशेषम्=१९ । अस्मात् पूर्वप्रकारेणाहर्गणानयनं सुगमम् ।। २९ ।।

इति कुट्टाकारः ।

वि. भा.—अवमशेषवर्ग एकहीनो विंशत्या भाज्यते, तल्लब्धिः अङ्कद्वयेन संकलय्य अष्टाभिर्गुण्यते, तदा दशभिः पुनः विभज्य द्व्यधिकः क्रियते, एवं प्रकारेण अष्टादशसंख्या कदा भवतीति ।

न्यासः
(अवशे)
व—०
ऋ—१
ह—२०
ध—२
गु—८
ह—१०
ध—२

दृश्यं=१८

'छेदं गुणं गुणं छेद' मित्यादिना

व—०—मू
ऋ—१—ध
ह—२०—गु
ध—२—ऋ
गु—८—ह
ह—१०—गु
ध—२—ऋ

दृश्यं=१८

इति विलोम गणितेनावमशेषम्=१९ अस्मात्पूर्वप्रकारेणाहर्गणानयनं स्फुटमेवेति ॥ २९ ॥

इति कुट्टकाध्यायः ।

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा.—अवम शेष वर्ग में एक घटाकर बीस से भाग देते हैं जो लब्धि होती है उसमें दो जोड़ते हैं आठ से गुणा करते हैं दश से भाग देते हैं दो जोड़ते हैं तो कब अठारह होता है ॥ २९ ॥ (३०)

न्यास
(अवशे)
व—०
ऋ—१
ह—२०
ध—२
गु—८
ह—१०
ध—२

दृश्य=१८

व—०—मू
ऋ—१—ध
ह—२०—गु
ध—२—ऋ
गु—८—ह
ह—१०—गु
ध—२—ऋ

दृश्य=१८

'छेदं गुणं गुणं छेदं' इत्यादि से इस विलोम गणित से अवम शेष=१९ इससे पूर्व प्रकारानुसार अहर्गणानयन स्पष्ट है इति ॥ २९ ॥

इति कुट्टकाध्याय ।

अथ धनर्णादीनां सङ्कलितव्यवकलितादि

इदानीं धनर्णशून्यानां सङ्कलनमाह।

धनयोर्धनमृणमृणयोर्धनर्णयोरन्तरं समैक्यं खम्।
ऋणमैक्यं च धनमृणधनशून्ययोः शून्ययोः शून्यम्॥ ३०॥

सु. भा.—धनयोरैक्यं धनमृणयोरैक्यमृणं भवति। धनर्णयोरन्तरमेवैक्यं भवति। समयोर्धनर्णयोरैक्यं खं शून्यं भवति। ऋणशून्ययोरैक्यमृणं धनशून्ययोरैक्यं च शून्यं भवति।

अत्रोपपत्त्यर्थं मन्मुद्रिता भास्करबीजटिप्पणी द्रष्टव्या॥ ३०॥

वि. भा—धनात्मकयोरङ्कयोर्योगो धनं भवति। ऋणात्मकयोर्योगश्च ऋणं भवति। धनर्णयोरन्तरमेव योगो भवति। तुल्ययोर्धनर्णयोर्योगः शून्यं भवति। ऋणशून्ययोर्योगो ऋणं धनशून्ययोर्योगश्च धनं भवति, शून्ययोर्योगः शून्यं भवतीति।

अत्रोपपत्तिः।

यद्येकस्य पुरुषस्य प्रथमं रूप्यकपञ्चकं धनमासीत्, कालान्तरेण तेन रूप्यकचतुष्टयमर्जितं तयोर्योगे तस्य नवरूप्यकाणि धनानि भविष्यन्ति। एवं तस्यैव यदि रूप्यकपञ्चकमृणं पुना रूप्यकचतुष्टयमृणं कृतं तदा तयोर्योगे तस्य नव रूप्यकाणि ऋणं भविष्यति। यदि च रूप्यकचतुष्टयं धनमस्ति तेन रूप्यकपञ्चकमृणं कृतं तदा रूप्यकचतुष्टयदानेन तस्य निकटे रूप्यकमेकमृणमेव स्थास्यति। यदि रूप्यकपञ्चकं धनमस्ति, तेन पुना रूप्यकपञ्चकमृणं कृतं तदा रूप्यकपञ्चकदानेन तन्निकटे शून्यमेव स्थास्यति। सिद्धान्त शेखरे। ऐक्यां युतौ स्यात् क्षययोः स्वयोश्च धनर्णयोरन्तरमेव योगः, श्रीपत्युक्तमिदं, बीजगणिते 'योगे युतिः स्यात् क्षययोः स्वयोर्वा धनर्णयोरन्तरमेव योगः' भास्करोक्तमिदंचाऽऽचार्योक्तानुरूपमेवेति॥ ३०॥

अब धनाङ्क ऋणाङ्क और शून्य के सङ्कलन को कहते हैं।

हि. भा—धनात्मक अङ्कों का योग धन होता है। ऋणात्मक अङ्कों का योग ऋण होता है। धनाङ्क और ऋणाङ्क का अन्तर ही योग होता है। तुल्य धन और ऋण अङ्कों का योग शून्य होता है। ऋणात्मक दो शून्यों का योग ऋण होता है। धनात्मक दो शून्यों का योग धन होता है। दो शून्यों का योग शून्य होता है इति।

उपपत्ति ।

यदि किसी एक पुरुष के पास पहले पांच रुपये धन था, कालान्तर में उसने चार रुपये उपार्जन किया । तब दोनों का योग नौ रुपये उसके निकट धन होगा । यदि उसी को पहले पांच रुपये ऋण था फिर उसने चार रुपये ऋण लिया तब दोनों मिलकर उसके पास नौ रुपये ऋण होंगे । यदि उसके निकट चार रुपये धन है और पांच रुपया लिया तब चार रुपये सधाने से उसके निकट एक रुपया ऋण रहा । यदि उसके पास पांच रुपये धन है और पांच रुपये ऋण लिया तो पांच रुपये सधाने से उसके पास शून्य (कुछ नहीं) रहा । इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ ।। सिद्धान्तशेखर में 'ऐक्यं युतौ स्यात् क्षययोः' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से श्रीपति तथा बीजगणित में 'योगे युतिः स्यात् क्षययोः स्वयोर्वा' इत्यादि से भास्कराचार्य ने आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है इति ।। ३० ।।

अथ व्यवकलनमाह ।

ऊनमधिकाद्विशोध्यं धनं धनादृणमृणादधिकमूनम्
व्यस्तं तदन्तरं स्यादृणं धनं धनमृणं भवति ।। ३१ ।।
शून्यविहीनमृणमृणं धनं धनं भवति शून्यमाकाशम् ।
शोध्यं यदा धनमृणादृणं धनाद्वा तदा क्षेप्यम् ।। ३२ ।।

सु. भा.—अधिकाद्धनादूनं धनं विशोध्यं शेषं धनं भवति । अधिकादृणादूनमृणं विशोध्यं शेषमृणं भवति । ऊनाद्धनादधिकं धनं वोनादृणादधिकमृणं विशोध्यं तदा तदन्तरं व्यस्तं विपरीतं स्यात् । अर्थादधिकं धनं विशोध्यं तदा शेषमृणं भवति । अधिकमृणं विशोध्यं तदा शेषं धनं भवति । कथं विपरीतं भवतीत्याह । ऋणं धनं भवति धनं चर्णं भवतीति । चेदृणं शून्यविहीनं शून्येन विहीनं तदा ऋणं धनं च शून्यविहीनं धनं शून्यं च शून्यविहीनमाकाशं शून्यं भवति । यदि ऋणाद्धनं शोध्यं वा धनादृणं शोध्यं तदा क्षेप्यमर्थात् तदा तयोर्योग एवान्तरं भवतीति ।

अत्रोपपत्त्यर्थं मन्मुद्रिता भास्करबीज टिप्पणी विलोक्या ।। ३१-३२ ।।

वि. भा.—अधिकाद्धनादूनं (अल्पं) धनं विशोध्यं तदा शेषं धनं भवति । अधिकादृणादूनमृणं विशोध्यं तदा शेषमृणं भवति । ऊना (अल्पात्) द्धनादधिकं धनं वा ऊनादृणादधिकमृणं विशोध्यं तदा तदन्तरं विपरीतं स्यादर्थादधिकधनस्य शोधनेन शेषमृणं भवति । तथाधिक-ऋणशोधनेन शेषं धनं भवतीति । कथं व्यस्तं (विपरीतं) भवतीति कथ्यते । ऋण धनं भवति, धनं चर्णं भवति, चेदृणं शून्येन विहीनं तदा ऋणम् । धनंच शून्यविहीनं तदा धनं, शून्यं च शून्य विहीनं तदा शेषं शून्यं भवति । यदि ऋणात् धनं शोध्यं वा धनादृणं शोध्यं तदा तयोर्योग एवान्तरं भवतीति ।।

अत्रोपपत्तिः ।

यदि धनरूप्यकपञ्चकाद्रूप्यकत्रयं धनं विशोध्यते अर्थादल्पं क्रियते तदा रूप्यक द्वयं धनमवशिष्यते। यदि ऋणरूप्यकपञ्चकादृणरूप्यकत्रयमल्पं क्रियते तदा रूप्यकद्वयमृणं स्थास्यति। अथ यस्य रूप्यकपञ्चकं धनमस्ति रूप्यकत्रयमृणमस्ति तदा तदृणस्याधुना विशोधनं जातमर्थाद्येन तदृणं दत्तं तेन न गृह्यते कथ्यते च यदहं तद्रूप्यकत्रयं भवते दत्तवान् तदा तस्य अष्टौ रूप्यकाणि धनं भविष्यति। यदि च रूप्यकपञ्चकमृणं रूप्यकत्रयं च धनं स्यात्तदा तद्रूप्यकत्रयस्य विशोधनेऽर्थादल्पीकरणे तद्रूप्यकत्रयं ऋणात्मकं भविष्यति। तदानीं तस्याष्टौ रूप्यकाणि ऋणात्मकानि भविष्यंतीति। शेषं स्पष्ट मेवास्ति। सिद्धान्तशेखरे 'संशोध्यमानं स्वमृणं धनर्णं धनं भवेदुक्तवदत्र योगः' श्रीपत्युक्तमिदं, बीजगणिते 'संशोध्यमानं स्वमृणत्वमेति स्वत्वं क्षयस्तद्युतिरुक्तवच्च' भास्करोक्तमिदंचाऽऽचार्योक्तानुरूपमेवास्तीति ॥ ३१-३२ ॥

अब व्यवकलन को कहते हैं।

हि. भा.—अधिक धन में से अल्प धन को घटाने से शेष धन होता है अधिक ऋण में से अल्प ऋण को घटाने से शेष ऋण होता है। अल्प धन में अधिक धन को वा अल्पऋण-में से अधिक ऋण को घटाने से वह अन्तर विपरीत होता है अर्थात् अधिक धन के घटाने से शेष ऋण होता है। तथा अधिक ऋण के घटाने से शेष धन होता है। क्यों विपरीत होता है सो कहते हैं। ऋण धन होता है, धन ऋण होता है यदि ऋण में से शून्य को घटाते हैं तो ऋण ही रहता है अर्थात् उस ऋणाङ्क में किसी तरह का विकार नहीं होता है। धन में से शून्यको घटाने से शेष धन होता है। शून्य में से शून्य को घटाने से शेष शून्य होता है। यदि ऋणाङ्क में से धनाङ्क को घटाया जाय वा धनाङ्क में से ऋणाङ्क को घटाया जाय तब उन दोनों का योग ही अन्तर होता है इति ॥

उपपत्ति ।

यदि धनात्मक पांच रुपये में से धनात्मक तीन रुपयों को घटाते हैं अर्थात् अल्प करते हैं तो दो रुपये धन शेष रहता है यदि ऋणात्मक पांच रूपयों में से ऋणात्मक तीन रुपयों को अल्प करते हैं तो दो रुपये ऋण रहता है। जिसके पास पांच रुपये धन है और तीन रुपये ऋण है उसके उन तीन रुपयों को घटजाना है लेकिन जिसने तीन रुपये दिये थे वह नहीं लिये कहा कि वह तीनों रुपये आप ही को दे दिये तब उस व्यक्ति के पास आठ रुपये धन हो गया। यदि पांच रुपये ऋण है और तीन रुपये धन है तब उन तीनों रुपयों को विशोधन करने से वे तीनों रुपये ऋण होंगें तब उसको कुल आठ रुपये ऋण होंग। शेष विषय स्पष्ट ही है। सिद्धान्त शेखर में 'संशोध्यमानं स्वमृणं धनर्णमित्यादि' श्रीपत्युक्त तथा बीजगणित में 'संशोध्यमानं स्वमृणत्वमेति' इत्यादि भास्करोक्त आचार्योक्त के अनुरूप ही है ॥ ३१-३२ ॥

इदानीं गुणने करणसूत्रमाह ।

ऋणमृणधनयोर्घातो धनमृणयोर्धनवधो धनं भवति ।
शून्यर्णयोः खधनयोः खशून्ययोर्वा वधः शून्यम् ।। ३३ ।।

सु. भा.—ऋणधनयोर्घात ऋणं भवति। ऋणयोर्वधो धनवधो धनयोर्वधश्च धनं भवति । शून्यर्णयोः खधनयोः शून्यधनयोर्वा खशून्ययोश्च वधः शून्यं भवति ।। ३३ ।।

वि. भा.—ऋणधनयोर्घातऋणं भवति । ऋणयोर्वधो धनं भवति; धनयोर्वधश्च धनं भवति । शून्यर्णयोः, शून्यधनयोः, शून्यशून्ययोर्वावधः शून्यं भवतीति ।।

अत्रोपपत्तिः ।

कल्प्यते गुण्यः = न — प गुणकः = य — क तदा "इष्टोनयुक्तेन गुणेन निघ्नोऽभीष्टघ्न गुण्यान्वित वर्जितो वे" तिभास्करोक्तरीत्या गुणनाय क सममिष्टं युक्तं तदा गुणकः = य अनेन गुण्ये गुणिते तदा जातम् य. न — य. प अस्मात् क गुणितगुण्योऽयं क. न — क .प विशोध्यस्तदा विशोधनप्रकारेण विशोधनेन जातं गुणनफलम् = य. न — य . प — क. न + क. प अत्रान्तिमखण्डे क, प ऋणयोर्घातो धनात्मको जातस्था धनयोर्घातो धनमृण धनयोश्च घात ऋणमित्यपि सुगममुपद्यते ।।

गुण्यो यदि रूपाल्पगुणकेन गुण्यते तदा गुणनफलं गुण्यादल्पं भवतीति पाटीगणितरीत्या प्रसिद्धम् । एवं यथा यथा गुणको रूपाल्पस्तथा तथा गुणन फलमल्पंभवति, तदिह गुणकपरमे ह्रासेऽर्थात् शून्यसमत्वे गुणनफलमपि परमाल्पं शून्यसमं भवतीति, एतावताऽऽचार्योक्तमुपपन्नम् । सिद्धान्तशेखरे 'वधे धनं स्याद्दणयोः स्वयोश्च धनर्णयोः संगुणने क्षयश्चेति श्रीपत्युक्तं बीजगणिते 'स्वयोरस्वयोर्वा वधः स्वर्णघाते' इत्यादि भास्करोक्तंचाऽऽचार्योक्तानुरूपमेवेति ।। ३३ ।।

अब गुणन के लिये विधि कहते हैं ।

हि. भा.—ऋणात्मक अङ्क और धनात्मक अङ्क का घात करने से गुणनफल ऋण होता है, दो ऋणात्मक अङ्कों का घात धन होता है, दो धनात्मक अङ्कों का घात भी धन होता है । शून्य और ऋण का घात शून्य होता है । शून्य और धन का घात तथा शून्य-शून्य का घात शून्य होता है इति ।।

उपपत्ति ।

कल्पना करते हैं गुण्य = न — प, गुणक = य — क तब 'इष्टोनयुक्तेन गुणेन

निघ्नोऽभीष्टघ्न गुण्यान्वितवर्जितो वा' इस भास्करोक्त रीति से क समान इष्ट को जोड़ने से गुणक=य इससे गुण्य को गुणने से य. न—य. प इसमें क गुणित गुण्य 'क. न—क. प' को घटाने से गुणन फल=य. न—य. प—क. न+क. प इसके अन्तिम खण्ड में क, प दोनों ऋणों का घात धनात्मक हुआ। तथा दो धनों का घात धन, धन और ऋण का घात ऋण यें भी सुगमता ही से उपपन्न होता है। गुण्य को यदि रूपाल्प गुणक से गुणा करते हैं तो गुणन फल गुण्य से अल्प होता है यह पाटी गणित से प्रसिद्ध है। एवं जैसे जैसे गुणक रूपाल्प है वैसे वैसे गुणनफल अल्प होता है। गुणक के परम ह्रास में अर्थात् शून्यसमत्व में गुणन-फल भी परमाल्प शून्य के समान होता है। इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ। सिद्धान्तशेखर में 'वधे धनं स्यादृणयोः स्वयोश्च' इत्यादि श्रीपत्युक्त तथा बीज गणित में 'स्वयोरस्वयोर्वा वधः स्वर्ण घाते' इत्यादि भास्करोक्त भी आचार्योक्तानुरूप ही है इति ॥३३॥

इदानीं भागहारे करणसूत्रद्वयमाह।

धनभक्तं धनमृणहृतमृणं धनं भवति खं खभक्तं खम्।
भक्तमृणेन धनमृणं धनेन हृतमृणमृणं भवति ॥३४॥
खोद्धृतमृणं धनं वा तच्छेदं खमृणधनविभक्तं वा।
ऋणधनयोर्वर्गः स्वं खं खस्य पदं कृतिर्यत् तत् ॥३५॥

सु. भा.—धनं धनभक्तं वा ऋणं ऋणभक्तं फलं धनं भवति। खभक्तं खं फलं खं भवति। ऋणेन धनं भक्तं फलमृणं स्यात्। धनेन ऋणं हृतं फलमृणं भवति। ऋणं वा धनं खेनोद्धृतं तच्छेदं तस्य शून्यस्य छेदो यस्मिन्नृणे वा धने तच्छेदं भवति। एवं खं शून्यमृणधन विभक्तं (शून्यं) वा तच्छेदं भवति। फलं शून्यं भवति वा शून्यं तद्धरं स्यादित्यर्थः। ऋणधनयोर्वर्गः स्वं भवति। खस्य वर्गः खं भवति। तदेव वर्गस्य पदं भवति। यत्कृतिः स एव वर्गो भवेदिति। भास्करबीजे-प्येतदेव सर्वम्। अत्र खभक्तं खमर्थात् $\frac{0}{0}$ इदं सर्वदा शून्यसमं नेत्येतदर्थं चलनकलनं विलोक्यम् ॥ ३४-३५ ॥

वि. भा.—धनं धनभक्तं ऋणं ऋणभक्तं फलं धनं भवति, खं (शून्यं) खभक्तं (शून्येन भक्तं) फलं शून्यं भवति। ऋणेन भक्तं धनं फलमृणं भवति, धनेन भक्तमृणं फलमृणं भवति, ऋणं धनं वा शून्येन भक्तं तच्छेदं तस्य शून्यस्य छेदो यस्मिन्नृणे धने वा तच्छेदं भवति। तथा शून्यमृणधनभक्तं फलं शून्यं वा तच्छेदं भवति। ऋणधनयोर्वर्गः धनं भवति। शून्यस्य वर्गः शून्यं भवति। तदेव वर्गस्य पदं भवति। यत्कृतिः स एव वर्गो भवतीति ॥

अत्रोपपत्तिः

गुणनोपपत्तिवैपरीत्येन भागहारोपपत्तिरपि सुगमैव। शून्यं शून्येन भक्तं

फलं शून्यं न भवतीति प्रदर्श्यते। यथा $\frac{३-३}{६-६}=\frac{०}{०}=\frac{३\,(१-१)}{६\,(१-१)}=\frac{३}{६}$ एतावता शून्ये न्यूनाधिकत्वं स्पष्टमेव दृग्गोचरीभूतं भवत्यर्थात्सर्वाणि शून्यानि न समानानि भवन्ति तस्मात् शून्येन शून्यं भक्तं फलं शून्यं न भवितुमर्हति, आचार्येण यदस्य $\frac{०}{०}$ मानं शून्यं कथ्यते तत्समीचीनं नास्ति। समयोर्द्वयोर्घातस्य वर्ग इत्यभिधानात् धनयोर्घातस्य ऋणयोर्घातस्य च धनत्वात् वर्गस्य सर्वथैव धनत्वमेव। ऋणं धनं वा शून्येन विभक्तं तच्छेदं भवतीत्याचार्योक्तौ विचार्यते। यथा $\frac{य}{र}$ अत्र र मानं यथा यथाऽल्पं भवेत्तथा तथा लब्धिरधिका स्यात्, र मानस्य परमाल्पत्वेऽर्थाच्छून्यसमत्वे लब्धिः परमाधिकाऽनन्तसमा भवेदत एव बीजगणिते $\frac{य}{०}$ खहरराशिसम्बन्धे 'अस्मिन् विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु। वहुष्वपि स्याल्लय-सृष्टिकालेऽनन्तेऽच्युते भूतगणेषु यद्वत्, भास्करेण कथितम्। अनेन खहरराशे-रविकारिता दृष्टान्तप्रसङ्गेन भगवतोऽनन्तस्याच्युतस्य साम्यं प्रतिपादयति।

अथ ऋणात्मक राशिसम्बन्धे किञ्चिद्विचार्यते। $० > -य$, $\frac{य^२}{०}$ = अनन्त, तथा $\frac{य^२}{-य} = -य$ परन्तु $-य < ०$ $\therefore \frac{य^२}{-य} = -य >$ अनन्ताधिक। इति ऋणा-ऽत्मकराशेर्वैचित्र्यमाश्चर्यकारकमस्ति, यतः शून्यादल्पो भूत्वाऽनन्ततोऽपि महान् भवतीति ॥३४-३५॥

अब भाग हार के लिये कहते हैं।

हि. भा.—धन को धन से वा ऋण को ऋण से भाग देने से फल धन होता है। शून्य को शून्य से भाग देने से फल शून्य होता है। धन को ऋण से भाग देने से फल ऋण होता है। धन से ऋण को भाग देने से फल ऋण होता है। ऋण वा धन को शून्य से भाग देने से उस ऋण वा धन में शून्य छेद (हर) होता है। शून्य को ऋण वा धन से भाग देने से फल शून्य होता है। ऋण और धन का वर्ग धन होता है। शून्य का वर्ग शून्य होता है। शून्य का पद (मूल) भी शून्य होता है इति ॥

उपपत्ति।

गुणनोपपत्ति वैपरीत्य से भागहारोपपत्ति भी सुगम ही है। शून्य को शून्य से भाग देने से फल शून्य नहीं होता है। जैसे $\frac{३-३}{६-६}=\frac{०}{०}=\frac{३\,(१-१)}{६\,(१-१)}=\frac{३}{६}$ इससे शून्यों में न्यूनाधिक्य स्पष्ट ही देखने में आता है। अर्थात् सब शून्य बराबर नहीं होते हैं अतः शून्य से

शून्य को भाग देने से फल शून्य नहीं हो सकता है। आचार्य $\frac{0}{0}$ इसका मान शून्य कहते हैं सो ठीक नहीं है। $\frac{य}{र}$ यहां र का मान ज्यों ज्यों अल्प होगा त्यों त्यों लब्धि अधिक होगी। र मान के परमाल्प में अर्थात् शून्य समत्व में लब्धि परमाधिक अर्थात् अनन्त के बराबर होती है। भास्कराचार्य ने बीजगणित में खहर $\frac{य}{0}$ राशि के सम्बन्ध में 'अस्मिन् विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु। बहुष्वपि स्याल्लयसृष्टिकालेऽनन्तेऽच्युते भूतगणेषु यद्वत्' कहा है।

अब ऋणात्मक राशि के वैचित्र्य को दिखलाते हैं। $0 > -य$, $\frac{य^2}{0}$ = अनन्त तथा $\frac{य^2}{-य} = -य$ परन्तु $0 > -य$ $\therefore$ $\frac{य^2}{-य} = -य >$ अनन्त यह ऋणात्मक राशि की विचित्रता आश्चर्य कारक है। क्योंकि शून्य से भी अल्प होकर अनन्त से भी अधिक होता है इति ॥३४–३५॥

इदानीं संक्रमणविषमकर्माह।

योगोऽन्तर युतहीनो द्विहृतः संक्रमणमन्तरविभक्तं वा।
वर्गान्तरमन्तरयुतहीनं द्विहृतं विषमकर्म ॥३६॥

सु. भा.—योगो राश्योर्योगोऽन्तरेण राश्यन्तरेण युतो हीनश्च द्विहृतो दलितो राशी स्तः। इदं संङ्क्रमणं नाम गणितम्। वा राश्योर्वर्गान्तरं राश्यन्तरेण विभक्तं फलमन्तरेण युतं हीनं द्विहृतं च राशी स्तः। इदं विषमकर्म नाम गणितम्। 'योगोऽन्तरेणोनयुतः'—इत्यादि तथा 'वर्गान्तरं राशिवियोगभक्तं'—इत्यादि च भास्करोक्तं चैतदनुरूपमेव ॥ ३६ ॥

वि. भा.—द्वयो राश्योर्योगस्तयोरन्तरेण युतो हीनश्च कार्यः। अर्धितस्तदा राशी भवेताम्, इदं सक्रमणं नाम गणितम्। वा राश्योर्वर्गान्तरं राश्यन्तरेण विभक्तं लब्धमन्तरेण युतं हीनं द्वाभ्यां भक्तं तदा राशी भवेताम्। इदं विषमकर्म नाम गणितम् ॥

अत्रोपपत्तिः।

कल्प्येते राशी य, र अनयोर्योगः $= य + र$, अन्तरम् $= य - र$, योगोऽन्तरेण युतः $य + र + य - र = २ य$ अर्धितः $= \frac{योग + अन्तर}{२} = य$। योगोऽन्तरेण हीनः

य+र—(य—र)=य+र—य+र=२ र अर्धित:= $\frac{\text{योग—अन्तर}}{२}$ =र इदं संक्रमणसंज्ञकं गणितम् । तथा राश्योर्वर्गान्तरम्=य²—र² राश्यन्तरेण य—र भक्त $\frac{\text{य}^{२}-\text{र}^{२}}{\text{य}-\text{र}}$ =य+र ततः पूर्ववत् । $\frac{\text{योग+अन्तर}}{२}$ =य । $\frac{\text{योग+अन्तर}}{२}$ =र । इदं विषमकर्म नाम गणितम् । एतावताऽऽचार्योक्तमुपपन्नम् । लीलावत्यां 'योगोऽन्तरेणोनयुतोऽर्धितस्तौ राशी स्मृतं संक्रमणाख्य' मिति तथा वर्गान्तरं राशिवियोगभक्तं योगस्ततः प्रोक्तवदेव राशी' इति च भास्करोक्तमाचार्योक्तानुरूपमेवास्ति ॥३६॥

अब संक्रमण और विषम कर्म को कहते हैं ।

हि. भा.— दो राशियों के योग में दोनों राशियों के अन्तर को युत और हीन कर दो से भाग देने से दोनों राशियों का प्रमाण होता है इसका नाम संक्रमण है । वा दोनों राशियों के वर्गान्तर को राश्यन्तर से भाग देकर जो लब्धि हो उसमें राश्यन्तर को युत और हीनकर दो से भाग देने से राशिद्वय का मान होता है इसका नाम विषम कर्म है ॥

उपपत्ति ।

प्रथम राशि=य । द्वितीय रशि=र, प्ररा+द्विरा=य+र=योग । प्ररा—द्विरा =य—र=अन्तर, योग+अन्तर=य+र+य—र=२य ∴ $\frac{\text{योग+अन्तर}}{२}$ = य ।
योग—अन्तर=य+र—(य—र)=य+र—य+र=२ र । अतः $\frac{\text{योग—अन्तर}}{२}$ =र । यह संक्रमण गणित है । वा राशिद्वय का वर्गान्तर=य²—र², राश्यन्तर (य—र) से भाग देने से $\frac{\text{य}^{२}-\text{र}^{२}}{\text{य}-\text{र}}$ =य+र=योग तब पूर्ववत् $\frac{\text{योग+अन्तर}}{२}$ =य । $\frac{\text{योग—अन्तर}}{२}$ = र, इसका नाम विषमकर्म गणित है । इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ । लीलावती में 'योगोऽन्तरेणोनयुत' इत्यादि से तथा 'वर्गान्तरं राशिवियोगभक्त' इत्यादि से भास्कराचार्य ने आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है इति ॥३६॥

इदानीं समद्विबाहुत्रिभुजे लम्बज्ञानादकरणीगतौ भुजावाह ।

करणी लम्बस्तत्कृतिरिष्टहृतेष्टोनसंयुताऽल्पा भूः ।
अधिको द्विहृतो बाहुः संक्षेप्यो यद्वधो वर्गः ॥३७॥

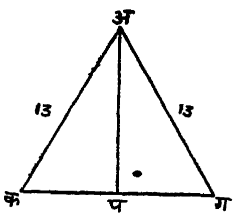
सु. भा.—यो लम्बस्तस्य करणी संज्ञा ज्ञेया । तस्याः करण्याः कृतिरिष्टेन हृता । इष्टोनसंयुता कार्या अनयोर्याऽल्पा सा समद्विबाहोर्भूः कल्प्या । यश्चाधिकः स द्विहृतः समद्विबाहोर्बाहुर्ज्ञेयः । 'संक्षेप्यो यद्वधो वर्गः' इत्यस्याग्रे सम्बन्धः ।

अत्रोपपत्तिः । समद्विबाहौ यः शिरः कोणादाधारोपरि लम्बस्तद्वशाज्जात्यद्वयं समानमुत्पद्यते । तत्र लम्बः कोटिः । आधारार्धं भुजः । समद्विबाहोर्बाहुः कर्णः । भुजकर्णान्तरमिष्टं प्रकल्प्य तद्वर्गान्तरात् कोटिवर्गाद्विषमकर्मणाऽनन्तरप्रतिपादितेन द्विगुणभुजो भूः । कर्णो बाहुश्चाकरणीगत आनीत इति ॥ ३७ ॥

वि. भा.—समद्विबाहौ शिरः कोणादाधारोपरि यो लम्बः सा करणी संज्ञका ज्ञेया, तस्या वर्ग इष्टेन भक्तः, इष्टोनयुक्तौ कार्यौ अनयोर्याऽल्पा सा समद्विबाहुत्रिभुजस्य भूः कल्पनीया । योऽधिकः स द्वाभ्यां भक्तः समद्विबाहुत्रिभुजस्य भुजो ज्ञेयः । 'संक्षेप्यो यद्वधोवर्ग' इत्यस्याग्रे सम्बन्धः ॥

अत्रोपपत्तिः ।

अ क ग समद्विबाहु त्रिभुजम् । अ शिरः कोण बिन्दुतः क ग आधारोपरि



लम्बः=अ र एतल्लम्बवशेन अकर, अगर जात्यत्रिभुजद्वयं तुल्यं समुत्पद्यते, अर लम्बः कोटिः, कर आधरार्धं भुजः । अक=कर्णः । अत्र भुजकर्णयोर्वर्गान्तरं कोटिवर्गमिष्टं प्रकल्प्य वर्गान्तरं राशिवियोगभक्तमित्यादिना $\frac{\text{कर्ण}^2 - \text{भुज}^2}{\text{कर्ण} - \text{भुज}} = \frac{\text{कोटि}^2}{\text{कर्ण} - \text{भुज}} = \frac{\text{इ}^2}{\text{कर्ण} - \text{भु}}$ $=$ कर्ण$+$भुज ततः कर्णभुजयोर्योगान्तराभ्यां संक्रमणगणितेन भुजकर्णौ भवेत् । भुजो द्विगुणितस्तदा भूर्भवेत् । कर्णो भुजश्चाकरणीगतः समागत इति ॥३७॥

अब समद्विबाहु त्रिभुज में लम्बज्ञान से अकरणीगत भुजद्वय को कहते हैं ।

हि. भा.—सम द्विबाहु में शिरःकोण से आधार के ऊपर जो लम्ब होता है वह करणी संज्ञक है । उस के वर्ग को इष्ट से भाग देकर जो लब्धि हो उस में इष्ट को हीन और युत करना चाहिये । इन दोनों में जो अल्प है उसको समद्विबाहु त्रिभुज की भू कल्पना करना । अधिक जो है उस को दो से भाग देने से जो हो वह समद्विबाहु का भुज होता है इति ॥

उपपत्ति ।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (१) क्षेत्र को देखिये । अकग समद्विबाहुक त्रिभुज है । अ शिरः कोणबिन्दु से कग आधार के ऊपर लम्ब=अर इस लम्ब के वश से अकर, अगर दो तुल्य जात्य त्रिभुज उत्पन्न होता है । अर लम्ब=कोटि, कर आधारार्ध=भुज, अक=कर्ण यहां भुज और कर्ण के वर्गान्तर कोटि (लम्ब) वर्ग को इष्ट कल्पना कर 'वर्गान्तरं राशि वियोग भक्त' इत्यादि से $\frac{\text{कर्ण}^2 - \text{भुज}^2}{\text{कर्ण} - \text{भु}} = \frac{\text{कोटि}^2}{\text{कर्ण} - \text{भु}} = \frac{\text{इ}^2}{\text{कर्ण} - \text{भु}}$ $=$ क$+$भु तब कर्ण

और भुज के योगान्तर से संक्रमण गणित से भुज और कर्ण का प्रमाण आजायगा, द्विगुणित भुज समद्विबाहुक की भू है। इस तरह अकरणीगत भुज और कर्ण लाया गया है इति ।।३७।।

इदानीं करणीयोगान्तरे गुणनं चाह।

इष्टोद्धृतकरणी पदयुतिकृतिरिष्टगुणिताऽन्तरकृतिर्वा ।
गुण्यस्तिर्यगधोऽधो गुणकसमस्तद्गुणः सहितः ।। ३८ ।।

सु. भा.—यद्वधो ययोः करेण्योर्वधो वर्गो भवति तयोरेव संक्षेप्यो योगोऽन्तरं च भवतीति ज्ञेयम् । इष्टोद्धृतयोः करण्योः पदे ग्राह्ये तद्युतिकृतिर्वा तदन्तरकृतिरिष्टगुणिता तदा तयोः करण्योर्योगान्तरे स्तः। गुणकसमो गुण्यस्तिर्यक् पङ्क्तावधोऽधः स्थाप्यस्ततस्तद्गुणस्तैः खण्डकैर्गुणः सहितो गुणनफलं स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः । मत्कृतभास्करबीजटिप्पणीतः स्फुटा ।

यदा $इ_1 \sqrt{क}, इ_2 \sqrt{क}$ एतादृश्यौ करण्यौ तदैव गणितयुक्त्या योगः$=(इ_1+इ_2)\sqrt{क} = \sqrt{(इ_1+इ_2)^2 क}$।

अन्तरम्$=(इ_1-इ_2)\sqrt{क} = \sqrt{(इ_1-इ_2)^2 क}$।

अथ तदा द्वयोर्वधः$=इ_1\sqrt{क}\times इ_2\sqrt{क}$

$$=\sqrt{इ_1^2 क}\times\sqrt{इ_2^2 क}=\sqrt{इ_1^2\, इ_2^2\, क^2}$$

अस्य मूलचिह्नान्तर्गतस्य मूलं निरग्रम्$=इ_1\, इ_2\, क$। अतो यदा द्वयोर्वधो वर्गोभवति तदैव तयोर्योगान्तरे उत्पद्येते ।। ३८ ।।

वि. भा.—ययोः करण्योर्वधो वर्गो भवति तयोरेव संक्षेप्योऽर्थात् योगोऽन्तरं च भवतीति। इष्टोद्धृतयोः करण्योः पदे (मूले) ग्राह्ये तद्युतिः कृतिर्वा तदन्तरवर्ग-इष्टगुणितस्तदा तयोः करण्योर्योगान्तरे भवतः। गुणकसमो गुण्यस्तिर्यक् पंक्तावधोऽधः स्थाप्यः, ततस्तैः खण्डकैर्गुणः सहितो गुणन फलं भवेदिति ।।

अत्रोपपत्तिः ।

अधुना नवीनैर्मूलचिन्हेन यत् प्रकाश्यते प्राचीनैस्तदेव करणी पदेन व्यवह्रियते । यथा $\sqrt{३}=$क ३ $\sqrt{५}=$क ५ इत्यादि, अथ $\sqrt{य}\pm\sqrt{र}$ इदं स्ववर्गमूलसममतस्तद्वर्गः $य+र\pm२\sqrt{य.र}$ अस्य यन्मूलं वा करणी स एव योगो वियोगो वा भवति $\sqrt{य}$, $\sqrt{र}$ चानयोरिति। अथ $\sqrt{य}\pm\sqrt{र}$ दं $\sqrt{र}$ अनेन गुणनेन भजनेन च $\sqrt{र}\times\left(\sqrt{\frac{य}{र}}\pm\sqrt{\frac{र}{\sqrt{र}}}\right)$ पूर्वागतरूपस्य यो वर्गस्तस्य

मूलमेव $\sqrt{\text{य}}$, $\sqrt{\text{र}}$ अनयोर्युत्यन्तरं भवेदतो $\sqrt{\text{र}} \times \left(\sqrt{\frac{\text{य}}{\text{र}}} \pm \frac{\sqrt{\text{र}}}{\sqrt{\text{र}}}\right)$ ऽस्य-वर्गः $\text{र}\left(\sqrt{\frac{\text{य}}{\text{र}}} \pm \frac{\sqrt{\text{र}}}{\sqrt{\text{र}}}\right)^{2}$ अस्यमूलं वा करणी $\sqrt{\text{य}}$, $\sqrt{\text{र}}$ अनयोर्योगोऽन्तरं भवतीति। सिद्धान्तशेखरे 'ग्राह्यं न मूलं खलु यस्य राशेस्तस्य प्रदिष्टं करणीति नाम। विभाजको वा गुणकोऽथवाऽस्याः कृतिर्नियुक्ता कृतिभिः करण्याः, अनेन करणीपरिभाषां तथा गुणनभजनयोर्विशेषं कथयति। करणीयोगवियोग-सम्बन्धे च, 'योगे वियोगे करणीं स्वबुध्या सन्ताड़येत्तेन यथा कृतेः स्यात्। तन्मूल-संयोगवियोगवर्गौ विभाजयेदिष्ट गुणेन तेन।' उदाहरणार्थं 'द्विकाष्टमित्योस्त्रिभ-संख्ययो' रित्यादि भास्करोक्तः प्रश्नः।

श्रीपत्युक्तौ 'संताड़येत्तेन यथा कृतिः स्यादिति तथा विभाजयेदिष्टगुणेन तेनेति पदद्वयं परिवर्त्यते चेत्तथैव ते एव योगान्तरे भवतः। तथा च तत्सूत्रमेतादृशं भवितुमर्हति।

'योगे वियोगे करणीं स्वबुध्या विभाजयेत्तेन यथा कृतिः स्यात्। तन्मूलसं-योगवियोगवर्गौ संताड़येदिष्टगुणेन तेन' एतादृशं सूत्रमेव परम्परया प्रसिद्ध-मस्ति ज्योतिर्वित्समाजेषु।

'आदौ करण्यावपवर्त्तनीये तन्मूलयोरन्तरयोगवर्गौ। इष्टापवर्त्ताङ्कहतौ भवेतां क्रमेण विश्लेषयुती करण्योः' इदमेव सूत्रं श्री जीवनाथदैवज्ञेन स्वकृत भास्करबीज-गणितटीकायाम्।

'आदौ करण्यावपवर्त्तनीये तन्मूलयोरन्तरयोगवर्गौ' इष्टापवर्त्ताङ्कहतौ मते ते क्रमेण विश्लेषयुती करण्योः'। एवं कथितम्। भास्कराचार्येण लघुकरणी तुल्य-मपवर्त्तनाङ्कं प्रकल्प्य "लघ्व्या हृतायास्तु पदं महत्याः सैकं निरेकं स्वहतं लघु-घ्नम्। योगान्तरे स्तः क्रमशस्तयोर्वा पृथक् स्थितिः स्याद्यदि नास्ति मूलम्" इति सूत्रमुपनिबद्धम्॥ यदि $\text{इ}\sqrt{\text{य}}$, $\text{इ}'\sqrt{\text{य}}$ एतादृश्यौ करण्यौ तदैव गणितयुक्त्या योगः $= (\text{इ}+\text{इ}')\sqrt{\text{य}} = \sqrt{(\text{इ}+\text{इ}')^{2}\text{य}}$, अन्तरम् $= (\text{इ}-\text{इ}')\sqrt{\text{य}} = \sqrt{(\text{इ}+\text{इ}')^{2}.\text{य}}$ तदा द्वयोर्घातः $= \text{इ}\sqrt{\text{य}} \times \text{इ}'\sqrt{\text{य}} = \sqrt{\text{इ}^{2}.\text{य}} \times \sqrt{\text{इ}'^{2}.\text{य}} = \sqrt{\text{इ}^{2}.\text{इ}'^{2}.\text{य}}$ अस्य मूल-चिह्नान्तर्गतस्य मूलं निरग्रम् $= \text{इ}.\text{इ}'.\text{य}$ अतो यदा द्वयोर्वधो वर्गो भवति तदैव तयोर्योगान्तरे भवितुमर्हत इति॥ ३८॥

हि. भा.—जिन दो करणियों का वध वर्ग होता है, उन दोनों का ही योगान्तर होता है । इष्टाङ्क से भाग देकर दोनों करणियों का मूल लेना चाहिए ।

दोनों का योग या वर्ग तथा अन्तर वर्ग इष्टगुणित हो तब दोनों करणियों का योगान्तर होता है । गुणक के तुल्य गुण्यखंड को अधोऽधः पंक्ति में तिर्यक् स्थापना करें, उसके बाद उन खण्डों से गुणक को गुणाकर सबों का योग गुणनफल होता है ।

उपपत्ति ।

इस समय मूलचिह्न से जो प्रकट होता है उसी को पुरातन समय में करणी नाम से प्रकट किया जाता था । 'विभाजको वा गुणकोऽथवाऽस्याः कृतिर्भिनियुक्ता कृतिभिः करण्याः' इस पद से करणी की परिभाषा एवं गुणन, भजन के लिए विशेष बात कही गई है ।

करणीयोगान्तर के सम्बन्ध में 'योगे वियोगे करणीं स्वबुद्धया सन्ताडयेत्तेन यथा कृतिः स्यात् तन्मूलम्' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में कहा गया है । उदाहरण के लिए 'द्विकाष्टमित्योस्त्रिभसंख्ययोः' इत्यादि भास्करोक्त है । श्रीपति की उक्ति में 'सन्ताडयेत्तेन यथाकृतिः स्यात्' इत्यादि और 'विभाजयेदिष्टगुणेन तेन' इत्यादि दोनों पदों के परिवर्त्तन से उसी प्रकार योगान्तर होता है । तब यह सूत्र इस प्रकार होना चाहिए "योगे वियोगे करणीं स्व बुद्धया विभाजयेत्तेन यथाकृतिः स्यात्" इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित परम्परा ज्योतिषियों में प्रचलित है ।

इसी प्रकार जीवनाथ दैवज्ञ ने भी अपनी भास्करबीजगणित की टीका में लिखा है 'आदौ करण्यापवर्त्तनीये तन्मूलयोरन्तरयोगवर्गौ' इत्यादि भास्कराचार्य ने लघुकरणी के बराबर अपवर्त्तनाङ्क मानकर 'लघ्व्या हृतायास्तु पद्म' इत्यादि सूत्र लिखा है । उदाहरण के लिए यदि $इ\sqrt{य}$, $इ'\sqrt{य}$ यह दोनों करणी हैं । गणित की भांति

$$योग = (इ + इ')\sqrt{य} = \sqrt{(इ+इ')^2 . य},$$

$$अन्तर = (इ - इ')\sqrt{य} = \sqrt{(इ+इ')^2 . य},$$ तब दोनों का घात

$$= इ\sqrt{य} \times इ'\sqrt{य} = \sqrt{इ^2 . य} \times \sqrt{इ'^2 . य} = \sqrt{इ^2 . इ'^2 . य}$$

इस स्वरूप में मूलचिह्नान्तर्गत का मूल निरग्र = $इ . इ' . य$ है । इसलिए जिन दो का वध वर्ग होता है वहीं पर उन दोनों का योग तथा अन्तर होता है ॥ ३८ ॥

इदानीं करणीभागहारे वर्गे च करणसूत्रमाह।

स्वेष्टर्णच्छेदगुणौ भाज्यच्छेदौ पृथक् युजावसकृत्।
छेदैकगतहृतो वा भाज्यो वर्गः समद्विवधः॥ ३९॥

सु. भा.—भाज्यच्छेदौ स्वेष्टर्णच्छेदगुणौ छेदे या काचिदिष्टा करणी तामृणं प्रकल्प्य तादृक्छेदेन भाज्यहरौ द्वावेव गुणौ पृथक् सम्भवे सति गुणितभाज्ये गुणितच्छेदे च द्वयोर्द्वयोः करण्योर्युजौ योगौ साध्यौ। पुनः स्वेष्टर्णच्छेदगुणौ भाज्यच्छेदौ कार्यविवमसकृद्यावच्छेदगतैकैव करणी स्यात्। ततो भाज्यो हरैकगतकरण्या हृतो वा फलं स्यात्। अत्र वा पदेन साधारणभागहारविधिश्च यद्गुणश्छेदो भाज्याच्छुध्यति स गुण एव लब्धिरित्यप्याचार्येण सूचितः। समद्विवधो वर्गो भवतीति स्फुटम्।

अत्रोपपत्त्यर्थं मत्कृतभास्करबीजटिप्पण्यां 'धनर्णताव्यत्ययमीप्सितायाश्छेदे' इत्यादि सूत्रोपपत्तिर्विलोक्या॥ ३९॥

वि. भा.—भाज्यहरौ हरे या काचिदिष्टा करणी तां ऋणं मत्वा तादृशेन हरेण गुणनीयौ, सम्भवे सति गुणितभाज्ये गुणितहरे च द्वयोर्द्वयोः करण्योर्योगौ साध्यौ। पुनः स्वेष्टर्णभाज्यहरौ कार्यविवमसकृद्यावद्धरगतैकैव करणी स्यात्। ततो भाज्यो हरैकगतकरण्या भक्तो वा फलं स्यात्। यो गुणो हरो भाज्याच्छुध्यति स गुण एव लब्धिरिति साधारणभागहाररीतिरपि वा पदेनाचार्येण सूचितः, समद्विघातो वर्गो वतीति॥

अत्रोपपत्तिः।

भाज्यभाजकयोः समेनाङ्केन संगुण्य यदि भजेत्तदा लब्धिरविकृतैवातो भाजकगतकरणीनामेकां व्यस्तधनर्णरूपां प्रकल्प्य तादृशा भाजकेन भाज्यभाजकावुभौ यदि गुण्येते तदा नूतनभाजके योगान्तरघातस्य वर्गान्तरसमत्वे नैका करणी न्यूना भविष्यति पुनस्तथैव कृते प्रायो नूतनभाजकेऽप्येका करणी न्यूना भविष्यति, एवमसकृत्कृतेऽन्त्ये सम्भवे भाजके भविष्यति ह्येकैव करणीत्युपपन्नमाचार्योक्तम्। सिद्धान्तशेखरे "छेदे करण्याः समभीप्सितायाः कृत्वा विपर्यासमृणस्वयोश्च। गुण्यौ पृथक् भाज्यहरौ युतौ तौ छेदेऽसकृत् स्यात् करणीयथैका॥ तया भजेदूर्ध्वग-भाज्यराशिमेवं करण्याः खलु भागहारः। समानराश्योरुभयोश्च घाते कृते करण्याः कृतिमप्युशन्ति" श्रीपत्युक्तमिदं, बीजगणिते 'धनर्णता व्यत्ययमीप्सितायाश्छेदे करण्या असकृद्विधाय। तादृक् छिदा भाज्यहरौ निहन्यादेकैव यावत्करणी हरे-स्यात्॥ भाज्यास्तया भाज्यगता करण्यः' भास्करोक्तमिदं चाऽऽचार्योक्तानुरूपमे-

वास्ति। परन्तु यदि हरे धनकरणी भवेत्तदाऽऽचार्योक्तश्रीपत्युक्तभास्करोक्ता 'हरे यावदेकैव करणी स्यात्' नां व्यभिचारो भवेदिति ॥ ३९ ॥

अब करणी भागहार और वर्ग को कहते हैं।

हि. भा.—हर में जो कोई इष्ट करणी हो उसको ऋण मानकर भाज्य और हर को गुण देना चाहिये। सम्भव रहने से गुणित भाज्य में और गुणित हर में, दो दो करणी के योग साधन करना पुनः उपर्युक्त क्रिया के अनुसार क्रिया करनी चाहिये। इस तरह बार बार तब तक क्रिया करनी चाहिए जब तक हर में एक ही करणी हो। तब भाज्य को भाजकगत एक करणी से भाग देने से फल होता है। वर्ग की परिभाषा कहते हैं समान दो अङ्कों का घात उसका वर्ग कहलाता है ॥

उपपत्ति।

भाज्य और भाजक को समान अङ्क से गुणा कर यदि भाग दिया जाय तो लब्धि ज्यों की त्यों रहती है। अर्थात् लब्धि में किसी तरह का विकार नहीं होता है। इसलिये भाजक गत करणियों में एक को व्यस्त (उल्टा) धन, ऋण कल्पना कर उस भाजक से यदि भाज्य और भाजक को गुणा करते हैं तब नवीन भाजक में योगान्तर घात के वर्गान्तर के समान होने के कारण एक करणी न्यून होगी। पुनः उसी तरह क्रिया करने से फिर भी नवीन भाजक में एक करणी न्यून होगी। एवं असकृत् (बार-बार) करने से हर में एक ही करणी होगी, इस से आचार्योक्त उपपन्न हुआ। सिद्धान्तशेखर में 'छेदे करण्याः सममीप्सितायाः' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोकों से श्रीपति ने तथा बीजगणित में 'धनर्णता व्यत्ययमीप्सितायाः' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से भास्कराचार्य ने भी आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है। परन्तु भाजक धनकरणी रहेगी तब 'यावद्धरे एकैव करणी भवेत्' इसका व्यभिचार होगा इति ॥ ३९ ॥

इदानीं करणीमूलानयनार्थमाह।

इष्टकरण्यूनाया रूपकृतेः पदयुतोनरूपार्धे।
प्रथमं रूपाण्यन्यत्ततो ततो द्वितीयं करण्यसकृत् ॥ ४० ॥

सु. भा.—रूपकृतेः किं विशिष्टाया इष्टकरण्यूनायाः। इष्टा यैका तया वेष्ट्योर्द्वयोर्यो रूपवद्योगस्तेन वेष्टानामनेकासां यो रूपवद्योगस्तेनोनाया यत्पदं तेन रूपाणि पृथक् युतोनितानि तदर्धे च कार्ये। तत्र प्रथममर्धाद्योगार्धं रूपाणि कल्प्यानि। ततोऽन्यदन्तरार्धं द्वितीयं मूलस्यैका करणी भवति। एवमसकृन्मूलानयनं कार्यम्।

अत्रोपपत्तिः। 'वर्गे करण्या यदि वा करण्योः' इत्यादि भास्करसूत्रस्य या मट्टिप्पण्यामुपपत्तिस्तया स्फुटा। तत्रान्ये बहवो विशेषाश्च निरीक्षणीयाः ॥४०॥

वि. भा.—रूपकृतेः इष्टकरण्यूनायाः इष्टायैका तया, इष्ट योर्द्वयोर्वा रूपवद्यो योगस्तेन, इष्टानामनेकासां यो रूपवद्योगस्तेनोनाया यत्पदं तेन रूपाणि पृथक्-युतोनितानि तदर्धे च कार्ये। तत्र प्रथमं योगार्धरूपाणि कल्प्यानि, ततोऽन्यदन्तरार्धं द्वितीयं मूलस्यैका करणी भवति। एवमसकृन्मूलानयनं कार्यमिति।

अत्रोपपत्तिः।

अथ $अ \pm \sqrt{न} = व \pm \sqrt{म}$ इत्येकं समीकरणं यत्र अ, व संख्याद्वयं संभवं न, म इति संख्याद्वयं चावर्गाङ्करूपं तदाऽत्र $अ = व$, $न = म$ भविष्यति। यद्येवं न तर्हि कल्प्यते $अ = व + इ$ अतः $व + इ \pm \sqrt{न} = व \pm \sqrt{म}$ समशोधनेन $इ \pm \sqrt{न} = \pm \sqrt{म}$ वर्गीकरणेन $इ^2 \pm २ इ \sqrt{न} + न = म$ समशोधनादिना $\frac{इ^2 \backsim (म - न)}{२ इ} = \sqrt{न}$ अनेन न मूलं भिन्नं वाऽभिन्नं संभवसंख्यासमं जातं परन्तु क मानमवर्गाङ्करूपं पूर्वं प्रकल्पितमवर्गस्य मूलं न सावयवं न निरवयवं च भिन्नवर्गे भिन्नत्वान्निरवयवाङ्कवर्गे वर्गाङ्कत्वादतः पूर्वकल्पना न समीचीना। ततोऽवश्यं $अ = व$, $न = म$ इति सिध्यति।

अथ कल्प्यते $अ + \sqrt{न}$ अस्य मूलं $\sqrt{य} + \sqrt{र}$ वर्गकरणेन $य + र + \sqrt{४ य . र} = अ + \sqrt{न}$ पूर्वसमीकरणयुक्त्या $य + र = अ$। $४ य . र = न$, वर्गकरणेन $य^2 + २ य . र + र^2 = अ^2$, $४ य . र = न$ समशोधनेन $य^2 - २ य . र + र^2 = अ^2 - न$ मूलेन $य - र = \sqrt{अ^2 - न}$ ततः संक्रमणेन य, र अनयोर्मानं भवेदिति। सिद्धान्तशेखरे 'रूपकृतेः करणी रहिताया मूलयुतोनितरूपगुणार्धे। रूपगुणः प्रथमं हि तदन्यत् स्यात् करणीपदमित्यसकृच्च, श्रीपत्युक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेवास्ति। भास्कराचार्येण श्रीपत्युक्तमिदं करणीमूलानयनं "वर्गेकरण्या यदि वा करण्योस्तुल्यानि रूपाण्यथवा बहूनाम्। विशोधयेद्रूपकृतेः पदेन शेषस्य रूपाणि युतोनितानि॥ पृथक् तदर्धे करणीद्वयं स्यान्मूलेऽथ बह्वी करणी तयोर्या। रूपाणि तान्येव कृतानि भूयः शेषाः करण्यो यदि सन्ति वर्गे॥" इत्यनेन स्पष्टीकरणपूर्वकं सम्यक् कथितमिति, करणीमूलानयनेऽन्येऽपि बहवो नियमाः स्वबीजगणिते प्रतिपादिताः॥ ४०॥

अब करणी मूलानयन को कहते हैं।

हि. भा.—इष्ट एक करणी, वा इष्ट दो करणियों का रूपवत् जो योग हो उससे वा अनेक करणियों के रूपवत् योग से रहित रूपवर्ग का जो मूल हो उससे रूप को पृथक् युत और हीन करना, दोनों का आधा करना, उसमें प्रथम योगार्ध की रूप कल्पना करना, और अन्य अन्तरार्ध के द्वितीय मूल्य की एक करणी होती है। एवं असकृत् मूलानयन करना चाहिये॥

उपपत्ति ।

$अ \pm \sqrt{न} = व \pm \sqrt{म}$ यह एक समीकरण है जिस में अ, ब ये दोनों संख्याएं संभव हैं, न, म, ये दोनों संख्याएं अवर्गाङ्क रूप हैं तब अ=व, न=म होगा । यदि ऐसा नहीं होगा तो कल्पना करते हैं अ=व+इ अतः $व + इ \pm \sqrt{न} = व \pm \sqrt{म}$ समशोधन से $इ \pm \sqrt{न} = \pm \sqrt{म}$ वर्ग करने से $इ^2 \pm २ इ \sqrt{न} + न = म$ समशोधनादि से $\frac{इ^2 \sim (म - न)}{२ इ} = \sqrt{न}$ इससे सिद्ध होता है कि न का मूल भिन्न हो कर अभिन्न संभव संख्या के बराबर हुआ, लेकिन क का मान पहले अवर्गाङ्क रूप प्रकल्पित है, अवर्गाङ्क का मूल भिन्न वर्ग में भिन्नत्व के कारण और निरवयवाङ्क के वर्ग में वर्गाङ्कत्व के कारण, नसावयव होता है, न निरयव, इसलिये पूर्व कल्पना समीचीन नहीं हैं । अतः अ=व, न=म सिद्ध होता है । कल्पना करते हैं $अ + \sqrt{न}$ इसका मूल $= \sqrt{य} + \sqrt{र}$ वर्ग करने से $य + र + \sqrt{४ य . र} = अ + \sqrt{न}$ पूर्व समीकरणयुक्ति से य+ र=अ । ४ य. र=न वर्ग करने से $य^2 + २ य . र + र^2 = अ^2$ । ४ य. र=न समशोधन से $य^2 - २ य . र + र^2 = अ^2 - न$ मूल लेने से $य - र = \sqrt{अ^2 - न}$, अन्तर ज्ञान से संक्रमण गणित से य, र इन दोनों का मान विदित हो जायगा । इस से आचार्योक्त उपपन्न हुआ । सिद्धान्त शेखर में 'रूपकृतेः करणी रहिता वा' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से श्रीपति ने आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है, भास्कराचार्य ने बीज गणित में 'वर्गे करण्या यदि वा करण्योः' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित पद्यों से श्रीपत्युक्त करणीमूलानयन को स्पष्टी करण पूर्वक कहा है ।। ४० ।।

इदानीमव्यक्तसङ्कलितव्यवकलितयोः करणसूत्रमाह ।

अव्यक्त वर्ग घनवर्ग वर्ग पञ्चगत षड्गतादीनाम् ।
तुल्यानां संकलितव्यवकलिते पृथगतुल्यानाम् ।। ४१ ।।

सु. भा.—अव्यक्तानां तद्वर्गाणां घनानां वर्गवर्गाणां पञ्चगतानां पञ्चघातानां षड्गतादीनां षड्घातादीनां तुल्यानां समानजातीनां सङ्कलितव्यवकलिते भवतोऽतुल्यानां भिन्नजातीनां च पृथक् स्थापनमेव तेषां सङ्कलितव्यवकलिते भवत इति । 'योगोऽन्तरं तेषु समानजात्योर्विभिन्नजात्योश्च पृथक् स्थितिश्च'—इति भास्करोक्तमेतदनुरूपमेवातो ऽस्योपपत्तिश्च तद्वत् ।। ४१ ।।

वि. भा.—अव्यक्तानां वर्गाणां घनानां वर्गवर्गाणां पञ्चघातानां षड्घातादीनां तुल्यानां (समानजातीनां) योगोऽन्तरं भवति, अतुल्यानां (भिन्नजातीनां) पृथक् स्थितिरेव "तद्योगोऽन्तरं भवतीति ।। नारायणीये बीजगणितावतंसे 'वर्णेषु च समजात्योर्योगः कार्यस्तथा वियोगश्च । असदृशजात्योर्योगे पृथक् स्थितिः

स्याद्वियोगे च' इति 'योगोऽन्तरं तेषु समानजात्योर्विभिन्नजात्योश्च पृथक् स्थितिश्च' भास्करोक्तमिदं चाऽऽचार्योक्तानुरूपमेव। समद्विघातो वर्गः। त्रिघातो घनः। चतुर्घातो वर्गवर्ग इत्यादियथेष्टघाता भवितुमर्हति। पाश्चात्यगणिते यस्य घातोऽपेक्ष्यते तन्मस्तकोपरि तद्घातज्ञापनाय तदङ्का रक्ष्यन्ते यथा य अस्य द्विघातः$=$य$^{२}=$य$^{१}\times$य$^{१}=$य$^{१+१}$। त्रिघातो घनः $=$य$^{३}=$य$^{२}\times$य$^{१}=$य$^{१}\times$य$^{१}\times$य^{१} $=$य$^{१+१+१}$ ऊर्ध्वरूपदर्शनादवगम्यते यद्वाऽरज्ञापका द्वित्र्यादयः। यदि द्विघाते विचारः क्रियते तदा य$^{१}\times$य^{१} अत्रैकघात एकघातेन गुण्यतेऽत्रैकैकयोर्योगो द्वयम् य$^{१}\times$य$^{१}=$य$^{१+१}=$य^{२}, एवं यथेष्टघातेषु य$^{२}\times$य$^{२}=$य$^{२+२}=$य$^{४}=$वर्गवर्गः। य$\times$ य$\times$य$\times$य$\times$य$=$य$^{१+१+१+१+१}=$य$^{५}=$पञ्चघातः इति ॥ ४१ ॥

अब अव्यक्तों के सङ्कलित और व्यवकलित को कहते हैं।

हि. भा.—अव्यक्तों के वर्ग, घन, वर्गवर्ग, पञ्चघात, षड्घात आदि समान जातियों का योग और अन्तर होता है। भिन्न जातियों की पृथक् स्थिति ही योग और अन्तर होता है॥ नारायणीय बीजगणितावतंस में 'वर्णेषुच समजात्योर्योगः कार्यं' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक तथा बीजगणित में 'योगोऽन्तरं तेषु समान जात्योः' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित भास्करीय श्लोक विषय आचार्योक्त के अनुरूप ही है। समान दो अङ्कों का घात वर्ग है, त्रिघात घन है चतुर्घात वर्गवर्ग इत्यादि यथेष्टघात होते हैं। पाश्चात्य गणित में जिसका घात अपेक्षित है उसके मस्तक के ऊपर उस घात के ज्ञानार्थ उस अङ्क को रक्खा जाता है। जैसे य इसका द्विघात$=$य^{२} $=$ य^{१} $\times$ य^{१} $=$ य$^{१+१}$$=$य का वर्ग त्रिघात घन है। य^{३} $=$ य का घन $+$ य^{२} $\times$ य^{१} $=$ य^{१} $\times$ य^{१} $\times$ य^{१} $=$ य$^{१+१+१}$ एवं यथेष्टघात होते हैं। समान जातिक अङ्कों का योग और अन्तर होता है जैसे ३ य^{२}$+$२ य^{२}$+$५ य^{२} $=$य^{२} (३ $+$ २ $+$ ५) $=$ १० य^{२} एवं १० य^{२} — २ य^{२}—५ य^{२}$=$य^{२} (१० — २ — ५) $=$ य^{२} (१० — ७) $=$ ३य^{२}।

यदि १२ य^{२}, इसमें ५ य^{३} इसको जोड़ते हैं वा घटाते हैं तो पृथक् स्थापन ही होता है यथा १२य^{२} $\pm$ ५य^{३} एवं सर्वत्र समझना चाहिये इति॥ ४१॥

इदानीमव्यक्तगुणने सूत्रमाह।

सदृशद्विवधो वर्गस्त्र्यादिवधस्तद् गतोऽन्यजातिवधः।
अन्योऽन्यवर्णघातो भावितकः पूर्ववच्छेषम्॥ ४२॥

सु. भा.—सदृशयोर्द्वयोरव्यक्तयोर्वधो वर्गो भवति। त्र्यादीनां समजातीनां वधस्तद्गतस्त्र्यादिघातोऽर्थाद् घनवर्गवर्गादिको भवति। अन्यजात्योर्विभिन्नजात्योर्वधोऽन्योऽन्यवर्णघातो भवति स च भावितको भावित इत्युच्यते। शेषं

गुणनभजनादिकं कर्म पूर्ववदिति । 'स्याद्रूपवर्णाभिहतौ तु वर्णो द्वित्र्यादिकानां समजातिकानां' इत्यादिभास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ॥ ४२ ॥

इति धनर्णादीनां सङ्कलितव्यवकलितादि ।

वि. भा.—समानयोर्द्वयोरव्यक्तयोर्घातो वर्गो भवति । समानाव्यक्तत्रयाणां घातस्तद् घनोभवति ।

एवं समानानां चतुर्णामव्यक्तानां घातो वर्गवर्गो भवति एवं पञ्च घातादावपि । विभिन्न जात्योर्वधो ऽन्योऽन्यवर्णघातो भवति स च भावित संज्ञकः[१] । शेषं गुणनभजनादिकं पूर्ववच्छोध्यमिति । अत्रत्यविषयाः पूर्वश्लोकस्य विज्ञानभाष्ये प्रदर्शिताः सन्ति । तत्रैव ते द्रष्टव्या इति ॥ ४२ ॥

इति धनर्णादीनां सङ्कलितव्यवकलितादि ।

अब अव्यक्त गुणन को कहते हैं ।

हि. भा.—समान दो अव्यक्तों का घात उसका वर्ग होता है । समान तीन अव्यक्तों का घात घन होता है, समान चार अव्यक्तों का घात वर्गवर्ग (चतुर्घात) होता है । एवं पञ्चघातादि होता है । विभिन्न जातिक अव्यक्तों के घात भावित संज्ञक है । शेष गुणन भजन आदि कर्म पूर्ववत् समझना चाहिये । यहां के विषय पूर्वश्लोक के हि. भा. में दिखलाये गये हैं वे वहीं द्रष्टव्य हैं इति ॥ ४२ ॥

इति धन और ऋण आदि का सङ्कलित और व्यवकलित समाप्त हुआ ।

(१) "स्याद्रूपवर्णाभिहतौ तु वर्णो द्वित्र्यादिकानां समजातिकानाम् ।
वधे तु तद्वर्गघनादयः स्युस्तद्भावितं चासमजातिघाते ॥
भागादिकं रूपवदेव शेषं व्यक्ते यदुक्तं गणिते तदत्र" भास्करोक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेवेति ॥

अथैकवर्णसमीकरणबीजम्

तत्राव्यक्तमानानयनार्थमाह ।

अव्यक्तान्तरभक्तं व्यस्तं रूपान्तरं समेऽव्यक्तः ।
वर्गाव्यक्ताः शोध्या यस्माद्रूपाणि तदधस्तात् ।। ४३ ।।

सु. भा.—समे एकवर्णसमीकरणे व्यस्तं रूपान्तरमव्यक्तान्तरभक्तमव्यक्तमानं व्यक्तं भवेत् । यत्पक्षादव्यक्तमानादन्यपक्षाव्यक्तमानं विशोध्याव्यक्तान्तरं साध्यते तत्पक्षस्थरूपाण्यन्यपक्षरूपेभ्यो विशोध्य यच्छेषं तद्व्यस्तं रूपान्तरमित्यर्थः । 'अव्यक्तः । वर्गाव्यक्ता'—इत्यादेरग्रे सम्बन्धः । 'एकाव्यक्तं शोधयेदन्यपक्षात्'—इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ।। ४३ ।।

वि. भा.—समे (एकवर्णसमीकरणे) व्यस्तं रूपान्तरमव्यक्तान्तरभक्तमव्यक्तमानं व्यक्तं जायते । यत्पक्षादव्यक्तमानादन्यपक्षाव्यक्तमानं विशोध्याव्यक्तान्तरं साध्यते तत्पक्षस्य रूपाण्यन्यपक्षरूपेभ्यो विशोध्य यच्छेषं तद्व्यस्तं रूपान्तरम् । अव्यक्तः । वर्गाव्यक्ता इत्यादेरग्रे सम्बन्धः । सिद्धान्तशेखरे 'अव्यक्त विश्लेषहृते प्रतीपरूपान्तरेऽव्यक्तमिती भवेताम् । स्याद्वा युतोनाहतभक्तमिच्छेत्तदाऽन्यपक्षे विहिते तथैव, श्रीपत्युक्तमिदं बीजगणिते "यावत्तावत् कल्प्यमव्यक्तराशेर्मानं तस्मिन् कुर्वतोद्दिष्टमेव । तुल्यौ पक्षौ साधनीयौ प्रयत्नात्त्यक्त्वा क्षिप्त्वा वाऽपि संगुण्य भक्त्वा ।। एकाव्यक्तं शोधयेदन्यपक्षाद्रूपाण्यन्यस्येतरस्माच्च पक्षात् शेषाव्यक्तेनोद्धरेद्रूपशेषं व्यक्तं मानं जायतेऽव्यक्तराशेः" भास्करोक्तमिदं चाचार्योक्तानुरूपमेवेति ।। ४३ ।।

अब एक वर्ण समीकरण बीज प्रारम्भ होता है ।

उस में पहले अव्यक्त मानानयनार्थ कहते हैं ।

हि. भा.—एकवर्ण समीकरण में विपरीत रूपान्तर को अव्यक्तान्तर से भाग देने से अव्यक्तमान व्यक्त होता है । जिस पक्ष के अव्यक्तमान में से अन्यपक्ष के अव्यक्त मान को घटाकर अव्यक्तान्तर साधन करते हैं उस पक्ष के रूप को अन्य पक्ष के रूप में से घटाकर जो शेष रहता है वही विपरीत रूपान्तर है । सिद्धान्त शेखर में 'अव्यक्तविश्लेषहृते प्रतीप रूपान्तरे' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्रीपतिपद्य तथा बीजगणित में 'यावत्तावत्कल्प्यमव्यक्तराशेः' इत्यादि वि. भा. लिखित भास्करोक्त आचार्योक्त के अनुरूप ही है इति ।। ४३ ।।

इदानीं वर्गसमीकरणमाह ।

वर्गचतुर्गुणितानां रूपाणां मध्यवर्गसहितानाम् ।
मूलं मध्येनोनं वर्गद्विगुणोद्धृतं मध्यः ॥ ४४ ॥

सु. भा.—यस्मात्पक्षादव्यक्तो वर्गाव्यक्ता अव्यक्तवर्गश्च विशोध्यस्तदधस्तादितरपक्षाद्रूपाणि बिशोध्यानि । एवमेकपक्षेऽव्यक्तवर्गो ऽव्यक्तश्च । अपरपक्षे च व्यक्तानि रूपाणि । तत्राव्यक्तमानं कथं भवेदित्येतदर्थमाह वर्गचतुर्गुणितानामित्यादि । रूपाणां व्यक्ताङ्कानां किंविशिष्टानां वर्गचतुर्गुणितानां चतुर्गुणिताव्यक्तवर्गगुणकगुणितानाम् । पुनः किं विशिष्टानां मध्यवर्गसहितानां । मध्योऽव्यक्तस्तस्य गुणकश्चात्र मध्येन गृहीतस्तस्य गुणकस्य यो वर्गस्तेन सहितानां यन्मूलं तन्मध्येनाव्यक्तगुणकेनोनं वर्गद्विगुणोद्धृतं द्विगुणाव्यक्तवर्गगुणकेनोद्धृतं तदा मध्योऽव्यक्तोऽर्थादव्यक्तमानं स्यादिति ।

अत्रोपपत्त्यर्थं मत्कृतभास्करबीजटिप्पण्यां 'चतुराहतवर्गसमै रूपैः'—इत्यादि सूत्रोपपत्तिर्द्रष्टव्या ॥ ४४ ॥

वि. भा.—यस्मात् पक्षादव्यक्तो वर्गाव्यक्तोऽव्यक्तवर्गश्च विशोध्यस्तदधस्तादितरपक्षाद्रूपाणि विशोध्यानि । एवमेकपक्षेऽव्यक्तवर्गोऽव्यक्तश्च भवति । इतरपक्षे रूपाणि भवन्ति । तत्राव्यक्तमानज्ञानं कथं भवेत्तदर्थं कथ्यते रूपाणां (व्यक्ताङ्कानां) चतुर्गुणिताव्यक्तवर्गगुणकगुणितानां मध्यवर्गसहितानां मध्योऽव्यक्तस्तस्य गुणकश्चात्र मध्येन गृहीतस्तस्य गुणकस्य यो वर्गस्तेन सहितानां यन्मूलं तन्मध्येनाव्यक्तगुणकेन हीनं वर्गद्विगुणभक्तं (द्विगुणाव्यक्तवर्गगुणकेन भक्तं) तदा मध्योऽव्यक्तोऽर्थादव्यक्तमानं भवेदिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

कल्प्यते $य^2 . गु + य . गु' = व्य$ पक्षौ गु भक्तौ तदा $य^2 + य . \frac{गु'}{गु} = \frac{व्य}{गु}$ पुनः पक्षयोः $\frac{गु'}{२ गु}$ अस्य वर्गयोगेनावश्यमेवाव्यक्तपक्षो मूलदो भवति "द्वयोर्द्वयोश्चाभिहतिं द्विनिघ्नीम् "—इत्यादिना तेन $य^2 + य . \frac{गु'}{गु} + \frac{गु'^2}{४ गु^2} = \frac{गु'^2 + ४ गु . व्य}{४ गु^2}$ एतौ वर्गेण गुणितौ वर्गत्वं न त्यजतोऽतो गुणवर्गेणचतुर्गुणेन गुणितौ जातौ $४ गु^2 . य^2 + ४ गु . गु' . य + गु'^2 = गु'^2 + ४ गु . व्य$

$=$ ४ गु (गु य^{2} $+$ $\overset{।}{\text{गु}}$ य) $+$ $\overset{।}{\text{गु}}^{2}$ $=$ $\overset{।}{\text{गु}}^{2}$ $+$ ४ गु व्य एतेनाचार्योक्त तथा चतुराहतवर्गं समै रूपैः पक्षद्वयं गुणयेत् । अव्यक्तवर्गरूपैर्युक्तौ पक्षौ ततो मूलमिति श्रीधराचार्योक्तसूत्रं चोपपद्यत इति ॥ ४४ ॥

अब वर्गसमीकरण को कहते हैं ।

हि॰ भा.—जिस पक्ष में अव्यक्त और अव्यक्त वर्ग घटाते हैं उससे इतर पक्ष में रूप को घटाना चाहिये । इस तरह एक पक्ष में अव्यक्तवर्ग और अव्यक्त होता है, इतर पक्ष में रूप होते हैं, वहां अव्यक्त मान ज्ञान कैसे होता है उसके लिए कहते हैं । चतुर्गुणित अव्यक्त वर्ग के रूप से दोनों पक्ष को गुणा दें । दोनों पक्षों में अव्यक्त वर्ग रूप को जोड़कर दोनों पक्ष का मूल लें । तब अन्योन्य पक्षानयन भागादि क्रिया करने पर अव्यक्त राशि मान आ जाता है ।

उपपत्ति ।

कल्पना करते हैं य^{2}. गु $+$ य . $\overset{।}{\text{गु}}$ $=$ व्य दोनों पक्षों को गु भाग देने से य^{2} $+$ य. $\frac{\overset{।}{\text{गु}}}{\text{गु}}$ $=\frac{\text{व्य}}{\text{गु}}$ पुनः दोनों पक्षों में $\frac{\overset{।}{\text{गु}}}{\text{२ गु}}$ इसका वर्ग जोड़ने से अवश्य ही अव्यक्त पक्ष मूलद होता है 'द्वयोर्द्वयोश्चाभिहतिं द्विनिघ्नीं' इत्यादि से, अतः य^{2} $+$ य. $\frac{\overset{।}{\text{गु}}}{\text{गु}}$ $+$ $\frac{\overset{।}{\text{गु}}^{2}}{\text{४ गु}^{2}}$ $=$ $\frac{\overset{।}{\text{गु}}^{2} + \text{४ गु . व्य}}{\text{४ गु}^{2}}$ इन दोनों को वर्गाङ्क से गुणा करने से वर्गत्व नहीं हटता है इसलिए चतुर्गुणित गुणवर्ग से गुणा करने से ४ गु^{2}. य^{2} $+$ ४ गु. $\overset{।}{\text{गु}}$.य $+$ $\overset{।}{\text{गु}}^{2}$ $=$ $\overset{।}{\text{गु}}^{2}$ $+$ ४ गु. व्य $=$ ४ गु (गु. य^{2} $\overset{।}{\text{गु}}$. य) $+$ $\overset{।}{\text{गु}}^{2}$ $=$ $\overset{।}{\text{गु}}^{2}$ $+$ ४ गु . व्य, इससे आचार्योक्त तथा 'चतुराहतवर्गसमै रूपैः पक्षद्वयं गुणयेत्' इत्यादि श्रीधराचार्य सूत्र भी उपपन्न हुआ इति ॥ ४४ ॥

इदानीं प्रकारान्तरेण वर्गसमीकरणेऽव्यक्तमानमानयति ।

वर्गाहतरूपाणामव्यक्तार्धकृतिसंयुतानां यत् ।
पदमव्यक्तार्धोनं तद्वर्गविभक्तमव्यक्तः ॥४५॥

सु॰ भा॰—वर्गेणाव्यक्तवर्गगुणकेन हतानां रूपाणां किंविशिष्टानामव्यक्तार्धकृतिसंयुतानामव्यक्तगुणकार्धवर्गसहितानां यत् पदं तदव्यक्तगुणकार्धोनं तदव्यक्तवर्गगुणकविभक्तमव्यक्तोऽव्यक्तमानं स्यादिति ।

अत्रोपपत्तिः । चतुर्भिरपवर्त्य पूर्वसूत्रविधिना स्फुटा ॥ ४५ ॥

वि. भा.—वर्गेणाव्यक्तवर्गगुणकेन गुणितानां रूपाणां (व्यक्ताङ्कानां) अव्यक्तगुणकार्धवर्गसंयुतानां यन्मूलं तदव्यक्तगुणकार्धेन हीनं तदव्यक्तवर्गगुणकविभक्तं तदाऽव्यक्तराशिमानं भवेदिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

पूर्वसूत्रोपपत्तौ $4\,\text{गु}\,(\text{गु}.\,\text{य}^2+\text{गु}'.\,\text{य})+\text{गु}'^2=\text{गु}'^2+4\,\text{गु}.\,\text{व्य}$ पक्षौ चतुर्भिरपवर्त्तितौ $\text{गु}.(\text{गु}.\,\text{य}^2+\text{गु}'.\,\text{य})+\frac{\text{गु}'}{4}=\frac{\text{गु}'}{4}+\text{गु}.\,\text{व्य}=\text{गु}^2.\,\text{य}^2+\text{गु}.\,\text{गु}'.\,\text{य}+\frac{\text{गु}'}{4}$ $=\frac{\text{गु}'}{4}+\text{गु}.\,\text{व्य}$ पक्षयोर्मूल ग्रहणेन $\text{गु}.\,\text{य}+\frac{\text{गु}'}{2}=\sqrt{\frac{\text{गु}'}{2}+\text{गु}.\,\text{व्य}}$ पक्षयोः $\frac{\text{गु}'}{2}$ हीनौ तदा $\text{गु}.\,\text{य}=\sqrt{\frac{\text{गु}'}{2}+\text{गु}.\,\text{व्य}}-\frac{\text{गु}'}{2}$ पक्षौ गु भक्तौ तदा

$$\text{य}=\frac{\sqrt{\frac{\text{गु}'}{2}+\text{गु}.\,\text{व्य}}-\frac{\text{गु}'}{2}}{\text{गु}}$$

एतेनाचार्योक्तमुपपन्नम् ॥४५॥

अब प्रकारान्तर से वर्ग समीकरण में अव्यक्त मान लाते हैं ।

हि. भा.—अव्यक्त वर्ग गुणक से गुणित रूपमें अव्यक्त गुणकार्ध वर्ग जोड़कर जो मूल हो उसमें से अव्यक्त गुणकार्ध को घटाकर अव्यक्त वर्ग गुणक से भाग देने से राशि मान होता है इति ।

उपपत्ति ।

पूर्व सूत्रोपपत्ति में $4\,\text{गु}\,(\text{गु}\,.\,\text{य}^2+\text{गु}'\,.\,\text{य})+\text{गु}'^2=\text{गु}'^2+4\,\text{गु}\,.\,\text{व्य}$ दोनों पक्षों को चार से अपवर्त्तन देने से $\text{गु}\,(\text{गु}\,.\,\text{य}^2+\text{गु}'\,.\,\text{य})+\frac{\text{गु}'^2}{4}=\frac{\text{गु}'^2}{4}+\text{गु}\,.\,\text{व्य}=\text{गु}^2\,.\,\text{य}^2$ $+\text{गु}\,.\,\text{गु}'\,.\,\text{य}+\frac{\text{गु}'}{4}=\frac{\text{गु}'}{4}+\text{गु}.\,\text{व्य}$ दोनों पक्षों के मूल ग्रहण करतेसे $\text{गु}\,.\,\text{य}+\frac{\text{गु}'}{2}$ $=\sqrt{\frac{\text{गु}'}{2}+\text{गु}.\,\text{व्य}}$ दोनों पक्षों में $\frac{\text{गु}'}{2}$ घटाने से $\text{गु}.\,\text{य}=\sqrt{\frac{\text{गु}'}{2}+\text{गु}.\,\text{व्य}}-\frac{\text{गु}'}{2}$ दोनों पक्षों

को गु से भाग देने से $य = \frac{\sqrt{\frac{गु'}{२}+गु . व्य}-\frac{गु'}{२}}{गु}$ इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ ।।४५।।

इदानीं प्रश्नमाह ।

सैकादंशकशेषाद् द्वादशभागश्चतुर्गुणोऽष्टयुतः ।
सैकांशशेषतुल्यो यदा तदाऽहर्गणं कथय ।।४६।।

सु. भा.—अंशकशेषात् सैकाद्यो द्वादशभागः स चतुर्गुणोऽष्टयुतस्तदा सैकेनांशशेषेण यदा तुल्यो भवति तदाहर्गणं कथयेति । अत्रांशशेषप्रमाणं या १ । तदा प्रश्नालापेन

$\frac{४ (या+१)}{१२}+८=\frac{या+१}{३}+८=\frac{या+२५}{३}=या+१$, अतश्छेदगामिना

$या+२५=३ या+३ \therefore या=११$

अस्मादंशशेषात् रव्यादीनामुद्दिष्टात् पूर्ववदहर्गणः स्यादिति ।। ४६ ।।

वि. भा.—एकेन सहितादंशकशेषाद्यो द्वादशांशः स चतुर्गुणोऽष्टयुतस्तदा सैकेनांशशेषेण यदा तुल्यो भवति तदाऽहर्गणं कथयेति ।।

अत्रोपपत्तिः ।

अत्रांशशेषप्रमाणं कल्प्यते=य तदा सूत्रोक्तालापेन $\frac{४ (य+१)}{१२}+८ =\frac{य+१}{३}+८=\frac{य+२५}{३}=य+१$ छेदगमेन $य+२५=३ य+३$ समशोधनेन $२ य =२२$ अतः $य = \frac{२२}{२} = ११$ अस्मादंशशेषाद्रव्यादीनामुद्दिष्टात् पूर्ववदहर्गणो भवेदिति ।।४६।।

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा.—एक सहित अंश शेष के द्वादशांश को चार से गुणा कर आठ जोड़ने से यदि एक सहित अंश शेष के बराबर होता है तब अहर्गण प्रमाण को कहो इति ।।

उपपत्ति ।

यहां कल्पना करते हैं अंश शेष प्रमाण=य, तब सूत्रोक्त आलाप से $\frac{४ (य+१)}{१२}$

$+८=\frac{य+१}{३}+८=\frac{य+२५}{३}=य+१$ छेदगम से $य+२५=३ य+३$ समशोधन से $२ य=२२ \therefore य=\frac{२२}{२}=११$ इस अंश शेष से पूर्ववत् अहर्गण होता है इति ॥४६॥

इदानीमन्यं प्रश्नमाह ।

द्व्यूनमधिमासशेषं त्रिहृतं सप्ताधिकं द्विसङ्गुणितम् ।
अधिमासशेषतुल्यं यदा तदा युगगतं कथय ॥४७॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् । अत्र प्रश्नालापेन यदि अधिशेषमानं या १ ।

$$२ \left\{ \frac{या-२}{३}+७ \right\} = \frac{२ या-४}{३}+१४=\frac{२ या+३८}{३}=या$$

$\therefore या=३८$ । अस्मादधिमासशेषात् कुट्टकेन युगगतानयनं सुगमम् ॥ ४७ ॥

वि. भा.—अधिमासशेषं द्वाभ्यां रहितं त्रिभक्तं सप्तयुतं द्विगुणितं तदाऽधिमासशेषतुल्यं भवति तदा युगगतं कथयेति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

अत्र कल्प्यते अधिशेषमानम्=य, तदा प्रश्नोक्त्या $२ \left\{ \frac{(य-२}{३}+७ \right\} =\frac{२ य-४}{३}+१४=\frac{२ य-४+४२}{३}=\frac{२ य+३८}{३}=$ अधिशेष=य छेदगमेन $२ य +३८=३ य$ अतः $य=३८$ अस्मादधिमासशेषात् कुट्टकयुक्त्या युगगतानयनं स्फुटमिति ॥४७॥

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा.—अधिमास शेष में से दो घटाकर तीन से भाग देने से जो लब्ध हो उसमें सात जोड़कर द्विगुणित करने से यदि अधिमास शेष के बराबर होता है तब युगगत को कहो इति ॥

उपपत्ति

यहां कल्पना करते हैं अधिशेषमान = य, तब प्रश्नानुसार $२ \left\{ \frac{(य-२)}{३} +७ \right\} = \frac{२य-४}{३}+१४=\frac{२ य-४+४२}{३}=\frac{२य+३८}{३}$

= अधिशेष = य छेदगम से २ य + ३८ = ३ य अतः य = ३८ इस अधिमास शेष से कुट्टक युक्ति से युगगतानयन स्फुट है इति ॥ ४७ ॥

इदानीमन्यप्रश्नमाह ।

व्येकमवमावशेषं षड्ढृतं त्रियुतमवमशेषस्य ।
पञ्चविभक्तस्य समं यदा तदा युगगतं कथय ॥ ४८ ॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् । अत्र प्रश्नालापेन यद्यवमावशेषं या १ ।
$\frac{\text{या} - १}{६} + ३ = \frac{\text{या} + १७}{६} = \frac{\text{या}}{५}$ । छेदगमादिना या = ८५ ।
अस्मात् क्षयशेषात् पूर्वप्रकारेण युगगतानयनं सुगममिति ॥ ४८ ॥

वि. भा.—अवमशेषमेकेन हीनं षड्भक्तं त्रियुतं यदा पञ्चभक्तस्यावमशेषस्य तुल्यं भवति तदा युगगतं कथयेति ।

अत्रोपपत्तिः

अत्र कल्प्यते अवमशेषमानम् = य, तदा प्रश्नोक्त्या $\frac{\text{य} - १}{६} + ३$
$= \frac{\text{य} - १ + १८}{६} = \frac{\text{य} + १७}{६} = \frac{\text{अवमशे}}{५} = \frac{\text{य}}{५}$ छेदगमेन ५ य + ८५ = ६ य अतः य = ८५ अस्मादवमशेषात् पूर्ववद्युगगतानयनं स्फुटमिति ॥ ४८ ॥

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा.—अवशेष में से एक घटाकर छः से भाग देने से जो लब्ध हो उसमें तीन जोड़ने से यदि पांच से विभक्त अवशेष के बराबर हो तब युगगत प्रमाण को कहो इति ।

उपपत्ति ।

यहाँ कल्पना करते हैं अवमशेषमान = य, तब प्रश्नानुसार $\frac{\text{य} - १}{६}$
$+ ३ = \frac{\text{य} - १ + १८}{६} = \frac{\text{य} + १७}{६} = \frac{\text{अवमशे}}{२} = \frac{\text{य}}{५}$
छेदगम से ५ य + ८५ = ६ य अतः य = ८५ इस अवमशे से पूर्ववत् युगगतानयन स्फुट है इति ॥ ४८ ॥

इदानीमन्यप्रश्नमाह ।

मण्डलशेषाद् द्व्यूनान्मूलं व्येकं दशाहतं द्वियुतम् ।
मण्डलशेषं व्येकं भानोर्ज्ञदिने कदा भवति ।। ।। ४६ ।।

सु. भा.—भानोर्मण्डलशेषाद् भगणशेषात् । शेषं स्पष्टार्थम् । अत्र प्रश्नालापेन यदि भगणशेषप्रमाणं या^{२}+२ । १० (या—१)+२ = १० या—८=या^{२}+२—१=या^{२}+१ पक्षान्तरानयनेन या^{२}—१० या=—९

वर्गसमीकरणविधिना या^{२}—१० या+२५=२५—९=१६

अतः या—५= ±४ ∴ या=९ वा १,

एवमत्र बीजयुक्तितो द्विविधं मानमुत्पद्यते यावत्तावतस्तद्वशेनोत्थापनेन भगणशेषमानम्=८३ वा, ३ । अत्र चतुर्वेदाचार्येण प्रथममानमेव गृहीतम् । कस्माद्भगणशेषात् पूर्वकुट्टकविधिना ऽनेकधा ऽहर्गणो भवति स चाभीष्टवारे ग्राह्यः ।। ४९ ।।

वि. भा.—भानोः (सूर्यस्य) मण्डल शेषात् (भगणशेषात्) द्वाभ्यां हीनान्मूलं यत्तद् व्येकं दशगुणितं द्वियुतं व्येकं मण्डलशेषतुल्यं बुधदिने कदा भवतीति ।।

अत्रोपपत्तिः ।

अत्र कल्प्यते भगणशेषप्रमाणम् = य^{२} + २ तदा प्रश्नोक्त्या ($\sqrt{\text{य}^{२} + २ - २}$ — १) १० + २ = (य — १) १० + २ =१० य —१० + २ = १० य — ८ = भगणशे — १ =य^{२} + २ — १ = य^{२}+१ समशोधनादिना य^{२}— १० य = —९ पमयोः २५ योजनेन य^{२} — १० य + २५ = २५ — ९ = १६ मूल ग्रहणेन य — ५ = ± ४ अतः य = ५ ± ४ अर्थात् य = ९, य = १ आभ्यां भगणशेषस्योत्थापनेन ८३, ३ अस्माद् भगण-शेषात् कुट्टकयुक्त्याऽनेकधाऽहर्गणो भवति सोऽभीष्टदिने ग्रहीतव्य इति ।। ४९ ।।

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा.—सूर्य के भगण शेष में से दो घटा कर जो मूल होता है उसमें से एक घटा-कर दस से गुणाकर दो जोड़ कर यदि एक हीन भगणशेष तुल्य होता है तो बुध दिन में कब होगा इति ।

उपपत्ति ।

यहां कल्पना करते हैं भगण शेष प्रमाण = य^{२} + २ तब प्रश्नानुसार

$(\sqrt{य^2+२}-२-१)\,१०+२=(य-१)\,१०+२=१०\,य-१०+२=१०\,य-८=$ भगणशे $-१=य^2+२-१=य^2+१$ सम शोधनादि से $य^2-१०\,य=-९$ दोनों पक्षों में २५ जोड़ने से $य^2-१०\,य+२५=२५-९=१६$ मूलग्रहण से $य-५=\pm ४$ अत: $य=५\pm ४$ अर्थात् $य=९$, $य=१$ इन दोनों से भगण शेष को उत्थापन देने से ८३, ३ इस भगणशेष से कुट्टक युक्ति से अनेकधा अहर्गण होता है वह अभीष्ट दिन में ग्रहण करना चाहिये इति ॥ ४९ ॥

इदानीमन्यप्रश्नमाह ।

अधिमासशेषपादात् त्र्यूनाद्वर्गो ऽधिमासशेषसमः ।
अवमावशेषतो वाऽवमशेषसमः कदा भवति ॥ ५० ॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् । यद्यधिमासशेषस्य क्षयशेषस्य च प्रमाणं या १ तदा प्रश्नालापेन ।

$$\left(\frac{या}{४}-३\right)^2=\left(\frac{या-१२}{४}\right)^2=\frac{या^2-२४\,या+१४४}{१६}=या \text{ तत उक्तवत्}$$

$या^2-४०\,या=-१४४,$

$या^2-४०\,या+४००=४००-१४४=२५६$

$\therefore\ या-२०=\pm १६$ ततः $या=३६$ वा ४

अत्र यदि रूपत्रयतोऽधिशेषस्य क्षयशेषस्य वा पादः शोध्यते शेषश्च धनात्मकोऽपेक्षितस्तदा द्वितीयं मानमेव ग्राह्यम् । ततोऽधिशेषादवमावशेषाच्च कुट्टकविधिना कल्पगतानयनं सुगममिति ॥ ५० ॥

वि. भा.—अधिमासशेषचतुर्थांशात् त्रिहीनात् वर्गोऽधिशेष समः । वा अवमावशेषतोऽवमशेषतुल्यः कदा भवतीति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

कल्प्यते अधिमासशेषस्य मानम् $=य$, तदा प्रश्नोक्त्या $\left(\frac{य}{४}-३\right)^2$ $=$ अधिशेष $=य=\left(\frac{य-१२}{४}\right)^2=\frac{य^2-२४\,य+१४४}{१६}$ $=य$ छेदगमेन $य^2-२४\,य+१४४=१६\,य$ समशोधनेन $य^2-४०\,य=-१४४$ पक्षयोः ४०० योजनेन $य^2-४०\,य+४००=४००-१४४=२५६$ मूलग्रहणेन $य-२०=\pm १६\ \therefore\ य=२०\pm १६$ अर्थात् $य=३६$, $य=४$

एवमेवावमावशेषतः क्रिया कार्या तदाऽवमशेषज्ञानं भवेत् । अत्र यदि रूपत्रयतोऽधिशेषस्यावमशेषस्य वा चतुर्थांशः शोध्यते शेषश्च धनात्मकोऽपेक्षितस्तदा द्वितीयमानमेव ग्राह्यम् । ततोऽधिशेषादवमशेषाच्च कुट्टकेन कल्पगतानयनं स्फुटमेवेति ॥ ५० ॥

इत्येकवर्णसमीकरणम्

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा.—अधिमास शेष चतुर्थांश में से तीन घटाकर वर्ग करते हैं वह अधिशेष के बराबर होता है वा अवमशेष चतुर्थांश में से तीन घटाकर वर्ग करते हैं वह अवमशेष के बराबर कब होता है इति ।

उपपत्ति ।

कल्पना करते हैं अधिमास शेष प्रमाण = य, तब प्रश्नानुसार $\left(\frac{य}{४}-३\right)^२$ $=$ अधिशे $=$ य $=\left(\frac{य-१२}{४}\right)^२=\frac{य^२-२४\,य+१४४}{१६}=$ य छेदगम से य$^२-$ २४ य$+$१४४$=$ १६ य समशोधन से य$^२-$४० य$=-$१४४ दोनों पक्षों में ४०० जोड़ने से य$^२-$४० य $+$ ४०० $=$ ४०० $-$ १४४ मूलग्रहण से य $-$ २० $= \pm$ १६ अतः य $=$ २० $\pm$ १६ अर्थात् य $=$ ३६, य $=$ ४, इसी तरह अवमावशेष ज्ञान होता है। यहां यदि तीन में से अधिशेष के चतुर्थांश वा अवम शेष के चतुर्थांश को घटाते हैं तथा शेष धनात्मक अपेक्षित हो तब द्वितीय मान ही ग्रहण करना चाहिये । तब अधिशेष अवमशेष से कुट्टक युक्ति से कल्पगतानयन स्फुट ही है इति ॥ ५० ॥

इति एक-वर्ण-समीकरण समाप्त हुआ ।

अनेकवर्णसमीकरणबीजम्

इदानीमनेकवर्णसमीकरणमाह ।

आद्याद्वर्णादन्यान् वर्णान् प्रोह्याद्यमानमाद्यहृतम् ।
सदृशच्छेदावसकृद् द्वौ व्यस्तौ कुट्टको बहुषु ॥ ५१ ॥

सु. भा:—आद्याद्वर्णाद्येऽन्ये वर्णास्तानितरस्मात् पक्षात् प्रोह्य शेषमाद्येना ऽऽद्यवर्णगुणकेन हृतमाद्यमानमाद्योन्मितिः स्यात् । एकस्य वर्णस्योन्मितीनां बहुत्वे द्वौ द्वौ पक्षौ व्यस्तावन्योन्यहरगुणनोद्भूतौ सदृशच्छेदौ कृत्वाऽसकृत् तदन्यवर्णोन्मितिः साध्या । एकपक्षस्य हरेणापरपक्षीयौ लवहरौ सङ्गुण्य छेदगमं च विधाय 'आद्याद्वर्णादन्यान्' इत्यादिना तदन्यवर्णमानेयम् । एवमसकृत् कर्म कार्यम् । अन्ते बहुषु वर्णेष्वज्ञातेषु कुट्टको भवति । तत्र कुट्टकोन्मितिः साध्येत्यर्थः । भास्करानेकवर्णसमीकरणमेतदनुरूपमेव ॥ ५१ ॥

वि.भा.—आद्याद्वर्णादन्ये ये वर्णास्तानितरस्मात् पक्षात् प्रोह्य शेषमाद्यवर्णगुणकेन भक्तमाद्यमानं भवति एकस्य वर्णस्योन्मितीनां बहुत्वे द्वौ द्वौ पक्षौ व्यस्तौ (परस्परहरगुणनोद्भूतौ) सदृशहरौ कृत्वाऽसकृत् तदन्यवर्णोन्मितिः साध्या । एकपक्षस्य हरेणापरपक्षीयावंशहरौ संगुण्य छेदगमं च कृत्वा 'आद्याद्वर्णादन्यान्' इत्यादिना तदन्यवर्णमानेतव्यम् । एवमसकृत्कर्मकार्यम् । अन्ते बहुषु वर्णेष्वज्ञातेषु कुट्टको भवति । तत्र कुट्टकेन मानं साध्यमिति ॥ सिद्धान्तशेखरे "आद्यं वर्णं प्रोह्य पक्षात्कुतोऽपि त्यक्त्वा शेषानन्यतश्चाद्यभक्ते । प्राहुस्तज्ज्ञास्तामितीराहुरेवं कार्यातुल्यच्छेदनाभिश्च भूयः ॥ एकोन्माने कुट्टकः स्यात् प्रमाणं तान्यन्यानि स्युः प्रतीपात्ततश्च । कुट्टाकारे भाज्यवर्णस्य मानं तस्मिन् लब्धं हारवर्णस्य चाहुः" श्रीपत्युक्तमिदमनेकवर्णसमीकरणमाचार्योक्तानुरूपमेवास्ति, बीजगणिते "आद्यं वर्णं शोधयेदन्यपक्षादन्यान् रूपाण्यन्यतश्चाद्यभक्ते । पक्षेऽन्यस्मिन्नाद्यवर्णोन्मितिः स्याद्वर्णस्यैकस्योन्मितीनां बहुत्वे ॥ समीकृतच्छेदगमे तु ताभ्यस्तदन्यवर्णोन्मितयः प्रसाध्याः । अन्त्योन्मितौ कुट्टविधेर्गुणाप्ती ते भाज्य तद्भाजक वर्णमाने ॥ अन्येऽपि भाज्ये यदि सन्ति वर्णास्तन्मानमिष्टं परिकल्प्य साध्ये । विलोमकोत्थापनतोऽन्यवर्णमानानि भिन्नं यदि मानमेवम् "भूयः कार्यः कुट्टकोऽत्रान्त्यवर्णं तेनोत्थाप्योत्थापयेद् व्यस्तमाद्यान् ॥" अनेन भास्कराचार्येणाचार्योक्तं श्रीपत्युक्तं वा स्पष्टीकृत्योक्तं व्याख्यातं चेति ॥ ५१ ॥

अब अनेक वर्ण समीकरण को कहते हैं।

हि. भा.—प्रथम वर्ण से अन्य जो वर्ण है उनको इतर (दूसरे) पक्ष में से घटा कर शेष को प्रथम वर्ण गुणक से भाग देने से प्रथम वर्ण का मान होता है। एक वर्ण के अनेक मान रहने से दो दो पक्षों के समान हर कर के असकृत् (बार बार) अन्य वर्ण का मान साधन करना चाहिए। एक पक्ष के हर से दूसरे पक्ष के अंश और हर को गुणा कर और छेदगम कर के 'आद्याद्वर्णादन्यान्' इत्यादि आचार्योक्ति से अन्य वर्ण का मान लाना चाहिये। एवं असकृत् कर्म करना चाहिये। अन्त में बहुत वर्णों के अज्ञात रहने से कुट्टक होता है अर्थात् वहां कुट्टक से मान साधन किया जाता है॥ सिद्धान्त शेखर में "आद्यं वर्णं प्रोह्य पक्षात्कुतोऽपि' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्रीपतिप्रकार आचार्योक्त प्रकार के अनुरूप ही है। तथा बीजगणित में "आद्यं वर्णं शोधयेदन्यपक्षादन्यान् रूपाण्यन्यतश्चाद्यभक्ते' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित पद्यों से भास्कराचार्य ने आचार्योक्त प्रकार को वा श्रीपत्युक्त प्रकार को स्पष्टीकरणपूर्वक कहा हैं और व्याख्या की हैं इति॥ ५१॥

इदानीं प्रश्नानाह।

गतभगणयुताद् द्युगणात् तच्छेषयुतात् तदैक्यसंयुक्तात्।
तद्योगाद् द्युगणं वा यः कथयति कुट्टकज्ञः सः॥ ५२॥

सु. भा.—अहर्गणादिष्टग्रहस्य गतभगणयुताद्योऽहर्गणं कथयति। वाऽहर्गणात् तस्य गतभगणस्य शेषयुताद्योऽहर्गणं कथयति। वाऽहर्गणात् तयोर्गतभगणभगणशेषयोर्यदैक्यं तेन संयुक्ताद्योऽहर्गणं कथयति। वा तयोर्गतभगणभगणशेषयोर्योगाद्योऽहर्गणं कथयति स एव कुट्टकज्ञः।

प्रथमप्रश्नेऽहर्गणमानं या १। भगणशेषमानं का १

$$\text{ततो ऽनुपातेन गतभगणाः} = \frac{\text{ग्रभ. या} - \text{का}}{\text{ककु}}$$

$$\therefore \text{गभ} + \text{या} = \frac{\text{या (ग्रभ} + \text{ककु)} - \text{का}}{\text{ककु}} = \text{यो}।$$

$$\text{ततः का} = \frac{\text{या (ग्रभ} + \text{ककु)} - \text{ककु. यो}}{१}$$

कुट्टकेन यावत्तावन्मानं सुगमम्।

द्वितीय प्रश्नेऽहर्गणः = या १। गतभगणाः = का।

भगणशेषम् = ग्रभ + या − ककु. का

$$\therefore \text{भशे} + \text{या} = \text{या (ग्रभ} + १) - \text{ककु. का} = \text{यो}$$

$$\therefore \text{का} = \frac{\text{या (ग्रभ} + १) - \text{यो}}{\text{ककु}}$$ । अतः कुट्टकेन यावत्तावन्मानं सुगमम्।

तृतीय प्रश्ने ऽहर्गणः=या १ । गतभगणाः=का । ततो गतभगणशेषम्= ग्रभ. या—ककु. का

अतः भशे+या+ग्रभ=या (ग्रभ+१)—का (ककु—१)=यो

$\therefore$ का=$\frac{\text{या (ग्रभ+१)}-\text{यो}}{\text{ककु}-१}$ । कुट्टकेन याक्तावन्मानं सुगमम् ।

चतुर्थ प्रश्नेऽहर्गणः=या । गतभगणाः=का ।

भगणशेषम्=ग्रभ. या—ककु. का

$\therefore$ गभ+भशे=ग्रभ. या—ककु. का+का=ग्रभ. या—का (ककु—१) =यो । अतः का=$\frac{\text{ग्रभ. या}-\text{यो}}{\text{ककु}-१}$ । कुट्टकेन यावत्तावन्मानं सुगमम् ॥ ५२ ॥

वि. भा.—द्युगणात् (अहर्गणात्) इष्टग्रहस्य गतभगणयुताद्योऽहर्गणं कथयति । वा योऽहर्गणात् गतभगणस्य शेषयुतादहर्गणं कथयति । वा योऽहर्गणात् गतभगण भगणशेषयोर्यदैक्यं तेन संयुक्तादहर्गणं कथयति । वा यो गतभगण भगणशेषयोर्योगाद हर्गणं कथयति स कुट्टकज्ञ इति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

प्रथमप्रश्ने कल्प्यते अहर्गणः=य । भगणशेषमानम्=क ततोऽनुपातेन $\frac{\text{ग्रभ}\times\text{य}}{\text{ककु}}$=गभगण+$\frac{\text{भगणशे}}{\text{ककु}}$ अतः $\frac{\text{ग्रभ}\times\text{य}}{\text{ककु}}-\frac{\text{भगणशे}}{\text{ककु}}=\frac{\text{ग्रभ}\times\text{य}-\text{क}}{\text{ककु}}$=गतभगण पक्षयोः य योजनेन गतभ+य=$\frac{\text{ग्रभ}\times\text{य}-\text{क}}{\text{ककु}}$+य=$\frac{\text{ग्रभ}\times\text{य}+\text{ककु}\times\text{य}-\text{क}}{\text{ककु}}$

=$\frac{\text{य (ग्रभ+ककु)}-\text{क}}{\text{ककु}}$ = यो, छेदगमेन य (ग्रभ+ककु)—क = यो×ककु समशोधनेन य (ग्रभ+ककु)—यो×ककु=क अत्र कुट्टकेन य मानं सुखेन व्यक्तं भवेदिति ॥

द्वितीयप्रश्ने कल्प्यते अहर्गणः=य । गतभगणः=क तदा $\frac{\text{ग्रभ}\times\text{य}}{\text{ककु}}$ =गतभ+$\frac{\text{भगणशे}}{\text{ककु}}$ $\therefore$ ग्रभ×य = ककु × गतभ + भगणशे समशोधनेन ग्रभ×य—ककु×गतभ=भगणशे=ग्रभ×य—ककु × क पक्षयोः य योजनेन भगणशे+य=यो = ग्रभ×य + य—ककु × क=य (ग्रभ+१) — ककु×क समशोधनादिना $\frac{\text{य (ग्रभ+१)}-\text{यो}}{\text{ककु}}$=क अत्र कुट्टकेम य मानं व्यक्तं भवेदिति ॥

तृतीयप्रश्ने कल्प्यते अहर्गणः=य, गतभगणः=क, ततः $\frac{\text{ग्रभ}\times\text{य}}{\text{ककु}}$=गतभ $+\frac{\text{भगणशे}}{\text{ककु}}$ अतः ग्रभ×य=ककु×गतभ+भगणशे समशोधनेन ग्रभ×य—ककु ×गतभ=भगणशे=ग्रभ×य—ककु×क पक्षयोः य योजनेन भगणशे+य=यो =ग्रभ×य+य—ककु×क=य (ग्रभ+१)—ककु×क समयोजनेन य (ग्रभ+१) =यो+ककु×क समशोधनेन य (ग्रभ+१)—यो=ककु×क पक्षौ ककुभक्तौ तदा $\frac{\text{य (ग्रभ+१)—यो}}{\text{ककु}}$=क अत्र कुट्टकेन य मान व्यक्तं भवेदिति ।।

चतुर्थप्रश्ने कल्प्यते अहर्गणः=य। गत भगणः=क तदा पूर्ववद्भगणशेषम् =ग्रभ×य—ककु×क पक्षयोः गतभगणयोजनेन भगणशे+गतभ=ग्रभ×य —ककु×क+क=ग्रभ×य—क(ककु—१)=यो समयोजनेन ग्रभ×य=यो+क (ककु—१) समशोधनेन ग्रभ×य—यो=क (ककु—१) पक्षौ ककु—१ भक्तौ तदा $\frac{\text{ग्रभ}\times\text{य—यो}}{\text{ककु—१}}$=क अत्र कुट्टकेन य मानं सुखेन व्यक्तं भवेदिति ।।५२।।

अब प्रश्नों को कहते हैं।

हि. भा.—जो व्यक्ति इष्ट ग्रह के गत भगण युत अहर्गण से अहर्गण को कहता है। वा गतभगण के शेष युत अहर्गण से अहर्गण को जो कहता है, वा गतभगण और भगण शेष के ऐक्य से युत अहर्गण से अहर्गण को जो कहता है। वा गत भगण और भगण-शेष के योग से अहर्गण को जो कहता है वह कुट्टक का पण्डित है ।।

उपपत्ति ।

प्रथम प्रश्न में कल्पना करते हैं अहर्गणमान=य। भगणशेषमान=क, तब अनुपात से $\frac{\text{ग्रभ. य}}{\text{ककु}}$=गतभ$+\frac{\text{भगणशे}}{\text{ककु}}$ समशोधन से $\frac{\text{ग्रभ. य}}{\text{ककु}}-\frac{\text{भगणशे}}{\text{ककु}}=\frac{\text{ग्रभक. य—क}}{\text{ककु}}$ = गत भगण, दोनों पक्षों में य जोड़ने से गतभ + य = $\frac{\text{ग्रभ. य—क}}{\text{ककु}}$ + य $=\frac{\text{ग्रभ.य+ककु. य—क}}{\text{ककु}}=\frac{\text{य (ग्रभ+ककु)—क}}{\text{ककु}}$=यो छेदगम करने से य (ग्रभ + ककु) —क=ककु. यो, समशोधन से य (ग्रभ+ककु)—ककु. यो=क, यहां कुट्टक से य मान सुगमता से विदित हो जायगा।

द्वितीयप्रश्न में कल्पना करते हैं अहर्गण=य, गतभगण=क, तब $\frac{\text{ग्रभ. य}}{\text{ककु}}$ =गतभ

$+\frac{\text{भगणशे}}{\text{ककु}}$ अतः अभ. य=ककु. गतभ+भगणशे, समशोधन से अभ. य—ककु. गतभ =भगणशे=अभ. य—ककु. क दोनों पक्षों में य जोड़ने से भगणशे+य=यो=अभ. य +य—ककु. क=य(अभ+१)—ककु. क समशोधनादि से $\frac{\text{य (अभ+१)—यो}}{\text{ककु}}$=क यहां कुट्टक से य मान व्यक्त हो जायगा ।

तृतीय प्रश्न में कल्पना करते हैं। अहर्गण=य । गत भगण=क, तब $\frac{\text{अभ . य}}{\text{ककु}}$ =गतभ+$\frac{\text{भशे}}{\text{ककु}}$ अतः अभ . य=ककु . गतभ+भगशे समशोधन से अभ. य—ककु . गतभ =भगणशे दोनों पक्षों में य जोड़ने से अभ. य+य—ककु . गभ =भगणशे+य=यो=य (अभ+१)—ककु. गभ=य (अभ+१)—ककु. क=यो, दोनों पक्षों में ककु. क जोड़ने से य (अभ+१)=यो+ककु. क समशोधन से य (अभ+१)—यो=ककु. क, अतः $\frac{\text{य (अभ+१)—यो}}{\text{ककु}}$=क यहां कुट्टक से य मान व्यक्त हो जायगा इति ।

चतुर्थ प्रश्न में कल्पना करते हैं अहर्गण=य, गत भगण=क तब पूर्ववत् भगण-शेष=अभ. य—ककु. क दोनों पक्षों में गत भगण जोड़ने से भगणशे+गतभ=अभ. य —ककु. क+क=अभ. य—क (ककु—१)=यो समयोजन से अभ . य=यो+क (ककु—१) समशोधन से अभ . य—यो =क(ककु—१) दोनों पक्षों को ककु—१ भाग देने से $\frac{\text{अभ. य—यो}}{\text{ककु—१}}$ =क यहां कुट्टक से य मान सुगमता से ही आजायगा ॥५२॥

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह ।

गतभगणोनाद् द्युगणात् तच्छेषोनात् तदैक्यहीनाद्वा ।
तद्विवराद् द्युगणं वा यः कथयति कुट्टकज्ञः सः ॥५३॥

सु. भा.—अनन्तरप्रश्नेषु योगस्थाने वियोगः कृत इति स्पष्टार्थम् । उत्तरार्थं च पूर्वप्रश्नोत्तरे योगस्थाने वियोगं कृत्वा कर्म कर्तव्यमिति ॥ ५३ ॥

वि. भा.—अनन्तरप्रश्नेषु योगस्थाने वियोगः कृतः । उत्तरार्धे पूर्वप्रश्नोत्तरे योगस्थाने वियोगं कृत्वा कर्म कर्त्तव्यमिति ॥५३॥

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं ।

हि. भा.—पूर्व प्रश्नोत्तर में योग स्थान में वियोग (अन्तर) करके क्रिया करनी चाहिये ॥५३॥

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह ।

राश्याद्यैस्तच्छेषैश्चैवं भुक्ताधिमासदिनहीनैः ।
तच्छेषैश्च युगगतं यः कथयति कुट्टकज्ञः सः ॥५४॥

सु. भा.—एवं राश्याद्यैस्तच्छेषैश्च युताद्धीनाद्वा ऽहर्गणात् । गतराश्यादि-तच्छेषयोगान्तराद्वा । भुक्ताधिमासक्षयाहैश्च युतोनितादहर्गणात् तच्छेषयुतोनितादहर्गणाच्च वा गताधिमासाधिशेषयोगान्तराद्वा गतक्षयाहतच्छेषयोगान्तराद्वा यो युगगतं कथयति स एव कुट्टकज्ञः ।

अत्र यदि गतराशिदिनगणयोग उद्दिष्टस्तदाऽहर्गणः=या । गतभगणाः=का । भगणशेषम्=ग्रभ. या—ककु. का । इदं द्वादशगुणं राशिशेषमानं नीलकमपास्य कल्पकुदिनहृतं गतराशयः $=\frac{१२\text{ ग्रभ. या}-१२\text{ ककु. का}-\text{नी}}{\text{ककु}}$

$$\therefore \text{गरा}+\text{अह}=\frac{\text{या }(१२\text{ ग्रभ}+\text{ककु})-१२\text{ ककु. का}-\text{नी}}{\text{ककु}}=\text{यो}$$

ततः $\text{या}=\frac{१२\text{ ककु. का}+\text{नी}+\text{यो. ककु}}{१२\text{ ग्रभ}+\text{ककु}}$ । 'अन्येपि भाज्ये यदि सन्ति वर्णास्तन्मानमिष्टं परिकल्प्य साध्ये' इत्यादि भास्करविधिना कुट्टकेन यावत्तावन्मानं सुगमम् । एवमालापानुसारेण समौ पक्षौ विधाय कुट्टकादिना ऽव्यक्तमानमन्येषु प्रश्नेष्वप्यानेयमिति ॥ ५४ ॥

वि. भा.—राश्याद्यैस्तच्छेषैश्च युतोनादहर्गणात् । भुक्ताधिमासावमैश्च युतोनितादहर्गणात् । तच्छेषयुतोनितादहर्गणाच्च, वा गताधिमासाधिशेषयोगान्तराद्वा गतावमतच्छेषयोगान्तराद्वा युगगतं यः कथयति स कुट्टकज्ञोऽस्तीति ॥

अत्र यदि गतराश्यहर्गणयोग उद्दिष्टस्तदा कल्प्यते अहर्गणः=य, गतभगणः=क तदा $\frac{\text{ग्रभ. य}}{\text{ककु}}=\text{गतभ}+\frac{\text{भशे}}{\text{ककु}}$ छेदगमेन ग्रभ. य=ककु. गभ+भशे समशोधनेन ग्रभ . य—ककु . गतभ=भशे=ग्रभ . य—ककु . क । इदं द्वादश गुणितं राशिशेषमानं (न) त्यक्त्वा कल्पकुदिनभक्तं तदा गतराशयः ।

अत्र राशिशे = न, $\frac{१२\text{ ग्रभ. य}-१२\text{ ककु. क}-\text{न}}{\text{ककु}}$ पक्षयोः य योजनेन

$$\frac{१२\text{ ग्रभ. य}-१२\text{ ककु. क}-\text{न}}{\text{ककु}}+\text{य}=\text{गतरा}+\text{य}=$$

$$=\frac{१२\text{ ग्रभ. य}+\text{कक. य}-१२\text{ ककु. क}-\text{न}}{\text{ककु}}$$

$=\frac{\text{य (१२ ग्रभ+ककु)—१२ ककु. क—न}}{\text{ककु}}=$ यो छेदगमेन य (१२ ग्रभ+ककु) —१२ ककु. क—न=ककु. यो समयोजनेन य(१२ ग्रभ+ककु)=१२ ककु. क+न +यो. ककु पक्षौ १२ ग्रभ+ककु भक्तौ तदा $\frac{\text{१२ ककु. क+न+यो. ककु}}{\text{१२ ग्रभ+ककु}}=$ य अन्येऽपि भाज्ये यदि सन्ति वर्णास्तन्मानमिष्टमित्यादि भास्करोक्त्या य मानं कुट्टकेन सुखेन विदितं भवेदिति ॥ एवमालापानुसारेण पक्षद्वयं समानं विधाय कुट्टकादिनाऽन्येषु प्रश्नेष्वपि व्यक्तमानमानेतव्यमिति ॥५४॥

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं।

हि. भा.— राश्यादि से और उसके शेष से, युतहीन अहर्गण से, भुक्ताधिमास और अवम से, युत और हीन अहर्गण से, उसके शेष से, युत और हीन अहर्गण से भी वा गताधिमास और अधिशेष के योग-अन्तर से वा गतावम अवमशेष के योग-अन्तर से युगगत को जो कहता है वह कुट्टक का पण्डित है इति-॥

उपपत्ति।

यहां यदि गतराशि और अहर्गण का योग उद्दिष्ट है तो कल्पना करते हैं अहर्गण =य गतभगण=क तब $\frac{\text{ग्रभ. य}}{\text{ककु}}=$ गतभ$+\frac{\text{भशे}}{\text{ककु}}$ छेदगम से ग्रभ. य=ककु. गभ+भशे समशोधन से ग्रभ. य—ककु. गतभ=भशे=ग्रभ. य—ककु. क इसको बारह से गुणा कर राशि शेषमान को घटाकर कल्पकुदिनं से भाग देने से गत राशि प्रमाण होता है।
$\frac{\text{१२ ग्रभ. य—१२ ककु. क—न}}{\text{ककु}}=$ गत राशि। यहाँ राशि से=न दोनों पक्षों में य जोड़ने से

$\frac{\text{१२ ग्रभ. य—१२ ककु. क—न}}{\text{ककु}}+$ य=गत राशि+य=यो

$=\frac{\text{१२ ग्रभ. य+ककु. य—१२ ककु. क — न}}{\text{ककु}}=\frac{\text{य (१२ ग्रभ+ककु)—१२ ककु . क—न}}{\text{ककु}}$

=यो. छेदगम से य (१२ ग्रभ+ककु)—१२ ककु. क—न = ककु. यो समयोजन से य (१२ ग्रभ+ककु)=१२ ककु. क+न+यो. ककु $\therefore \frac{\text{१२ ककु . क+न+यो . ककु}}{\text{१२ ग्रभ+ककु}}$ =य 'अन्येऽपि भाज्ये यदि सन्ति वर्णा' इत्यादि भास्करोक्ति से कुट्टक युक्ति से य मान सुगमता ही से विदित होगा। एवं आलापानुसार दोनों पक्षों को समान कर कुट्टकादि से अन्य प्रश्नों में भी व्यक्तमान लाना चाहिये इति,॥५४॥

इदानीमन्यप्रश्नद्वयमाह ।

अंशकशेषेणयुतात् लिप्ताशेषात्तदन्तरादथवा ।
भानोर्ज्ञदिने द्युगणं कथयति कुट्टकज्ञः सः ॥५५॥

सु. भा.—भानोर्लिप्ता शेषादंशकशेषयुताद्वा तयोर्लिप्तांशशेषयोरन्तराद्यो-बुधवारे ऽहर्गणं कथयति स एव कुट्टकज्ञः। कल्प्यते ऽहर्गणः=या । रविभगण-भागाः=च भा . रभ=अ । गतभागाः=का । ततोंऽशशेषम्=अ . या—ककु . का । इदं षष्टिगुणं कल्पकुदिनहृतं लब्धं नीलकमानं नी १ । तद्गुणितं हरं भाज्यादपास्य जातं कलाशेषम्=६० अ. या—६० ककु . का—ककु . नी ।

अतः भाशे+कशे=६० अ.या—६० ककु.का—ककु. नी+अ.या—ककु.का =या (६० अ + अ) — ककु (६१ का+नी) = यो ततः ६१ का + नी $=\frac{\text{या (६१ अ)—यो}}{\text{ककु}}$ । कुट्टकेन यावत्तावन्मानं सुगमम् ।

यदि योगमानम्=५३६ । कल्पकुदिनानि=१०९६ । रविभगणाः = ३ । तदा अ=चक्रभा . रभ=३६०×३=१०८० ।

६१ अ=६५८८० । ततः पूर्वसमीकरणरूपम् ।

$$\text{६१ का}+\text{नी}=\frac{\text{६५८८० या—५३६}}{\text{१०९६}}=\frac{\text{१६४७० या—१३४}}{\text{२७४}}=\frac{\text{८२३५ या—६७}}{\text{१३७}}$$

$=\text{६० य}+\frac{\text{१५ या—६७}}{\text{१३७}}$ ।

अतो ऽय $\frac{\text{१५ या—६७}}{\text{१३७}}$मभिन्नः। अत्र कुट्टकेन रूपविशुद्धौ वल्ली $\left.\begin{matrix}\text{०}\\\text{९}\\\text{६}\\\text{१}\\\text{०}\end{matrix}\right\}$

रूपविशुद्धौ गुणः=६४ । अभीष्ट ६७ विशुद्धौ गुणः=४१

यावत्तावन्मानं सुखेन भवति । चतुर्वेदाचार्यमतं यच्च कोलब्रूकेनानुवादितं महागौरवमप्रयोजकं च । एवमन्तरतोऽपि कर्म कर्तव्यम् ॥ ५५ ॥

वि. भा.—भानोः (सूर्यस्य) लिप्ता (कला) शेषात् अंशकशेषेण युतात् वा कलांश शेषयोरन्तराद्बुधवारे योऽहर्गणं कथयति सः कुट्टकपण्डितोऽस्तीति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

कल्प्यते अहर्गणप्रमाणम्=य । रविभगणांशाः=चभा . रविभ=र, गत-भगणाः = क तदा $\frac{\text{रविभगणांश}\times\text{य}}{\text{ककु}}$ = गतभगण + $\frac{\text{अंशशे}}{\text{ककु}}$ छेदगमेन

रविभगणांश $\times$ य $=$ र $\times$ य $=$ ककु . गतभगण $+$ अंशशे $=$ ककु . क $+$ अंशशे समशोधनेन अंशशे $=$ र $\times$ य $-$ ककु . क इदं षष्टिगुणितं कल्पकुदिनभक्तं तदा $\frac{६० (र. य - ककु. क)}{ककु}$ $=$ न छेदगमेन ६० र. य $-$ ६० ककु. क $=$ ककु. न एतत्प्रथमपक्षे-विशोध्य जातं कलाशेषम् $=$ ६० र.य $-$ ६० ककु.क $-$ ककु. न, अतः अंशशे $+$ कलाशे $=$ ६० र. य $-$ ६० ककु . क $-$ ककु . न $+$ र . य $-$ ककु . क $=$ य (६० र $+$ र) $-$ ककु (६१ क $+$ न) $=$ यो समयोजनेन य $\times$ ६१ र $=$ यो $+$ ककु (६१ क $+$ न) समशोधनेन य $\times$ ६१ र $-$ यो $=$ ककु (६१ क $+$ न) पक्षौ ककुभक्तौ तदा $\frac{य. ६१ र - यो}{ककु}$ $=$ ६१ क $+$ न अत्र कुट्टक युक्त्या य मानं सुगमतया विदितं भवेत् । एवमन्तरतोऽपि कर्म कर्त्तव्यमिति ॥५५॥

अब अन्य दो प्रश्नों को कहते हैं ।

हि. भा.—सूर्य के कलाशेष में अंश शेष जोड़ने से जो होता है उससे वा कलाशेष और अंशशेष के अन्तर से बुधदिन में जो अहर्गण को कहता है वह कुट्टक का पण्डित है इति ।

उपपत्ति ।

कल्पना करते हैं अहर्गण प्रमाण $=$ य । रविभगणांश $=$ चभा $+$ रविभ $=$ र, गतभगण $=$ क तब $\frac{रविभगणांश. य}{ककु} = \frac{र . य}{ककु}$ $=$ गतभगण $+ \frac{अंशशे}{ककु} =$ क $+ \frac{अंशशे}{ककु}$ छेदगम से र. य $=$ ककु. क $+$ अंशशे समशोधन करने से र. य $-$ कु. क $=$ अंशशे, इसको साठ से गुणा-कर कल्पकुदिन से भाग देने से $\frac{६० (र. य - ककु. क)}{ककु}$ $=$ न, छेदगम से ६० (र. य $-$ ककु. क) $=$ ६० $\times$ र . य $-$ ६० ककु . क $=$ ककु . न इसको प्रथम पक्ष में से घटाने से कलाशे $=$ ६० $\times$ र. य $-$ ६० ककु . क $-$ ककु . न, अतः अंशशे $+$ कलाशे $=$ यो $=$ ६० $\times$ र. य $-$ ६० ककु . क $-$ ककु. न $+$ र. य $-$ ककु. क $=$ य (६० र $+$ र) $-$ ककु (६१ क $+$ न) $=$ यो $=$ य. ६१ र $-$ ककु (६१ क $+$ न) दोनों पक्षों में ककु (६१ क $+$ न) जोड़ने से य. ६१ $=$ यो $+$ ककु (६१ क $+$ न) समशोधन से य. ६१ र $-$ यो $=$ ककु (६१ क $+$ न) दोनों पक्षों को ककु से भाग देने से $\frac{य. ६१ र - यो}{ककु}$ $=$ ६१ क $+$ न, यहां कुट्टक से य मान सुगमता ही से विदित हो जायगा इति ॥५५॥

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह ।

अंशकशेषं त्रियुतं लिप्ताशेषं कदा रवेर्ज्ञदिने ।

षट्सप्ताष्टौ नव वा कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ॥५६॥

सु० भा०—रवेरंशकशेषं त्रियुतं कदा बुधदिने लिप्ताशेषं भवति। वांशकशेषं षड्भिः सप्तभिरष्टभिर्वा नवभिर्युतं कदा बुधदिने लिप्ताशेषं भवति। अस्योत्तरमावत्सरादेकवर्षाभ्यन्तरे कुर्वन्नपि गणक इत्युच्यते ऽस्माभिरिति।

अनन्तरप्रश्नोक्त्या—

अंशशेषम्=अ. या—ककु. का

कलाशेषम्=६० अया—६० ककु . का—ककु . नी

ततः प्रश्नालापेन—

अ . या—ककु. का+३=६० अ. या – ६० ककु. का—ककु. नी

समशोधनेन ५९ ककु. का+ककु. नी=५९. अ. या—३

$\therefore$ ५९ का+नी= $\frac{\text{५९ अ. या—३}}{\text{ककु}}$ । अतः कुट्टकेन यावत्तावन्मानं सुगमम्। एवं रूपत्रयस्थाने षट्, सप्ताद्याः स्थाप्याः।

अत्रापि चतुर्वेदगौरवं न बुद्धिमद्भिरादृतम् ॥ ५६ ॥

वि. भा.—रवेरंशकशेषं त्रियुतं बुधदिने कदा कलाशेषं भवति। वा षड्भिः सप्तभिरष्टभिर्नवभिर्वा– अंशकशेषयुतं कदा बुधदिने कलाशेषं भवति, एतदुत्तरं वर्षाभ्यन्तरे कुर्वन्नपि गणकः कथ्यते इति ॥

अत्रोपपत्तिः।

कल्प्यते अहर्गणप्रमाणम् =य। रविभगणांशाः =र। गतभगणाः =क तदाऽनुपातेन $\frac{\text{र. य}}{\text{ककु}}$= गतभ + $\frac{\quad}{\text{ककु}}$ छेदगमेन र . य = गतभ . ककु + अंशशे = क . ककु+अंशे समाशोधन अंशशे = र . य — क . ककु इदं षष्टिगुणितं कल्पकुदिनभक्तं लब्धं न मानम् = $\frac{\text{६० (र. य—क. ककु)}}{\text{ककु}}$=न

= $\frac{\text{६० र . य—६० क . ककु}}{\text{ककु}}$ छेदगमेन ६० र . य—६० क . ककु=ककु . न एतद्यदि प्रथमपक्षे शोध्यते तदा कलाशेषम् = ६० र . य—६० क. ककु —ककु. न-ततः प्रश्नोक्त्या अंशशे+३ = कलाशे = ६०र. य —६० क . ककु — ककु. न =र. य—क. ककु+३ पक्षयोः क. ककु योजनेन ६०र. य—६०क. ककु+क. ककु — ककु . न=र . य + ३, ६०र . य — (५९ क . ककु + ककु . न) पक्षौ ५९ क . ककु+ककु . न योजनेन ६०र . य=र. य + ३+५९क. ककु+ककु. न पक्षौ र. य + ३ हीनौ तदा ६०र × य — र. य — ३ = ५९र. य — ३ =५९ क. ककु + ककु. न पक्षौ ककुभक्तौ तदा $\frac{\text{५९र. य — ३}}{\text{ककु}}$ =५९क+न

अत्र कुट्टकेन यमानं सुखेन विदितं भवेत् । एवं रूपत्रयस्थाने षट् सप्तादीन् संस्थाप्योपर्युक्तक्रिययाऽभीष्टसिद्धिरिति ॥ ५६ ॥

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं ।

हि. भा.—रवि के अंश शेष में तीन जोड़ने से बुध दिन में कब कला शेष होता है । वा अंशशेष में छः सात आठ नौ जोड़ने से कब बुध दिन में कला शेष होता है इसके उत्तर को एक वर्षाभ्यन्तर में करते हुए व्यक्ति गणक कहलाते हैं ॥

उपपत्ति ।

कल्पना करते हैं अहर्गण प्रमाण = य । रविभगणांश = र । गतभगण = क तब अनुपात से $\frac{\text{र. य}}{\text{ककु}} = \text{गतभ} + \frac{\text{अंशशे}}{\text{ककु}}$ छेदगम से र . य = ककु . गतभ + अंशशे = ककु . क + अंशशे समशोधन से र. य—क. ककु = अंशशे इसको साठ से गुणाकर कल्प कुदिन से भाग देने से लब्धि $= \text{न} = \frac{\text{६० (र. य — क. ककु)}}{\text{ककु}} = \frac{\text{६०र. य — ६० क . ककु}}{\text{ककु}}$ छेदगम से ६० र. य—६० क. ककु = ककु . न, अतः कलाशे = ६०र. य —६० क . ककु — ककु. न प्रश्नोक्ति से अंशशे + ३ = कलाशे = ६० र. य —६० क. ककु—ककु.न = र. य — क. ककु + ३ दोनों पक्षों में क. ककु जोड़ने से ६०र. य — ६०क. ककु + क . ककु—ककु . न = र . य + ३ = ६० र . य — (५९ क . ककु + ककु . न) दोनों पक्षों में ५९ क . ककु + ककु . न जोड़ने से ६० र . य = र. य + ३ + ५९ क . ककु + ककु . न दोनों पक्षों में र. य + ३ हीन करने से ६० र. य—र . य—३ = ५९ र . य —३ = ५९ ककु. क + ककु. न दोनों पक्षों को ककु से भाग देने से $\frac{\text{५९ र. य — ३}}{\text{ककु}}$ = ५९क + न यहां कुट्टक से सुगमता से य मान विदित हो जायगा । एवं तीन के स्थान में छः सात-आठ नौ को रखकर उपर्युक्त क्रिया से अभीष्ट सिद्धि होती है इति ॥ ५६ ॥

इदानीं प्रश्नद्वयमाह ।

अंशसममंशशेषं कलासमं वा कलाशेषम् ।
दिवसकरस्येष्टदिने कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ॥५७॥

सु. भा.—कस्मिन्निष्टदिने दिवसकरस्य रवेरंशमानसममंशशेषं वा कलासमं कलाशेषं भवति । अस्योत्तरमावत्सरात् कुर्वन्नपि गणकः ।

अहर्गणः = या १ । गतभगणाः = का १ । तदा

भगणशेषम् = ग्रभ . या—ककु . का । इदं द्वादशगुणं कल्पकदिनैर्विभज्य

लब्धं राशिमानं नी १। तद्गुणहरं भाज्यादपास्य जातं राशिशेषम्=१२ ग्रभ. या—१२ ककु. का—ककु. नी। इदं त्रिंशद्गुणं कल्पकुदिनैर्विभज्य लब्धमंशमानम् पी १। तद्गुणहरं भाज्यादपास्य जातमंशशेषम्=३६० ग्रभ. या—३६० ककु. का—३० ककु. नी—ककु. पी=पी

$$\text{ततः}\ \text{या} = \frac{\text{३६० ककु. का} + \text{ककु. नी} + \text{पी (ककु} + \text{१)}}{\text{३६०}}$$

अत्र भाज्ये वर्णत्रयमतो वर्णद्वयस्येष्टमाने प्रकल्प्य कुट्टकेन यावत्तावन्मानं ज्ञेयम्। एवमंशशेषं षष्ट्या संगुण्य कल्पकुदिनैर्विभज्य लब्धं कलामानं लोहितकं प्रकल्प्य तद्गुणहरं भाज्यादपास्य कलाशेषतः समीकरणं कृत्वा तत्र भाज्ये वर्णत्रयमानानीष्टानि प्रकल्प्य यावत्तावन्मानं ज्ञेयम् ॥ ५७ ॥

वि. भा.—दिवसकरस्य (सूर्यस्य) अंशसममंशशेषं वा कलासमं कलाशेषं कस्मिन्निष्टदिने भवति, एतदुत्तरमावत्सराद्वर्षाभ्यन्ते कुर्वन्नपि गणक उच्यते इति ॥

अत्रोपपत्तिः।

कल्प्यते अहर्गणमानम्=य। गतभगणाः=क तदा पूर्ववद् भगणशेषम् =ग्रभ. य—ककु. क इदं द्वादशगुणं कल्पकुदिनैर्भक्तं लब्धं=न तद्गुणं हरं भाज्यादपास्य जातं राशिशेषम्=१२ ग्रभ. य—१२ ककु. क—ककु. न इदं त्रिंशद्-गुणितं कल्पकुदिनैर्भक्तं लब्धमंशमानम्=प तद्गुणं हरं भाज्यादपास्यांश शेषम् =३६० ग्रभ. य—३६० ककु. क—३० ककु. न—ककु. प=प ततः समयोजनेन ३६० ककु. क + ३० ककु. न + प (ककु + १) = ३६० ग्रभ. य, अतः

$$\frac{\text{३६० क. ककु} + \text{३० ककु. न} + \text{प (ककु} + \text{१)}}{\text{३६० ग्रभ}} = \text{य},$$

अत्र भाज्ये वर्णत्रयमस्ति वर्णद्वयस्येष्टमाने प्रकल्प्य कुट्टकेन य मानं सुखेन विदितं भवेत्। एवमंशशेषं षष्ट्या संगुण्य कल्पकुदिनैर्भक्तं लब्धं कलामानं ल प्रकल्प्य तद्गुणं हरं भाज्याद्विशोध्य कलाशेषात् समीकरणं कृत्वा तत्र भाज्ये वर्णत्रयमानानीष्टानि प्रकल्प्य य मानं ज्ञातव्यमिति ॥५७॥

अब अन्य दो प्रश्नों को कहते हैं।

वि. भा.– किसी इष्ट दिन में रवि का अंशमान अंशशेष के बराबर होता है वा कलातुल्य कलाशेष होता है इसका उत्तर वर्ष पर्यन्त करते हुए व्यक्ति गणक कहलाते हैं इति ॥५७॥

उपपत्ति।

कल्पना करते हैं अहर्गण प्रमाण=य, गत भगण=क, तब पूर्ववत् भगणशे=

अभ. य—ककु. क इसको बारह से गुणा कर कल्पकुदिन से भाग देने से लब्धि=न तद्गुणित हर को भाज्य में से घटाने से राशिशेष=१२ अभ. य—१२ ककु . क—ककु. न इसको तीस से गुणाकर कल्पकुदिन से भाग देने से लब्धि=प, तद्गुणित हर को भाज्य में से घटाने से अंशशेष=३६० अभ . य—३६० ककु . क—३० ककु . न—ककु . प=प समयोजन से ३६० ककु. क+३० ककु. न+प (ककु+१)=३६० अभ . य, अतः

$\frac{\text{३६० ककु. क+३० ककु. न+प (ककु+१)}}{\text{३६० अभ}}$=य । यहां भाज्य में तीन वर्ण हैं, दो वर्णों का मान इष्ट कल्पना कर कुट्टक से य मान सुगमता ही से होता है । एवं अंश शेष को साठ से गुणाकर कल्पकुदिन से भाग देने से लब्ध कलामान ल कल्पना कर तद्गुणित हर को भाज्य में से घटाकर कला शेष से समीकरण कर वहां भाज्य में तीनों वर्णों के मान को इष्ट कल्पना कर य मान जानना चाहिये इति ॥५७॥

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह ।

अवमावशेषमवमैरधिमासकशेषमधिमासैः ।
इष्टयुतोनं तुल्यं कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ॥५८॥

सु. भा.—इष्टाङ्केन युतमूनं वाऽवमावशेषमवमैस्तुल्यं तथेष्टाङ्केन युतमूनं वाऽधिमासशेषमधिमासैस्तुल्यमस्तीत्यस्योत्तरमावत्सरात् कुर्वन्नपि गणकः ।

अत्राहर्गणमानम्=या १ । गतावमानि=का १ । तदा ऽवमावशेषम्=क्षदि. या—ककु. का । ततः प्रश्नालापेन क्षदि. या—ककु. का ± इ=का

∴ या=$\frac{\text{(ककु+१) का ∓ इ}}{\text{क्षदि}}$ । अतः कुट्टकेन यावत्तावन्मानं सुगमम् ।

द्वितीयप्रश्ने गतसौरमानम्=या १ । गताधिमासाः=का । तदाऽधिमासशेषम्=अधिमा. या—कसौदि. का । ततः प्रश्नालापेन—

अधिमा. या—कसौदि. का ± इ=का

∴ या=$\frac{\text{(कसौदि+१) का ∓ इ}}{\text{अधिमा}}$ । अतो यावत्तावन्मानं सुगमम् ।

अस्योत्तरं गतेन्दुदिनमानं यावत्तावत्कल्प्यते तदाऽपि भवतीति ॥ ५८ ॥

वि. भा.—इष्टाङ्केन युतं हीनमवमावशेषमवमैस्तुल्यं तथेष्टाङ्केन युतं हीनमधिमासशेषमधिमासैस्तुल्यमस्तीत्येतदुत्तरमावत्सरात् (वर्ष पर्यन्तं) कुर्वन्नपि गणकोऽस्तीति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

कल्प्यते अहर्गणप्रमाणम्=य । गतावमानि=र तदाऽनुपातेन $\frac{\text{अवम . य}}{\text{ककु}}$

$=$गतावम$+\frac{\text{अवमशे}}{\text{ककु}}=$र$+\frac{\text{अवशे}}{\text{ककु}}$ छेदगमेन अवम . य$=$ककु . र$+$अवमशे समशोधनेन अवम . य$-$र . ककु$=$अवमशे, ततः प्रश्नोक्त्या अवम . य$-$र . ककु $\pm$इ$=$र पक्षयोः र . ककु योजनेन अवम . य$\pm$इ$=$र$+$र . ककु$=$र (१$+$ककु) समशोधनेन अवम. य$=$र (१$+$ककु)$\mp$इ अतः $\frac{\text{र (१+ककु)}\pm\text{इ}}{\text{अवम}}=$य, अत्र कुट्टकेन य मानं सुखेन विदितं भवेत् ॥

द्वितीय प्रश्ने कल्प्यते गतसौरप्रमाणम्$=$य। गताधिमासः$=$र, तदाऽनुपातेन $\frac{\text{अधिमास . य}}{\text{कसौ}}=$गताधिमास$+\frac{\text{अधिशे}}{\text{कसौ}}=$र$+$अधिशे, छेदगमेन अधिमा. य$=$कसौ. र$+$अधिशे, समशोधनेन अधिमा. य$-$कसौ. र$=$अधिशे प्रश्नोक्त्या अधिमा. य$-$कसौ. र$\pm$इ$=$र पक्षयोः कसौ. र योजनेन अधिमा. य$\pm$इ$=$र $+$कसौ. र$=$र (१$+$कसौ) समशोधनेन अधिमा . य$=$र (१$+$कसौ)$\mp$इ अतः $\frac{\text{र (१+कसौ)}\mp\text{इ}}{\text{अधिमा}}=$य अत्र कुट्टकेन य मानं सुखेन विदितं भवेदिति ॥५८॥

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं।

हि. भा.—इष्टाङ्क से युत वा हीन अवम शेष अवम के बराबर है तथा इष्टाङ्क से युत वा हीन अधिमास शेष अधिमास के बराबर है इसका उत्तर वर्ष पर्यन्त करते हुए व्यक्ति गणक है इति ॥

उपपत्ति।

कल्पना करते हैं अहर्गण प्रमाण$=$य। गतावम$=$र, तब अनुपात से $\frac{\text{अवम. य}}{\text{ककु}}$ $=$गतावम$+\frac{\text{अवमशे}}{\text{ककु}}=$र$+\frac{\text{अवशे}}{\text{ककु}}$ छेदगम से अवम. य$=$ककु. र$+$अवशे समशोधन से अवम. य$-$र. ककु$=$अवमशे, तब प्रश्नालाप से अवम. य$-$र . ककु$\pm$इ$=$र दोनों पक्षों में र. ककु जोड़ने से अवम. य$\pm$इ$=$र$+$र. ककु$=$र (१$+$ककु) समशोधन से अवम. य $=$र (१$+$ककु)$\mp$इ अतः $\frac{\text{र (१+ककु)}\mp\text{इ}}{\text{अवम}}=$य, यहां कुट्टक से सुगमता से य मान विदित हो जायगा।

द्वितीय प्रश्न में कल्पना करते हैं गत सौर प्रमाण$=$य। गताधिमास$=$र तब अनुपात से $\frac{\text{अधिमा . य}}{\text{कसौ}}=$गताधिमा$+\frac{\text{अधिशे}}{\text{कसौ}}=$र$+\frac{\text{अधिशे}}{\text{कसौ}}$ छेदगम से अधिमा . य $=$कसौ . र$+$अधिशे, समशोधन से अधिशे$=$अधिमा . य$-$कसौ . र अब प्रश्नालाप से

अधिमा . य—कसौ . र ± इ = र दोनों पक्षों में ककु—र जोड़ने से अधिमा . य ± इ = र + कसौ . र = र (१ + कसौ) समशोधन से अधिमा . य = र (१ + कसौ) ± इ अतः $\frac{र (१ + कसौ) ∓ इ}{अधिमा}$ = य यहां कुट्टक से सुगमता पूर्वक य मान विदित होगा इति ॥५८॥

इदानीमन्यं प्रश्नमाह ।

निश्छेदभागहारो भानोः सप्ततिगुणोंऽशशेषोनः ।
शुध्यत्ययुतविभक्तः कुर्वन्नावत्सराद्गणकः ॥५९॥

सु. भा.—निश्छेदभागहारो दृढकुदिनानि । शेषं स्पष्टार्थम् । ५५ आर्या-प्रश्नोत्तरे यदि अ = चक्रभा. इग्रभ, तदा तेनैव विधिनांशशेषम् = अ . या—दृकक. का = नी । ततः प्रश्नालापेन $\frac{७० दृकक — अ . या + दृकक . का}{१००००}$ अयं निरग्रः ।

$= \frac{७० दृकक — नी}{१००००}$ ।

ततः कुट्टकेन ऋणभाज्यविधिना नीलकमानं सुगमम् ॥ ५९ ॥

इत्यनेकवर्णसमीकरणबीजम् ।

वि. भा.—भानोः (सूर्यस्य) निश्छेदभागहारः (दृढकुदिनानि) सप्तत्यागुणः, अंशशेषेण हीनः, अयुतविभक्तः शुध्यति, एतदुत्तरं वर्षपर्यन्तं कुर्वन् गणकोऽस्तीति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

५५ सूत्रोपपत्तौ रविभगणांशाः = चभा . रविभ = र तेनैव विधिनांऽशशेषम् = र . य — दृकक . क = न ततः प्रश्नोक्त्या $\frac{७० \times दृकक — अंशशे}{१००००}$

$= \frac{७० \times दृकक — र . य + दृकक . क}{१००००} = \frac{७० \times दृकक — न}{१००००}$ अयं निःशेषः । ततः कुट्टकेन ऋणभाज्यरीत्या न मानज्ञानं सुलभम् ॥५९॥

इत्यनेकवर्णसमीकरणबीजम्

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा.—सूर्य के दृढकुदिन को सत्तर से गुणाकर अंश शेष घटाकर एक अयुत से भाग देने से निःशेष होता है इसका उत्तर वर्ष पर्यन्त करते हुए व्यक्ति गणक है इति ॥

उपपत्ति ।

५५ सूत्र की उपपत्ति में रवि भगणांश = चभा. रविभ = र, उसी विधि से अंशशेष = र . य — हकक़ु . क = न, तब प्रश्नोक्ति से $\frac{\text{७० हककु — अंशशे}}{\text{१००००}}$

$\frac{\text{७० हककु — र. य + हककु . क}}{\text{१००००}} = \frac{\text{७० हककु — न}}{\text{१००००}}$ यह निःशेष है तब कुट्टक से ऋण भाज्य विधि से न मान ज्ञान सुगम ही है इति ।।५६।।

अनेकवर्णसमीकरणबीज समाप्त हुआ ।

भावितबीजम्

अथ भावितमुच्यते तत्र सूत्रम् ।

भावितकरूपगुणना साव्यक्तवधेष्टभाजितेष्टाप्त्योः ।
अल्पेऽधिकोऽधिकेऽल्पः क्षेप्यो भावितहृतौ व्यस्तम् ॥ ६० ॥

सु. भा.—भावितकस्य भावितगुणकस्य रूपाणां च गुणना वधः किंविशिष्टा साव्यक्तवधाऽव्यक्तगुणकयोर्वधेन सहिता तत इष्टेन भाजिता लब्धिर्ग्राह्या। अनयोरिष्टाप्त्योर्मध्ये योऽधिकः सोऽल्पेऽव्यक्तगुणकेऽल्पश्चाधिकेऽव्यक्तगुणके क्षेप्यः। एवं यौ द्वौ राशी भवतस्तौ भावितकहृतौ भावितगुणकेन हृतौ व्यस्तमव्यक्तमानं स्यात्। यावत्तावद्गुणके क्षेप्येण यन्मानं तत्कालकमानं कालकगुणके क्षेप्येण यन्मानं तद्यावत्तावन्मानं ज्ञेयमिति। एकस्मिन् पक्षे भावितमन्यस्मिन्नव्यक्तौ रूपाणि च कृत्वा तदोपरि लिखितं कर्म कर्त्तव्यमिति ।

अत्रोपपत्तिः। पक्षान्तरादिना कल्प्यते समौ पक्षौ

$$\text{अ. या. का} = \text{क. या} + \text{ख . का} + \text{ग}$$

$$\therefore \text{याका} = \frac{\text{क}}{\text{अ}}\text{या} + \frac{\text{ख}}{\text{अ}}\text{का} + \frac{\text{ग}}{\text{अ}}$$

ततो 'भावितं पक्षतोऽभीष्टात् त्यक्त्वा वर्णौ सरूपकौ' इत्यादि भास्करविधिना $\frac{\text{इ}}{\text{अ}}$ इतीष्टं प्रकल्प्य फलं $= \frac{\text{क. ख} + \text{अ. ग}}{\text{अ. इ}}$ । यतः केवलं संयोजनेन

$$\text{या} = \frac{\text{ख}}{\text{अ}} + \frac{\text{क. ख} + \text{अ. ग}}{\text{इ}} = \frac{1}{\text{अ}}\left(\text{ख} + \frac{\text{क. ख} + \text{अ. ग}}{\text{इ}}\right) = \frac{\text{ख} + \text{आप्ति}}{\text{अ}}$$

$$\text{का} = \frac{\text{क}}{\text{अ}} + \frac{\text{इ}}{\text{अ}} = \frac{\text{क} + \text{इ}}{\text{अ}}$$ । अत उपपन्नम् ।

विशेषाश्च भास्करबीजतोऽवगम्याः। तत्र मत्कृतोपपत्तिश्च तट्टिपण्यां विलोक्या ॥ ६० ॥

वि. भा.—भावितकस्य (भावित गुणकस्य) रूपाणां च गुणना (वधः) ऽव्यक्तगुणकयोर्वधेन सहिता, इष्टेन भक्ता लब्धिर्ग्राह्या, इष्टलब्ध्योर्मध्ये योऽधिकः सोऽल्पेऽव्यक्तगुणकेऽल्पश्चाधिकेऽव्यक्तगुणके क्षेप्यः, एवं द्वौ राशी भवतः, तौ भावितकभक्तौ (भावितगुणकेन भक्तौ) तदा विपरीतमव्यक्तमानं स्यात् ॥

अत्रोपपत्तिः ।

यदि इ य+इ̍. क +रू=य. क, यत्र य, क माने अभिन्ने स्तः। अत्र यदि य=न + इ̍, क=प+इ तदा य . क=(न+इ̍) (प+इ)=इ (न+इ̍) +इ̍ (प+इ)+रू वा न. प+इ. न+इ̍. प+इ . इ̍=इ. न+इ. इ̍+इ. प+इ.इ̍+रू समशोधनेन न . प =इ. इ̍+रू अतः $\frac{\text{इ. इ̍+रू}}{\text{न}}$ =प, अत्रा (न) स्य तथाऽभिन्नं मानं कल्प्यं यथा प मानमभिन्नं स्यात् । ततो न, प मानाभ्यामुत्थापनेन य, क माने भवेताम् । यदि इ. इ̍+रू इदं धनात्मकं भवेत्तदा (न) ऽस्य ऋणमानकल्पने (प) ऽस्यापि ऋणमानमागमिष्यति तदा य=इ̍—न क=इ-प, एतेनोपपन्नमाचार्योक्तम् । सिद्धान्तशेखरे 'जह्यात् पक्षादेकतो भावितानि वर्णौ रूपाण्यन्यतो वर्णघातः । क्षिप्तोरूपैस्ताड़िते भाविते च भक्त्वेष्टेन प्राप्तिहारौ नियोज्यौ ॥ ज्येष्ठाल्पाभ्यां वर्णकाभ्यां यथेच्छं व्यत्यासाद्वा भाविताप्तौ च वर्णौ । स्यातामेवं स्वस्ववर्णौ त्वभीष्टैर्मानैः कर्मैतत्प्रमाणस्य कुर्यात्' श्री पत्युक्तं च समुपपद्यते । श्रीपत्युक्तमेव भास्करेण बीजगणिते "भावितं पक्षतोऽभीष्टात्यक्त्वा वर्णौ सरूपकौ । अन्यतोभाविताङ्केन ततः पक्षौ विभज्य च ॥ वर्णाङ्काहतिरूपैक्यं भक्त्वेष्टेनेष्टतत्फले । एताभ्यां संयुतावूनौ कर्त्तव्यौ स्वेच्छया च तौ ॥ वर्णाङ्कौ वर्णयोर्माने ज्ञातव्ये ते विपर्ययात्" इत्यनेन स्फुटमुक्तमिति ॥ ६० ॥

अब भावित बीज को कहते हैं ।

हि. भा.—भावित के गुणक और रूपों के घात में अव्यक्त गुणकद्वयवध को जोड़ कर इष्ट से भाग देकर लब्धिग्रहण करना चाहिए । इष्ट और लब्धि में जो अधिक हो उसको अल्प अव्यक्त गुणक में जोड़ना और अल्प को अधिक अव्यक्तगुणक में जोड़ना और, इस तरह दो राशिमान होता है उन दोनों राशियों को भावित गुणक से भाग देने से विपरीत अव्यक्तमान होता है अर्थात् प्रथम अव्यक्त गुणक में जोड़ने से जो होता हैं वह द्वितीय अव्यक्त का मान होता है , तथा द्वितीय अव्यक्त गुणक में जोड़ने से जो होता है वह प्रथम अव्यक्त का मान होता है इति ॥

उपपत्ति ।

यदि इ. य+इ̍. क+रू=य . क जिसमें य, और क का मान अभिन्न है, यदि य= न+इ̍, क=प+इ तब य. क=(न+इ̍) (प+इ)=इ (न+इ̍)+इ̍ (प+इ)+रू वा न . प+इ . न+इ̍ . प+इ̍. इ=इ . न+इ . इ̍+इ . प+इ. इ̍ रू समशोधन से

न.प=इ.इ'+रू अतः $\frac{\text{इ. इ'+रू}}{\text{न}}$=प, यहां 'न' का ऐसा अभिन्न मान कल्पना करना चाहिए जिससे 'प' मान अभिन्न हो; तब न, प मानों से उत्थापन करने से य, क, के मान होंगे। यदि इ. इ'+रू यह धनात्मक है तब 'न' की ऋणात्मक मानकल्पना करने से 'प' का भी ऋणात्मक मान आयगा। तब य=इ'—न, क=इ—प इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ॥ सिद्धान्तशेखर में 'जह्यात् पक्षादेकतो भावितानि' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्रीपत्युक्त भी उपपन्न होता है। बीज गणित में 'भावितं पक्षतोऽभीष्टात्' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित पद्यों से भास्कराचार्य ने श्रीपत्युक्त ही को स्फुट कहा है इति॥ ६०॥

इदानीं प्रश्नमाह।

भानोराश्यंशवधात् त्रिचतुर्गुणितान् विशोध्य राश्यंशान्।
नवतिं दृष्ट्वा सूर्यं कुर्वन्नावत्सराद् गणकः॥ ६१॥

सु० भा०—भानोः सूर्यस्य यद्राशिमानं यच्चांशमानं तयोर्वधात् त्रिगुणान् राशीन् चतुर्गुणानंशांश्च विशोध्य शेषं नवतिं दृष्ट्वाऽऽवत्सरात् सूर्यं कुर्वन्नपि स गणक इति।

अत्र राशिमानम् = या १। अंशमानम् = का १। ततः प्रश्नालापानुसारेण—
या. का—३ या—४ का=९०
∴ या. का=३ या+४ का+९०
∴ वर्णाङ्काहतिरूपैक्यम्=३×४+९०=१०२। इष्टम्=६।
फलम्=$\frac{१०२}{६}$=१७। ततो या=१०। का=२०॥ ६१॥

वि. भा.—भानोः (सूर्यस्य) राश्यंशयोर्वधात् त्रिगुणितान् राशीन् चतुर्गुणानंशांश्च विशोध्य शेषं नवतिं दृष्ट्वा सूर्यमावत्सरात् (वर्षपर्यन्तं) कुर्वन्नपि स गणक इति।

अत्र कल्प्यते राशिप्रमाणम्=य, अंश प्रमाणम्=र तदा प्रश्नोक्त्या य. र —३ य—४र=९० समयोजनेन य. र=९०+३ य+४ र, ततो वर्णाङ्काहति-रूपैक्यम्=३×४+९०=१०२ इष्टम्=६

$\frac{१०२}{६}$=१७=फलम्। अतो य= १०, र=२०॥ ६१॥

अब प्रश्न को कहते हैं।

हि. भा.—सूर्य की राशि और अंश के घात में से त्रिगुणित राशि चतुर्गुणित अंश

को घटाने से नव्वे होता है तब एक वर्ष पर्यन्त सूर्य का साधन करते हुए भी वह गणक है इति ।। ६१

यहां कल्पना करते हैं राशि प्रमाण=य । अंश प्रमाण=र, तब प्रश्नानुसार य . र —३ य—४ र=६० दोनों पक्षों में ३ य+४ र जोड़ने से य.र=६०+३ य+४ र तब 'वर्णाङ्काहतिरूपैक्य' मित्यादि भास्करोक्त सूत्र से वर्णाङ्काहतिरूपैक्य=३×४+६०=१०२, इष्ट=६ ∴ $\frac{१०२}{६}$ =१७=फल । अतः य=१०, र=२० इति ।। ६१ ।।

इदानीं भाविते प्रकारान्तरमाह ।

भावितके यद्घातो विनष्टवर्णेन तत्प्रमाणानि ।
कृत्वेष्टानि तदाहतवर्णैक्यं भवति रूपाणि ।। ६२ ।।

वर्णप्रमाणभावितघातो भवतीष्टवर्णसङ्ख्यैवम् ।
सिध्यति विनाऽपि भावितसमकरणात् किं कृतं तदतः ।। ६३ ।।

सु. भा.—भावितके भावितसमीकरणे येषां वर्णानां घातो (यद्घातः) ऽस्ति । तत्प्रमाणानि विनष्टवर्णेनेष्टानि कृत्वा तदाहतवर्णैक्यं रूपाणि भवति । एकवर्णमपहाय परेषां मानानीष्टानि प्रकल्प्य तदाहतानां वर्णगुणकानामैक्यं यद्भवति तानि रूपाणि व्यक्तानि भवन्ति । इष्टानां वर्णप्रमाणानां भावितस्य भावितगुणकस्य च घात इष्टविमुक्तवर्णसंख्या भवति । एवं भावितसमकरणाद् भावितसमीकरणाद्विनापि वर्णमानं सिध्यति । अतस्तत् पूर्वं कृतं भावितं किं किमर्थं कार्यमिति शेषः । 'मुक्त्वेष्टवर्णं सुधिया परेषां कल्प्यानि मानानि तथेप्सितानि' इत्यादिभास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ।

अत्रोपपत्तिश्चेष्टकल्पितमानानामुत्थापनेन स्फुटा ।। ६२-६३ ।।

वि. भा.—भावितके (भावितसमीकरणे) येषां वर्णानां घातोऽस्ति तत्प्रमाणानि विनष्टवर्णेनेष्टानि कृत्वा तद्गुणितवर्णैक्यं रूपाणि भवति । एकवर्णं त्यक्त्वा परेषां मानानीष्टानि प्रकल्प्य वर्णगुणानामैक्यं यद् भवति तानि रूपाणि (व्यक्तानि) भवन्ति । इष्टानां वर्णप्रमाणानां भावितगुणकस्य घात इष्टविमुक्तवर्णसङ्ख्या भवति । एवं भावितसमीकरणाद्विनाऽपि वर्णमानं सिध्यति, अतस्तत् "पूर्वं कृतं भावितं किमर्थं करणीयमिति" बीजगणिते 'मुक्त्वेष्टवर्णं सुधिया परेषां कल्प्यानि मानानि यथेप्सितानि । तथा भवेद्भावितभङ्ग एवं स्यादाद्यबीजक्रिययेष्टसिद्धिः' भास्करोक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेवास्तीति ।। ६३ ।।

इति भावितबीजम्

अब भावित में प्रकारान्तर कहते हैं ।

हि. भा.—भावित समीकरण में जिन वर्णों का घात है उसके प्रमाणतुल्य विनष्ट-वर्ण से इष्ट कर वर्णैक्य को उससे गुणा करने से रूप होते हैं । एक वर्ण को छोड़ कर अन्यों के मान इष्ट कल्पना कर वर्णगुणकों का ऐक्य जो हो वे रूप होते हैं । इष्टवर्ण प्रमाण और भावित गुणक का घात इष्टविमुक्त वर्णसंख्या होती है । एवं भावित समीकरण विना भी वर्णमान सिद्ध होता है । अतः पूर्व में किया हुआ भावित क्यों किया जाय । बीज गणित में 'मुक्त्वेष्टवर्णं सुधिया परेषां' इत्यादि भास्करोक्त आचार्योक्त के अनुरूप ही है इति ॥६३॥

इति भावित बीज समाप्त हुआ ।

•

वर्गप्रकृतिः

वज्राभ्यासतोऽनेककनिष्ठज्येष्ठानयनम्

मूलं द्विधेष्टवर्गाद् गुणकगुणादिष्टयुतविहीनाच्च ।
आद्यवधो गुणकगुणःसहान्त्यघातेन कृतमन्त्यम् ।। ६४ ।।
वज्रवधैक्यं प्रथमं प्रक्षेपः क्षेपवधतुल्यः ।।
प्रक्षेपशोधकहृते मूले प्रक्षेपके रूपे ।। ६५ ।।

सु० भा०—इष्टवर्गाद्गुणकगुणादन्येनेष्टेन केनचिद्युताद्धीनाच्च यन्मूलं तदन्त्यसंज्ञमधोऽधो द्विधा स्थाप्यम् । यस्येष्टस्य वर्गः कृतः स चाद्यसंज्ञोऽप्यधोऽधो द्विधा स्थाप्यः । येन युतेनोनेन वा मूलं प्राप्तं स क्षेपसंज्ञः शोधकसंज्ञो वा ऽधो ऽधो द्विधा स्थाप्यः । एवं तिर्यक्पंक्तिद्वये द्विधा कनिष्ठज्येष्ठक्षेपाणां विन्यासो जातः अत्रेष्टवर्गो येन गुणकेन गुणितस्तस्य संज्ञा प्रकृतिः । आद्यस्य कनिष्ठसंज्ञा । अन्त्यस्य च ज्येष्ठसंज्ञेति सर्वं भास्करबीजे प्रसिद्धम् । आद्ययोः कनिष्ठयोर्वधो गुणकेन प्रकृत्या गुणोऽन्त्ययोर्ज्येष्ठयोर्घातेन सह सहितः । एवमन्त्यमन्यज्ज्येष्ठं कृतमाचार्यैरिति शेषः । कनिष्ठज्येष्ठयोर्वज्रवधैक्य चान्यत् प्रथमं कनिष्ठसंज्ञं भवति । तत्र क्षेपयोर्वधेन तुल्यः प्रक्षेपो भवतीति । एवं प्रक्षेपे वा शोधके ऋणक्षेपे तुल्यभावनया ये मूले कनिष्ठज्येष्ठे ते प्रक्षेपकेण वा शोधकेन हृते रूपे प्रक्षेपके रूपक्षेपे कनिष्टज्येष्ठे भवत इति सर्वं भास्करवर्गप्रकृतितः स्फुटम् ।

अत्रोपपत्त्यर्थं मत्कृतभास्करबीजटिप्पण्यां वर्गप्रकृत्युपपत्तिर्विलोक्या ।। ६४-६५ ।।

वि. भा.—इष्टवर्गात् गुणकगुणात् केनचिदन्येनेष्टेन युतात् हीनाच्च यन्मूलं तदन्त्यसंज्ञं (ज्येष्ठं) अधोऽधो द्विधा स्थाप्यम् । यस्येष्टस्य (कनिष्ठस्य) वर्गकृतः स आद्यसंज्ञो (कनिष्ठ)ऽप्यधोऽधो द्विधा स्थाप्यः । येन युतेन हीनेन वा मूलं लब्धं स क्षेपसंज्ञः शोधकसंज्ञो वाऽधोऽधो द्विधा स्थाप्यः । एवं पंक्तिद्वये कनिष्ठज्येष्ठक्षेपाणां द्विधास्थापनं जातम् । अत्रेष्टवर्गो येन गुणकेन गुणितस्तस्य नाम प्रकृतिः । कनिष्ठयोर्वधः प्रकृत्या गुणो ज्येष्ठयोर्घातेन युत एतदन्यज्ज्येष्ठम् । कनिष्ठज्येष्ठयोर्वज्रवधैक्यमन्यत् कनिष्ठम् । तत्र क्षेपयोर्घातः क्षेपो भवति । एवं प्रक्षेपे वा शोधके ऋणक्षेपे तुल्यभावनया ये कनिष्ठज्येष्ठे ते प्रक्षेपकेण शोधकेन वा भक्ते तदा रूपक्षेपे कनिष्ठज्येष्ठे भवत इति ।।

अत्रोपपत्तिः

सूत्रोक्त्या प्र. क^2+क्षे=ज्ये^{2} ∴ ज्ये^{2}—प्र. क^2=क्षे । एवमेव ज्ये'^{2}— प्र.क'^{2} =क्षे' अनयोर्घातः क्षे. क्षे'=ज्ये^{2}. ज्ये'^{2}—ज्ये^{2} प्र^2. क.—ज्ये'^{2}. प्र. क^2 +प्र. क^2. क'^{2} २ प्र· क. क'. ज्ये. ज्ये' इति धनमृणमृण धनं च क्रियते तदा ज्ये . ज्ये'^{2} ± २ प्र. क. क'. ज्ये. ज्ये' + प्र^2. क^2. क'^{2} ∓ २ प्र. क. क'. ज्ये. ज्ये'—ज्ये^{2} प्र. क'^{2}—ज्ये'^{2}. प्र. क^2=(ज्ये. ज्ये' ± प्र. क. क')^2—प्र{(ज्ये. क'±ज्ये'. क)} पक्षान्तरेण प्र{(ज्ये' . क±ज्ये. क')}^{2} +क्षे. क्षे'=(ज्ये. ज्ये'±प्र. क. क')^2 अतः क्षेपघाते क्षेपे ज्ये'. क ±ज्ये. क' इदं कनिष्ठं, ज्ये. ज्ये' ± प्र. क. क' इदं ज्येष्ठं भवितुमर्हतीति । एतावताऽऽचार्योक्तमुपपन्नम् । सिद्धान्तशेखरे "कृतेर्गुणो यः प्रकृतिर्हि प्रोक्ता क्षिप्तिस्तथैवर्णधनात्मिका स्यात् । रूपं कनीयः पदमस्य वर्गे हृते प्रकृत्या वियुते युते वा । क्षिप्त्या पदं यच्च बृहत्पदं तत् ताभ्यां पदे भावनया त्वनन्ते" श्री पत्युक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेव । भावना विधिश्च ।

> वज्राभ्यासौ ह्रस्वज्येष्ठकयोस्तद्युतिर्भवेद्ध्रस्वम् ।
> लघुघातः प्रकृतिहृतो ज्येष्ठवधेनान्वितो ज्येष्ठम् ॥
>
> क्षिप्त्योर्घातः क्षेपः स्याद्वज्राभ्यासयोर्विशेषो वा ।
> ह्रस्वं लघ्वोर्घातः प्रकृतिघ्नो ज्येष्ठयोश्च वधः ॥
>
> तद्विवरं ज्यष्ठपदं क्षेपः क्षिप्त्योः प्रजायते घातः ।
> ईप्सितवर्गेण हृतःक्षेपः क्षेपः पदे तदेष्टाप्ते ॥

बीजगणिते " इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः प्रकत्या क्षुण्णो युक्तो वर्गितो वा स येन । मूलं दद्यात् क्षेपकं तं धनर्णं मूलं तत्र ज्येष्ठमूलं वदन्ति ॥ ह्रस्वज्येष्ठक्षेपकान्न्यस्य तेषां तानन्यान् वाऽधो निवेश्य क्रमेण । साध्यान्येभ्यो भावनाभिर्बहूनि मूलान्येषां भावना प्रोच्यतेऽतः ॥ वज्राभ्यासौ ज्येष्ठलघ्वोस्तदैक्यं ह्रस्वं लघ्वोराहतिश्च प्रकृत्या । क्षुण्णा ज्येष्ठाभ्यासयुग् ज्येष्ठमूलं तत्राभ्यासः क्षेपयोः क्षेपकः स्यात्" भास्करोक्तमिदं सर्वमाचार्योक्तानुरूपमेवास्तीति ॥ ६४-६५

अब वर्गप्रकृति आरम्भ किया जाता है ।

हि. भा.—इष्ट वर्ग को गुणक से गुणा कर किसी अन्य इष्ट को युत वा हीन करने से जो होता है वह अन्त्य संज्ञक (ज्येष्ठ) है । उसको अधोऽधः दो स्थानों में रखना । जिस इष्ट (कनिष्ठ) का वर्ग किया गया है आद्य संज्ञक (कनिष्ठ) है उस को भी अधोऽधः दो स्थानों में स्थापन करना । जिसको जोड़ने वा घटाने से मूल लाभ हुआ है वह क्षेपसंज्ञक

वा शोधक संज्ञक है। उसको भी अधोऽधः दो स्थानों में स्थापन करना। इस तरह दो पंक्तियों में कनिष्ठ ज्येष्ठ और क्षेप का स्थापन हुआ। इष्टवर्ग को जिस गुणक से गुणा किया गया है उसका नाम प्रकृति है। कनिष्ठ द्वय के घात को प्रकृति से गुणा कर ज्येष्ठ-द्वय घात को जोड़ने से अन्य ज्येष्ठ होता है कनिष्ठ और ज्येष्ठ के वज्राभ्यास का योग अन्य कनिष्ठ होता है वहां क्षेपद्वय का घात क्षेप होता है। एवं प्रक्षेप (शोधक) के ऋण क्षेप में तुल्य भावना से जो कनिष्ठ और ज्येष्ठ होते हैं उन्हें प्रक्षेप से भाग देने से रूप क्षेप में कनिष्ठ और ज्येष्ठ होते हैं॥

उपपत्ति।

प्र=प्रकृति, क=कनिष्ठ, ज्ये=ज्येष्ठ, क्षे=क्षेप तब सूत्रानुसार $\text{प्र}.\,\text{क}^2+\text{क्षे}=\text{ज्ये}^2$ अतः $\text{ज्ये}^2-\text{प्र}.\,\text{क}^2=\text{क्षे}$, एवं $\text{ज्ये}'^2-\text{प्र}.\,\text{क}'^2=\text{क्षे}'$, इन दोनों के घात करने से $\text{क्षे}.\,\text{क्षे}'=\text{ज्ये}^2.\,\text{ज्ये}'^2-\text{ज्ये}'^2.\,\text{प्र}.\,\text{क}^2-\text{ज्ये}^2.\,\text{प्र}.\,\text{क}'^2+\text{प्र}.\,\text{क}^2.\,\text{क}'^2$ इसमें $2\,\text{प्र}.\,\text{क}.\,\text{क}'.\,\text{ज्ये}-\text{ज्ये}'$ इसको धन ऋण और ऋण धन करने से $\text{ज्ये}^2.\,\text{ज्ये}'^2\pm2\,\text{प्र}.\,\text{क}.\,\text{क}'.\,\text{ज्ये}.\,\text{ज्ये}'+\text{प्र}^2.\,\text{क}^2.\,\text{क}'^2\mp2\,\text{प्र}.\,\text{क}.\,\text{क}'.\,\text{ज्ये}.\,\text{ज्ये}'-\text{ज्ये}'^2.\,\text{प्र}.\,\text{क}^2-\text{ज्ये}^2.\,\text{प्र}.\,\text{क}'^2=(\text{ज्ये}.\,\text{ज्ये}'\pm\text{प्र}.\,\text{क}.\,\text{क}')^2-\text{प्र}\{(\text{ज्ये}'.\,\text{क}\pm\text{ज्ये}.\,\text{क}')^2\}$ पक्षान्तर से $\text{प्र}\{(\text{ज्ये}'.\,\text{क}\pm\text{ज्ये}.\,\text{क}')^2\}+\text{क्षे}.\,\text{क्षे}'=(\text{ज्ये}.\,\text{ज्ये}'\pm\text{प्र}.\,\text{क}.\,\text{क}')^2$ अतः क्षेपघात तुल्य क्षेप में $\text{ज्ये}.\,\text{क}\pm\text{ज्ये}.\,\text{क}'$ यह कनिष्ठ होता है और $\text{ज्ये}.\,\text{ज्ये}\pm\text{प्र}.\,\text{क}.\,\text{क}'$ यह ज्येष्ठ होता है। इससे आचार्योक्त भावना उपपन्न होती है॥ सिद्धान्त शेखर में 'कृतेर्गुणो यः प्रकृतिर्हि प्रोक्ता क्षिप्तिस्तथैवर्णधनात्मिका स्यात्' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित, श्रीपत्युक्त आचार्योक्त अनुरूप ही है; भावना विधि 'वज्राभ्यासौ ह्रस्वज्येष्ठकयोस्तद्युतिर्भवेद्ध्रस्वम्' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित, भावना आचार्योक्त भावना के अनुरूप ही है। बीजगणित में 'इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः प्रकृत्या क्षुण्णो युक्तो वर्गितो वा स येन' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित पद्यों से भास्कराचार्य ने भी आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है॥ ६४-६५॥

इदानीं विशेषमाह।

रूपप्रक्षेपपदे पृथगिष्टक्षेप्यशोध्यमूलाभ्याम्।
कृत्वाऽन्त्याद्यपदे ये प्रक्षेपे शोधनेवेष्टे॥ ६६॥

सु. भा.—रूपप्रक्षेपे ये पदे आद्यान्त्यपदे ते पृथक् स्थाप्ये। तत इष्टक्षेपे वेष्टशोधके ये मूले ताभ्यां भावनयाऽन्ये अन्त्याद्यपदे ज्येष्ठकनिष्ठे कृत्वा ते इष्टे प्रक्षेपे वेष्टे शोधने ऽन्ये अन्त्याद्यपदे ज्ञेये इति॥ ६६॥

वि. भा.—रूप प्रक्षेपे ये अन्त्याद्यपदे (ज्येष्ठ कनिष्ठे) ते पृथक् स्थाप्ये, इष्टक्षेपे (इष्टशोधके वा) ये मूले (कनिष्ठ ज्येष्ठे) ताभ्यां भावनया ज्येष्ठकनिष्ठे कृत्वा ते इष्टक्षेपेऽन्ये ज्येष्ठ कनिष्ठे ज्ञातव्ये इति ।

अत्रोपपत्तिः स्पष्टैवास्तीति ॥ ६६ ॥

अब विशेष कहते हैं ।

हि. भा.—रूपक्षेप में जो ज्येष्ठ, कनिष्ठ है उन्हें पृथक् स्थापन करना, इष्टक्षेप में जो कनिष्ठ, ज्येष्ठ है उसके साथ भावना से इष्टक्षेप में अन्य ज्येष्ठ, कनिष्ठ होते हैं इति ।

उपपत्ति स्पष्ट ही है ॥ ६६ ॥

इदानीं चतुःक्षेपकनिष्ठज्येष्ठाभ्यां रूपक्षेपे कनिष्ठज्येष्ठानयनमाह ।

चतुरधिकेऽन्त्यपदकृतिस्त्र्यूना दलिताऽन्त्यपदगुणाऽन्त्यपदम् ।
अन्त्यपदकृतिर्व्येका द्विहृताऽऽद्यपदाहृताऽऽद्य पदम् ॥ ६७ ॥

सु. भा.—चतुरधिके चतुःक्षेपेऽन्त्यपदकृतिस्त्रिभिरूनार्ऽधिताऽन्त्यपदगुणा फलं रूपक्षेपीयमन्त्यपदं ज्येष्ठं भवेत् । अन्त्यपदकृतिरेकेन हीना द्विहृताऽऽद्यपदेन हृता फलं रूपक्षेपीयमाद्यपदं कनिष्ठं भवेत् ।

अत्रोपपत्तिः । यदि चतुःक्षेपे कनिष्ठम् $=$ क, ज्येष्ठम् $=$ ज्ये । तदा 'इष्टवर्गहृतः क्षेपः क्षेपः स्यात्'—इत्यादिभास्करविधिना रूपक्षेपे कनिष्ठम् $=\frac{\text{क}}{२}$ । ज्येष्ठम् $=\frac{\text{ज्ये}}{२}$ । तथा विलोमेन प्रकृतिः $=\frac{\text{ज्ये}^{२}-४}{\text{क}^{२}}$ समासभावनया $\frac{\text{क}}{२}$, $\frac{\text{ज्ये}}{२}$, आभ्यामन्ये कनिष्ठज्येष्ठे रूपक्षेपे साध्येते तदा कनिष्ठम् $=\frac{\text{क}\times\text{ज्ये}}{२}$, ज्येष्ठम् $=\frac{\text{ज्ये}^{२}-२}{२}$ आभ्यां $\frac{\text{क}}{२}$, $\frac{\text{ज्ये}}{२}$ एताभ्यां च पुना रूपक्षेपे यदि कनिष्ठज्येष्ठे साध्येते तदा कनिष्ठम् $=\frac{\text{क}\,(\text{ज्ये}^{२}-१)}{२}$ । ज्येष्ठम् $=$ ज्ये $(\text{ज्ये}^{२}-३)$ अत उपपद्यते ॥ ६७ ॥

वि. भा.—चतुरधिके (चतुः क्षेपे) ऽन्त्यपद (ज्येष्ठ) वर्गस्त्रिभिर्हीनोऽर्धितो ज्येष्ठगुणितस्तदा रूपक्षेपे ज्येष्ठं भवेत्, ज्येष्ठवर्ग एकेन हीनो द्वाभ्यां भक्तः कनिष्ठगुणितस्तदा रूपक्षेपीयं कनिष्ठं भवेदिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

कल्प्यते चतुः क्षेपे कनिष्ठम् $=$ क । ज्येष्ठम् $=$ ज्ये, तदा 'इष्टवर्गहृतः क्षेप' इत्यादिना इष्टं द्वयं प्रकल्प्य रूपक्षेपे कनिष्ठम् $= \frac{\text{क}}{२}$, ज्येष्ठम् $= \frac{\text{ज्ये}}{२}$ तथा प्र. $\text{क}^२ + ४ = \text{ज्ये}^२$ समशोधनेन प्र. $\text{क}^२ = \text{ज्ये}^२ - ४$ अतः प्र $= \frac{\text{ज्ये}^२ - ४}{\text{क}^२}$, $\frac{\text{क}}{२}$, $\frac{\text{ज्ये}}{२}$ आभ्यां तुल्यभावनया रूपक्षेपे कनिष्ठम् $= \frac{\text{क} . \text{ज्ये}}{२}$, ज्येष्ठम् $= \frac{\text{ज्ये}^२ - २}{२}$ आभ्यां $\frac{\text{क}}{२}$, $\frac{\text{ज्ये}}{२}$ एताभ्यां भावनया रूपक्षेपे कनिष्ठम् $= \frac{\text{क} (\text{ज्ये}^२ - १)}{२}$ ज्येष्ठम् $= \frac{\text{क} (\text{ज्ये}^२ - १)}{२}$, ज्येष्ठम् $= \frac{\text{ज्ये} (\text{ज्ये}^२ - ३)}{२}$ एतेनाचार्योक्तमुपपन्नम् ॥ ६७ ॥

अब चार क्षेप के कनिष्ठ और ज्येष्ठ से रूप क्षेप में कनिष्ठ और ज्येष्ठ के आनयन को कहते हैं ।

हि.भा.—चार क्षेप में से जो ज्येष्ठ है उसके वर्ग में से तीन घटाकर दो से भाग देने से जो फल हो उसको ज्येष्ठ से गुणा करने से रूपक्षेप में ज्येष्ठ होता है । ज्येष्ठ वर्ग में एक घटाकर दो से भाग देने से जो फल होता है उसको कनिष्ठ से गुणा करने से रूपक्षेप में कनिष्ठ होता है इति ॥

उपपत्ति ।

कल्पना करते हैं चार क्षेप में कनिष्ठ $=$ क । ज्येष्ठ $=$ ज्ये, तब 'इष्टवर्गहृतः क्षेप' इत्यादि भास्करोक्त प्रकार से दो इष्ट कल्पना करने से रूपक्षेप में कनिष्ठ $= \frac{\text{क}}{२}$, ज्येष्ठ $= \frac{\text{ज्ये}}{२}$, वर्ग प्रकृति लक्षण से प्र. $\text{क}^२ + ४ = \text{ज्ये}^२$ समशोधन से प्र. $\text{क}^२ = \text{ज्ये}^२ - ४$ अतः प्र $= \frac{\text{ज्ये}^२ - ४}{\text{क}^२}$, $\frac{\text{क}}{२}$, $\frac{\text{ज्ये}}{२}$ इसकी तुल्य भावना से रूपक्षेप में कनिष्ठ $= \frac{\text{क}. \text{ज्ये}}{२}$, ज्येष्ठ $= \frac{\text{ज्ये}^२ - २}{२}$, इसको $\frac{\text{क}}{२}$, $\frac{\text{ज्ये}}{२}$ इसके साथ भावना से रूपक्षेप में कनिष्ठ $= \frac{\text{क} (\text{ज्ये}^२ - १)}{२}$ ज्येष्ठ $= \frac{\text{ज्ये} (\text{ज्ये}^२ - ३)}{२}$ इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ इति ॥६७॥

इदानीमृणात्मकचतुःक्षेपकनिष्ठज्येष्ठाभ्यां रूपक्षेपे कनिष्ठज्येष्ठयोरानयनमाह।

चतुरूनेऽन्त्यपदकृती त्र्येकयुते वधदलं पृथग्व्येकम् ।
व्येकाद्याहतमन्त्यपदवधगुणमाद्यमन्त्यपदम् ।।६८।।

सु. भा.—चतुरूनेऽन्त्यपदस्य कृतिर्द्विधा स्थाप्या एकत्र त्रियुता ऽन्यत्रैकयुता। अनयोर्वधदलं पृथक्स्थाप्यमेकत्र व्येकं कार्यं तद्व्येकाद्याहतम्। अन्त्यपदकृतिस्त्रियुता प्रथमं या साधिता तद्व्येकेना $ज्ये^2+२$ नेन हृतमित्यर्थः। फलं रूपक्षेपेऽन्त्यं ज्येष्ठपदं स्यात्। पृथक् स्थापितं पदयोः कनिष्ठज्येष्ठयोर्वधेन गुणं फलमान्त्यपदं पूर्वागतान्त्यपदसम्बन्धि आद्यं पदं भवेदिति।

अत्रोपपत्तिः। कल्प्यते चतुरूने कनिष्ठम् = क। ज्येष्ठम् = ज्ये। तदा विलोमेन प्रकृतिः $=\frac{ज्ये^2+४}{क^2}$। रूपशोधके च कनिष्ठम् $=\frac{क}{२}$। ज्येष्ठम् $=\frac{ज्ये}{२}$। आभ्यां समासभावनया रूपक्षेपे कनिष्ठम् $=\frac{क\times ज्ये}{२}$। ज्येष्ठम् $=\frac{ज्ये^2+२}{२}$। आभ्यां पुनः समासभावनया रूपक्षेपे कनिष्ठम् $=\frac{क.\ ज्ये^2\ (ज्ये^2+२)}{२}$। ज्येष्ठम् $=\frac{ज्ये^4+४\ ज्ये^2+२}{२}$। आभ्यां पूर्वसाधिताभ्याम् $\frac{क\times ज्ये}{२}$, $\frac{ज्ये^2+२}{२}$ एताभ्यां च पुनः समासभावनया रूपक्षेपे कनिष्ठम् $=\frac{क.\ ज्ये\ (ज्ये^4+४\ ज्ये^2+३)}{२}$ $=$ क. ज्ये $\frac{(ज्ये^2+१)\ (ज्ये^2+३)}{२}$। ज्येष्ठम् $=(ज्ये^2+२)\left(\frac{ज्ये^4+४\ ज्ये^2+१}{२}\right)=(ज्ये^2+२)\left(\frac{ज्ये^4+४\ ज्ये^2+३}{२}-१\right)=\left\{ज्ये^2+२\right\}\left\{\frac{(ज्ये^2+३)\ (ज्ये^2+१)}{२}-१\right\}$ अत उपपद्यते ।।

वि.भा.—चतुरूने (ऋणात्मकचतुःक्षेपे) ऽन्त्यपद (ज्येष्ठ) कृतिर्द्विधा स्थाप्या, एकत्र त्रियुताऽन्यत्रैकयुता, तयोर्घाताधं पृथक् स्थाप्यम्। एकत्रैकहीनं कार्यं तदेकहीनकनिष्ठगुणम्। अन्त्यपद (ज्येष्ठ) कृतिस्त्रियुता प्रथमं या साधिता तद्व्येकेना $ज्ये^2+२$ नेन गुणितमित्यर्थः। तदा रूपक्षेपे ज्येष्ठं भवेत्। पृथक् स्थापितं कनिष्ठज्येष्ठयोर्घातेन गुणं फलं पूर्वागतज्येष्ठसम्बन्धिकनिष्ठं भवेदिति ।।

अत्रोपपत्तिः।

कल्प्यते ऋणात्मकचतुः क्षेपे कनिष्ठम् = क, ज्येष्ठम् = ज्ये, वर्गप्रकृतिलक्षणेन

प्र. $क^2 - ४ = ज्ये^2$ समयोजनेन प्र. $क^2 = ज्ये^2 + ४$ अतः $\frac{ज्ये^2 + ४}{क^2} = प्र$ । 'इष्टवर्ग हृतक्षेप' इत्यादिनेष्टम् $= २$ प्रकल्प्य ऋणात्मकरूपक्षेपे कनिष्ठम् $= \frac{क}{२}$, ज्येष्ठम् $= \frac{ज्ये}{२}$ आभ्यां तुल्यभावनया रूपक्षेपे कनिष्ठम् $= \frac{क. ज्ये}{२}$, ज्येष्ठम् $= \frac{ज्ये^2 + २}{२}$ आभ्यां पुनः समासभावनया रूपक्षेपे कनिष्ठम् $= \frac{क. ज्ये (ज्ये^2 + २)}{२}$, ज्येष्ठम् $= \frac{ज्ये^4 + ४ ज्ये^2 + २}{२}$ आभ्यां पूर्वसाधिताभ्यां $\frac{क. ज्ये}{२}$, $\frac{ज्ये^2 + २}{२}$ समास भावनया रूपक्षेपे कनिष्ठम् $= \frac{क. ज्ये (ज्ये^4 + ४ ज्ये^2 + ३)}{२} = क. ज्ये. \frac{(ज्ये^2 + १)(ज्ये^2 + ३)}{२}$

ज्येष्ठम् $= (ज्ये^2 + २) \frac{(ज्ये^4 + ४ ज्ये^2 + १)}{२} = (ज्ये^2 + २) \frac{(ज्ये^4 + ४ ज्ये^2 + ३)}{२} - १$

$= \left\{ (ज्ये^2 + २) \right\} \left\{ \frac{(ज्ये^2 + ३)\ (ज्ये^2 + १)}{२} - १ \right\}$ अत उपपन्नमचार्योक्तमिति ॥६८॥

अब ऋणात्मक चार क्षेप के कनिष्ठ और ज्येष्ठ से रूपक्षेप में कनिष्ठ और ज्येष्ठ के आनयन को कहते हैं।

हि. भा.—ऋणात्मक चार क्षेप में ज्येष्ठ वर्ग को दो स्थानों में स्थापन करना, एक स्थान में तीन जोड़ना दूसरे स्थान में एक जोड़ना, इन दोनों के घातार्ध को पृथक् स्थापन करना, एक स्थान में एक हीनकर जो हो उसको एक हीन कनिष्ठ से गुणा करना चाहिये तब रूप क्षेप में ज्येष्ठ होता है। पूर्व स्थापित को कनिष्ठ और ज्येष्ठ के घात से गुणा करने से पूर्वागत ज्येष्ठ सम्बन्धी कनिष्ठ होता है इति ॥

उपपत्ति ।

कल्पना करते हैं ऋणात्मक चारक्षेप में कनिष्ठ $=$ क । ज्येष्ठ $=$ ज्ये । वर्ग प्रकृति लक्षण से प्र. $क^2 - ४ = ज्ये^2$ दोनों पक्षों में चार जोड़ने से प्र. $क^2 = ज्ये^2 + ४$ अतः प्र $= \frac{ज्य^2 + ४}{क^2}$ 'इष्ट वर्ग हृतः क्षेप' इत्यादि से इष्ट $= २$ कल्पना करने से ऋणात्मक रूपक्षेप में कनिष्ठ $= \frac{क}{२}$, ज्येष्ठ $= \frac{ज्ये}{२}$ तुल्य भावना से रूपक्षेप में कनिष्ठ $= \frac{क. ज्ये}{२}$, ज्येष्ठ $= \frac{ज्ये^2 + २}{२}$ इनसे समास भावना से रूपक्षेप में कनिष्ठ $= \frac{क. ज्ये (ज्ये^2 + २)}{२}$, ज्येष्ठ

$=\frac{\text{ज्येष्ठ}^4+4\,\text{ज्ये}^2+2}{2}$ इनके साथ पूर्वसाधित $\frac{\text{क. ज्ये}}{2}$, $\frac{\text{ज्ये}^2+2}{2}$ इनकी समास भावना से रूपक्षेप में कनिष्ठ $=\frac{\text{क. ज्ये}\,(\text{ज्ये}^4+4\text{ज्ये}^2+2)}{2}=\text{क. ज्ये}\,\frac{(\text{ज्ये}^2+1)\,(\text{ज्ये}^2+3)}{2}$,

ज्येष्ठं $=(\text{ज्ये}^2+2).\;\frac{(\text{ज्ये}^4+4\,\text{ज्ये}^2+1)}{2}=(\text{ज्ये}^2+2).\left(\frac{\text{ज्ये}^4+4\,\text{ज्ये}^2+3}{2}-1\right)$

$=\left\{(\text{ज्ये}^2+2)\right\}.\left\{\frac{(\text{ज्ये}^2+3)\;(\text{ज्ये}^2+1)}{2}-1\right\}$ इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ ॥६८॥

इदानीं वर्गात्मकप्रकृतौ कनिष्ठज्येष्ठयोरानयनमाह।

वर्गे गुणके क्षेपः केनचिदुद्धृतयुतोनितो दलितः।
प्रथमोऽन्त्यमूलमन्यो गुणकारपदोद्धृतः प्रथमः ॥६९॥

सु. भा.—गुणके प्रकृतौ वर्गे वर्गात्मके सति क्षेपः केनचिदिष्टेनोद्धृतः फलं तेनैवेष्टेन युतमूनितं दलितं च कार्यम्। एवं राशिद्वयं भवेत् तत्र प्रथमो राशिरन्त्यमूलं ज्येष्ठं भवेत्। अन्यो गुणकारपदोद्धृतो गुणकारः प्रकृतिस्तत्पदेनोद्धृतः फलं प्रथम आद्योऽर्थात् कनिष्ठं पदं भवेदिति। 'इष्टभक्तो द्विधाक्षेप' इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव।

अत्रोपपत्त्यर्थं मत्कृतभास्करबीज टिप्पण्याम्-इष्टभक्तोद्विधाक्षेपः इत्यस्योपपत्तिर्द्रष्टव्या ॥ ६९ ॥

वि. भा.—गुणके (प्रकृतौ) वर्गे (वर्गात्मके) सति क्षेपः केनचिदिष्टेन भक्तो लब्धं तेनैवेष्टेन युतं हीनं दलितं च कार्यम् एवं राशिद्वयं भवति। तत्र प्रथमो राशिरन्त्यमूलं (ज्येष्ठं) भवति, गुणकारः (प्रकृतिः) तन्मूलेन भक्तो द्वितीयराशि स्तदा लब्धं कनिष्ठं भवेदिति ॥

अत्रोपपत्तिः।

वर्गप्रकृत्या $\text{प्र}^2\,.\,\text{क}^2+\text{क्षे}=\text{ज्ये}^2$ समशोधनेन $\text{क्षे}=\text{ज्ये}^2-\text{प्र}^2.\,\text{क}^2$ वर्गान्तरस्य योगान्तरघातसमत्वात् $(\text{ज्ये}+\text{प्र. क})\;(\text{ज्ये}-\text{प्र. क})=\text{क्षे}$, अत्र यदि ज्ये $-$प्र. क इष्टं कल्प्यते तदा $\text{क्षे}=(\text{ज्ये}+\text{प्र. क})\,.\,\text{इ}$ पक्षौ इ भक्तौ तदा $\frac{\text{क्षे}}{\text{इ}}=\text{ज्ये}+\text{प्र. क}$ पक्षौ इ हीनौ तदा $\frac{\text{क्षे}}{\text{इ}}-\text{इ}=\text{ज्ये}+\text{प्र. क}-(\text{ज्ये}-\text{प्र.क})=\text{ज्ये}+\text{प्र.क}$

—ज्ये + प्र.क = २ प्र.क पक्षौ २ प्र भक्तौ तदा $\frac{\frac{\text{क्षे}}{\text{इ}} - \text{इ}}{२\text{प्र}} = \text{क}$ । $\frac{\text{क्षे}}{\text{इ}}$ अत्रैवेष्टयोजनेन

$\frac{\text{क्षे}}{\text{इ}} + \text{इ} = \text{ज्ये} + \text{प्र. क} + \text{ज्ये} - \text{प्र. क} = २\ \text{ज्ये}$ अतः $\frac{\frac{\text{क्षे}}{\text{इ}} + \text{इ}}{२} = \text{ज्ये}$, एतावताऽऽचार्योक्तमुपपन्नम् ।। बीजगणिते 'इष्टभक्तो द्विधाक्षेप' इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेवेति ।।६९।।

अब वर्गात्मक प्रकृति में कनिष्ठ और ज्येष्ठ का आनयन करते हैं।

हि. भा.—वर्गात्मक प्रकृति में क्षेप को किसी इष्ट से भाग देकर जो फल हो उसमें उसी इष्ट को युत और हीन कर आधा करना चाहिये इस तरह दो राशियों का मान होता है, उनमें प्रथम राशि ज्येष्ठ होता है, द्वितीय राशि को प्रकृति के मूल से भाग देने से कनिष्ठ होता है इति।

उपपत्ति।

वर्ग प्रकृति से $\text{प्र}^2 . \text{क}^2 + \text{क्षे} = \text{ज्ये}^2$ समशोधन से $\text{क्षे} = \text{ज्ये}^2 - \text{प्र}^2 . \text{क}^2$ वर्गान्तर योगान्तर घात के बराबर होता है इसलिये $\text{क्षे} = (\text{ज्ये} + \text{प्र. क})\ (\text{ज्ये} - \text{प्र. क})$ यहाँ यदि $\text{ज्ये} - \text{प्र . क} = $ इष्ट माना जाय तब $\text{क्षे} = (\text{ज्ये} + \text{प्र. क})\ \text{इ}$ $\therefore \frac{\text{क्षे}}{\text{इ}} = \text{ज्ये} + \text{प्र. क}$, अब

संक्रमण गणित से $\frac{\frac{\text{क्षे}}{\text{इ}} + \text{इ}}{२} = \text{प्रथमराशि} = \text{ज्ये}$ । $\frac{\frac{\text{क्षे}}{\text{इ}} - \text{इ}}{२} = \text{द्वितीयराशि} = \text{प्र . क}$

$\therefore \frac{\frac{\text{क्षे}}{\text{इ}} - \text{इ}}{२\ \text{प्र}} = \text{क}$ इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ।

बीज गणित में 'इष्ट भक्तोद्विधाक्षेपः' इत्यादि भास्करोक्त इसके अनुरूप ही है इति ।।६९।।

अतोऽग्रे चैकाऽर्या नष्टा सा कोलब्रूकानुवादानुसारेण।

वर्गच्छिन्ने गुणके प्रथमं तन्मूल भाजितं भवति।
वर्गच्छिन्ने क्षेपे तत्पवगुणिते तदा मूले ।।७०।।

एवं भवितुमर्हति।

सु. भा.—यदि गुणकः प्रकृतिः केनचिद्वर्गेण निःशेषो भवति तदा तं तद्वर्णेण संहृत्य लब्धसमे गुणके मूले साध्ये तत्र प्रथममाद्यमर्थात् कनिष्ठं तस्य वर्गस्य मूलेन भाजितं फलमभीष्टे गुणके कनिष्ठं भवेत् । ज्येष्ठं त्वत्रापि तदेव । क्षेपे वर्गच्छिन्ने सति वर्गेण क्षेपं विभज्य लब्धसमे क्षेपे ये मूले ते तद्वर्गपदेन गुणिते अभीष्टगुणके मूले भवत इति । 'वर्गच्छिन्ने गुणे ह्रस्वं तत्पदेन विभाजयेदिति भास्करप्रकारः प्रथमप्रकारानुरूपः । 'क्षुण्णः क्षुण्णे तदा पदे' इति भास्करप्रकारश्च द्वितीयप्रकारानुरूपः ।

अत्रोपपत्त्यर्थं मत्कृतभास्करबीजटिप्पणी विलोक्या ॥ ७० ॥

वि. भा.—यदि गुणकः (प्रकृतिः) केनापि वर्गाङ्केन भक्तः सन् निःशेषो भवेत्तदा तदगुणकं तद्वर्गाङ्केन भक्त्वा लब्धतुल्ये गुणके (प्रकृतौ) कनिष्ठज्येष्ठे साध्ये तत्र प्रथमं (कनिष्ठं) तस्य वर्गाङ्कस्य मूलेन भाजितं तदा तद्गुणके (नवीन-प्रकृतौ) कनिष्ठं भवेत् । ज्येष्ठं तदेव, क्षेपे वर्गाङ्केन छिन्ने सति वर्गाङ्केन क्षेपं भक्त्वा लब्धतुल्ये क्षेपे ये कनिष्ठज्येष्ठे ते तद्वर्गाङ्कमूलेन गुणिते तदेष्टगुणके कनिष्ठज्येष्ठे भवेतामिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

वर्ग प्रकृति लक्षणेन $प्र.क^2+क्षे=ज्ये^2$, वा $गु^2.\ प्र.\ \frac{क^2}{गु^2}+क्षे=ज्ये^2$ $=गु^2.\ प्र.\left(\frac{क}{गु}\right)^2$ अत्र यदि $गु^2.प्र$ इयमन्या प्रकृति $=प्र'$ तदा तत्सम्बन्धि कनिष्ठं $\frac{क}{गु}$ स्यादेतेन पूर्वार्धं[1]मुपपन्नम् । अथ $प्र.\ क^2+क्षे=ज्ये^2$ पक्षौ $इ^2$ गुणितौ तदा $प्र.\ क^2.गु^2+क्षे.गु^2=ज्ये^2.\ गु^2=प्र.(क.गु)^2+क्षे.गु^2=(ज्ये.गु)^2$ यदि $क्षे.गु^2=क्षे'$ तदा तत्सम्बन्धि कनिष्ठम् $=क.गु=क'$, ज्येष्ठम् $=ज्ये\ .\ गु=ज्ये'$ तदा $प्र.क'^2+क्षे'=ज्ये'^2$ एतेनोत्तरा[2]र्धमुपपद्यत इति ॥७०॥

६९ सूत्र से आगे की एक आर्या नष्ट है वह कोलब्रूक साहेब के अनुवादानुसार निम्नलिखित आशय की है ।

हि. भा.—यदि प्रकृति किसी वर्गाङ्क से भाग देने से निः शेष हो तब प्रकृति को

(१) वर्गच्छिन्ने गुणे ह्रस्वं तत्पदेन विभाजयेदिति भास्करोक्तमेतत्सदृशमेव ।

(२) क्षेपः क्षुण्णः क्षुण्णे तदा पदे भास्करोक्तमिदमेतत्सदृशमेवेति ।

वर्गाङ्क से भाग देने से जो लब्धि हो तत्तुल्य नवीन प्रकृति में कनिष्ठ और ज्येष्ठ साधन करना, उस कनिष्ठ को वर्गाङ्क के मूल से भाग देने से नवीन प्रकृति में कनिष्ठ होता है, ज्येष्ठ यहां भी वही रहता है। यदि क्षेप किसी वर्गाङ्क से भाग देने से निःशेष हो तब वर्गाङ्क से क्षेप को भाग देने से जो लब्धि हो तत्तुल्य नवीन क्षेप में जो कनिष्ठ और ज्येष्ठ हो उनको उस वर्गाङ्क के मूल से गुणा करने से नवीन क्षेप में कनिष्ठ और ज्येष्ठ होते हैं इति ॥

उपपत्ति ।

वर्गप्रकृति लक्षण से प्र. क^2+क्षे=ज्ये^{2}=गु^{2}. प्र. $\frac{\text{क}^2}{\text{गु}^2}$=गु^{2}.प्र. $\left(\frac{\text{क}}{\text{गु}}\right)^2$

यहां यदि गु^{2}. प्र यह अन्य प्रकृति=$\text{प्र}'$, है तब तत्सम्बन्धी कनिष्ठ $\frac{\text{क}}{\text{गु}}$ होगा, ज्येष्ठ वही रहेगा, इससे पूर्वार्धं उपपन्न हुआ। बीज गणित में 'वर्गच्छिन्ने गुणे ह्रस्वं तत्पदेन विभाजयेत्' यह भास्करोक्त कोलब्रूक के अनुवाद के पूर्वार्धं के अनुरूप ही है। प्र. क^2+क्षे=ज्ये^{2} दोनों पक्षों को इ^2 से गुणा करने से प्र.क^2. इ^2+क्षे. इ^2=ज्ये^{2}.इ^2 = प्र.(क.गु)^2+क्षे.गु^{2} =(ज्ये.इ)^2 यदि क्षे.गु^{2}=$\text{क्षे}'$ तब तत्सम्बन्धी कनिष्ठ=क. गु=$\text{क}'$, तथा ज्येष्ठ=$\text{ज्ये}'$. गु. इससे कोलब्रूक साहेब के अनुवाद का उत्तरार्धं उपपन्न हुआ। 'क्षेपः क्षुण्णः क्षुण्णे तदा पदे' यह भास्करोक्त उसी के सदृश है ॥७०॥

इदानीं प्रश्नविशेषस्योत्तरमाह ।

गुणकयुतिरष्टगुणिता गुणकान्तरभाजिता राशिः ।
गुणकौ त्रिगुणौ व्यस्ताधिकौ हृतावन्तरेण पदे ॥७१॥

सु. *भा.*—(गुणकद्वयेन गुणितः पृथक् पृथग्राशिरेकयुतश्च ।
यदि तत्पदे निरग्रे कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ॥)

इति प्रश्नस्योत्तरार्थं गुणकयोर्युतिरष्टगुणिता गुणकयोरन्तरवर्गेण भाजिता राशिः स्यात् । गुणकौ द्वौ त्रिगुणौ कार्यौ तौ व्यस्ताधिकौ व्यस्तगुणकाधिकौ गुणकान्तरेण तौ हृतौ तदा ते एव निरग्रे पदे भवतः ।

अत्रोपपत्तिः । कल्प्यते गुणकद्वयं क्रमेण गु$_1$, गु$_2$ । तथा राशिमानं $\frac{\text{या}^2-1}{\text{गु}_1}$ ।

अत्रैकालापः स्वयं घटतेऽतोऽमुं द्वितीयगुणकेन सङ्गुण्य रूपं प्रक्षिप्य काल-कवर्गेण समंकृत्वा पक्षौ $\frac{\text{गु}_2\,\text{या}^2 - \text{गु}_2 + \text{गु}_1}{\text{गु}_1} = \text{का}^2$ ।

$\therefore\ \text{गु}_1\,\text{का}^2 = \text{गु}_2\,\text{या}^2 - \text{गु}_2 + \text{गु}_1$ ।

गु_1 गुणितौ तथा प्रथमपक्षस्य मूलम् $= \text{गु}_1\,\text{का}$ । द्वितीयपक्षस्यास्य $\text{गु}_1\,\text{गु}_2\,\text{या}^2 - \text{गु}_1\,\text{गु}_2 + \text{गु}_1^2$ वर्गप्रकृत्या ।

क	ज्ये	क्षे
१	गु_1	$\text{गु}_1^2 - \text{गु}_1\,\text{गु}_2$
$\frac{२\,\text{इ}}{\text{गु}_1\,\text{गु}_2 \backsim \text{इ}^2}$	$\frac{\text{गु}_1\,\text{गु}_2 + \text{इ}^2}{\text{गु}_1\,\text{गु}_2 \backsim \text{इ}^2}$	१

समासभावनया क $= \frac{२\,\text{गु}_1\,\text{इ} + \text{गु}_1\,\text{गु}_2 + \text{इ}^2}{\text{गु}_1\,\text{गु}_2 \backsim \text{इ}^2}$ | ज्ये $= \frac{२\,\text{गु}_1\,\text{गु}_2\,\text{इ} + \text{गु}_1^2\,\text{गु}_2 + \text{गु}_1\,\text{इ}^2}{\text{गु}_1\,\text{गु}_2 \backsim \text{इ}^2}$

अथ यदि $\text{इ} = \text{गु}_1$ तदोत्थापनेन राशिः ।

$$= \frac{\text{या}^2 - १}{\text{गु}_1} = \left[\left\{\frac{३\,\text{गु}_1^2 + \text{गु}_1\,\text{गु}_2}{\text{गु}_1\,(\text{गु}^2 \backsim \text{गु}_1)}\right\}^2 - १\right] \div \text{गु}_1$$

$$\left\{\left(\frac{३\,\text{गु}_1 + \text{गु}_2}{\text{गु}_2 \backsim \text{गु}_1}\right)^2 - १\right\} \div \text{गु}_1 = \left(\frac{९\,\text{गु}_1^2 + ६\,\text{गु}_1\,\text{गु}_2 + \text{गु}_2^2}{\text{गु}_1^2 - २\,\text{गु}_1\,\text{गु}_2 + \text{गु}_2^2} - १\right) \div \text{गु}_1$$

$$= \frac{८\,\text{गु}_1^2 + ८\,\text{गु}_1\,\text{गु}_2}{(\text{गु}_2 \backsim \text{गु}_1)^2} \div \text{गु}_1 = \frac{८\,(\text{गु}_1 + \text{गु}_2)}{(\text{गु}_2 \backsim \text{गु}_2)^2}$$ । तत आलापेन

$$\text{प्रथमपदम्} = \sqrt{\frac{८\,\text{गु}_1^2 + ८\,\text{गु}_1\,\text{गु}_2}{\text{गु}_1^2 - २\,\text{गु}_1\,\text{गु}_2 + \text{गु}_2^2} + १} = \frac{३\,\text{गु}_1 + \text{गु}_2}{\text{गु}_1 \backsim \text{गु}_2}$$ ।

एवं द्वितीयपदम् $= \frac{३\,\text{गु}_2 - \text{गु}_1}{\text{गु}_1 \backsim \text{गु}_2}$ । अत उपपन्नं सर्वम् ॥ ७१ ॥

वि. भा.—गुणकयोर्योग अष्टगुणितो गुणकयोरन्तरेण भक्तस्तदा राशिर्भवेत् । द्वौ गुणकौ त्रिगुणितौ तौ व्यस्तगुणकाधिकौ गुणकान्तरेण भक्तौ तदा ते एव निरग्रे पदे भवेतामिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

कल्प्यते गुणकद्वयं क्रमेण गु, गु', तथा राशिप्रमाणम् $= \frac{\text{य}^2 - 1}{\text{गु}}$ एतत् गु' अनेन सङ्गुण्यैकं क्षिप्त्वा र वर्गेण समं $\frac{\text{य}^2 . \text{गु}' - \text{गु}'}{\text{गु}} + 1 = \frac{\text{य}^2 . \text{गु}' - \text{गु}' + \text{गु}}{\text{गु}}$ $= \text{र}^2$ छेदगमेन $\text{य}^2 . \text{गु}' - \text{गु}' + \text{गु} = \text{गु} . \text{र}^2$ पक्षौ 'गु' गुणितौ तदा $\text{गु}^2 . \text{र}^2 = \text{य}^2 . \text{गु} . \text{गु}' - \text{गु} . \text{गु}' + \text{गु}^2$ प्रथम पक्षस्य मूलम् $= \text{गु} . \text{र}$ द्वितीय पक्षस्यास्य $\text{य}^2 . \text{गु} . \text{गु}' - \text{गु} . \text{गु}' + \text{गु}^2$ वर्गप्रकृत्या प्रकृतिः $= \text{गु} . \text{गु}'$, क्षेपः $= \text{गु}^2 - \text{गु} . \text{गु}'$ । अत्र कल्प्यते कनिष्ठम् $= \text{क} = 1$ तदा ज्येष्ठम् $= \text{ज्ये} = \text{गु}$ । क्षेपः $= \text{गु}^2 - \text{गु} . \text{गु}'$ इष्टवर्गप्रकृत्योर्यद्विवरं तेन वा भजेदित्यादिना रूपक्षेपे कनिष्ठम् $= \frac{2 \text{ इ}}{\text{गु} . \text{गु}' \sim \text{इ}^2}$, ज्येष्ठम् $= \frac{\text{गु} . \text{गु}' + \text{इ}^2}{\text{गु} . \text{गु}' \sim \text{इ}^2}$, क्षेपः $= 1$ समासभावनया $\frac{2 \text{ गु} . \text{इ} + \text{गु} . \text{गु}' + \text{इ}^2}{\text{गु} \text{ गु}' \sim \text{इ}^2} = \text{क}$ ।

$\frac{2 \text{ गु} . \text{गु}' . \text{इ} + \text{गु}^2 \text{ गु}' + \text{गु} . \text{इ}^2}{\text{गु} . \text{गु}' \sim \text{इ}^2} = \text{ज्ये}$ । अत्र कनिष्ठं य मानं, ज्येष्ठं प्रथमपक्षस्या (गु . र) स्य समम् । यदि इ = गु तदोत्थापनेन राशिः $= \frac{\text{य}^2 - 1}{\text{गु}}$

$$= \left[\left\{ \frac{3 \text{ गु}^2 + \text{गु} . \text{गु}'}{\text{गु} (\text{गु}' \sim \text{गु})} \right\}^2 - 1 \right] \div \text{गु} = \left\{ \left(\frac{3 \text{ गु} + \text{गु}'}{\text{गु}' \sim \text{गु}} \right)^2 - 1 \right\} \div \text{गु} =$$

$$= \left(\frac{9 \text{गु}^2 + 6 \text{ गु} . \text{गु}' + \text{गु}'^2}{\text{गु}^2 - 2 \text{गु} . \text{गु}' + \text{गु}'^2} - 1 \right) \div \text{गु} = \frac{8 \text{ गु}^2 + 8 \text{गु} . \text{गु}'}{(\text{गु}' - \text{गु})^2} \div \text{गु} = \frac{8 (\text{गु} + \text{गु}')}{(\text{गु}' \sim \text{गु})^2}$$

अत आलापेन प्रथम पदम् $= \sqrt{\frac{8 \text{ गु}^2 + 8 \text{ गु} . \text{गु}'}{\text{गु}^2 - 2 \text{गु} . \text{गु}' + \text{गु}'^2} + 1} = \frac{3 \text{ गु} + \text{गु}'}{\text{गु}' \sim \text{गु}}$,

द्वितीय पदम् $= \frac{3 \text{ गु}' - \text{गु}}{\text{गु} \sim \text{गु}'}$ इति ।।७१।।

अब प्रश्न विशेष का उत्तर कहते हैं ।

हि. भा.—राशि को पृथक् पृथक् गुणकद्वय से गुणाकर एक जोड़ने से यदि उनके

मूल को एक वर्ष पर्यन्त निः शेष करते हुए व्यक्ति गणक है यह प्रश्न है। तो—

इसका उत्तर

गुणकद्वय योग को आठ से गुणाकर गुणकद्वय के अन्तर वर्ग से भाग देने से राशिमान होता हैं। दोनों गुणकों को तीन से गुणा कर दोनों में विपरीत गुणक जोड़ कर गुणकान्तर से भाग देने से वे दोनों निःशेष पद द्वय होते हैं इति।

उपपत्ति।

कल्पना करते हैं दोनों गुणक क्रम से गु, $\text{गु}'$ तथा राशिमान $= \frac{\text{य}^2 - १}{\text{गु}}$ इसको $\text{गु}'$ से गुणाकर एक जोड़कर र वर्ग के बराबर करने से $\frac{\text{गु}'\text{य}^2 - \text{गु}' + \text{गु}}{\text{गु}} = \text{र}^2$ छेदगम से $\text{गु}.\text{र}^2 = \text{गु}'.\text{य}^2 - \text{गु}' + \text{गु}$ दोनों पक्षों को (गु) गुणा करने से $\text{गु}^2.\text{र}^2 = \text{गु}.\text{गु}'.\text{य}^2 - \text{गु}.\text{गु}' + \text{गु}^2$ प्रथम पक्ष का मूल $= \text{गु}.\text{र}$, द्वितीय पक्ष $\text{गु}.\text{गु}'.\text{य}^2 - \text{गु}.\text{गु}' + \text{य}^2$ इसकी वर्गप्रकृति से प्रकृति $= \text{गु}.\text{गु}'$, क्षेप $= \text{गु}^2 - \text{गु}.\text{गु}'$, यहां कनिष्ठ $= १$, ज्येष्ठ $= \text{गु}$, क्षेप $= \text{गु}^2 - \text{गु}.\text{गु}'$

'इष्टवर्गप्रकृत्योर्यद्विवरं' इत्यादि भास्करोक्त सूत्र से क $= \frac{२\,\text{इ}}{\text{गु}.\text{गु}' \backsim \text{इ}^2}$, ज्ये $= \frac{\text{गु}.\text{गु}' + \text{इ}^2}{\text{गु}.\text{गु}' \backsim \text{इ}^2}$, क्षेप $= १$ समास भावना से क $= \frac{२\,\text{गु}.\text{इ} + \text{गु}.\text{गु}' + \text{इ}^2}{\text{गु}.\text{गु}' \backsim \text{इ}^2}$, ज्ये $= \frac{२\,\text{गु}.\text{गु}'.\text{इ} + \text{गु}^2.\text{गु}' + \text{गु}.\text{इ}^2}{\text{गु}.\text{गु}' \backsim \text{इ}^2}$ यहां कनिष्ठ (य) का मान होता है, तथा ज्येष्ठ प्रथम पक्ष (गु . र) के बराबर होता है यदि इ = गु तब उत्थापन से राशि $= \frac{\text{य}^2 - १}{\text{गु}}$

$$= \left[\left\{\frac{३\,\text{गु}^2 + \text{गु}.\text{गु}'}{\text{गु}.(\text{गु}' \backsim \text{गु})}\right\}^2 - १\right] \div \text{गु} = \left\{\left(\frac{३\,\text{गु} + \text{गु}'}{\text{गु}' \backsim \text{गु}}\right)^2 - १\right\} \div \text{गु} =$$

$$= \left(\frac{९\,\text{गु}^2 + ६\,\text{गु}.\text{गु}' + \text{गु}'^2}{\text{गु}^2 - २\,\text{गु}.\text{गु}' + \text{गु}'^2} - १\right) \div \text{गु} = \frac{८\,\text{गु}^2 + ८\,\text{गु}.\text{गु}'}{(\text{गु}' \backsim \text{गु}^2)} \div \text{गु} = \frac{८\,(\text{गु} + \text{गु}')}{\text{गु}' \backsim \text{गु}}$$

अब आलाप से प्रथम पद $= \sqrt{\frac{८\,\text{गु}^2 + ८\,\text{गु}.\text{गु}'}{\text{गु}^2 - २\,\text{गु}.\text{गु}' + \text{गु}'^2} + १} = \frac{३\,\text{गु} + \text{गु}'}{\text{गु}' \backsim \text{गु}}$।

द्वितीय पद $= \frac{३ \overset{।}{गु}—गु}{गु \backsim \overset{।}{गु}}$ इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ इति ॥७१॥

इदानीं प्रश्नान्तरविशेषस्योत्तरमाह ।

वर्गोऽन्यकृतियुतोनस्तत्संयोगान्तरार्धकृतिभक्तः ।
तद्गुणितौ युतिवियुतौ वर्गौ घाते च रूपयुते ॥ ७२ ॥

सु० भा०—ययो राश्योर्युतिवियुतौ वर्गौ भवतस्तथा घाते रूपयुते च वर्गः स्यात् तत्र राश्योरानयनाय कश्चिदिष्टो वर्गः कल्प्यः । स चान्येष्टवर्गेण युत ऊनश्च कार्यः । एवं राशिद्वयं यद्भवेत् तत्संयोगस्तदन्तरार्धवर्गेण भक्तो यत् फलमागच्छेत् तेन पूर्वसाधितौ द्वौ राशी गुणितावभीप्सितौ राशी भवतः ।

अत्रोपपत्तिः । कल्प्येते राशी—

$२ इ^{२} (या^{२}+का^{२})$ । $२ इ^{२} (या^{२}—का^{२})$

अत्र राश्योर्योगवियोगौ भवतोऽत आलापद्वयं घटते । अथानयोर्घातः सैकः $=४ इ^{४} या^{४}—४ इ^{४} का^{४}+१$ अयं वर्गः । अत आद्यन्तयोः पदयोः $—२ इ^{२} या^{२}$, $—१$ अनयोर्द्विघ्नहतिं $— ४ इ^{२} या^{२}$ मध्यपदसमां कृत्वा पक्षौ—$४ इ^{२} या^{२} = —४ इ^{४} का^{४}$ ।

$$\therefore २ इ^{२} = \frac{२ या^{२}}{का^{४}} = \frac{(या^{२} + का^{२}) + (या^{२} — का^{२})}{\left\{\frac{(या^{२}+का^{२})+(या^{२}—का^{२})}{२}\right\}^{२}}$$

अत उपपद्यते यथोक्तम् ॥ ७२ ॥

वि. भा.—ययो राश्योर्युतिवियुतौ वर्गौ भवेतां, घाते रूपयुते च वर्गः स्यात् तत्र तयो राश्योर्ज्ञानार्थं कोपीष्टो वर्गः कल्पनीयः। सोऽन्येष्टवर्गेण युतो हीनश्च कार्यः, तदा यद्राशिद्वयं भवेत् तयोर्योगस्तदन्तरार्धवर्गेण भक्तो यल्लब्धं भवेत्तेन पूर्वानीतौ राशी गुणितौ तदाऽभीप्सितौ राशी भवेतामिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

कल्प्येते राशी $२ इ^{२} (य^{२}+र^{२})$, $२ इ^{२} (य^{२}—र^{२})$ अत्र राश्योर्योगान्तरे वर्गौ भवतस्तेनाऽऽलापद्वयं घटते। अनयोर्घातः $४ इ^{४} (य^{४}—र^{४})=४ इ^{४}. य^{४}—४ इ^{४}. र^{४}$ रूपयुतः $४ इ^{४}. य^{४}—४ इ^{४}. र^{४}+१$ तदा वर्गः स्यात् । तेनाऽऽद्यन्तयोर्मूलयोः $—२ इ^{२}. य^{२}—१$ द्विघ्नघातं$—४ इ^{२}. य^{२}$ मध्यपदसमं कृत्वा जातौ पक्षौ$—४ इ^{२}. य^{२} = —४ इ^{४} . र^{४}$ पक्षौ $र^{४}$ भक्तौ तदा $— \frac{४ इ^{२}. य^{२}}{र^{४}} = — ४ इ^{४} =$

$-\frac{२ इ^{२}. २ य^{२}}{र^{४}}$ पक्षौ — २ इ² भक्तौ तदा $२ इ^{२} = \frac{२ य^{२}}{र^{४}} = \left\{\frac{(य^{२}+र^{२})+(य^{२}-र^{२})}{\frac{(य^{२}+र^{२})-(य^{२}-र^{२})}{२}}\right\}^{२}$ एतावता सर्वमुपपन्नमाचार्योक्तमिति ॥ ७२ ॥

अब प्रश्नान्तर विशेष का उत्तर कहते हैं।

हि. भा.—जिन दो राशियों का योग और अन्तर करने से वर्ग होता है, तथा घात में एक जोड़ने से वर्ग होता है वहां दोनों राशियों के आनयन के लिए कोई इष्टवर्ग कल्पना करनी चाहिए। उसमें अन्य इष्टवर्ग को युत और हीन करना चाहिए। इस तरह जो राशि-द्वय होता है उनके योग में उन्हीं के अन्तरार्ध वर्ग से भाग देने से जो फल हो उससे पूर्व साधित राशिद्वय को गुणा करने से अभीप्सित राशिद्वय होता है इति ॥

उपपत्ति।

कल्पना करते हैं राशिद्वय $२ इ^{२} (य^{२}+र^{२})$, $२ इ^{२} (य^{२}-र^{२})$ यहां इन दोनों राशियों का योग और अन्तर वर्ग होता है इसलिए दो आलाप घटित होते हैं। दोनों के घात में रूप जोड़ने से $४ इ^{४} (य^{४}-र^{४})+१ = ४ इ^{४}. य^{४} - ४ इ^{४} - र^{४}+१$ वर्ग होता है इसलिए प्रथम खण्ड और अन्तिम खण्ड के मूल $(-२ इ^{२}. य^{२}-१)$ के द्विगुणित घात $(-४ इ^{२}. य^{२})$ को मध्य पद के समान करने से $-४ इ^{२}. य^{२} = -४ इ^{४}. र^{४}$ दोनों पक्षों को र⁴ से भाग देने से $-\frac{४ इ^{२}. य^{२}}{र^{४}} = -४ इ^{४} = -\frac{२ इ^{२}. २ य^{२}}{र^{४}}$ पुनः दोनों पक्षों को $-२ इ^{२}$ इससे भाग देने से $२ इ^{२} = \frac{२ य^{२}}{र^{४}} = \left\{\frac{(य^{२}+र^{२})+(य^{२}-र^{२})}{\frac{(य^{२}+र^{२})-(य^{२}-र^{२})}{२}}\right\}^{२}$

इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ इति ॥ ७२ ॥

इदानीं पुनः प्रश्नान्तरविशेषस्योत्तरमाह।

यैरूनो यैश्च युतो रूपैर्वर्गस्तदैक्यमिष्टहृतम्।
इष्टोनं तद्दलकृतिरूनाऽभ्यधिका भवति राशिः ॥ ७३ ॥

सु. भा.—को राशिरेतावद्भी रूपैर्युतस्तथैतावद्भी रूपैरूनश्च वर्गो भवतीति प्रश्नोत्तरार्थं यै रूपैरूनो यैर्युतश्च वर्गो भवति तेषामैक्यं केनचिदिष्टेन हृतं

फलमिष्टोनं कार्यम् । तस्य शेषस्य दलस्यार्धीकृतस्य कृतिरूनाऽभ्यधिका । यै रूपै-रूनो राशिर्वर्गो भवति तान्यूनरूपाणि तैरूनैरभ्यधिका राशिर्भवतीत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । कल्प्यते राशिमानम्=या १ । अत्र अ-रूपैर्युतः क-रूपैरूनश्च वर्गो भवतीति प्रश्नालापेन—$का^2=या+अ$, $नी^2=या-क$,

$$\therefore का^2-नी^2=अ+क$$ । अथ कल्प्यते का—नी=इ ।

$$\therefore का+नी=\frac{अ+क}{इ}$$, ततः सङ्क्रमणेन $नी=\frac{1}{2}\left\{\left(\frac{अ+क}{इ}\right)-इ\right\}$

$$अतः\ नी^2=\left[\frac{1}{2}\left\{\left(\frac{अ+क}{इ}\right)-इ\right\}\right]^2=या-क$$

$$ततः\ या=\left[\frac{1}{2}\left\{\left(\frac{अ+क}{इ}\right)-इ\right\}\right]^2+क$$

अत उपपद्यते यथोक्तम् ॥ ७३ ॥

वि. भा.—को राशी रूपैर्युतोऽन्यरूपैर्हीनश्च वर्गो भवति तदैक्यं केनचिदिष्टेन भक्तं लब्धमिष्टेन हीनं शेषस्यास्यार्धीकृतस्य कृतिर्हीनाऽभ्यधिकाऽर्थात् यैरूपैर्हीनो राशिवर्गो भवति तानि हीनरूपाणि तैर्हीनैरभ्यधिका राशिर्भवतीति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

कल्प्यते राशिः=य । अत्र ग रूपैर्युतो मरूपैर्हीनश्च वर्गो भवतीति प्रश्नालापेन $क^2=य+ग$, $न^2=य—म$ । अतः $क^2—न^2=ग+म$, अत्र यदि क—न=इ तदा वर्गान्तरं राशिवियोभक्तमित्यादिना $क+न=\frac{ग+म}{इ}$ ततः संक्रमणेन न=

$$\left\{\frac{\left(\frac{ग+म}{इ}\right)-इ}{2}\right\}$$ ततः $\left\{\frac{\left(\frac{ग+म}{इ}\right)-इ}{2}\right\}^2=य-म$ पक्षौ मयुतौ तदा

$$\left\{\frac{\left(\frac{ग+म}{इ}\right)-इ}{2}\right\}^2+म=य$$ एतेनोपपन्नमाचार्योक्तमिति ॥ ७३ ॥

अब पुनः प्रश्नान्तरविशेष का उत्तर कहते हैं ।

हि. भा.—कौन राशि है जिसमें रूप जोड़ने तथा अन्य रूप को हीन करने से वर्ग होता है उन दोनों वर्गाङ्कों के योग को किसी इष्ट से भाग देने से जो फल होता है उसमें

से इष्ट को घटाने से जो शेष रहता है उसके आधे का वर्ग हीन रूप है उसको जोड़ने से राशि प्रमाण होता है इति ।

उपपत्ति ।

कल्पना करते हैं राशिप्रमाण=य । इसमें ग रूप को जोड़ने से वर्ग होता है, तथा म रूप को घटाने से वर्ग होता है इस प्रश्नालाप से $क^2=य+ग$ । $न^2=य-म$, अतः $क^2-न^2=ग+म$, यदि $क-न=इ$ तब वर्गान्तरं राशिवियोगभक्तं इत्यादि भास्करोक्ति से $क+न=\frac{ग+म}{इ}$ अतः संक्रमण से $\frac{1}{2}\left\{\left(\frac{ग+म}{इ}\right)-इ\right\}=न$ वर्ग करने से

$\left[\frac{1}{2}\left\{\left(\frac{ग+म}{इ}\right)-इ\right\}\right]^2=य-म$ दोनों पक्षों में म जोड़ने से

$\left[\frac{1}{2}\left\{\left(\frac{ग+म}{इ}\right)-इ\right\}\right]^2+म=य$ इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ ।। ७३ ।।

इदानीं प्रश्नान्तरस्योत्तरमाह ।

याभ्यां कृतिरधिकोनस्तदन्तरं हृतयुतोनमिष्टेन ।
तद्दलकृतिरधिकोनाऽधिकयोरधिकोनयो राशिः ।। ७४ ।।

सु. भा.—को राशिरुद्दिष्टराशिभ्यां युक्तः कृतिर्भवति । वा को राशिरुद्दिष्ट-राशिभ्यामूनः कृतिर्भवतीति प्रश्ने याभ्यामुद्दिष्टाभ्यामधिको वोनः कृतिर्भवति तदन्तरमिष्टेन हृतं योगप्रश्न इष्टेनैव युतमूनप्रश्न इष्टेनैवोनं कार्यम् । यन्निष्पन्नं तद्दलस्य कृतिरधिकोद्दिष्टराशिना कार्या अधिकयोरुद्दिष्टराश्योः । उद्दिष्टराश्यो-रूनयोश्चाधिका कार्या । एवं राशिर्भवति ।

अत्रोपपत्तिः । कल्प्यते राशिमानम्=या । यश्च अ—क—राशिभ्यां युतो मूलदः । तथा अ>क तदा प्रश्नानुसारेण—

$$\left.\begin{aligned} &का^2=या+अ \\ &नी^2=य+क \\ &का^2-नी^2=अ-क \\ &का-नी=इ \\ &\therefore का+नी=\frac{अ-क}{इ}=ल \end{aligned}\right\}\quad \begin{aligned} &\text{सङ्क्रमणेन} \\ &का=\frac{ल+इ}{2} \\ &\text{ततः } या=का^2-अ \end{aligned}$$

एवमून प्रश्ने

$का^2 = या - अ$

$नी^2 = या - क$

$नी^2 - का^2 = अ - क$

$नी - का = इ$

$\therefore नी + का = \frac{अ - क}{इ} = ल$

सङ्क्रमणेन $का = \frac{ल - इ}{२}$

ततः या

अत उपपद्यते ॥ ७४ ॥

वि. भा.—स को राशिर्य उद्दिष्टराशिभ्यां युक्तो हीनो वा कृति (वर्गः) र्भवति, अत्र याभ्यामुद्दिष्टराशिभ्यां युक्तो हीनो वा वर्गो भवति तदन्तरमिष्टेन भक्तं योग-प्रश्ने इष्टेनयुतं, हीनप्रश्ने इष्टेन हीनं विधेयम् तदा यद् भवति तदर्धस्य वर्गोऽधिको-द्दिष्टराशिना हीनः कार्यः,—अधिकयोरुद्दिष्टराश्योः । उद्दिष्टराश्योरल्पयोरधिकः (युक्तः) कार्यः, तदा राशिर्भवति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

कल्प्यते राशिः $= य$, यो हि न, म उद्दिष्टराशिभ्यां युतो वर्गः स्यात् । अत्र न $>$ म तदा प्रश्नानुसारेण $य + न = क^2$, $य + म = व^2$ ततः $क^2 - व^2 = न - म$ अत्र यदि $क - व = इ$ तदा वर्गान्तरं राशिवियोगभक्तमित्यादिना $\frac{न - म}{इ} = \frac{क^2 - व^2}{इ} = क + व = र$ तदा संक्रमणेन $\frac{र + इ}{२} = क$, अतः $य = क^2 - न$ तथा राशिरुद्दिष्टाभ्यां हीनो वर्गो भवतीति प्रश्ने $क^2 = य - न$ । $य - म = व^2$ ततः $व^2 - क^2 = न - म$ अत्र यदि $व - क = इ$ तदा $\frac{व^2 - क^2}{व - क} = व + क = \frac{न - म}{इ} = र$ ततः संक्रमणेन $\frac{र - इ}{२} = क$ $\therefore य = क^2 + न$ अत आचार्योक्तमुपपन्नम् ॥७४॥

अब पुनः प्रश्नान्तर का उत्तर कहते हैं।

हि. भा.—कौन राशि है जिसमें उद्दिष्ट राशिद्वय को जोड़ने से वा घटाने से वर्ग होता है, यहां जिन उदिष्टराशिद्वय को जोड़ने वा घटाने से वर्ग होता है उन दोनों उद्दिष्ट राशियों के अन्तर को इष्ट से भाग देने से जो लब्धि हो उसमें इष्ट को जोड़ना योग प्रश्न में। हीन प्रश्न में इष्ट को हीन करना तब जो हो उसके आधे के वर्ग में अधिक उद्दिष्टराशि को घटाना चाहिए, अल्प उद्दिष्टराशि को जोड़ना चाहिए तब राशि प्रमाण होता है इति ।

उपपत्ति ।

कल्पना करते हैं राशि=य, इसमें उद्दिष्टराशिद्वय को जोड़ने से वर्ग होता है, न, म उद्दिष्टराशिद्वय है, तथा न>म तब प्रश्न के अनुसार $य+न=क^2$

$$य+म=व^2$$

अतः $क^2-व^2=न-म$, यदि $क-व=इ$ तब $\frac{क^2-व^2}{इ}=\frac{न-म}{इ}=क+व=र$, तब संक्रमण से $\frac{र+इ}{2}=क$ $\therefore$ $य=क^2-न$, हीन प्रश्न में $य-न=क^2$, $य-म=व^2$

$\therefore$ $व^2-क^2=न-म$ । यदि $व-क=इ$ तब $\frac{व^2-क^2}{इ}=\frac{न-म}{इ}=व+क=र$,

$\therefore$ संक्रमण से $\frac{र-इ}{2}=क$ $\therefore$ $य=क^2+न$ इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ इति ॥ ७४ ॥

इति वर्गप्रकृतिः ।

उदाहरणानि

तत्र प्रथमं वर्गप्रकृत्युदाहरणम् ।

राशिकलाशेषकृतिं द्विनवतिगुणितां त्र्यशीतिगुणितां वा ।
सैकां ज्ञदिने वर्गं कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ॥७५॥

सु. भा.—राषिशेषकृतिं द्विनवति—९२ गुणितां सैकां वा कलाशेषकृतिं त्र्यशीति–८३ गुणितां सैकां बुधदिने आवत्सराद्वर्गं कुर्वन्नपि स गणकोऽस्तीत्यहं मन्ये ।

प्रथमप्रश्ने प्र ९२ क्षे १ ततो वर्गप्रकृतिसूत्रतः ।

क १ ज्ये १० क्षे ८
क १ ज्ये १० क्षे ८
भावनया, क २० ज्ये १९२ क्षे ६४
क $\frac{5}{2}$ ज्ये २४ क्षे १
क $\frac{5}{2}$ ज्ये २४ क्षे
भावनया, क १२० ज्ये ११५१ क्षे १

अतो राशिशेषम्=१२० । एवं भावनया बहुधा राशिशेषं स्यादतः कुट्टक विधिनाऽभीष्टाहेऽर्हगणः स्यात् ।

द्वितीय प्रश्ने गु ८३ क्षे १
ततः क १ ज्ये ९ क्षे २
क १ ज्ये ९ क्षे २
क १८ ज्ये १६४ क्षे ४
क ९ ज्ये ८२ क्षे १
भावनया कनिष्ठज्येष्ठयोरानन्त्यम् ।

ततः कलाशेषम् = ९ । कलाशेषात् कुट्टकविधिनाऽभीष्टदिनेऽहर्गणः स्यात् ॥ ७५ ॥

वि. भा.— राशिशेषवर्गं द्विनवति (९२) गुणितं सैकं वा कलाशेषवर्गं त्र्यशीतिगुणितं सैकं बुधदिने वर्षपर्यन्तं वर्गं कुर्वन् स गणकोऽस्तीति ॥

प्रथमप्रश्ने प्रकृतिः=९२, क्षेपः=१, तदा 'इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः प्रकृत्या क्षुण्ण' इत्यादि भास्करोक्तसूत्रेण कनिष्ठम्=क=१, ज्येष्ठम्=ज्ये=१०, क्षेपः=क्षे=८

ततो भावनार्थं न्यासः क=१, ज्ये=१०, क्षे=८
क=१, ज्ये=१०, क्षे=८

वज्राभ्यासौ ज्येष्ठलघ्वोस्तदैक्यमित्यादि भास्करोक्त्या कनिष्ठम्=२०, ज्येष्ठम्=१९२, क्षे=६४, तत इष्टवर्गहृतः क्षेप इत्यादिनेष्टं=८ प्रकल्प्य जाताः कनिष्ठज्येष्ठक्षेपाः, कनिष्ठम्=$\frac{५}{२}$, ज्येष्ठम्=२४, क्षेपः=१, भावनार्थं न्यासः क=$\frac{५}{२}$, ज्ये=२४, क्षे=१
क=$\frac{५}{२}$, ज्ये=२४, क्षे=१ ततः समासभावनया क=१२०, ज्ये=११५१, क्षे=१,

अतो राशिशेषमानम्=१२०, भावनया राशिशेषमानमनेकधा भवति। ततः कुट्टकेनेष्टदिनेऽहर्गणः स्यादिति। द्वितीयप्रश्ने प्रकृतिः=८३, क्षेपः=१, 'तदेष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गं' इत्यादि भास्करोक्त्या कनिष्ठज्येष्ठक्षेपाः=क=१, ज्ये=९, क्षे=—२, भावनार्थं न्यासः क=१, ज्ये=९, क्षे=—२
क=१, ज्ये=९, क्षे=—२ ततः समासभावनया

कनिष्ठज्येष्ठ क्षेपाः क=१८, ज्ये=१६४, क्षे=४ अत्रेष्टं=२ प्रकल्प्य 'इष्टवर्गहृतः क्षेप' इत्यादिना रूपक्षेपे कनिष्ठज्येष्ठक्षेपाः क=९, ज्ये=८२, क्षे=१ एवं भावनयाऽनेकधा कनिष्ठज्येष्ठे भवतः। अतः कलाशेषमानम्=९, ततः कुट्टकेनेष्टदिनेऽहर्गणो भवेदिति ॥७५॥

अब उदाहरणों को कहते हैं।

पहले वर्ग प्रकृति के उदाहरण कहते हैं।

हि. भा.—राशिशेषवर्ग को ९२ से गुणा कर एक जोड़ने से जो होता है उसको वा कला शेष वर्ग को तिरासी ८३ से गुणाकर एक जोड़ने से जो होता है उसके वर्ग को बुधदिन में वर्ष पर्यन्त करते हुए व्यक्ति गणक हैं इति ॥७५॥

प्रथमप्रश्न में प्रकृति=९२, क्षेप=१, तब 'इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः प्रकृत्या क्षुण्णः' इत्यादि भास्करोक्त सूत्र से कनिष्ठ क=१, ज्येष्ठ=ज्ये=१०, क्षेप=क्षे=८ अब भावना के लिय न्यास करते हैं क=१, ज्ये=१०, क्षे=८
क=१, ज्ये=१०, क्षे=८

'वज्राभ्यासौ ज्येष्ठलघ्वोस्तदैक्यं' इत्यादि भास्करोक्त सूत्र से क=२०, ज्ये=१९२, क्षे=६४, अब इष्ट=८ कल्पना कर 'इष्टवर्ग हृतः क्षेपः' इत्यादि भास्करोक्त सूत्र से क=$\frac{५}{२}$, ज्ये=२४, क्षे=१, पुनः भावना के लिये न्यास क=$\frac{५}{२}$, ज्ये=२४, क्षे=१
क=$\frac{५}{२}$, ज्ये=२४, क्षे=१

समास भावना से क=१२०, ज्ये=११५१, क्षे=१, अतः राशि शेष मान=१२०, भावना से राशि शेष अनेकधा होता है। तब कुट्टक विधि से अभीष्ट दिन में अहर्गण सुगमता ही से होता है। द्वितीय प्रश्न में प्रकृति=८३, क्षेप=१, तब 'इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः' इत्यादि

से क=१, ज्ये=६, क्षे=—२। भावना के लिये न्यास क=१, ज्ये=६, क्षे=—२
क=१, ज्ये=६, क्षे=—२ समास

भावना से क=१८, ज्ये=१६४, क्षे=४, अब इष्ट=२ कल्पना कर 'इष्टवर्गहृतः क्षेपः' इत्यादि से क=६, ज्ये=८२, क्षे=१ एवं भावना से कनिष्ठ और ज्येष्ठ का आनन्त्य होता है। अतः कलाशेष=६ तब कुट्टक विधि से अभीष्ट दिन में सुगमता ही से अहर्गण होगा इति ॥७५॥

इदानीमन्यप्रश्नद्वयमाह।

सूर्यविलिप्ताशेषं पञ्चभिरूनाहतं तथा दशभिः।
वर्गं बृहस्पतिदिने कुर्वन्ना वत्सराद् गणकः ॥७६॥

सु. भा.—सूर्यविलिप्ताशेषं पञ्चभिरूनं पञ्चाहतं च बृहस्पतिदिने वर्गो भवति। वा विलिप्ताशेषं तथैव दशभिरूनं दशभिराहतं च वर्गो भवतीति प्रश्नमावत्सरात् कुर्वन्नपि स गणकोऽस्तीति।

प्रथमप्रश्ने विलिप्ताशेषम्=या।

ततः प्रश्नानुसारेण ५ या—२५ अयं वर्ग इष्टवर्गेण समः कृतः।

ततः ५ या—२५=इ^{2} $\therefore$ या $=\frac{\text{इ}^{2}+२५}{५}$।

यदि इ=५ तदा या=१०।

एवं द्वितीयप्रश्ने १० या — १००=इ^{2} $\therefore$ या$=\frac{\text{इ}^{2}+१००}{१०}$।

यदि इ=१० तदा या=२०। विलिप्ताशेषात् कुट्टकेनाहर्गणानयनं सुगमम् ॥ ७६ ॥

वि. भा.—सूर्यविलिप्ताशेषं पञ्चभिर्हीनं पञ्चभिर्गुणितं च बृहस्पतिदिने वर्गो भवति, वा विलिप्ताशेषं दशभिर्हीनं दशभिर्गुणितं च वर्गो भवतीति प्रश्नोत्तर मावत्सरात कुर्वन् स गणकोऽस्तीति ॥

प्रथमप्रश्ने कल्प्यते विलिप्ताशेषम्=य, तदाऽऽलापानुसारेण ५ (य—५) इष्टवर्गेण समोऽयं वर्गः कृतः ५ (य—५)=इ^{2}=५ य—२५ समयोजनेन ५ य=इ^{2} +२५ पक्षौ पञ्चभिर्भक्तौ तदा य$=\frac{\text{इ}^{2}+२५}{५}$, अत्र यदि इ=५ तदा $\frac{२५+२५}{५}$ $=$य$=\frac{५०}{५}=$१०। अस्मादहर्गणज्ञानं सुगमम्। द्वितीयप्रश्ने आलापानुसारेण १० (य—१०) अयं वर्ग इष्टवर्गेण समः कृतः १० (य—१०)=इ^{2}=१०य · १००

$=$ इ^2 समयोजनेन १० य$=$इ$^2+$१०० अतः य$=\frac{\text{इ}^2+१००}{१०}$ अत्र यदि इ$=$१० तदा य$=\frac{१००+१००}{१०}=\frac{२००}{१०}=$ २०, विलिप्ताशेषाऽत्कुट्टकविधिनाऽहर्गणज्ञानं सुखेन भवेदिति ।।७६।।

अब अन्य दो प्रश्नों को कहते हैं ।

हि. भा.—सूर्य के विलिप्ता शेष में से पांच घटा कर पांच से गुणा करने से बृहस्पति दिन में वर्ग होता है । वा उसी तरह विलिप्ता शेष में से दस घटा कर दस से गुणा करने से बृहस्पति दिन में वर्ग होता है इन प्रश्नों के उत्तर एक वर्ष तक करते हुए व्यक्ति गणक हैं इति ।

प्रथम प्रश्न में कल्पना करते हैं विलिप्ता शेष मान$=$य । तब प्रश्न के आलापानुसार ५ (य—५) यह वर्ग है, इसको इष्ट वर्ग के बराबर करने से ५ (य—५)$=$५ य—२५$=$इ^2, दोनों पक्षों में २५ जोड़ने से ५ य$=$इ$^2+$२५ अतः य$=\frac{\text{इ}^2+२५}{५}$, यहां यदि इ$=$५ तब य$=\frac{२५+२५}{५}=\frac{५०}{५}=$१० इससे कुट्टक विधि से अहर्गणानयन सुगम है । इसी तरह द्वितीय प्रश्न में विलिप्ता शेष मान$=$ य, तब प्रश्न के आलापानुसार १० (य—१०)$=$इ^2 $=$१० य—१००, दोनों पक्षों में १०० जोड़ने से १० य$=$इ$^2+$१०० $\therefore$ य$=\frac{\text{इ}^2+१००}{२}$ यदि इ$=$१० तब य$=\frac{१००+१००}{१०}=\frac{२००}{१०}=$२० इससे कुट्टक विधि से अहर्गण ज्ञान सुगम है इति ।।७६।।

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह ।

भगणादिशेषवर्गं त्रिभिर्गुणं संयुतं शतैर्नवभिः ।
कृतिमष्टशतोनं वा कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ।।७७।।

सु. भा.—भगणादीनां भगण-राशि-कला-विकलानां शेषवर्गं त्रिभिर्गुणं नवभिः शतैः संयुतं चाऽष्टशतोनं वर्गमावत्सरात् कुवन्नंपि स गणकोऽस्तीति ।

अत्र भगणादिशेषमानम्$=$या ।

ततः प्रश्नालापेन प्रथमप्रश्ने ३ या$^2+$९०० अयं वर्गः । अतः ७० सूत्रेण—

क १ ज्ये २ क्षे १
क ३० ज्ये ६० क्षे ९००
भावनया कनिष्ठज्येष्ठयोरानन्त्यम् ।
अतो भगरणादिशेषमानम् = ३० । द्वितीयप्रश्नेऽप्येवम् ।
३ या^{२}—८०० अयं वर्गः ।

अतः क १ ज्ये १ क्षे २
क २० ज्ये २० क्षे ८००
रूपक्षेपपदाभ्यां भावनयाऽत्रापि पदयोरानन्त्यम् ।
अतो भगरणादिशेषम् = २० ॥ ७७ ॥

वि. भा.—भगरणादि (भगरण-राशि-अंश-कला-विकला) शेषवर्गं त्रिभिर्गुणं नवभिः शतैः संयुतं वाऽष्टशतोनं वर्गः स्यादित्यावत्सरात् कुर्वन् स गणकोऽस्तीति ॥

प्रथमप्रश्ने कल्प्यते भगरणादिशेषप्रमाणम् = य, तदाऽऽलापेन ३ य^{२} + ९०० अयं वर्गः । अत्र प्रकृतिः = ३ कल्प्यते कनिष्ठम् = १, तदा ज्येष्ठम् = २, क्षे = १, तदा क्षुण्णः क्षुण्णे तदा पदे इत्यादिनेष्टम् = ३० प्रकल्प्य जाताः कनिष्ठज्येष्ठक्षेपाः क = ३०, ज्ये = ६०, क्षे = ९०० अत्र भावनया कनिष्ठज्येष्ठयोरानन्त्यम् । ततो भगरणादिशेषमानम् = ३० ।

द्वितीयप्रश्ने आलापानुसारेण ३ य^{२}—८०० अयं वर्गः । अत्र प्रकृति = ३, क्षेपः = —८०० कल्प्यते कनिष्ठम् = १, तदा ज्येष्ठम् = १, क्षेपः = —२ अत्रापि 'क्षेपः क्षुण्णः क्षुण्णे तदा पदे, इत्यादिना इष्टम् = २० प्रकल्प्य जाताः कनिष्ठज्येष्ठक्षेपाः क = २०, ज्ये = २०, क्षे = —८०० रूपक्षेपीयकनिष्ठज्येष्ठाभ्यां तयो (कनिष्ठ-ज्येष्ठयोः) रानन्त्यम् । ततो भगरणादिशेषमानम् = २० ॥७७॥

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं ।

हि. भा.—भगरणादि (भगरण-राशि-अंश-कला-विकला) शेष वर्ग को तीन से गुणा कर नौ सौ जोड़ने से वर्ग होता है वा आठ सौ को घटाने से वर्ग होता है इसको एक वर्ष पर्यन्त करते हुए व्यक्ति गणक है । यहां भगरणादिशेष प्रमाण = य, है । तब प्रथम प्रश्न के आलापानुसार ३ य^{२} + ९०० यह वर्ग है । यहां प्रकृति = ३, है तब 'इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः प्रकृत्या क्षुण्णः' इत्यादि से क = १, ज्ये = २, क्षे = १ 'क्षुण्णः क्षुण्णे तदा पदे' इस भास्करोक्ति से इष्ट = ३० कल्पना करने से क = ३०, ज्ये = ६०, क्षे = ९०० यहां भावना से कनिष्ठ और ज्येष्ठ अनन्त होता है । अतः भगरणादि शेष = ३० ।

द्वितीय प्रश्न में प्रश्न के आलापानुसार ३ य^{२}—८०० यह वर्ग है, अतः क=१, ज्ये=१, क्षे=—२ । यहां भी 'क्षुण्णः क्षुण्णे तदा पदे' इस भास्करोक्ति से इष्ट=२० कल्पना करने से क=२०, ज्ये=२०, क्षे=—८००, यहां भी रूप क्षेपीय पदों से भावना द्वारा कनिष्ठ और ज्येष्ठ अनन्त होगा, इसलिये भगणादि शेष=२० इति ।।७७।।

इदानीमन्यं प्रश्नद्वयमाह ।

भगणादिशेषवर्गं चतुर्गुणं पञ्चषष्टिसंयुक्तम् ।
षष्ट्यूनं वा वर्गं कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ।।७८।।

सु. *भा.*—स्पष्टार्थम् । प्रथमप्रश्ने भगणादिशेषमानम् =या । ततः प्रश्नानुसारेण ४ या^{२}+६५ अयं वर्गः ।

अत्र ६९ सूत्रतः । इष्टम्=५ । $\frac{६५}{५}$=१३ ।

१३—५, ८ । $\frac{८}{२}$= ४ । $\sqrt{\frac{४}{४}}$=२ । अतो भगणादिशेषम्=२ रूपक्षेपपदाभ्यां भावनयाऽऽनन्त्यम् ।

द्वितीयप्रश्नेऽप्येवं ४ या^{२}—६० अयं वर्गः ।

अत्रेष्टम्=२ । $\frac{६०}{२}$=३० । ३०+२=३२ । $\frac{३२}{२}$=१६ ।

$\sqrt{\frac{१६^{२}}{४}}$=८ । अतोऽत्र भगणादिशेषम्=८ । एवं बुद्धिमता ऋणक्षेपे गुणके वर्गे चाधिकसंख्यातः कनिष्ठानयनं कार्यमिति ।। ७८ ।।

वि. भा.—भगणादीनां (भगण-राशि-भाग-कला-विकलानां) शेषवर्गं चतुर्गुणं पञ्चषष्ट्या युतं वर्गो भवति वा षष्ट्या हीनं वर्गो भवतीति-आवत्सरात् कुर्वन् स गणकोऽस्तीति ।

प्रथमप्रश्ने कल्प्यते भगणादिशेषप्रमाणम्=य, तदा प्रश्नालापानुसारेण ४य^{२}+६५ अयं वर्गः स्यात् । अत्र प्रकृतिः=४, क्षेपः=६५, वर्गात्मकप्रकृतौ कनिष्ठज्येष्ठयोरानयनार्थं 'इष्टभक्तो द्विधाक्षेप' इत्यादि भास्करोक्तसूत्रेणेष्टं =५ कल्पनेन जातं कनिष्ठम्=२, रूपक्षेपीयकनिष्ठज्येष्ठाभ्यां भावनया ऽऽनन्त्यम्, ततो भगणादिशेषमानम्=२ । द्वितीयप्रश्ने प्रश्नालापानुसारेण ४य^{२} – ६० अयं वर्गः स्यात् । अत्रापि 'इष्ट भक्तो द्विधाक्षेप' इत्यादि भास्करोक्त्या कनिष्ठम्=८, अतो भगणादिशेष मानम्=८ एवं वर्गात्मकप्रकृतौऋणक्षेपेऽधिकसंख्यातः कनिष्ठज्ञानं कार्यमिति ।।७८।।

अब अन्य दो प्रश्नों को कहते हैं ।

हि. भा.—भगणादि शेष वर्ग को चार से गुणा कर पैंसठ जोड़ने से वर्ग होता है,

वा साठ घटाने से वर्ग होता है इसको करते हुए व्यक्ति गणक हैं । प्रथम प्रश्न में कल्पना करते हैं भगणादि शेषमान=य, तब प्रश्न के आलापानुसार ४य^{२}+६५ यह वर्ग है, यहां वर्गात्मक प्रकृति=४ है, क्षेप=६५ तब 'इष्टभक्तो द्विधाक्षेपः' इस भास्करोक्त सूत्र से इष्ट =५ कल्पना करने से कनिष्ठ=२, रूपक्षेपीय कनिष्ठ और ज्येष्ठ से भावना द्वारा कनिष्ठ और ज्येष्ठ अनन्त होता है, इसनिये भगणादिशेषमान=२ हुआ । द्वितीय प्रश्न में प्रश्न के आलापानुसार ४ य^{२}—६० यह वर्ग है यहां भी 'इष्टभक्तो द्विधाक्षेपः' इत्यादि भास्करोक्त सूत्र से कनिष्ठ=८, अतः भगणादिशेषमान =८ हुआ । एवं वर्गात्मक प्रकृति में और ऋण-क्षेप में अधिक संख्या से कनिष्ठानयन करना चाहिये इति ।।७८।।

इदानीमन्यं प्रश्नमाह ।

इष्टभगणादिशेषं द्विनवत्यूनं त्र्यशीतिसङ्गुणितम् ।
रूपेण युतं वर्गं कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ।।७९।।

सु. भा.—इष्टभगणादिशेषं द्विनवतिभि ९२ रूनं कार्यं शेषं त्र्यशीति ८३ संगुणितं रूपेण युतं च वर्गमावत्सरात् कुर्वन्नपि स गणकोऽस्तीति । इष्टभगणादिशेषमानम्=या । ततः प्रश्नालापेन—

$$८३\ (\text{या}—९२)+१=८३\ \text{या}—८३\times९२+१$$

$$=८३\ \text{या}—७६३६+१=८३\ \text{या}—७६३५=\text{इ}^{२}\ \therefore\ \text{या}=\frac{\text{इ}^{२}+७६३५}{८३}$$

अत्र यदि इ=१ तदा या=९२ इदमेव भगणादिशेषमानम् ।। ७९ ।।

वि. भा.—इष्ट भगणादिशेषं द्विनवत्या ९२ हीनं शेषं त्र्यशीति ८३ गुणित-मेकेन युतं वर्गः स्यादित्यावत्सरात् कुर्वन् स गणकोऽस्तीति । कल्प्यते इष्टभग-णादिशेषप्रमाणम्=य, तदाऽऽलापानुसारेण ८३ (य—९२) + १ = ८३ य—८३×९२+१=८३य—७६३६+१=८३य—७६३५ अयं वर्गः स्यात् कल्प्यते ८३य—७६३५=इ^{२} पक्षौ ७६३५ युतौ तदा ८३य=इ^{२}+७६३५ पक्षौ ८३ भक्तौ तदा $\frac{\text{इ}^{२}+७३३५}{८३}$ =य, अत्र यदि इष्टम्=१ तदा य= $\frac{७६३६}{८३}$=९२ इत्येव भगणादिशेषप्रमाणम् ।।७९।।

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा.—इष्ट भगणादिशेष में ९२ घटाने से जो शेष रहता है उसको ८३ से गुणाकर एक जोड़ने से वर्ग होता है इसको करते हुए व्यक्ति गणक है । यहां कल्पना करते हैं भगणादिशेषमान=य, तब प्रश्न के आलापानुसार ८३ (य—९२)+१=८३य—७६३६

$+$ १ $=$ ८३य — ७६३५ यह वर्ग है, कल्पना करते हैं ८३य — ७६३५ $=$ इ^२, दोनों पक्षों में ७६३५ जोड़ने से ८३य $=$ इ^२ $+$ ७६३५, दोनों पक्षों को ८३ से भाग देने से $\frac{\text{इ}^२ + ७६३५}{८३}$ $=$ य, यहाँ यदि इ $=$ १ तब $\frac{१ + ७६३५}{८३} = \frac{७६३६}{८३} =$ ९२ $=$ य यही भगणादिशेषमान हुआ इति ॥७९॥

इदानीं प्रश्नद्वयमाह ।

अधिमासशेषवर्गं त्रयोदशगुणं त्रिभिः शतैर्युक्तम् ।
त्रिघनोनं वा वर्गं कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ॥८०॥

सु. भा.—त्रिघनेन सप्तविंशत्योनम् । शेषं स्पष्टार्थम् ।

अत्राधिमासशेषमानम् $=$ या । ततः प्रश्नालापेन

प्रथमे प्रश्ने १३ या^{२} $+$ ३०० । अयं वर्गः ।

अत्र वर्गप्रकृत्या, क १ ज्ये ४ क्षे ३
क १० ज्ये ४० क्षे ३००

अत्र रूपक्षेपपदाभ्यां भावनयाऽऽनन्त्यं कार्यम् । अत्र कनिष्ठ—१० मधिमास शेषमानम् ।

अत्र यदि क १ ज्ये ३ क्षे ४ । ततः ६८ सूत्रेण ।

$$\text{रूपक्षेपे कनिष्ठम्} = \frac{\text{क. ज्ये (ज्ये}^२ + १)(\text{ज्ये}^२ + ३)}{२} =$$

$$= \frac{१ \times ३ \, (३^२ + १)\,(३^२ + ३)}{२} = \frac{३ \times १० \times १२}{२} = १८०$$

$$\text{ज्येष्ठम्} = \left\{ \text{ज्ये}^२ + २ \right\} \left\{ \frac{(\text{ज्ये}^२ + ३)(\text{ज्ये}^२ + १)}{२} - १ \right\}$$

$$= \left\{ ३^२ + २ \right\} \left\{ \frac{(३^२ + ३)\,(३^२ + १)}{२} - १ \right\}$$

$$= ११ \times ५९ = ६४९ ।$$

एवं रूपक्षेपे पदे प्रसाध्य भावनयाऽऽनन्त्यं कार्यम् । द्वितीयप्रश्नेप्येवम्

१३ या^{२} — २७ अयं वर्गः ।

अतः क १ ज्ये ४ क्षे ३
क १ ज्ये २ क्षे ९

भावनया, क ६ ज्ये २१ क्षे २७

अत्रापि रूपक्षेप पदाभ्यां भावनयाऽऽनन्त्यं कार्यम् ।

अत्राधिशेषमानं व्यक्तम् $=$ ६ ॥ ८० ॥

वि. भा.—स्पष्टार्थम्। त्रिघनेन सप्तविंशत्या हीनम्। कल्प्यतेऽधिमासशेषप्रमाणम्=य, तदा प्रथम प्रश्नें प्रश्नोत्तचा १३ य^{२}+३०० अयं वर्गः स्यात्। अत्र प्रकृतिः=१३, क्षेपः=३००, इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः प्रकृत्येत्यादिना क=१, ज्ये=४, क्षे=३ ततः 'क्षुण्णः क्षुण्णे तदा पदे' इति भास्करोत्तचेष्टम्=१० प्रकल्प्य जाताः कनिष्ठज्येष्ठक्षेपाः क=१०, ज्ये=४०, क्षे=३०० रूपक्षेपीय कनिष्ठ ज्येष्ठाभ्यां भावनया कनिष्ठज्येष्ठयोरानन्त्यम्। अत्र कनिष्ठम्=१०= अधिमासशेषप्रमाणम्=य। अत्र यदि क=१, ज्ये=३, क्षे=—४ तदा 'चतुरूनेऽन्त्य पदकृती त्र्येकयुते वधदल' मित्याचार्योक्त सूत्रेण रूपक्षेपे कनिष्ठम्=

$$\frac{\text{क.ज्ये}\,(\text{ज्ये}^{२}+१)\,(\text{ज्ये}^{२}+३)}{३} = \frac{१\times३\,(३^{२}+१)\,(३^{२}+३)}{२}$$

$$= \frac{३\times१०\times१२}{२} = १८०,\ \text{तथा ज्येष्ठम्} = \left\{\text{ज्ये}^{२}+२\right\}$$

$$\left\{\frac{(\text{ज्ये}^{२}+३)(\text{ज्ये}^{२}+१)}{२} - १\right\} = \left\{३^{२}+२\right\}$$

$$\left\{\frac{(३^{२}+३)(३^{२}+१)}{२} - १\right\} = ११\times५९ = ६४९$$

एवं रूपक्षेपे कनिष्ठज्येष्ठसंसाध्यभावनयाऽऽनन्त्यं कुर्यादिति द्वितीयप्रश्ने प्रश्नालापेन १३ य^{२}—२७ अयं वर्गः स्यात्। अत्र प्रकृतिः=१३, क्षेपः=—२७ इष्टं ह्रस्वमित्यादिना क=१, ज्ये=४, क्षेपः=३, तथा कनिष्ठम्=१, ज्येष्ठम्=२, क्षेपः=—९ अनयोर्भावनया क=६, ज्ये=२१, क्षेपः=—२७ रूपक्षेपकनिष्ठज्येष्ठाभ्यां भावनयाऽऽनन्त्यं कार्यम् अत्र कनिष्ठमधिशेषमानम्=६=य ॥८०॥

अब अन्य दो प्रश्नों को कहते हैं।

हि. भा.— अधिमास शेष वर्ग को तेरह से गुणा कर तीन सौ जोड़ने से वर्ग होता है, वा अधिमास शेष वर्ग को तेरह से गुणा कर सताइस घटाने से वर्ग होता है इसको करते हुए व्यक्ति गणक है इति ॥८०॥

यहां कल्पना करते हैं अधिमास शेषमान=य, तब प्रथम प्रश्न में प्रश्नालाप से १३य^{२}+३०० यह वर्ग है यहां प्रकृति=१३, क्षेप=३००, 'इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः' इत्यादि से क=१, ज्ये=४, क्षे=३, तब 'क्षुराणः क्षुराणे तदा पदे' इस भास्करोक्ति से इष्ट=१० कल्पना करने से क=१०, ज्ये=४०, क्षे=३०० रूपक्षेपीय कनिष्ठ और ज्येष्ठ से भावना द्वारा कनिष्ठ और ज्येष्ठ की अनन्तता करनी चाहिये। यहां कनिष्ठ=१०=अधिमास शेष प्रमाण=य, हुआ, यहां यदि क=१, ज्ये=३, क्षे=—४ तब 'चतुरूनेऽन्त्य पदकृती त्र्येकयुते' इत्यादि आचार्योक्त ६८ सूत्र से रूपक्षेप में कनिष्ठ= $\frac{\text{क.ज्ये}\,(\text{ज्ये}^{२}+१)(\text{ज्ये}^{२}+३)}{२}$

$= \frac{१ \times ३(३^२+१)(३^२+३)}{२} = \frac{३\times १० \times १२}{२} = १८०$, ज्ये $= \left\{ ज्ये^२+२ \right\}$

$\left\{ \frac{(ज्ये^२+१)\,(ज्ये^२+३)}{२} - १ \right\} = \left\{ ३^२+२ \right\}$

$\left\{ \frac{(३^२+१)\,(३^२+३)}{२} - १ \right\} = ११ \times ५९ = ६४९$, एवं रूपक्षेप में कनिष्ठ और ज्येष्ट साधन कर भावना से कनिष्ठ और ज्येष्ठ की अनन्तता करनी चाहिये। एवं द्वितीय प्रश्न में १३ $य^२$—२७ यह वर्ग है, 'इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः' इत्यादि से क=१, ज्ये=४, क्षे=३ तथा क=१, ज्ये=२, क्षे=—९ इन दोनों की समास भावना से क=६, ज्ये=२१, क्षे=—२७ यहां भी रूपक्षेपीय कनिष्ठ और ज्येष्ठ से भावना द्वारा कनिष्ठ और ज्येष्ठ की अनन्तता करनी चाहिये यहां अधिमास शेष प्रमाण=६=य, हुआ ॥८०॥

इदानीमन्यप्रश्नद्वयमाह।

इन्दुविलिप्ता शेषं सप्तदश गुणं त्रयोदश गुणं चापि।
पृथगेकयुतं वर्गं कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ॥८१॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम्।
अत्र ७१ सूत्रतः। $गु_१=१७$। $गु_२=१३$,

ततो विलिप्ताशेषम् $= \frac{८\,(गु_१+गु_२)}{(गु_१ \backsim गु_२)^२} = \frac{८\,(१७+१३)}{(१७-१३)^२} = \frac{८\times ३०}{४^२}$

$= \frac{८ \times ३०}{४\times४} = १५$।

वि. भा.—चन्द्रस्य विलिप्ताशेषं पृथक् सप्तदशगुणितं, त्रयोदशगुणितं च एकयुतं वर्गं आवत्सरात् कुर्वन् स गणको ऽस्तीति। अत्र गुणक=गु=१७। गुणकः=$\overset{।}{गु}$ = १३ तदा 'गुणकयुतिरिष्टगुणिता गुणकान्तरवर्गभाजिते' त्याद्याचार्योक्तसूत्रेण विलिप्ताशेषम् $= \frac{८\,(गु+\overset{।}{गु})}{(गु\backsim\overset{।}{गु})^२} = \frac{८\,(१७+१३)}{(१७-१३)^२} =$

$\frac{८\times३०}{४^२} = \frac{८\times३०}{१६} = \frac{३०}{२} = १५$ ॥८१॥

अब अन्य प्रश्नद्वय को कहते हैं।

हि. भा.—चन्द्र के विलिप्ताशेष को पृथक् सतरह से और तेरह से गुणा कर एक जोड़ने से वर्ग होता है, इसको करते हुए व्यक्ति गणक है ॥ ८१ ॥ यहाँ गुणक=गु=१७,

गुणक$'$ = गु$'$ = १३, तब 'गुणकयुतिरिष्टगुणिता गुणकान्तरभाजिता' इत्यादि आचार्योक्त सूत्र से विलिप्ताशेष = $\frac{८ (गु + गु')}{(गु \sim गु')^२} = \frac{८ (१७ + १३)}{(१७ - १३)^२} = \frac{८ \times ३०}{४^२} = \frac{८ \times ३०}{१६} = \frac{३०}{२}$ = १५, इति ॥ ८१ ॥

इदानीमन्यं प्रश्नद्वयमाह ।

अवमावशेषवर्गं द्वादशगुणितं शतेन संयुक्तम् ।
त्रिभिरूनं वा वर्गं कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ॥ ८२ ॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् ।

प्रथमप्रश्ने क्षयशेषमानम् = या । ततः प्रश्नानुसारेण

१२ या^{२} + १०० अयं वर्गः ।

वर्गप्रकृत्या, क १ ज्ये ४ क्षे ४

क ५ ज्ये २० क्षे १००

अथ चतुः क्षेप पदाभ्यां ६७ सूत्रेण ।

रूपक्षेपे क = $\frac{क (ज्ये^२ - १)}{२} = \frac{१ (४^२ - १)}{२} = \frac{१५}{२}$ ।

ज्ये = $\frac{ज्ये (ज्ये^२ - ३)}{२} = \frac{४ (४^२ - ३)}{२}$ = २६ ।

आभ्यां भावनयाऽऽनन्त्यं कार्यम् । अत्र क्षयशेषम् = ५ ।

द्वितीय प्रश्नेऽप्येवम् । १२ या^{२} — ३ वर्गः ।

अतः क १ ज्ये ३ क्षे ३

रूपक्षेप पदाभ्यामत्राप्यानन्त्यं कार्यम् । अत्र क्षयशेषम् = १ ॥ ८२ ॥

वि. भा.—स्पष्टार्थम् । कल्प्यते अवमशेषप्रमाणम् = य, तदा प्रथम प्रश्नालापेन १२ य^२ + १०० अयं वर्गः स्यात् । अत्र प्रकृतिः = १२, क्षेपः = १०० तदाकनिष्ठं १ प्रकल्प्य 'इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गं' इत्यादि भास्करोक्त्या ज्येष्ठम् = ज्ये = ४, क्षेपः = ४ ततः क्रमेण न्यासः क = १, ज्ये = ४, क्षेपः = ४. अत्रेष्टं = ५ प्रकल्प्य 'क्षुण्णः क्षुण्णौ तदा पदे' इति भास्करोक्त्या जाताः कनिष्ठज्येष्ठक्षेपाः क = ५, ज्ये = २०, क्षे = १००, चतुःक्षेपीय कनिष्ठ ज्येष्ठाभ्यां 'चतुरधिकेऽन्त्यपदकृतिरि'त्यादि आचार्योक्तसूत्रेण रूपक्षेपे कनिष्ठम् = $\frac{क (ज्ये^२ - १)}{२} = \frac{१ \times (४^२ - १)}{२} = \frac{१६ - १}{२} = \frac{१५}{२}$

ज्ये= $\frac{\text{ज्ये}(\text{ज्ये}^2-3)}{2}=\frac{4(4^2-3)}{2}$ =२ (१६—३)=२×१३=२६। आभ्यां भावनया कनिष्ठ ज्येष्ठयोरनन्तत्वं विधेयम्। अतोऽवमशेषप्रमाणम्=५=य।

द्वितीय प्रश्ने १२ य^2—३ अयं वर्गः स्यात्। अत्र प्रकृतिः=१२, क्षेपः=—३ तदेष्टं ह्रस्वमित्यादिना क=१, ज्ये=३, क्षे=—३, रूपक्षेपीय कनिष्ठज्येष्ठाभ्यां कनिष्ठज्येष्ठयोरत्राप्यनन्तत्वं विधेयम्। अतोऽवमशेषमानम्=१ ॥ ८२ ॥

अब अन्य दो प्रश्नों को कहते हैं।

हि. भा.—अवमशेष वर्ग को बारह से गुणा कर एक सौ जोड़ने से वर्ग होता है, वा अवम शेषवर्ग को बारह से गुणा कर तीन घटाने से वर्ग होता है इनका उत्तर करते हुए व्यक्ति गणक है इति ॥ ८२ ॥ कल्पना करते हैं अबमशेष प्रमाण=य, तब प्रथम प्रश्न के आलापानुसार १२ य^2+१०० यह वर्ग है। यहाँ प्रकृति=१२, क्षेप=१०० तब 'इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः' इत्यादि भास्करोक्त सूत्र से चारक्षेप में क=१, ज्ये=४, क्षे=४, यहाँ इष्ट=५ कल्पना कर 'क्षुण्णः क्षुण्णे तदा पदे' इस भास्करोक्ति से क=५, ज्ये=२०, क्षे=१००, चारक्षेप सम्बन्धी कनिष्ठ और ज्येष्ठ से 'चतुरधिकेऽन्त्यपदकृतिः' इत्यादि आचार्योक्त ६७ सूत्र से रूपक्षेप में कनिष्ठ= $\frac{\text{क}(\text{ज्ये}^2-1)}{2}=\frac{1\times(4^2-1)}{2}=\frac{16-1}{2}=\frac{15}{2}$ ज्येष्ठ = $\frac{\text{ज्ये}(\text{ज्ये}^2-3)}{2}=\frac{4(4^2-3)}{2}$ =२ (१६—३)=२×१३=२६। इन कनिष्ठ और ज्येष्ठ से भावना के द्वारा कनिष्ठ और ज्येष्ठ अनन्त होता है, अतः अवमशेषमान= ५=य, हुआ।

द्वितीय प्रश्न में १२ य^2—३ यह वर्ग है। यहां प्रकृति=१२, क्षेप=—३, 'इष्टं ह्रस्वं तस्य वर्गः' इत्यादि से क=१, ज्ये=३, क्षे=—३, रूपक्षेपीय कनिष्ठ और ज्येष्ठ से भावना से यहाँ भी कनिष्ठ और ज्येष्ठ की अनन्तता होती है। अतः अवमशेष=१, हुआ इति ॥ ८२ ॥

इदानीमन्यं प्रश्नमाह।

ज्ञदिनेऽर्ककलाशेषं गुरुदिनविकलावशेषयुक्तोनम्।
वर्गं वधं च सैकं कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ॥८३॥

सु. भा.—बुधदिनेऽर्कस्य यत् कलाशेषं तद्गुरुदिनजेनार्कस्य विकलावशेषेण युक्तमूनं च वर्गं तथा तयोः कलाविकलाशेषयोर्वधं सैकं च वर्गमावत्सरात् कुर्वन्नपि स गणकोऽस्तीति।

अत्र ७२ सूत्रेण कल्पित एको वर्गः १६ । अन्यश्च ४ ।
ततः १६+४=२० । १६—४=१२ ।

$$\frac{२०+१२}{\left(\frac{२०-१२}{२}\right)^२}=\frac{३२}{१६}=२$$

। अनेन गुणितौ २० । १२ जातौ राशी ४०।२४।

अत्र प्रथमं ४० कलाशेषं द्वितीयं लघुं २४ विकलाशेषम् । कलाशेषात् कुट्टकेन बुधदिनेऽहर्गणः साध्यः । विकलाशेषाच्च कुट्टकेन गुरुदिनेऽहर्गणः साध्य इति ।। ८३ ।।

वि. भा.—बुधदिने रवेः कलाशेषं यत्तद्बृहस्पतिदिनजेन रवेर्विकलाशेषेण युतं हीनं च वर्गं तथा कलाविकलाशेषयोर्वधं सैकं च वर्गमावत्सरात् कुर्वन् स गणकोऽस्तीति ।

'वर्गोऽन्यकृतियुतोनस्तत्संयोगान्तरार्धकृतिभक्त' इत्यादि सूत्रेणैको वर्गः =१६ कल्पितः । द्वितीयश्च=४, तदा १६+४=२० । १६—४=१२

$$\therefore \frac{२०+१२}{\left(\frac{२०-१२}{२}\right)}=\frac{३२}{४^२}=\frac{३२}{१६}=२$$

। अनेन २०, १२ गुणितौ तदा राशी भवेताम् ४० । २४ अत्र प्रथमं=४०=कलाशेषम् । द्वितीयं=२४=विकलाशेषम् । कलाशेषात् बुधदिने कुट्टकेनाऽहर्गणः साध्यः, विकलाशेषात् कुट्टकविधिना बृहस्पतिदिनेऽहर्गणः साध्य इति ।।८३।।

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा.—बुध दिन में रवि के कलाशेष में बृहस्पतिदिनोत्पन्न रवि के विकलाशेष को जोड़ने से और हीन करने से जो वर्ग होता है उस वर्ग को तथा कलाशेष और विकलाशेष के घात में एक जोड़ने से जो वर्ग होता है उस वर्ग को करते हुए व्यक्ति गणक हैं । यहां 'वर्गोऽन्यकृतियुतोनः' इत्यादि आचार्योक्त ७२ सूत्र से एक वर्ग=१६ कल्पना किया, और द्वितीय वर्ग=४ तब आचार्योक्त ७२ सूत्र के अनुसार १६+४=२० । १६—४=१२

$$\therefore \frac{२०+१२}{\left(\frac{२०-१२}{२}\right)^२}=\frac{३२}{४^२}=\frac{३२}{१६}=२$$

इससे २० । १२ गुणा करने से दोनों राशिमान होते हैं ४० । २४ इनमें प्रथम राशि=४०=कलाशेष, द्वितीय राशि=२४= विकलाशेष, कलाशेष से बुध दिन में कुट्टक विधि से अहर्गणानयन करना चाहिये, विकलाशेष से कुट्टक विधि द्वारा बृहस्पति दिन में अहर्गणानयन करना चाहिये ।

इदानीमन्यप्रश्नमाह।

विकलाशेषं सहितं त्रिनवत्या सप्तषष्टिहीनं च।
भानोर्ज्ञदिने वर्गं कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ॥८४॥

सु. भा.—भानोर्बुधदिने यद्विकलाशेषं तत् त्रिनवत्या सहितं वर्गं तथा सप्तषष्टिहीनं च वर्गमावत्सरात् कुर्वन्नपि स गणकोऽस्तीति।

अत्र ७३ सूत्रेण इष्टम्=४।

$\frac{९३+६७}{४}=\frac{१६०}{४}=४०$। ४०—४=३६। $\frac{३६}{२}=१८$। $१८^२=३२४$।

३२४+६७=३९१ इदं विकलाशेषमतः कुट्टकेन बुधदिनेऽहर्गणानयनंसुगमम् ॥८४॥

वि. भा.—रवेर्बुधदिने विकलाशेषं यत्तत् त्रिनवत्या ९३ युतं वर्गो भवति, तथा सप्तषष्टि हीनं च वर्गो भवतीत्येतत् आवत्सरात् कुर्वन् गणकोऽस्तीति।

यैरूनो यैश्च युतो रूपैर्वर्ग इत्याद्याचार्योक्त ७३ सूत्रेण, कल्पितमिष्टम् =४ तदा $\frac{९३+६७}{४}=\frac{१६०}{४}=४०$। ४०−४=३६। $\frac{३६}{२}=१८$, $१८^२=३२४$ ततः ३२४+६७=३९१=विकलाशेषमतः कुट्टकविधिना बुधदिनेऽहर्गणः साध्य इति ॥८४॥

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं।

हि. भा.—बुधदिन में रवि का जो विकलाशेष है उसमें तिरानवे जोड़ने से वर्ग होता है। तथा ६७ घटाने से वर्ग होता है इसको करते हुए व्यक्ति गणक हैं इति। 'यैरूनो यैश्च युतो रूपवर्गः' इत्यादि आचार्योक्त ७३ सूत्र से ४=इष्ट कल्पना कर $\frac{९३+६७}{४}=\frac{१६०}{४}$ =४०, ४०−४=३६, $\frac{३६}{२}=१८$, $१८^२=३२४$ अतः ३२४+६७=३९१=विकलाशेष, इससे कुट्टक विधि से अहर्गणानयन करना चाहिये इति ॥८४॥

इदानीमन्यप्रश्नद्वयमाह।

ज्ञदिनेऽर्ककलाशेषं द्वादशभिः संयुतं त्रिषष्ट्या च।
षष्ट्याऽष्टाभिश्चोनं कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ॥८५॥

सु. भा.—बुधदिनेऽर्कस्य कलाशेषं यत् तद् द्वादशभिः संयुतं वर्गं तथा त्रिषष्ट्या संयुतं च वर्गमावत्सरात् कुर्वन्नपि स गणकोऽस्तीत्येकः प्रश्नः। वा तत् कलाशेषं षष्ट्या ६० नं वर्गं तथाऽष्टाभिश्चोनं वर्गमावत्सरात् कुर्वन्नपि स गणको-

स्तीति द्वितीयः प्रश्नः । अत्र ७४ सूत्रेण । प्रथमप्रश्ने इष्टं ३ प्रकल्प्य $\frac{६३-१२}{२}=\frac{५१}{३}=१७$ । $\frac{१७+३}{२}=\frac{२०}{३}=१०$ । $१०^२=१००$ । १००—६३ =३७ इदमेव कलाशेषम् । द्वितीय प्रश्ने इष्टं २ प्रकल्प्य $\frac{६०-८}{२}=\frac{५२}{२}=$ = २६ । $\frac{२६-२}{२}=\frac{२४}{२}=१२$ । $१२^२=१४४$ । १४४+६०=२०४ इदमेव कलाशेषम् ॥८५॥

वि. भा.—बुधदिनें रवेः कलाशेषं द्वादशभिः संयुतं वर्गं कुर्वन् तथा त्रिषष्ट्या संयुतं च वर्गमावत्सरात्कुर्वन् स गणकोऽस्तीति प्रथमः प्रश्नः । वा तदेव कलाशेषं षष्ट्या हीनं वर्गं कुर्वन् तथाऽष्टाभिश्च हीनं वर्गमावत्सरात् कुर्वन् स गणकोऽस्तीति द्वितीयः प्रश्नः ।

याभ्यां कृतिरधिकोनं तदन्तरं हृतयुतोनमिष्टेनेत्याचार्योक्तसूत्रेण प्रथम-प्रश्ने इष्टं ३ प्रकल्प्य $\frac{६३-१२}{३}=\frac{५१}{३}=१७$, $\frac{१७+३}{२}=\frac{२०}{२}=१०$, $(१०)^२=१००$, १००—६३=३७=कलाशेषम् । द्वितीयप्रश्ने इष्टम्=२ कल्प-यित्वा $\frac{६०-८}{२}=\frac{५२}{२}=२६$, $\frac{२६-२}{२}=\frac{२४}{२}=१२$ । $(१२)^२=१४४$, १४४+६०=२०४=कलाशेषम् ॥८५॥

अब अन्य दो प्रश्नों को कहते हैं ।

हि. भा.—बुध दिन में कलाशेष में बारह जोड़ने से तथा तिरसठ जोड़ने से वर्ग को करते हुए व्यक्ति गणक हैं यह प्रथम प्रश्न है । वा कलाशेष में साठ घटाने से तथा आठ घटाने से वर्ग को करते हुए व्यक्ति गणक हैं यह द्वितीय प्रश्न है ।

'याभ्यां कृतिरधिकोनं तदन्तरं' इत्यादि आचार्योक्त ७४ सूत्र से प्रथम प्रश्न में इष्ट =३ कल्पना कर $\frac{६३-१२}{३}=\frac{५१}{३}=१७$, $\frac{१७+३}{२}=\frac{२०}{२}=१०$, $(१०)^२$ =१००, १००—६३=३७=कलाशेष, कलाशेष से बुध दिन में कुट्टक विधि से अहर्गणा-नयन सुगमता ही से हो जायगा । द्वितीय प्रश्न में इष्ट=२ कल्पना कर $\frac{६०-८}{२}=\frac{५२}{२}$ =२६ । $\frac{२६-२}{२}=\frac{२४}{२}=१२$, $(१२)^२=१४४$, १४४+६०=२०४=कलाशेष इससे बुध दिन में कुट्टक विधि से अहर्गणानयन करना चाहिये इति ॥८५॥

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह ।

इन्दुविलिप्ताशेषाद्रविलिप्ताशेषमंशशेषं वा ।
अथवा मध्यममिष्टं कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ।।८६।।

सु० भा०—इन्दुविलिप्ताशेषात् रविलिप्ताशेषं वांऽशशेषमथवाऽभीष्टं मध्यमं ग्रहमावत्सरात् कुर्वन्नपि स गणकोऽस्तीति प्रश्नत्रयम् । अत्र चन्द्रकलाविकला-शेषात् कुट्टकविधिनाऽहर्गणज्ञानं तस्मादिष्टमध्यानयनं रवेः कलांशशेषानयनं च सुगमम् ।।८६।।

वि. भा.—चन्द्रस्य विकलाशेषात् रवेः कलाशेषमंश शेषं वा, अथवेष्टं मध्यमं ग्रहं, आवत्सरात् कुर्वन् स गणकोऽस्तीति । अत्र प्रश्नत्रयमस्ति । चन्द्रस्य विकला-शेषात् कुट्टकेनाहर्गणानयनं कार्यं तस्मादभीष्टमध्यमग्रहानयनं रवेः कलाशेषानयन-मंश शेषानयनं च विधेयमिति ।।८६।।

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं ।

हि. भा.—चन्द्र के विकलाशेष से रवि के कला शेष को वा अंशशेष को अथवा इष्ट मध्यम ग्रह को करते हुए व्यक्ति गणक हैं, यहां तीन प्रश्न हैं । चन्द्र के विकलाशेष से कुट्टक विधि से अहर्गणानयन करना चाहिये । उस से अभीष्ट मध्यमग्रहानयन, तथा रवि का कलाशेषानयन, अंशशेषानयन सुगमता ही से हो जायगा इति ।।८६।।

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह ।

जीवविलिप्ताशेषात् कुजमिन्दुं भौमलिप्तिकाशेषात् ।
रविमिन्दुभागशेषात् कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ।।८७।।

सु० भा०—गुरुविलिप्ताशेषात् कुजं भौमकलाशेषाच्चन्द्रं चन्द्रभागशेषाच्च रविमावत्सरात् कुर्वन्नपि स गणकोऽस्तीति ।

गुरोर्विकलाशेषाद्वा भौमकलाशेषादथवा चन्द्रभागशेषात् कुट्टकेनाहर्गण-ज्ञानं ततोऽहर्गणादभीष्टग्रहज्ञानं स्फुटमेवेति ।।८७।।

वि. भा.—बृहस्पतिविकलाशेषान्मङ्गलं, मङ्गलकलाशेषाच्चन्द्रं, चन्द्र-स्यांशशेषाद्रविमावत्सरात् कुर्वन् स गणकोऽस्तीति । बृहस्पतेर्विकलाशेषात्, वा मङ्गलस्य कलाशेषात् । वा चन्द्रस्यांशशेषात्कुट्टकविधिनाऽहर्गणानयनं कार्यम् । तस्मादिष्टमध्यमग्रहानयनं सुगममेवेति ।।८७।।

अब अन्य प्रश्नों को कहते है।

हि. भा.—बृहस्पति के विकला शेष से मङ्गल को, मङ्गल के कलाशेष से चन्द्र को, चन्द्र के अंश शेष से रवि को करते हुए व्यक्ति गणक हैं इति। बृहस्पति के विकलाशेष से, वा मङ्गल के कलाशेष से, अथवा चन्द्र के अंशशेष से कुट्टक विधि से अहर्गणानयन करना चाहिये, अहर्गण ज्ञान से इष्टमध्यम ग्रहानयन स्पष्ट ही है इति ॥८७॥

इदानीं पूर्वप्रश्नोत्तरमाह।

इष्टग्रहेष्टशेषाद् द्युगणो गतनिरपवर्त्त संगुणितैः।
छेददिनैरधिकोऽस्मादन्यग्रहशेषमिष्टो वा ॥८८॥

सु. भा.—इष्टग्रहस्येष्टकलाविकलादिशेषात् कुट्टकविधिना द्युगणोऽहर्गणः साध्यः। स च गतनिरपवर्त्तसङ्गुणितैश्छेददिनैरिष्टाहत दृढ़कुदिनैरधिकोऽनेकधा स्यादस्मादहर्गणादन्यग्रहस्य कलाविकलादिशेषं वा ऽभीष्टो मध्यमग्रह एव साध्य इति स्फुटमेव सिद्धान्तविदाम् ॥८८॥

वि. भा.—इष्टग्रहस्येष्टकलाविकलादिशेषात्कुट्टकरीत्याऽहर्गणः साध्यः स इष्ट गुणितैश्छेददिनैः (दृढ़कुदिनैः) युक्तोऽनेकधा स्यात्। अस्मादहर्गणादन्यग्रहस्य कलाविकलादिशेषं साध्यं वा ऽभीष्टो मध्यम ग्रहः साध्य इति ॥८८॥

अब पूर्व प्रश्न के उत्तर को कहते हैं।

हि. भा.—इष्टग्रह के इष्टकलाशेष, विकला शेष आदि से कुट्टक विधि से अहर्गण साधन करना चाहिये, उसमें इष्ट गुणित दृढ़कुदिन को जोड़ने से अनेक प्रकार होते हैं। इस अहर्गण से अन्यग्रह के कलाशेष विकलादिशेष साधन करना चाहिये वा अभीष्ट मध्यमग्रह ही साधन करना चाहिए ॥८८॥

इदानीमुद्दिष्टाहर्गणे ग्रहयोर्भगणादिशेषे ये ते एव पुनः कस्मिन्नहर्गणे भवेतामित्यस्योत्तरमाह।

निश्छेदभागहारौ ग्रहयोर्विपरीतौ ग्रहयोर्द्युगणात्।
यस्मात् तन्निश्छेदेनोद्धृतयोर्लब्धसङ्गुणितौ ॥८९॥

निश्छेदभागहारौ विपरीतौ तद्युतात् पुनस्तस्मात्।
शेषे द्युगणादेवं त्र्यादीनां प्राग्वदिष्टदिने ॥९०॥

सु. भा.—(निश्छेदभागहारौ ग्रहयोर्भगणादिशेषयोर्द्युगणात् ।
यस्मात् तन्निश्छेदेनोद्धृतयोर्लब्धसंगुणितौ ॥८६॥)

यस्माद् द्युगणादहर्गणाद् ग्रहयोर्ये भगणादिशेषे भवतस्तयोर्यौ निश्छेदभागहारौ स्वस्वदृढकुदिनसंज्ञौ तयोर्निश्छेदेन महत्तमापवर्त्तनोद्धृतयोस्तयोर्दृढकुदिनसंज्ञयोः सतोर्ये लब्धे ताभ्यां विपरीतौ निश्छेदभागहारौ गुणितौ। महत्तमापवर्त्तभक्तात् प्रथमदृढकुदिन संज्ञाद्यल्लब्धं तेन द्वितीयदृढकुदिनमानं गुण्यं द्वितीयलब्धेन च प्रथमदृढकुदिनमानं गुण्यमित्यर्थः । एवं समच्छेदौ भवतः। तद्युतात् तस्मात् पूर्वसाधिताद् द्युगणात् पुनर्ग्रहयोस्ते एव भगणादिशेषे भवतः । उद्दिष्टादहर्गणः पूर्वसाधितसमच्छेदेन युतस्तदा योगसमेऽहर्गणे पुनस्ते एव ग्रहयोर्भगणादिशेषे भवत इत्यर्थः । एवं त्र्यादीनां ग्रहाणामिष्टदिने यानि भगणादिशेषाणि तानि पुनः कदेति प्रश्नोत्तरं प्राग्वत् कार्यम् । द्वयोर्निश्छेदभागहाराभ्यां पूर्ववत् समच्छेदं विधाय नूतनो निश्छेदभागहारः कल्प्यः । पुनरस्य तृतीयदृढकुदिनस्य च लघुतमापवर्त्योऽन्वेषणीयः । एवमग्रेऽपि कर्म कार्यम् । अन्ते सर्वदृढकुदिनानां यो लघुतमापवर्त्यस्तेन युतोऽहर्गणः कार्यः । योगसमेऽहर्गणे च पुनस्तान्येव शेषाणि भवन्ति ।

अत्रोपपत्तिः ।

यदि ग्रहाणां दृढभगणाः $भ_1$, $भ_2$, $भ_3$, दृढकुदिनानि च $कु_1$, $कु_2$, $कु_3$, कल्प्यन्ते तथा दृढकुदिनानां लघुतमापवर्त्यश्च अ। तदा अ+अह अस्मिन्नहर्गणे दृढभगणगुणे दृढकुदिनहृते प्रथमखण्डे निरवयवभगणा लभ्यन्ते ते प्रयोजनाभावाद्यदि त्यज्यन्ते तदोद्दिष्टाहर्गणाद्यद्भगणशेषं तदेव अ+अह अस्मादपि । आचार्येणात्र द्वयोर्द्वयोर्निश्छेदभागहारयोर्महत्तमापवर्त्तनविभक्तयोः सतोर्ये लब्धे ताभ्यामन्योन्यहारौ सङ्गुण्य लघुतमापवर्त्य एवोत्पादित इति गणितविदां प्रसिद्धमेवेति ॥८९-९०॥

वि. भा.—यस्मात् द्युगणात् (अहर्गणात्) ग्रहयोर्ये भगणादिशेषे स्तस्तयोर्निश्छेदभागहारौ (स्वस्वदृढकुदिनसंज्ञकौ) यौ तयोर्निश्छेदेन (महत्तमापवर्त्तनेन) भक्तयोर्ये लब्धे ताभ्यां निश्छेदभागहारौ गुणितावर्थात् महत्तमापवर्त्तनभक्तात् प्रथमदृढकुदिनसंज्ञकाद्यल्लब्धं तेन द्वितीयदृढकुदिनप्रमाणं गुणनीयं, द्वितीयलब्धेन प्रथमदृढकुदिमानं गुणनीयमेवं समच्छेदौ भवतः । तद्युतात् (पूर्वसाधितादहर्गणात्) पुनस्ते एव ग्रहयोर्भगणादिशेषे भवतः । पूर्वसाधितसमच्छेदेनोद्दिष्टाहर्गणो युतस्तदा योगसमेऽहर्गणे पुनस्ते एव भगणादिशेषे भवतः । एवमिष्टदिने त्र्यादीनां ग्रहाणां यानि भगणादिशेषाणि तानि पुनः कदेतिप्रश्नोत्तरं पूर्ववत्कार्यम् । द्वयोर्निश्छेदांशहाराभ्यां पूर्ववत् समच्छेदं विधाय नवीनो निश्छेदभागहारः कल्पनीयः।

पुनरस्य तृतीयदृढकुदिनस्य च लघुतमापवर्त्यो गवेषणीयः। अग्रेऽप्येवमेव कर्म कार्यम्। अन्ते सर्वेषां दृढकुदिनानां यो लघुतमापवर्त्यस्तेनाहर्गणो युतस्तदा योगतुल्येऽहर्गणे पुनस्तान्येव शेषाणि स्युरिति ॥८९-९०॥

अत्रोपपत्तिः।

यदि ग्रहाणां दृढकुदिनानि क, ख, ग, दृढभगणाः य, र, ल, कल्प्यन्ते, तथा दृढकुदिनानां लघुतमापवर्त्यश्च=प, तदा 'प+अहर्गण' स्यमहर्गणो दृढभगणगुणो दृढकुदिनभक्तः प्रथमखण्डे निःशेषभगणाः समागच्छन्ति, प्रयोजनाभावात्ते यदि न गृह्यन्ते तदोद्दिष्टादहर्गणाद्यद् भगणशेषं तदेवा 'प+अहर्गण' स्मादपि, द्वयोर्द्वयोर्दृढ कुदिनसंज्ञकयोर्महत्तमापवर्त्तनेन विभक्तयोर्ये लब्धी ताभ्यां परस्परं हारौ सङ्गुण्य लघुतमापवर्त्य एव सम्पादित आचार्येणेति ॥८९-९०॥

अब उद्दिष्ट अहर्गण में दो ग्रहों के भगणादि शेष जो है वे ही पुनः किस अहर्गण में होंगे इस प्रश्न के उत्तर कोकहते हैं।

हि. भा.-जिस अहर्गण से दो ग्रहों के जो भगणादि शेष हैं उन दोनों के अपने अपने दृढ कुदिन को महत्तमापवर्त्तन से भाग देने से जो लब्धिद्वय होता है उन दोनों से विपरीत दोनों दृढ कुदिन को गुणा करना चाहिए अर्थात् प्रथम दृढकुदिन संज्ञक को महत्तमावर्त्तन से भाग देने से जो लब्धि हो उससे द्वितीय दृढकुदिन को गुणना चाहिए और द्वितीय लब्धि से प्रथम दृढकुदिन को गुणा करना चाहिए, इस तरह करने से समच्छेद होता है। उस से युत पूर्व साधित अहर्गण से फिर दोनों ग्रहों के वे ही भगणादि शेष होते हैं अर्थात् उद्दिष्टाहर्गण में पूर्व साधित समच्छेद को जोड़ने से योग तुल्य अहर्गण में पुनः वे ही दोनों ग्रहों के भगणादि शेष होते हैं। इसी तरह तीन आदि ग्रहों के इष्टदिन में जो भगणादि शेष हों वे पुनः कब होंगे इसका उत्तर पूर्ववत् करना चाहिए। दो ग्रहों के दृढकुदिन संज्ञकों से पूर्ववत् समच्छेद करके नये दृढकुदिन कल्पना करना फिर इसके और तृतीय दृढकुदिन के लघुतमापवर्त्य अन्वेषण (खोजना) करना चाहिए, एवं आगे भी क्रिया करनी चाहिए। अन्त में सब दृढकुदिनों के जो लघुतमापर्त्य हो उसको अहर्गण में जोड़ देना चाहिए तब योग-तुल्य अहर्गण में पुनः वे ही शेष होंगे इति ॥

उपपत्ति।

यदि ग्रहों के दृढकुदिन क, ख, ग, और दृढभगण य, र, ल कल्पना करते हैं तथा दृढकुदिन संज्ञकों के लघुतमापवर्त्य=प, तब प+अहर्गण को दृढभगण से गुणाकर दृढ-कुदिन से भाग देने से प्रथम खण्ड में निःशेष भगण लब्ध होता है, प्रयोजना भाव से यदि उसको छोड़ देते हैं तब उद्दिष्ट अहर्गण से जो भगणादि शेष होता है वही प+अहर्गण, इससे भी, आचार्य ने यहां दो ग्रहों के दृढकुदिन को महत्तमपवर्त्तन से भाग देने से जो लब्धिद्वय

होते हैं उन दोनों से परस्पर हारों को गुणाकर लघुतमापवर्त्य ही उत्पादित किया इति ॥८९–९०॥

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह ।

द्युगणमवमावशेषाद्रविचन्द्रौ मध्यमौ स्फुटावथवा ।
एवं तिथिं ग्रहं वा कुर्वन्नावत्सराद् गणकः ॥९१॥

सु. भा.—अवमावशेषात् क्षयशेषाद्द्युगणमहर्गणं वा मध्यमौ रविचन्द्रावथ वा स्फुटौ रविचन्द्रौ वैवं तिथिं वा ग्रहमिष्टग्रहं भौमाद्यन्यतममावत्सरात् कुर्वन्नपि स गणकोऽस्तीति पञ्च प्रश्ना अत्र ॥९१॥

वि. भा.-अवमावशेषादहर्गणं वा मध्यमौ रविचन्द्रौ, अथवा स्फुटौ रविचन्द्रौ, वैवं तिथिं वेष्टग्रहं मङ्गलाद्यन्यतममावत्सरात् कुर्वन् स गणकोऽस्तीति। अत्र पञ्चप्रश्नाः सन्ति ॥९१॥

हि. भा.—जो व्यक्ति अवमशेष से अहर्गण को कहते हैं वा मध्मय रवि और मध्यम चन्द्र को कहते हैं अथवा स्फुट रवि और चन्द्र को कहते हैं। वा तिथि को कहते हैं वा इष्ट ग्रह (कुजादि ग्रहों में किसी ग्रह) को कहते हैं वे गणक हैं। यहां पांच प्रश्न है इति ॥९१॥

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह ।

एकदिनमवमशेषं यद्गुणमेकं रविचन्द्रभगणोनम् ।
शुध्यति भूदिनभक्तं व्येकं चान्द्रैस्तदुक्तिरियम् ॥९२॥

सु. भा.—एकदिनसम्बन्ध्यवमशेषं यद्गुणं येन गुणमेकोनं भूदिनभक्तं शुध्यति वाऽवमशेषं यद्गुणं रविभगणोनं भूदिनभक्तं शुध्यति। वाऽवमशेषं यद्गुणं चन्द्रभगणोनं भूदिनभक्तं शुध्यति। वाऽवमशेषं यद्गुणं व्येकं चान्द्रैश्चान्द्रदिनैर्भक्तं शुध्यति। अथेयं वक्ष्यमाणा तेषां प्रश्नानामुक्तिरुत्तरोक्तिरिति ॥९२॥

वि. भा.—एकदिनसम्बन्ध्यवमशेषं येन गुणमेकहीनं कुदिन भक्तं शुध्यति। वाऽवमशेषं येन गुणं रविभगणहीनं कुदिनभक्तं शुध्यति। वाऽवमशेषं येन गुणं चन्द्रभगणेन हीनं कुदिनभक्तं शुध्यति, वाऽवमशेषं येन गुणमेकहीनं चान्द्रदिनैर्भक्तं शुध्यति। इदं वक्ष्यमाणा तेषां प्रश्नानामुत्तरोक्तिः। अत्र चत्वारः प्रश्नाः सन्तीति ॥९२॥

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं।

हि. भा.—एक दिनसम्बन्धी अवमशेष को जिस गुणक से गुणाकर, एक घटाकर

कुदिन से भाग देने से निःशेष होता है। वा अवमशेष को जिस गुणक से गुणाकर रविभगण को घटाकर कुदिन से भाग देने से निःशेष होता है। अथवा अवमशेष को जिस गुणकाङ्क से गुणाकर चन्द्रभगण को घटाकर कुदिन से भाग देने से निःशेष होता है। वा अवमशेष को जिस गुणकाङ्क से गुणाकर एक घटाकर चान्द्र दिन से भाग देने से निःशेष होता है। आगे के विषय उन प्रश्नों की उत्तरोक्ति है इति ॥६२॥

अथ प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह।

इषुशरकृताष्टदिग्भिः १०८४५५ सङ्गुणितादवमशेषकाद् भक्तात्।
रूपाष्टवेदरसशून्यशरगुणैः ३५०६४८१ दिनगणः शेषम् ॥६३॥

सु. भा.—अवमशेषादिषु शरकृताष्टदिग्भिः १०८४५५ सङ्गुणितात् रूपाष्टवेदरसशून्यशरगुणैः ३५०६४८१ भक्ताच्छेषं दिगगणोऽहर्गणो भवति।

अत्रोपपत्तिः।

कल्पदृढावमानि दिनगणगुणानि दृढावमशेषोनानि कल्पदृढकुदिनहृतानि फलं निरग्रं गतावमानि। अतो दृढकल्पावमानि भाज्यं दृढावमशेषमृणक्षेपं दृढकल्पकुदिनानि हारं प्रकल्प्य यो गुणः सोऽहर्गणः स्यात्। तत्र लाघवार्थमाचार्येण रूपशुद्धौ शरशरवेदाष्टपंक्तिमितः स्थिरकुट्टकः कृतः। रूपाष्टवेदादिसंख्या कल्पदृढकुदिनानि तदानयनं च। $\frac{\text{कक्ष}}{\text{ककुदि}} = \frac{२५०८२५५००००}{१५७७९१६४५००००} =$

$$= \frac{५०००० \times ५०१६५१}{५०००० \times ३१५५८३२९} = \frac{५०००० \times ९ \times ५५७३९}{५०००० \times ९ \times ३५०६४८१} = \frac{५५७३९}{३५०६४८१}$$

$= \frac{\text{दृक्षदि}}{\text{दृकुदि}}$ अथ प्रसङ्गाद् दृढरविभगणकुदिनानयनं प्रदर्श्यते। $\frac{\text{करभ}}{\text{ककुदि}}$

$$= \frac{४३२००००००००}{१५७७९१६४५००००} = \frac{५००० \times ८६४००}{५०००० \times ३१५५८३२९} = \frac{५०००० \times ९ \times ९६००}{५०००० \times ९ \times ३५०६४८१}$$

$= \frac{५०००० \times ९ \times ३ \times ३२००}{५०००० \times ९ \times ३ \times ११६८८२७} = \frac{३२००}{११६८८२७} = \frac{\text{दृरभ}}{\text{दृकुदि}}$। एवं

$$\frac{\text{चकभ}}{\text{ककुदि}} = \frac{५७७५३३००००००}{१५७७९१६४५००००} = \frac{५०००० \times ११५५०६६}{५०००० \times ३१५५८३२९}$$

$= \frac{५०००० \times ३ \times ३८५०२२}{५०००० \times ३ \times १०५१९४४३} = \frac{३८५०२२}{१०५१९४४३} = \frac{\text{दृचभ}}{\text{दृकुदि}}$।

वि. भा.—अवमशेषात् १०८४५५ एभिर्गुणितात् ३५०६४८१ एभिर्भक्तात्, यच्छेषं सोऽहर्गणः स्यादिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

यदि कल्पदृढ़कुदिनैर्दृढ़कल्पावमानि लभ्यन्ते तदाऽहर्गणेन किमित्यनुपातेन समागच्छन्ति स शेष गतावमानि तत्स्वरूपम् $= \frac{\text{दृढ़कल्पावम} \times \text{अहर्गण}}{\text{दृढ़ककुदिन}} =$ गतावम $+ \frac{\text{दृढ़ावमशे}}{\text{दृढ़ककुदिन}}$ पक्षौ $\frac{\text{दृढ़ावमशे}}{\text{दृढ़कल्पकुदिन}}$ एभिर्हीनौ तदा $\frac{\text{दृढ़कल्पावम} \times \text{अहर्गण}}{\text{दृढ़ककुदिन}} - \frac{\text{दृढ़ावमशे}}{\text{दृढ़ककुदिन}} = \frac{\text{दृढ़कल्पावम} \times \text{अहर्गण} - \text{दृढ़ावमशे}}{\text{दृढ़ककुदिन}} =$ गतावमानि । अत्र यदि दृढ़कल्पावमं भाज्यं दृढ़ावमशेषमृणक्षेपं दृढ़कल्पकुदिनं हारं कल्प्यते तदा कुट्टकेन योगुणः समागमिष्यति स एवाहर्गणो भवेत् । अत्राचार्येण लाघवार्थं रूपशुद्धौ (ऋणात्मकरूपक्षेपे) १०८४५५ गुणकं प्रकल्प्य स्थिरकुट्टकः कृतः । ३५०६४८१ इति दृढ़कुदिनानि सन्ति तदानयनं क्रियते ।

$$\frac{\text{कल्पावम}}{\text{ककुदि}} = \frac{२५०८२५५००००}{१५७७९१६४५००००} = \frac{५०००० \times ५०१६५१}{५०००० \times ३१५५८३२९}$$

$$= \frac{५०००० \times ९ \times ५५७३९}{५०००० \times ९ \times ३५०६४८१} = \frac{५५७३९}{३५०६४८१} = \frac{\text{दृढ़ावम}}{\text{दृढ़कुदिन}} \text{ ॥}$$

अथ दृढ़रविभगणदृढ़कुदिनयोरानयनं प्रदर्श्यते ।

$$\frac{\text{करभगण}}{\text{ककुदिन}} = \frac{४३२००००००}{१५७७९१६४५००००} = \frac{५०००० \times ८६४००}{५०००० \times ३१५५८३२९}$$

$$\frac{५०००० \times ९ \times ९६००}{५०००० \times ९ \times ३५०६४८१} = \frac{५०००० \times ९ \times ३ \times ३२००}{५०००० \times ९ \times ३ \times ११६८८२७} = \frac{३२००}{११६८८२७}$$

$= \frac{\text{दृढ़रविभगण}}{\text{दृढ़कुदिन}}$ । एवमेव $\frac{\text{चं कल्पभगण}}{\text{ककुदिन}} = \frac{५७७५३३००००००}{१५७७९१६४५००००}$

$$= \frac{५०००० \times ११५५०६६}{५०००० \times ३१५५८३२९} = \frac{५०००० \times ३ \times ३८५०२२}{५०००० \times ३ \times १०५१९४४३} = \frac{३८५०२२}{१०५१९४४३}$$

$$= \frac{\text{दृढ़ चं भगण}}{\text{दृढ़कुदिन}} \text{ ॥}$$

अब प्रथम प्रश्न के उत्तर को कहते हैं।

हि. भा.—अवमशेष को १०८४५५ इससे गुणा कर ३५०६४८१ इससे भाग देने से शेष अहर्गण होता है ॥९३॥

उपपत्ति ।

यदि कल्प दृढ़कुदिन में दृढ़ कल्पावम पाते हैं तो अहर्गण में क्या इस अनुपात से

शेष (शेषसहित) गतावम प्रमाण आता है उसका स्वरूप $= \frac{\text{दृढ़कल्पावम} \times \text{अहर्गण}}{\text{दृढ़कल्पकुदिन}} =$ गतावम $+ \frac{\text{दृढ़ावमशे}}{\text{दृढ़ककुदिन}}$ दोनों पक्षों में $\frac{\text{दृढ़ावमशे}}{\text{दृढ़ककुदिन}}$ घटाने से $\frac{\text{दृढ़कल्पावम} \times \text{अहर्गण}}{\text{दृढ़ककुदिन}} - \frac{\text{दृढ़ावमशे}}{\text{दृढ़ककुदिन}} = \frac{\text{दृढ़कल्पावम} \times \text{अहर्गण} - \text{दृढ़ावमशे}}{\text{दृढ़कल्पकुदिन}} =$ गतावम, यहां यदि दृढ़कल्पावम को भाज्य, दृढ़ावमशेष को ऋणक्षेप और दृढ़कल्पकुदिन को हार माना जाय तब कुट्टक विधि से जो गुणक आयगा वही अहर्गण होगा, यहां आचार्य ने लाघवार्थ ऋणात्मक रूपक्षेप में १०८४५५ कल्पना कर स्थिर कुट्टक किया है, ३५०६४८१ यह दृढ़कुदिन है, इसका आनयन करते हैं। $\frac{\text{कल्पावम}}{\text{कल्पकुदिन}} = \frac{२५०८२५५००००}{१५७७९१६४५००००} = \frac{५०००० \times ५०१६५१}{५०००० \times ३१५५८३२९}$ $= \frac{५०००० \times ९ \times ५५७३९}{५०००० \times ९ \times ३५०६४८१} = \frac{५५७३९}{३५०६४८१} = \frac{\text{दृढ़ावम}}{\text{दृककुदिन}}$ इससे अभीष्ट सिद्धि हो गई इति ॥

अब दृढ़रविभगण और दृढ़कुदिन का आनयन करते हैं।

$$\frac{\text{कल्परविभगण}}{\text{कल्पकुदिन}} = \frac{४३२००००००००}{१५७७९१६४५००००} = \frac{५०००० \times ८६४००}{५०००० \times ३१५५८३२९}$$

$$= \frac{५०००० \times ९ \times ९६००}{५०००० \times ९ \times ३५०६४८१} = \frac{५०००० \times ९ \times ३ \times ३२००}{५०००० \times ९ \times ३ \times ११६८८२७} = \frac{३२००}{११६८८२७}$$

$= \frac{\text{दृढ़रवि भगण}}{\text{दृढ़ककुदिन}}$ इसी तरह $\frac{\text{चं कल्पभगण}}{\text{कल्प कुदिन}} = \frac{५७७५३३००००००}{१५७७९१६४५००००}$

$$= \frac{५०००० \times ११५५०६६}{५०००० \times ३१५५८३२९} = \frac{५०००० \times ३ \times ३८५० \times २२}{५०००० \times ३ \times १०५१९४४३} = \frac{३८५०२२}{१०५१९४४३}$$

$= \frac{\text{दृढ़ चं भगण}}{\text{दृढ़ कुदिन}}$ ॥

इदानीमवमशेषाद्रव्यानयनमाह।

जिनरसगोऽब्धिरद ३२४९६२४ गुणात् शशिवसुकृतरसखभूतराम ३५०६४८१ हृतात् ।
इष्टावमशेषाद्यत् शेषं रविभगणशेषं तत् ॥९४॥

सु. *भा.*—स्पष्टार्थम् ।

अत्रोपपत्तिः ।

अत्र पूर्वप्रकारेणाहर्गणः=१०८४५५ क्षशे—३५०६४८१ इ। अयं रविदृढ-भगणगुणस्तद् दृढकुदिनगुणो जातो रविभगणात्मकः।

$$= \frac{३२०० \times १०८४५५ \text{ क्षशे} - ३२०० \times ३५०६२८१ \text{ इ}}{११६८८२७} = \frac{३४७०५६००० \text{ क्षशे}}{११६८८२७}$$

$$- ३२०० \times ३ \text{ इ} = \frac{१०८३२०८}{११६८८२७} + ९६ \text{ क्षशे} - ९६०० \text{ इ}$$ अतो दृढभगणशेषम्
=१०८३२०८ क्षशे—११६८८२७ इ, । आचार्येण गुणहरौ त्रिभिः सङ्गुण्य दृढक्षयशेषसम्बन्धिदृढकुदिनहरे रवेर्भगणशेषम्=३२४९६२४क्षशे—३५०६४८१ इ, इदं साधितमत इदं सर्वदा त्रिभिरपवर्त्यं तदा वास्तवमर्कदृढभगणशेषं ज्ञेयम् । यद्याचार्यानीतं भगणशेषं त्रिभिर्नापवर्त्यं तदा प्रश्नः खिलो ज्ञेय इति सुगणकैर्भृशं विचिन्त्यम् ॥९४॥

वि. भा.—इष्टावमशेषात् ३२४९६२४ एभिर्गुणात् ३५०६४८१ एभिर्भक्ता-च्छेषं रविभगणशेषं भवेदिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

अथ पूर्वसाधिताहर्गण = १०८४५५ × अवमशे — ३५०६४८१ इ, ततः

$$\frac{\text{अहर्गण} \times \text{दृढ़रविभगण}}{\text{दृढ़रविकुदिन}} = \text{भगणात्मकरविः} =$$

$$\frac{३२०० \times १०८४५५ \text{ अवमशे} - ३२०० \times ३५०६४८१ \text{ इ}}{११६८८२७} = \frac{३४७०५६००० \text{ अवमशे}}{११६८८२७}$$

$$- ३२०० \times ३ \text{ इ} = \frac{१०८३२०८ \text{ अवमशे}}{११६८८२७} + ९६ \text{ अवमशे} - ९६०० \text{ इ},$$ अतो दृढ़-भगण शेषम्=१०८३२०८ अवमशे—११६८८२७ इ, अत्राऽऽचार्येण हरगुणकौ त्रिभिः संगुण्य दृढ़ावमशेष सम्बन्धि हरे रवेर्भगणशेषं साधितम् । तद्रविभगण-शेषम्=३२४९६२४ अवमशे—३५०६४८१ इ । तेनेदं सर्वदा यदि त्रिभिरपवर्त्यं तदैव रविभगणशेषं वास्तवं बोध्यं, यद्याचार्येणानीतं भगणशेषं त्रिभिरपवर्त्यं न भवेत्तदा प्रश्न एव खिलो बोध्य इति ॥९४॥

अब अवमशेष से रवि के आनयन को कहते हैं ।

हि. भा.—इष्टावमशेष को ३२४९६२४ से गुणाकर ३५०६४८१ इससे भाग देने से जो शेष रहता है वह रवि का भगणशेष होता है इति ।

उपपत्ति ।

पूर्व प्रकार से अहर्गण=१०८४५५ अवमशे—३५०६४८१इ, अतः

$$\frac{\text{अहर्गण} \times \text{दृढ़रविभगण}}{\text{रविदृढ़कुदिन}} = \text{भगणात्मकर}$$

$$= \frac{३२०० \times १०८४५५ \text{ अवमशे} - ३२०० \times ३५०६४८१ \text{ इ}}{११६८८२७} = \frac{३४७०५६००० \text{ अवमशे}}{११६८८२७}$$

$$- ३२०० \times ३ \text{ इ} = \frac{१०८३२०८ \text{ अवमशे}}{११६८८२७} + ९६ \text{ अवमशे} - ९६०० \text{ इ},$$ अतः दृढ़भगणशेष

= १०८३२०८ अवमशे — ११६८८२७ इ, यहां आचार्य ने गुणक और हर को तीन से गुणा कर दृढ़अवमशेष सम्बन्धी दृढ़कुदिन हर में रवि का भगणशेष = ३२४९६२४ अवमशे— ३५०६४८१ इ, यह साधन किया हैं इसलिये सर्वदा इसको तीन से अपवर्त्तनीय होना चाहिये तब ही रवि के भगणशेष को वास्तव समझना चाहिये अन्यथा प्रश्न खिल (अशुद्ध) समझना चाहिये ॥९४॥

इदानीमवमशेषात्तिथ्यानयनमाह ।

गोऽगेन्दुखेश ११०१७९ गुणिताद् भक्तान्नख पक्ष यमरसेषु गुणैः ।
शेषमवमावशेषात्तिथयो ऽवमशेषकाद्विकलम् ॥९५॥

सु० भा०—अवमशेषकाद्विकलं वर्त्तमानतिथेर्भुक्तं मानं साध्यम् । शेषं स्पष्टम् ।

अत्रोपपत्तिः ।

चान्द्रेभ्यो यान्यवमानि यच्च तच्छेषं तान्यवमानि तदेव शेषं च सावनेभ्य इति 'सावनान्यवमानि स्युश्चान्द्रेभ्यः साधितानि चेत्'—इत्यादि मिताक्षरायां स्वगोलाध्याये भास्करेण स्फुटीकृतम् । अतो गतचन्द्रदिनैः कल्पावमानि गुणानि कल्पचन्द्रदिनैर्भक्तानि फलं गतावमानि शेषं क्षयशेषम् ।

अतः $\frac{\text{इचादि} \times \text{कक्षदि}}{\text{कचादि}}$ । अयमभिन्नः । अतः क्षयदिनादि भाज्यं क्षयशेषमृणक्षेपं चान्द्रदिनानि हारं प्रकल्प्य यः कुट्टकः साध्यते तान्येव चान्द्रदिनानि गततिथयो भवन्ति । तत्राचार्येण लाघवार्थं रूपविशुद्धौ स्थिरकुट्टकः साधितः स एवावमशेषगुणकः पठितः । अथ दृढावमचन्द्रदिनज्ञानार्थं न्यासः ।

$$\frac{\text{कक्षदि}}{\text{कचादि}} = \frac{२५०८२५५००००}{१६०२९९९००००००} = \frac{५०००० \times ५०१६५१}{५०००० \times ३२०५९९८०}$$

$$= \frac{५०००० \times ९ \times ५५७३९}{५०००० \times ९ \times ३५६२२०} = \frac{५५७३९}{३५६२२०} = \frac{\text{दृक्षदि}}{\text{दृचादि}}$$ अतो दृढ़चान्द्रदिनान्येव हर

इति सर्वं स्फुटम् । गणितागतमवमशेषम् ५००००×९ अनेन विभज्य लब्धमत्र दृढावमशेषं सुधीभिर्ज्ञेयमिति । ९१ आर्यायामन्ये येऽवशिष्टा प्रश्नास्तेषामुत्तराणि क्षयशेषादहर्गणमानीय ततोऽहर्गणात् कार्याणि । ९२ आर्यायां च ये प्रश्नास्ते-

षामुत्तराणि कुट्टकविधिना स्फुटानि । आचार्येणापीह स्फुटत्वात् तेषामुत्तराणि नोक्तानीति ॥६५॥

वि. भा.—अवमशेषात् ११०१७९ एतैर्गुणितात् ३५६२२२० एतैर्भक्ताच्छेषं तिथयो भवन्ति, अवमशेषकाद्वर्त्तमानतिथेर्भुक्तं मानं साध्यमिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

'सावनान्यवमानि स्युश्चान्द्रेभ्यः साधितानि चेत् । सावनेभ्यस्तु चान्द्राणि तच्छेषं तद्वशात्तथेति' सिद्धान्त शिरोमणौ प्रतिपादितम् । तेन चान्द्रेभ्यो यान्यवमानि तच्छेषं च यत्तदेव शेषमवमानि च सावनेभ्यो भवन्ति, ततः कल्पचान्द्रदिनैर्यदि कल्पावमानि लभ्यन्ते तदा गत चान्द्रदिनैः किमित्यनुपातेन लब्धं गतावमानि शेषमवमशेषं तत्स्वरूपम् $= \frac{\text{कल्पावम} \times \text{गत चान्द्रदि}}{\text{कल्पचांदि}} = \text{गतावम} + \frac{\text{अवमशे}}{\text{कल्पचांदि}}$

पक्षौ $\frac{\text{अवशे}}{\text{कल्पचांदि}}$ एभिर्हीनौ तदा $\frac{\text{कल्पावम} \times \text{गतचान्द्रदि} - \text{अवमशे}}{\text{कल्पचांदि}} = \text{गतावम}$,

अत्र कल्पावमानि भाज्यं, अवमशेषमृणक्षेपं कल्पचान्द्रदिनानि हारं प्रकल्प्य कुट्टकेन यो गुणस्तान्येव गतचान्द्रदिनानि गततिथयो भवन्ति । तत्राचार्येण ऋणात्मकरूप क्षेपे स्थिर कुट्टकः साधितः स एवावमशेष गुणकः पठितः । अथ दृढावम दृढचान्द्रदिनयोरानयनं क्रियते $\frac{\text{कल्पावमदि}}{\text{कल्पचांदि}} = \frac{२५०८२५५००००}{१६०२९९००००००}$

$= \frac{५०००० \times ५०१६५१}{५०००० \times ३२०५९९८०} = \frac{५०००० \times ९ \times ५५७३९}{५०००० \times ९ \times ३५६२२०} = \frac{५५७३९}{३५६२२०}$

$= \frac{\text{दृढावमदि}}{\text{दृढचांदि}}$ अतो दृढचान्द्रदिनान्येव हरः सिद्धः । गणितागतमवमशेष-५००००×९ मनेन विभक्तं लब्धमत्र दृढावमशेषं बोध्यमिति । ९१ श्लोके-अवशिष्टा अन्ये ये प्रश्नास्तेषामुत्तराण्यवमशेषादहर्गणं संसाध्य तस्मादहर्गणात्कार्याणि । ९२ श्लोके च ये प्रश्नास्तेषामुत्तराणि कुट्टकयुक्त्या कार्याणीति ॥९५॥

अब अवमशेष से तिथि के आनयन को कहते हैं ।

हि. भा.—अवमशेष को ११०१७९ इससे गुणाकर ३५६२२२० इन से भाग देने से जो शेष रहता है वह तिथि होती है । अवमशेष से वर्त्तमान तिथि का भुक्तमान साधन करना चाहिये इति ॥६५॥

उपपत्ति ।

चान्द्रदिन से साधित अवम और जो अवमशेष होता है वही अवम और अवमशेष

सावन से भी होता है 'गोलाध्याय में सावनान्यवमानि स्युश्चान्द्रेभ्य: साधितानि चेत्' इत्यादि श्लोक की मिताक्षरा में भास्कराचार्योक्त से स्पष्ट है, अतः कल्प चान्द्र दिन में यदि कल्पावम पाते हैं तो गतचान्द्र दिन में क्या इस अनुपात से सशेष (शेष सहित) गतावम आता है उसका स्वरूप $= \frac{\text{कल्पावम} \times \text{गतचांदि}}{\text{कल्पचांदि}} = \text{गतावम} + \frac{\text{अवमशे}}{\text{कल्पचांदि}}$ दोनों पक्षों में $\frac{\text{अवमशे}}{\text{कल्पचांदि}}$

इसको घटाने से $\frac{\text{कल्पावम} \times \text{गतचांदि} - \text{अवमशे}}{\text{कल्पचांदि}} = \text{गतावम}$, यहां यदि कल्पावम को भाज्य, अवमशेष को ऋणक्षेप, कल्पचान्द्र दिन को हार कल्पना की जाय तब कुट्टक विधि से जो गुणक होता है वही गतचान्द्रदिन गततिथि होती है। वहां आचार्य ने ऋणात्मक रूप क्षेप में स्थिर कुट्टक साधन किया है वही अवमशेषका गुणक पठित हैं। दृढ़ावम और दृढ़चान्द्र दिन का आनयन करते हैं $\frac{\text{कल्पावमदि}}{\text{कल्पचांदि}} = \frac{२५०८२५५००००}{१६०२९९००००००} = \frac{५०००० \times ५०१६५१}{५०००० \times ३२०५९९८०}$

$= \frac{५०००० \times ९ \times ५५७३९}{५०००० \times ९ \times ३५६२२०} = \frac{५५७३९}{३५६२२०} = \frac{\text{दृढ़ावमदि}}{\text{दृढ़चांदि}}$ अतः चान्द्रदिन ही हर सिद्ध हुआ। गणितागत अवमशेष को ५०००० × ९ इससे भाग देने से जो लब्ध होता है वह यहां अवमशेष समझना चाहिये।

९१ श्लोक में अवशिष्ट जो अन्य प्रश्न हैं उन सबों के उत्तर अवमशेष से अहर्गण साधन कर उस अहर्गण से करना चाहिये। तथा ९२ श्लोक में जो प्रश्न हैं उन सबों के उत्तर कुट्टक विधि से स्पष्ट हैं; आचार्य ने भी इसी कारण से उनके उत्तर नहीं कहे हैं इति ॥९५॥

इदानीं पुनः प्रश्नान्तरं तदुत्तरं चाह।

भागकलाविकलैक्यं दृष्ट्वा विकलान्तरं च के शेषे।
ऐक्यं द्विधाऽन्तराधिकहीनं च द्विभाजितं शेषे ॥९६॥

सु. भा.—भागविकलं भागशेषं। कलाविकलं कलाशेषम्। अनयोरैक्यं तथाऽनयोर्विकलयोः शेषयोरन्तरं न दृष्ट्वा शेषे ते द्वे के स्त इति प्रश्नः। अथ तदुत्तरमाहैक्यमिति।

ऐक्यं द्विधा स्थाप्यमन्तरेणैकत्राधिकमन्यत्र हीनं कार्यं ततो द्विभाजितं दलितं शेषे भवतः।

अत्रोपपत्तिः। सङ्क्रमणगणितेन स्फुटा ॥९६॥

वि. भा.—भागविकलं (अंशशेषं) कलाविकलं (कलाशेषं) एतयोरैक्यं (योगं) तथा विकलान्तरं (शेषयोरन्तरं) दृष्ट्वा ते शेषे के स्त इति प्रश्नः। ऐक्यं

(शेषयोर्योगं) स्थानद्वये स्थाप्यमेकत्रान्तरेण युतमन्यत्र हीनं कार्यं द्वाभ्यां भक्तं तदा शेषे भवेतामित्युत्तरम् ।

अत्रोपपत्तिः ।

कल्प्यते अंशशेषमानम्=य, कलाशेषमानम्=र, अनयोर्योगः=य+र =यो, तयोरेवान्तरम्=य—र=अं तदा यो+अं=(य+र)+(यो—अं)=य+र+य—र=२ य ∴ $\frac{\text{यो—अं}}{२}$=य तथा यो—अं=(य+र)—(य—र)=य+र—य+र=२ र ∴ $\frac{\text{यो—अं}}{२}$=र, अत आचार्योक्तमुपपन्नम् ॥९६॥

अब पुनः प्रश्नान्तर और उसके उत्तर को कहते हैं।

हि. भा.—अंशशेष और कलाशेष का योग तथा उन्हीं दोनों शेषों का अन्तर जान कर वे दोनों शेष क्या हैं यह प्रश्न है। दोनों शेषों के योग को दो स्थानों में रख कर एक स्थान में अन्तर को जोड़ कर दूसरे स्थान में अन्तर को घटाकर आधा करने से दोनों शेषों के मान होते हैं, यह उत्तर है।

वृहद्राशिः=य, लघुराशिः=र । य+र=योगः=यो । य—र=अन्तरम्=अं, तब यो+अं=य+र+य—र=२ य अतः $\frac{\text{यो+अं}}{२}$=य, तथा यो—अं=य+र—(य—र)=य+र—य+र=२ र अतः $\frac{\text{यो—अं}}{२}$=र, यहां यदि अंशशेष=य, कलाशेष=र तब $\frac{\text{यो+अं}}{२}$ = आचार्योक्त सूत्र उपपन्न होता है। आचार्य संक्रमण गणित "योगोऽन्तरयुतहीनो द्विहृत" इत्यादि से पहले कह चुके हैं, यहां भी 'ऐक्यं द्विधाऽन्तराधिकहीनं' इत्यादि से उसी संक्रमण की प्रक्रिया का पिष्टपेषण करते हैं, सिद्धान्तशेखर में 'योगोऽन्तरेणोनयुतो द्विभक्तः कर्मोदितं संक्रमणाख्यमेतत्' इससे श्रीपति तथा लीलावती में 'योगोऽन्तरेणोनयुतोऽर्धितस्तौ राशी स्मृतं संक्रमणाख्यमेतत्' इससे भास्कराचार्य ने भी आचार्योक्त संक्रमण कर्म के सदृश ही संक्रमण कर्म कहा है इति ॥९६॥

इदानीं पुनः प्रश्नान्तरं तदुत्तरं चाह ।

तद्वर्गान्तरमाद्ये तदन्तरं चान्तरोद्धृतयुतोनम् ।
वर्गान्तरं विभक्तं द्वाभ्यां शेषे ततो द्युगणः ॥९७॥

सु. भा.—आद्येऽनन्तरोक्ते प्रश्ने यदि तयोः शेषयोर्वर्गान्तरं तथा तयोरन्तरं

चोद्दिष्टं भवेत् तदा वर्गान्तरमन्तरेणोद्धृतं लब्धं चान्तरेण युतमूनं च कार्यम् । ततो द्वाभ्यां विभक्तं शेषे भवतः । ततो भागकलाशेषाभ्यां प्राग्वत् कुट्टकविधिनाऽहर्गणः साध्यः ।

अत्रोपपत्तिः । विषमकर्मणा स्फुटा ॥९७॥

वि. भा.—आद्ये (अनन्तरोक्ते) प्रश्ने यदि तयोः शेषयोर्वर्गान्तरं तथा तयोरन्तरं चोद्दिष्टं भवेत् तदा वर्गान्तरमन्तरेण भक्तं लब्धं तयोर्योगो भवेत्, लब्धमन्तरेण युतं हीनं च विधेयं द्वाभ्यां भक्तं तदा शेषे भवतः । ततोंऽशकला शेषाभ्यां पूर्ववत् कुट्टकेनाऽहर्गणज्ञानं भवेदिति ।

अत्रोपपत्तिः ।

कल्प्यते अंशशेषमानम्=य, कलाशेषमानम्=र, तदा $\frac{य^2-र^2}{य-र}=य+र$

$=\frac{वर्गान्तर}{अन्तर}=यो$ । य—र=अन्तर, ततः संक्रमणेन $\frac{यो+अं}{२}=य$ ।

$\frac{यो-अं}{२}=र$ एतावताऽऽचार्योक्तमुपपन्नम् । अत्रापि 'वर्गान्तरमन्तरयुतहीनमित्यादि' विषमकर्म संज्ञकस्य गणितस्य पिष्टपेषणमेव कृतमाचार्येण 'वर्गान्तरं स्वान्तरहृद्युतोनं योगो द्विभक्तं विषमाख्यकर्म' अनेन श्रीपतिनाऽऽचार्योक्तविषमकर्मसदृशमेव विषमकर्मोक्तम्' भास्कराचार्येणैतस्य नाम विषमकर्म न कथ्यते; अंशकलाशेषाभ्यां पूर्ववत् कुट्टकेनाहर्गणज्ञानं भवेदेवेति ॥९७॥

अब पुनः प्रश्नान्तर और उसके उत्तर को भी कहते हैं ।

हि. भा.—यदि अंशशेष और कलाशेष का वर्गान्तर तथा उन्हीं दोनों का अन्तर उद्दिष्ट है तब वर्गान्तर को अन्तर से भाग देने से जो लब्ध हो उस में अन्तर को युत और हीन कर, दो से भाग देने से अंशशेष और कलाशेष होते हैं, इन दोनों शेषों से पूर्ववत् कुट्टक विधि से अहर्गणानयन सुगमता ही से होता है ॥९६॥

उपपत्ति ।

कल्पना करते हैं अंशशेषमान=य, कलाशेषमान=र, तब $य^2-र^2$=वर्गान्तर,

य—र=अन्तर $\frac{य^2-र^2}{य-र}=\frac{वर्गान्तर}{अन्तर}=य+र$=योग, अब योग और अन्तर ज्ञान से संक्रमण गणित से य, और र विदित हो जायंगे, तब अंशशेष और कलाशेष ज्ञान से पूर्ववत् कुट्टक विधि से अहर्गण ज्ञान सुगमता से हो जायगा । यहां आचार्य ने पूर्वोक्त विषमकर्मोक्त प्रक्रिया लिख कर विषम कर्म का पिष्ट पेषण किया हैं ॥९७॥

इदानीं शेषयोर्वर्गयोग-योगाभ्यां तयोरानयनमाह ।

कृतिसंयोगाद् द्विगुणाद्युतिवर्गं प्रोह्यमूलं यत् ।
तेन युतोनो योगो दलितः शेषे पृथगभीष्टे ॥६८॥

सु. भा.—एवं भवितुमर्हति ।

यदाऽनन्तरोक्ते प्रश्ने शेषयोर्वर्गयोगः शेषयोगश्चोद्दिष्टो भवेत् तदा द्विगुणात् कृतिसंयोगाच्छेषयोर्युतिवर्गं प्रोह्य शेषस्य यन्मूलं भवेत् तद्भागकलाशेषयोरन्तरं भवेत् तेन योगो युतोनो दलितः पृथगभीष्टे भागकलयोः शेषे भवतः ।

अत्रोपपत्तिः । अत्रप्रश्नानुसारेण ।

$भाशे^2+कशे^2=वयु$

$भाशे+कशे=यु$

$\therefore २\ भाशे^2+२\ कशे^2=२\ वयु$

$भाशे^2+२\ भाशे\times कशे+कशे^2=यु^2$, द्वयोरन्तरेण

$भाशे^2-२\ भाशे\times कशे+कशे^2$

$=(भाशे+कशे)^2=वयु-यु^2$

$\therefore भाशे-कशे=\sqrt{२\ वयु-यु^2}$

अवशिष्टोपपत्तिः सङ्क्रमणेन स्फुटा ।६८॥

वि. भा.—यदि पूर्वोक्तशेषयोर्वर्गयोगः शेषयोगश्चोद्दिष्टो भवेत्तदा शेषयोर्द्विगुणाद्वर्गयोगाच्छेषयोर्युतिवर्गं विशोध्य शेषस्य मूलं यत्तदंशकलाशेषयोरन्तरं भवेत् तेन योगो युतोनोऽर्धितस्तदा पृथगभीष्टेंऽशकलयोः शेषे भवेतामिति ॥

अत्रोपपत्ति :

कल्प्यते अंशशेषप्रमाणम्$=$य, कलाशेषमानम्$=$र, $य^2+र^2=$वर्गयोगः । $य+र=$युतिः$=$यु, तदा $२\ वर्गयो=२\ य^2+२\ र^2$, $(य+र)^2=यु^2=य^2+२\ य.र+र^2$ अतः $२\ वर्गयोः-यु^2=२\ य^2+२\ र^2-(य^2+२\ य.र+र^2)=२\ य^2+२\ र^2-य^2-२\ य.र-र^2=य^2+र^2-२\ य.र=(य-र)^2$ मूलग्रहणेन $\sqrt{२\ वयो-यु^2}=य-र=$अंशशे$-$कलाशे, ततो विदिताभ्यामंशशेषकलाशेषयोर्योगान्तराभ्यां संक्रमणेन ते शेषे (अंशकलयोः शेषे) विदिते भवतः[१] एतेन

(१) एतस्योत्तरमन्यरीताऽपि भवति, यथा 'वर्गयोगस्य यद्राश्योर्युतिवर्गस्य चान्तरमि' त्यादि भास्करोक्त सूत्रेण $योग^2-वर्गयो=(य+र)^2-(य^2+र^2)=य^2+२\ य.र+र^2-य^2-र^2=२\ य.र$ द्वाभ्यां गुणनेन $२\ (योग^2-वर्गयो)=४\ य.र$ ततश्चतुर्गुणस्य घातस्य युतिवर्गस्य चान्तरमि' त्यादि भास्करोक्त सूत्रेण $योग^2-४घात=य^2+२\ य.र+र^2-४\ य.र=य^2-२\ य.र+र^2=(य-र)^2$ मूल ग्रहणेन $य-र=$अन्तरम् ततः संक्रमणेन य, र अनयोर्ज्ञानं भवेदिति ॥

सूत्रमुपपन्नम् ॥९८॥

अब शेषद्वय के वर्गयोग और शेषद्वय के आनयन को कहते हैं।

हि. भा.—यदि पूर्वोक्त शेषद्वय का वर्गयोग और शेषयोग उद्दिष्ट हो तब द्विगुणित वर्गयोग में से शेष योग वर्ग को घटा कर जो शेष हो उसका मूल दोनों शेषों का अन्तर होता हैं योग में इस अन्तर को युत और हीन कर आधा करने से दोनो शेषों के प्रमाण होते हैं ॥९८॥

उपपत्ति।

कल्पना करते हैं अंश शेषमान=य, कलाशेषमान=र, $य^2+र^2$=वर्गयो। य+र=योग=यो, तब २ वर्गयो—$यो^2$=२ $य^2$+२ $र^2$—$(य+र)^2$=२ $य^2$+२ $र^2$ — ($य^2$+२ य.र+$र^2$) = २ $य^2$+२ $र^2$—$य^2$—२ य. र—$र^2$=$य^2$+$र^2$—२ य.र =$(य—र)^2$ मूल लेने से $\sqrt{२ वयो—या^2}$=य—र=अंश शे—कलाशे, तब अंशद्वय के योग और अन्तर ज्ञान से संक्रमण से दोनों शेषों का मान विदित हो जायगा। इस प्रश्न का उत्तर दूसरी रीति से भी हो सकता है। जैसे 'वर्ग योगस्य यद्राश्योरि'त्यादि भास्करोक्त सूत्र से $योग^2$—वर्गयो=$(य+र)^2$—($य^2$+$र^2$) =$य^2$+२ य.र+$र^2$—$य^2$—$र^2$= २ य.र द्विगुणित करने से; २ {$(य+र)^2$—($य^2$+$र^2$)}=४ य र, अब 'चतुर्गुणस्य घातस्य युति वर्गस्य चान्तरं' इत्यादि भास्करोक्त सूत्र से $योग^2$—४ घात=$(य+र)^2$ —४ य.र=$य^2$+२ य.र+$र^2$—४ य.र=$य^2$—२ य.र+$र^2$=$(य—र)^2$ मूल लेने से अन्तर ज्ञान होगा तब संक्रमण से य, र का ज्ञान हो जायगा इति ॥९८॥

इदानीं पुनः प्रश्नान्तरस्योत्तरमाह।

शेषवधाद् द्विकृतिगुणात् शेषान्तरवर्गसंयुतान्मूलम्।
शेषान्तरोनयुक्तं दलितं शेषे पृथगभीष्टे ॥९९॥

सु. भा.—यदाऽनन्तरोक्ते प्रश्ने भागकलाशेषयोरन्तरं वधश्चेति द्वयमुद्दिष्टं भवेत् तदा द्विकृतिगुणात्। द्वयोर्या कृतिर्वर्गस्तेनार्थाद्वेदै ४ र्गुणाच्छेषवधाच्छेषान्तरवर्गसंयुतान्मूलं ग्राह्यम्। तच्छेषान्तरेणोनं युक्तं दलितं च पृथगभीष्टे भागकलाशेषे भवतः।

अत्रोपपत्तिः। अत्र प्रश्नानुसारेण

भाशे—कशे=अं

भाशे×कशे=व

∴ $(भाशे—कशे)^2$=$भाशे^2$—२ भाशे×कशे+$कशे^2$=$अं^2$

४ भाशे×कशे =४ व

द्वयोर्योगेन

भाशे^{2}+२ भाशे×कशे+कशे^{2}=(भाशे+कशे)^2=अं^{2}+४ व

मूलग्रहणेन, भाशे+कशे=$\sqrt{\text{अं}^2+४ \text{ व}}$

शेषवासना सङ्क्रमणेन स्फुटा ॥६६॥

वि. भा.—यदि अंशकलाशेषयोरन्तरं घातश्चेति द्वयमुद्दिष्टं भवेत्तदा द्विकृतिगुणात् (चतुर्गुणात्) शेषयोर्घाताच्छेषान्तरवर्गयुतान्मूलं यत्तच्छेषान्तरेण हीनं युक्तं तदर्धे पृथगभीष्टेंऽशकला शेषे भवेतामिति।

अत्रोपपत्तिः।

कल्प्यते अंशशेषमानम्=य, कलाशेषमानम्=र शेषयोरन्तरं=य–र, चतुर्गुण-घातः=४ य.र=घा अन्तर^2+४ घात=(य–र)^2+४ य.र=य^2–२ य.र+र^2+४ य.र =य^2+२ य.र+र=(य+र)^2 मूलग्रहणेन य+र=योग। ततः $\frac{\text{योग}+\text{अन्तर}}{२}$ =य, $\frac{\text{योग}-\text{अन्तर}}{२}$=र, बीजगणिते 'चतुर्गुणस्य घातस्य युतिवर्गस्य चान्तरमि' त्यादिना भास्कराचार्येण राश्योर्योगवधयोर्ज्ञानाद्राश्यन्तरज्ञानार्थं विधिः प्रदर्शितः, अत्राऽऽचार्येण राश्योरन्तरवधयोर्ज्ञानाद्राशियोगज्ञानं कृतं वस्तुतोऽनयोर्न कश्चिद् भेद इति ॥६६॥

अब पुनः प्रश्नान्तर के उत्तर को कहते हैं।

हि. भा.—यदि पूर्वोक्त प्रश्न में अंश शेष और कलाशेष का अन्तर तथा उन्ही दोनों का चतुर्गुणित घात उद्दिष्ट हो तब शेषान्तर वर्ग में चतुर्गुणित घात को जोड़ कर जो मूल हो उस में से शेषान्तर को हीन और जोड़ कर आधा करने से अभीष्ट शेषद्वय का मान होता है इति ॥६०॥

उपपत्ति।

कल्पना करते हैं। अंशशेष=य, कलाशेष=र, दोनों शेषों का अन्तर=अं=य —र, चतुर्गुणघात=४ य.र=४ घा, अं^{2}+४ घा=(य—र)^2+४ य.र=य^2—२ य.र +र^2+४ य.र=य^2+२ य.र+र^2=(य+र)^2 मूल लेने से य+र=यो, तब $\frac{\text{यो}+\text{अं}}{२}$=य, $\frac{\text{योग}-\text{अं}}{२}$=र, बीजगणित में 'चतुर्गुणस्य घातस्य युतिवर्गस्य चान्तरम्' इत्यादि से भास्कराचार्य ने योग और घात के ज्ञान से राश्यन्तर ज्ञानार्थं विधि दिखलाई है। यहां आचार्य ने अन्तर और वध के ज्ञान से राशियोग ज्ञात किया है वस्तुतः इन दोनों में कुछ भेद नहीं है इति ॥६६॥

इदानीं छात्रान् स्ववक्तव्यं कथयति ।

हृन्मात्रममी प्रश्नाः प्रश्नानन्यान् सहस्रशः कुर्यात् ।
अन्यैर्दत्तान् प्रश्नानुक्तयैवं साधयेत् करणैः ॥१००॥

सु. भा.—अमी पूर्वोक्ताः प्रश्नाश्छात्राणां हृन्मात्रं हृदये बोधार्थमात्रमेव मया लिखिताः । एतान् बुद्ध्वा बुद्धिमान् सहस्रशोऽन्यान् प्रश्नान् कुर्यात् । एवमुक्तया पूर्वोक्तया करणैः साधनप्रकारैश्चान्यैर्दत्तान् प्रश्नानपि बुद्धिमान् साधयेत् प्रश्नोत्तराणीति शेषः ॥१००॥

वि. भा.—अमी पूर्वकथिताः प्रश्नाः, छात्राणां हृन्मात्रं (हृदये ज्ञानार्थमात्रमेव) मया कथिताः । एतान् ज्ञात्वा प्रतिभावान् सहस्रशोऽन्यान् प्रश्नान् कुर्यात् एवं पूर्वोक्तया करणैः (साधन प्रकारैः) अन्यैर्दत्तान् प्रश्नान् प्रतिभावान् साधयेत् (तदुत्तराणि) इति ॥१००॥

अब छात्रों को अपना वक्तव्य कहते हैं ।

हि. भा.—ये पूर्व कथित प्रश्न समूह छात्रों के हृदय में केवल बोध के लिये कहे है । इन प्रश्नों को मेधावी व्यक्ति समझ कर अन्य हजारों प्रश्नों को करे, पूर्वोक्त साधन प्रकारों से अन्य व्यक्ति से दिये हुए प्रश्नों को भी बुद्धिमान् साधन करे अर्थात् उत्तर करे इति ॥१००॥

इदानीं प्रश्नप्रशंसामाह ।

जन संसदि दैवविदां तेजो नाशयति भानुरिव भानाम् ।
कुट्टाकारप्रश्नैः पठितैरपि किं पुनः शतशः ॥१०१॥

सु. भा.—गणकः कुट्टाकारप्रश्नैः पठितैरपि जनसंसदि गणकजनसभायां दैवविदां ज्योतिर्विदां तेजो नाशयति भानां भानुरिव । पुनः सूत्रैः किं वक्तव्यमस्ति । प्रश्नपाठैरेव गणको ज्योतिर्विदां मध्ये भानुरिव भवति तत्सूत्रज्ञानेन पुनः किं भवतीति वर्णनातीतमित्यर्थः ॥१०१॥

वि. भा.—कुट्टाकारप्रश्नैः पठितैरपि गणको जनसंसदि (ज्योतिर्वित्सभायां) ज्योतिर्विदां तेजो नाशयति यथा सूर्यस्याग्रे नक्षत्राणां तेजो नष्टं भवति, अर्थात्प्रश्नपठनमात्रेणैव गणको ज्योतिर्विदां संमुखे सूर्य इव भवति तदा पुनः शतशः सूत्रादिपाठैव किं भवतीति ॥१०१॥

अब प्रश्न प्रशंसा करते हैं।

हि. भा.—कुट्टाकार प्रश्नों के पठनमात्र से ही गणक ज्यौतिषिकीसभा में ज्यौतिषिकों के तेज को नाशकरते हैं जैसे सूर्य भगवान् नक्षत्रों के तेज (प्रकाश) को नाश करते हैं। अर्थात् प्रश्नों के पठन मात्र ही से गणक ज्यौतिषिकों के मध्य में नक्षत्रों के मध्य में सूर्य की तरह होते हैं तब फिर उन सूत्रों के ज्ञान से क्या होगा अर्थात् उसका वर्णन नहीं हो सकना है इति ।। १०१ ।।

इदानींमध्यायोपसंहारमाह।

प्रतिसूत्रममीं प्रश्नाः पठिताः सोद्द ेशकेषु सूत्रेषु ।
आर्यात्र्यधिकशतेन च कुट्टश्चाष्टादशोऽध्यायः ।।१०२।।

सु. भा.—प्रतिसूत्रं मयाऽमी प्रश्नाः पठिताः। एवं सोदाहरणेषु सूत्रेषु आर्यात्र्यधिकशतेनायं कुट्टक नामाऽध्यायोऽष्टादशः।

मधुसूदनसूनुनोदितो यस्तिलकः श्रीपृथुनेह जिष्णुजोक्ते।
हृदितं विनिधाय नूतनोऽयं रचितः कुट्टविधौ सुधाकरेण ।।

इति श्री कृपालुदत्तसूनुसुधाकरद्विवेदि विरचिते ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त नूतन तिल के कुट्टकाध्यायोऽष्टादशः ।।१८।।

वि. भा.—मया प्रतिसूत्रममी पूर्वोक्ताः प्रश्नाः पठिताः। एवमुदाहरण-सहितसूत्रेषु आर्यात्र्यधिकशतेना (त्र्यधिकशतप्रमिताऽऽर्यया) ऽयं कुट्टकनामाऽध्या-योऽष्टादशोस्तीति।

इति श्री ब्राह्मस्फुटसिद्धान्ते कुट्टकाध्यायोऽष्टादशः समाप्तः ।।१८।।

अब अध्याय के उपसंहार को कहते हैं।

हि. भा.—हम ने पूर्वोक्त इन प्रश्नों को प्रति सूत्र में पठित किया है। एक सौ तीन आर्याओं से कुट्टक नाम का यह अठारहवां अध्याय है इति ।।१०२।।

इति ब्राह्म स्फुट सिद्धान्त में अठारहवां (कुट्टक) अध्याय समाप्त हुआ ।।१८।।

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

७

शंकुच्छायादिज्ञानाध्यायः

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

७

अथ शंकुच्छायादिज्ञानाध्यायः

तत्र प्रथमं प्रश्नानाह ।

दृष्ट्वा दिनार्धघटिका योऽर्कज्ञोऽक्षांशकान् विजानाति ।
उदयान्तरघटिकाभिर्ज्ञाताज्ज्ञेयं स तन्त्रज्ञः ॥१॥

सु. भा.—योऽर्कज्ञो दिनार्धघटिका दृष्ट्वाऽक्षांशकान् विजानाति । एकग्रहस्योदयाद्यावतीभिर्घटिकाभिरन्यो ग्रह उदेति ता उदयान्तरघटिकास्ताभिर्द्वयोर्ग्रहयोर्मध्ये यो ज्ञातो ग्रहोस्ति तस्माज्ज्ञातादपरं ज्ञेयं ग्रहं वा यो विजानाति स एव तन्त्रज्ञः सिद्धान्तविद्याविदित्यहं मन्य इति शेषः ॥१॥

वि. भा.—योऽर्कज्ञो दिनार्धघटिका दृष्ट्वाऽक्षांशकान् विजानाति, उदयान्तरघटिकाभिः (एकग्रहस्योदयादन्यो ग्रहो यावतीभिर्घटिकाभिरुदेति ता उदयान्तर घटिकास्ताभिः) ग्रहयोर्मध्ये यो ज्ञातग्रहो (विदितग्रहः) ऽस्ति तस्मादपरं ज्ञेयं ग्रहं वा यो विजानाति स तन्त्रज्ञो (सिद्धान्त शास्त्रवेत्ता) ऽस्तीति ॥१॥

अब शङ्कुच्छायादि ज्ञानाध्याय प्रारम्भ किया जाता है ।
उसमें पहले प्रश्नों को कहते हैं ।

हि. भा.—जो रवि के ज्ञाता दिनार्ध घटी को देख कर अक्षांश को जानते हैं अर्थात् जो व्यक्ति रवि और दिनार्ध घटी से अक्षांश को जानते हैं। वा उदयान्तर घटी (एक ग्रह के उदय से दूसरे ग्रह जितनी घटी में उदित होते हैं वे उदयान्तर घटी हैं) से दोनों ग्रहों में जो विदित ग्रह है उससे ज्ञेय (ज्ञातव्य) ग्रह को जानते हैं वे सिद्धान्त विद्या के पण्डित हैं इति ॥१॥

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह ।

अस्तान्तरघटिकाभिर्यो ज्ञाताज्ज्ञेयमानयति तस्मात् ।
मध्यगतिं युगभगणानानयति ततः स तन्त्रज्ञः ॥२॥

सु. भा.—एकग्रहस्यास्तानन्तरमन्यो ग्रहो यावतीभिर्घटिकाभिरस्तं याति ता अस्तान्तरघटिकास्ताभिर्ज्ञाताच्चैकस्माद्ग्रहादन्यं ज्ञेयं ग्रहं य आनयति। तस्मात् स्पष्टज्ञेयग्रहात् मध्यमगतिं मध्यमज्ञेयं ग्रहं य आनयति। ततस्तस्मान्मध्यमज्ञेया-द्युगभगणान् तस्य य आनयति स एव तन्त्रज्ञ इति ॥२॥

वि. भा.— एकग्रहस्यास्तानन्तरं यावतीभिर्घटिकाभिर्द्वितीयग्रहोऽस्तं याति ता अस्तान्तरघटिकास्ताभिर्ज्ञातादेकस्माद् ग्रहाज्ज्ञेयं (ज्ञातव्यं) द्वितीयग्रहं य आनयति। वा तस्मात् स्पष्टज्ञेयग्रहात् ज्ञेयं मध्यमग्रहं य आनयति, तस्मान्मध्य-मज्ञेयग्रहात्तस्य युगभगणान् य आनयति स तन्त्रज्ञोऽस्तीति ॥२॥

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं।

हि. भा.— जो व्यक्ति अस्तान्तर घटी (एक ग्रह के अस्त के बाद द्वितीय ग्रह जितनी घटी में अस्त होता है वह अस्तान्तर घटी है) से विदित एक ग्रह से ज्ञेय (ज्ञातव्य) द्वितीय ग्रह को लाते हैं अर्थात् जानते हैं। वा उस स्पष्टज्ञेय ग्रह से मध्यम ग्रह को जानते हैं वा उस मध्यम ग्रह से उसके युग भगण को जानते हैं वे सिद्धान्त विद्या के पण्डित हैं इति ॥२॥

इदानीमन्यान् प्रश्नानाह।

आनयति यस्तमोरविशशाङ्कमानानि दीपकशिखौच्च्यात्।
शङ्कुतलान्तरभूमिज्ञाने छायां स तन्त्रज्ञः ॥३॥

सु. भा.—यो राहुरविचन्द्रबिम्बमानान्यानयति। दीपकशिखौच्च्यात् प्रदीपोच्छ्रितेः शङ्कुतलान्तरभूमिज्ञाने प्रदीपतलाच्छङ्कुमूलान्तरं शङ्कुतला-न्तरम्। तदेव भूमिरिति शङ्कुतलान्तरभूमिस्तस्या ज्ञाने यश्छायामानयति स एव तन्त्रज्ञः ॥३॥

वि. भा.—यस्तमोरविशशाङ्कमानानि (राहुरविचन्द्रबिम्बमानानि) आन-यति, प्रदीपोच्छ्रितेः शङ्कुतलान्तरभूमिज्ञाने (प्रदीपतलाच्छङ्कु मूलं यावच्छंकु-तलान्तरं तदेव भूमिस्तस्याज्ञाने) छायामानयति स तन्त्रज्ञोऽस्तीति ॥३॥

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं।

हि. भा.—जो व्यक्ति राहु–रवि और चन्द्र के बिम्बमान को जानते हैं। दीपशिखौ-च्च्य (दीप की ऊंचाई) से दीपतल और शङ्कु मूल के अन्तर को जानते हैं। शंकुतलान्तर (दीपतल और शङ्कु मूल के अन्तर) से छाया को जानते हैं वे सिद्धान्त विद्या के पण्डित हैं इति ॥३॥

इदानीमन्यं प्रश्नमाह ।

इष्टगृहौच्च्यज्ञो यस्तदन्तरज्ञो निरीक्षते तु जले ।
गृहभित्त्यग्रं दर्शयति दर्पणे वा स तन्त्रज्ञः ।।४।।

सु भा.—य इष्टग्रहौच्च्यज्ञ आत्मस्थानात् तस्य गृहस्यान्तरज्ञश्च जले गृहभित्त्यग्रं निरीक्षते वा दर्पणे तदग्रं दर्शयति स एव तन्त्रज्ञः ।।४।।

हि. भा.—य इंष्टगृहौच्च्यज्ञाता स्वस्थानात्तस्य गृहस्यान्तरज्ञाता च जले गृहभित्त्यग्रं निरीक्षते वा दर्पणे तदग्रं दर्शयति स तन्त्रज्ञोऽस्तीति ।।४।।

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा.—जो इष्टगृह की ऊंचाई तथा अपने स्थान से उस गृह के अन्तर का भी ज्ञाता जल में उस गृह की भीति के अग्र को देखता है वा दर्पण में उसके अग्र को दिखलाता है वह तन्त्रज्ञ हैं ।।४।।

इदानीमन्यं प्रश्नमाह ।

छायाद्वितीयभाग्रान्तर विज्ञानेन वेत्ति दीपौच्च्यम् ।
शङ्कुच्छायाज्ञो वा भूमेश्छायां स तन्त्रज्ञः ।।५।।

सु. भा.—यः शङ्कुछायाज्ञः(शङ्क्वोर्ये द्वे छाये ते जानातीति शङ्कुछायाज्ञः) छायाद्वितीयभाग्रान्तरविज्ञानेन छायायाः प्रथमच्छायाया द्वितीय भाग्रस्य द्वितीयच्छायाया यदन्तरं तस्य विज्ञानेन दीपौच्च्यं वेत्ति वा भूमेर्भूमिमानाच्छायां वेत्ति स एव तन्त्रज्ञः ।।५।।

वि. भा.—यः शङ्कुच्छायाज्ञः (शङ्क्वोर्ये छाये ते जानातीति शङ्कुच्छायाज्ञः) प्रथम छायाया द्वितीयच्छायायाश्च यदन्तरं तद्विज्ञानेन दीपौच्च्यं जानाति वा भूमिमानात् छायां जानाति स तन्त्रज्ञोऽस्तीति ।।५।।

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा—जो शङ्कु के दो छायाओं के ज्ञाता हैं । तथा जो प्रथम छाया और द्वितीय छाया के अन्तर को जानकर दीपौच्च्य को जानते हैं वा भूमिमान से छाया को जानते हैं वे सिद्धान्त विद्या के पण्डित हैं ।।५।।

इदानीमन्यं प्रश्नमाह ।

गृहपुरुषान्तरसलिले यो दृष्ट्वाग्रं गृहस्य भूमिज्ञः ।
वेत्ति गृहौच्च्यं दृष्ट्वा तैलस्थं वा स तन्त्रज्ञः ।।६।।

सु. भा.—(गृहपुरुषान्तरसलिले यो दृष्ट्वाऽग्रं गृहस्य भूमिज्ञः ।
वेत्ति गृहौच्च्यं दृष्ट्वा तैलस्थं वा स तन्त्रज्ञः ॥६॥

पुरुषो द्रष्टा ग्रहपुरुषयोरन्तरे मध्ये स्थापितं यत् सलिलं जलं तस्मिन् गृहस्याग्रं दृष्ट्वा यो भूमिज्ञो जले यत्र गृहाग्रस्य प्रतिबिंब तस्माद्गृहान्तरं नरान्तरं च यत् तद्भूमिपदेनोच्यन्ते तज्ज्ञो गृहौच्च्यं वेत्ति वा तैलस्थं गृहाग्रं दृष्ट्वा यो भूमिज्ञो गृहौच्च्यं वेत्ति स एव तन्त्रज्ञ इत्यहं मन्य इति ॥६॥

वि. भा.—गृहपुरुषयोरन्तरे स्थापितं यज्जलं तस्मिन् गृहस्याग्रं दृष्ट्वा यो भूमिज्ञो (जले प्रतिबिम्बितस्य गृहाग्रस्य गृहस्य च यदन्तरं नरांतरं च यत्तद्भूमि-शब्देन कथ्यते तज्ज्ञाता) गृहौच्च्यं जानाति, वा तैलस्थं गृहाग्रं दृष्ट्वा यो भूमिज्ञो गृहौच्च्यं जानाति स तन्त्रज्ञोऽस्तीति अत्र पुरुषशब्देन द्रष्टा ज्ञेयः) ॥६॥

अब अन्य प्रश्नों को कहते हैं ।

हि. भा.—गृह और पुरुष (द्रष्टा) के अन्तर में रखे हुए जल में गृह के अग्र को देखकर जो जल में प्रतिबिम्बित गृहाग्र और गृह के अन्तर और नरान्तर को जानने वाले गृहौच्च्य को जानते हैं, वा जो जल में प्रतिबिम्बत गृहाग्र और गृह के अन्तर और नरान्तर को जानने वाले तेलस्थित गृहाग्र को देखकर गृहौच्च्य (गृह की ऊंचाई) को जानते हैं वे सिद्धान्त विद्या के ज्ञाता है इति ॥६॥

इदानीमन्यं प्रश्नमाह ।

वीक्ष्य गृहाग्रं सलिले प्रसार्य सलिलं पुनः स्वभूज्ञाने ।
आनयति जलाद्भूमिं गृहस्य वौच्च्यं स तन्त्रज्ञः ॥७॥

सु. भा.—सलिले गृहाग्रं वीक्ष्य सलिलं च तस्मिन्नेव मार्गे स्थानान्तरे प्रसार्य पुनस्तस्मिन् सलिले गृहाग्रं वीक्ष्यात्मसलिलान्तरे ये वेधद्वये ते स्वभूसंज्ञे तयोर्ज्ञाने जलाद्गृहस्यान्तरं भूमिं य आनयति वा गृहस्यौच्च्यं य आनयति स एव तन्त्रज्ञ इत्यहं मन्ये ॥७॥

वि. भा.—जले गृहस्याग्रं दृष्ट्वा जलं च तस्मिन्नेव मार्गे स्थानान्तरे प्रसार्य पुनस्तस्मिन् जले गृहस्याग्रं दृष्ट्वा स्वस्य जलस्य चान्तरे ये वेधस्थानद्वये ते स्वभू-संज्ञके तयोर्ज्ञाने गृहजलयोरन्तरभूमिं य आनयति वा गृहस्यौच्च्यं य आनयति स तन्त्रज्ञोऽस्तीति ॥७॥

अब अन्य प्रश्न को कहते हैं ।

हि. भा.—जल में गृह के अग्र को देखकर जलको उसी मार्ग में स्थानान्तर (दूसरे

स्थान) में फैलाकर फिर उसी जल में गृह के अग्र को देखकर अपने और जल के अन्तर में जो बेधद्वय है उसके ज्ञान से गृह और जल की अन्तरभूमि को जानते हैं वा गृहौच्च्य (गृह की ऊंचाई) को जानते हैं वे सिद्धान्त विद्या के पण्डित हैं इति ॥७॥

इदानीं प्रश्नान्तरमाह ।

ज्ञातैश्छायापुरुषैर्विज्ञाते तोयकुड्ययोर्विवरे ।
कुड्येऽर्कतेजसो यो वेत्त्यारूढिं स तन्त्रज्ञः ॥८॥

सु. भा.—तोयकुड्ययोर्जलभित्त्योर्विवरेऽन्तरे विज्ञाते छायापुरुषैर्ज्ञातैः पुरुषस्योच्छ्रित्या जले तच्छायामानेन च य आरूढिं भित्त्युच्छ्रितिं वेत्ति वाऽर्कतेजसोऽर्कप्रकाशतश्छायादिज्ञानं विज्ञायारूढिं वेत्ति स एव तन्त्रज्ञ इत्यहं मन्ये ॥८॥

वि. भा.—तोयकुड्ययोः (जलभित्त्योः) विवरे (अन्तरे) विज्ञाते छायापुरुषैर्ज्ञातैः (पुरुषस्योच्छ्रित्या जले तच्छायाप्रमाणेन च य आरूढिं (भित्त्युच्छ्रिति) जानाति, वा कुड्ये (भित्तौ) रवेः प्रकाशतछायादिज्ञानं विज्ञाय भित्युच्छ्रितिं जानाति स तन्त्रज्ञोऽस्तीति ॥८॥

अब प्रश्नान्तर को कहते हैं ।

हि. भा.—जल और भित्ति (दिवाल) के अन्तर को जानकर पुरुषी ऊंचाई और जल में उसके छायाप्रमाण से जो व्यक्ति भित्ति की ऊंचाई को जानते हैं वा भित्ति में रवि के प्रकाश से छायादिज्ञान जानकर भित्ति की उंचाई को जानते हैं वे सिद्धान्त विद्या के ज्ञाता हैं इति ॥८॥

अथ प्रश्नानामुत्तराणि ।

प्रथमं प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह ।

इष्टदिवसार्धघटिका पञ्चदशान्तरप्राणाः ।
तद्दिवसचरप्राणास्तैरक्षं साधयेत् प्राग्वत् ॥९॥

सु. भा.—(इष्टदिवसार्धघटिकापञ्चदशान्तरघटीभवाः प्राणाः ।
तद्दिवसचरप्राणास्तैरक्षं साधयेत् प्राग्वद् ॥९॥

पञ्चदशेष्टदिनार्धान्तरघटीनां ये प्राणास्ते गोलयुक्त्या चरप्राणा भवन्ति । तैश्चरासुभिरर्कात् क्रान्तिज्ञानेन च प्राग्वत् त्रिप्रश्नोत्तराध्यायविधिना गणकोऽक्षमक्षांशान् साधयेत् ॥९॥

वि. भा.—इष्टदिनार्धघटी पञ्चदशघट्योरन्तरोत्पन्ना ये प्राणाः (असवः) ते चरासवो भवन्ति, तैः (चरासुभिः) पूर्ववत् (त्रिप्रश्नोत्तराध्याय विधिना) अक्षं (अक्षांशान्) साधयेद् गणक इति ॥९॥

अत्रोपपत्तिः ।

क्षितिजाहोरात्रवृत्तयोः सम्पाताद्याम्योत्तराहोरात्रवृत्तयोः सम्पातं यावद्दिनार्धम् । उन्मण्डलाहोरात्रवृत्तयोः सम्पाताद्याम्योत्तरवृत्ताहोरात्रवृत्तयोः सम्पातं यावत्पञ्चदश घटिकाः । अनयोरन्तरं क्षितिजाहोरात्रवृत्तयोः सम्पातादुन्मण्डलाहोरात्रवृत्तयोः सम्पातं यावच्चरार्धासवः = दिनार्धघटी ∽ पञ्चदशघटी, अत्र चरार्धासुरव्योर्ज्ञानेनाक्षांशज्ञानं क्रियते । रविज्ञानेन $\frac{\text{जिज्या. रविभुजज्या}}{\text{त्रि}}$ = क्रांज्या, अस्याश्चापम् = क्रान्तिः, क्रान्तिज्ञानं जातम्, ततः $\sqrt{\text{त्रि}^2 - \text{क्रांज्या}^2}$ = द्यु. $\frac{\text{चरज्या} \times \text{द्यु}}{\text{त्रि}}$ = कुज्या, ततः $\frac{\text{कुज्या} \times 12}{\text{क्रांज्या}}$ = पलभा, तथा $\sqrt{\text{कुज्या}^2 + \text{क्रांज्या}^2}$ = अग्रा । तदा $\frac{\text{कुज्या. त्रि}}{\text{अग्रा}}$ = अक्षज्या, अस्याश्चापम् = अक्षांशाः, एतेनोत्तरं जातमिति ।

अब प्रश्नों के उत्तरों को कहते हैं ।

पहले प्रथम प्रश्न के उत्तर को कहते हैं ।

हि. भा.—इष्ट दिनार्ध घटी और पञ्चदश (१५) घटी का अन्तर जनित जो असु है वह चरार्धासु है उससे पूर्ववत् (त्रिप्रश्नोत्तराध्यायोक्त विधि से) अक्षांश साधन करना चाहिए इति ॥९॥

उपपत्ति ।

यहां किसी इष्ट दिन में रवि और चरासु विदित है, इनसे अक्षांश ज्ञान करते हैं । क्षितिजाहोरात्रवृत्त के सम्पात से याम्योत्तरवृत्ताहोरात्रवृत्त के सम्पात पर्यन्त दिनार्ध घटी है, तथा उन्मण्डलाहोरात्रवृत्त के सम्पात से याम्योत्तरवृत्ताहोरात्रवृत्त की सम्पात पर्यन्त पञ्चदश (पन्द्रह) घटी हैं, इन दोनों का अन्तर करने से क्षितिजवृत्त और उन्मण्डल के अन्तर में अहोरात्र वृत्तीय चाप चरघटी है, यह विदित है, रवि के ज्ञान से $\frac{\text{जिज्या. रविभुज्या}}{\text{त्रि}}$ = क्रांज्या, इसका चाप = क्रान्ति, क्रान्ति ज्ञान से $\sqrt{\text{त्रि}^2 - \text{क्रांज्या}^2}$ = द्युज्या = द्यु तब $\frac{\text{चरज्या. द्यु}}{\text{त्रि}}$ = कुज्या, $\frac{\text{कुज्या. } 12}{\text{क्रांज्या}}$ = पलभा, तथा $\sqrt{\text{कुज्या}^2 + \text{क्रांज्या}^2}$ = अग्रा, अतः $\frac{\text{कुज्या. त्रि}}{\text{अग्रा}}$

=अक्षज्या, इसका चाप=अक्षांश, इससे अभीष्ट सिद्धि हो गई इति ॥९॥

इदानीमुदयान्तरघटिकाभिस्तथास्तान्तरघटिकाभिरित्यादि-
प्रश्नद्वयस्योत्तरमाह ।

ज्ञातज्ञेयग्रहयोरुदयान्तरनाड़िकाभिरधिकोनः ।
उदयैर्ज्ञातो ज्ञाताज्ज्ञेयः प्रागपरयोर्ज्ञेयः ॥१०॥

ज्ञातः सभार्धं उदयैरस्तान्तरनाडिकाभिरधिकोनः ।
ज्ञातात्पूर्वापरयोर्ज्ञेयो भार्धोनके ज्ञेयः ॥११॥

सु. भा.—ज्ञातज्ञेयग्रहयोर्या उदयान्तर घटिकास्ताभिरुदयैः स्वदेशोदयैर्ज्ञातात् प्रागपरयोः पूर्वपश्चिमयोर्ज्ञातोऽधिकोनः कार्यः । यदि ज्ञेयो ज्ञातात् पूर्वदिश्यर्थादग्रे तदा ज्ञातमर्कं प्रकल्प्य स्वदेशोदयैरुदयान्तरघटीमितेष्टे क्रमलग्नं ज्ञातात् पश्चिमस्थे च ज्ञेये विपरीतलग्नं यत् स एव स्फुटो ज्ञेयो ग्रहो ज्ञेयः । अस्तान्तरघटीज्ञाने च ज्ञातः सभार्धोऽर्कः कल्प्यः अस्तान्तरघटिका इष्टघटिकाः । अत्रापि ज्ञातात् पूर्वेऽग्रे ज्ञेये क्रमलग्नं पश्चिमस्थे च विपरीतलग्नं यत् तस्मिन् भार्धोनके सति ज्ञेयो ग्रहो भवतीति ।

अत्र वासना लग्नानयनवत् सुगमा ॥१०-११॥

वि. भा.--ज्ञातज्ञेयग्रहयोरुदयान्तरघटिकाभिः स्वदेशीयोदयैर्ज्ञातात् पूर्वदिशि स्थिते ज्ञेये तदा ज्ञातं रविं प्रकल्प्य स्वदेशीयोदयैः, उदयान्तघटीतुल्ये इष्टकाले क्रमलग्नं यद् भवेत् तथा ज्ञातात् पश्चिमदिशि स्थिते ज्ञेये विपरीतलग्नं यद् भवेत् स एव स्फुटो ज्ञेयग्रहो वाध्यः । अस्तान्तरघटिकाज्ञाने ज्ञातः षड्राशियुतः कार्यस्तं रविं प्रकल्प्य, अस्तान्तरघटिकामिष्टकालं प्रकल्प्य ज्ञातात् पूर्वे (अग्रे) ज्ञेये क्रमलग्नं साध्यं ज्ञातात् पश्चिमस्थे ज्ञेये विपरीतलग्नं साध्यं तत्र षड्राशिहीने सति स्फुटो ज्ञेयग्रहो भवतीति ॥

अत्रोपपत्तिर्लग्नानयनवद् बाध्येति ॥१०॥

अब 'उदयान्तर घटिकाभिः' तथा 'अस्तान्तर घटिकाभिः' इत्यादि प्रश्नद्वय के उत्तर को कहते हैं ।

हि. भा.—ज्ञात ग्रह से ज्ञेय ग्रह पूर्व (आगे) में हो तब ज्ञात ग्रह को रवि कल्पना कर तथा ज्ञात ग्रह और ज्ञेय ग्रह का उदयान्तर घटी को इष्ट काल मानकर स्वदेशीय उदय से क्रमलग्न जो हो वही स्फुट ज्ञेय ग्रह होता है, तथा ज्ञात ग्रह से पश्चिम में हो तब विपरीत लग्न जो होता है वही स्फुट ज्ञेय ग्रह होते हैं । अस्तान्तर घटी के विदित रहने से ज्ञात ग्रह में छः राशि जोड़कर जो हो उसको रवि कल्पना कर अस्तान्तर घटी को इष्टकाल मानकर ज्ञात ग्रह से पूर्व (आगे) में ज्ञेय ग्रह के रहने से क्रम लग्न जो हो उसमें छः राशि घटाने से

स्फुट ज्ञेय ग्रह होते हैं। तथा ज्ञात ग्रह से पश्चिम में ज्ञेय ग्रह के रहने से विपरीत लग्न जो हो उसमें छः राशि घटाने से स्फुट ज्ञेय ग्रह होते हैं इति ॥

उपपत्ति लग्नानयनवत् समझनी चाहिये ॥१०-११॥

इदानीं तस्मान्मध्यगतिं ततो युगभगणान् साधयति य इत्यस्योत्तरमाह।

ज्ञातं कृत्वा मध्यं भूयोऽन्यदिने तदन्तरं भुक्तिः।
त्रैराशिकेन भुक्त्या कल्पग्रहमण्डलानयनम् ॥ १२ ॥

सु. भा.—एवं स्फुटज्ञेयग्रहात् स्पष्टीकरणविलोमविधिना मध्यं ग्रहं ज्ञातं कृत्वा भूयः पुनरन्यदिने च मध्यं ग्रहं ज्ञातं कृत्वा तदन्तरं तयोरन्तरं कार्यमेवं ग्रहस्य मध्यमा भुक्तिर्भवेत्। ततो भुक्त्या त्रैराशिकेनैकस्मिन् दिने मध्यमा गतिस्तदा कल्पकुदिनैः किमिति त्रैराशिकेन कल्पग्रहभगणानयनं सुगममिति ॥१२॥

वि. भा.—स्पष्टज्ञेयग्रहात् 'स्फुटं ग्रहं मध्यखगं प्रकल्प्ये' त्यादि भास्करोक्त-सूत्रेण स्पष्टीकरणविलोमक्रियया मध्यमं ग्रहं संसाध्य पुनरन्यस्मिन् दिने तेनैव विधिना मध्यमग्रहसाधनं कार्यं तयोरन्तरमेकदिनजा ग्रहस्य मध्यमा गतिर्भवेत्। ततोऽनुपातेना 'यद्येकस्मिन् दिने इयं मध्यमा गतिस्तदा कल्पकुदिनैः किम्' न कल्प-ग्रहभगणमानानयनं स्फुटमेवेति ॥१२॥

अत्रोपपत्तिर्विज्ञानभाष्यलिखितस द्रष्टव्येति ॥१२॥

अब 'तस्मान्मध्यगतिं ततोयुत भगणमानयति यः' इसके उत्तर को कहते हैं।

हि. भा.—स्पष्ट ज्ञेयग्रह से 'स्फुटं ग्रहं मध्यखगं प्रकल्प्य' इत्यादि भास्करोक्त सूत्र से स्पष्टीकरण की विलोम विधि से मध्यम ग्रह ज्ञान करके पुनः अन्य दिन में उसी विधि से मध्यम ग्रह ज्ञान करना चाहिये, दोनों मध्यम ग्रहों के अन्तर एक दिन सम्बन्धी ग्रह की मध्यम गति हुई, तब इस मध्यम गति से अनुपात 'यदि एक दिन में यह मध्यम गति पाते हैं तो कल्प कुदिन में क्या' से कल्प ग्रह भगणानयन स्फुट ही है इति ॥१२॥

इदानीमानयति यस्तमोरविशशाङ्कमानानीत्यस्योत्तरमाह।

स्थित्यर्धाद्विपरीतं तमः प्रमाणं स्फुटं ग्रहणे।
मानोदयाद्रवीन्द्वोर्घटिकावयवेन भोदयतः ॥१३॥

सु. भा.—स्थित्यर्धाद्विपरीतं विपरीतविधिना ग्रहणे स्फुटं तमः प्रमाणं भूभाबिम्बप्रमाणं भवति। अत्रैतदुक्तं भवति। स्थित्यर्धं रविचन्द्रगत्यन्तरकला-गुणं षष्टिहृतं स्थित्यर्धकला भवन्ति। तद्वर्गाच्छरवर्गयुतान्मूलं मानैक्यार्धकला-

स्ताभ्यश्चन्द्रबिम्बार्धं प्रोह्य भूभाबिम्बार्धम्। एवं विपरीतक्रमेण ज्ञेयमिति। मानोदयाद् घटिकावयवेन भोदयतः स्वदेशराश्युदयतो रवीन्द्वोर्बिम्बमाने ज्ञेये। यदा प्राक्क्षितिजे बिम्बोर्ध्वपालिदर्शनं जातं ततोऽनन्तरं यावता घटिकावयवेनाधः पालिदर्शनं जातं स घटिकावयवो वेधेन ज्ञेयः। ततः स्वदेशराश्युदयघटीभिरष्टादशशतकलास्तदा वेधोपलब्धघटिकावयवेन किमेवं बिम्बकला रवेश्चन्द्रस्य च भवन्तीति। रविबिम्बस्योर्ध्वाधरप्रदेशौ यत्र क्रान्तिवृत्ते लग्नौ तयोरुदयदर्शनेनैवैवं बिम्बकला भवन्ति। चन्द्रश्च विमण्डले भ्रमति तेनैवं चन्द्रबिम्बकलाः स्वल्पान्तराद्भवन्ति ।।१२।।

वि. भा.—स्थित्यर्धाद्विपरीतविधिना ग्रहणे स्फुटं तमः प्रमाणं (भूभाबिम्बमानं) भवत्यर्थात् 'षष्ट्या विभाजिता स्थितिविमर्ददलनाड़िके' त्याद्याचार्योक्त सूत्रेण 'स्थित्यर्धनाड़ी गुणिता स्वभुक्तिरि' त्यादि भास्करोक्तसूत्रेण वा स्थित्यर्धकलाप्रमाणं विदितं भवेत्तद्वर्गयुताच्छरवर्गान्मूलं मानैक्यार्धकला भवन्ति, तत्र चन्द्रबिम्बार्धस्य विशोधनेन भूभाबिम्बार्धं भवेदिति, भोदयतः (स्वदेशीयराश्युदयात्)मानोदयाद् घटिकावयवेन रविचन्द्रयोर्विम्बमाने ज्ञेये, अर्थात् पूर्वक्षितिजे यदा बिम्बस्योर्ध्वपालिदर्शनं भवेत्तस्माद्यावता घटिकावयवेन बिम्बस्याधः पालिदर्शनं भवेत्सघटिकावययो वेधेन ज्ञातव्यः। ततो

$\frac{१८०० \times \text{वेधोपलब्ध घटिकावयय}}{\text{स्वदेशीयराश्युदयघ}}$ ऽनुपातेनानेन रविचन्द्रयोर्बिम्बकला भवन्तीति, रविबिम्बस्योर्ध्वाधरप्रदेशौ यत्र क्रान्तिवृत्ते संलग्नौ तयोरुदयदर्शने नैवं बिम्बकला भवन्ति। परन्तु चन्द्रस्तु विमण्डले भ्रमणं करोति तस्मादेवं स्वल्पान्तराच्चन्द्रबिम्बकला भवन्ति ।।१३।।

अब 'आनयति यस्तमो रविशशाङ्कमानानि' इस प्रश्न के उत्तर को कहते हैं।

हि. भा.—स्थित्यर्ध से विपरीत विधि से अर्थात् जिस विधि से स्थित्यर्ध साधन होता है उससे विपरीत विधि से ग्रहण में स्फुट भूभाबिम्ब ज्ञान होता है, अर्थात् 'षष्ट्या विभाजिता स्थितिविमर्ददलनाड़िका' इत्यादि आचादि आचार्योक्त सूत्र से मानैक्यार्ध कला आती है उसमें से चन्द्र बिम्बार्ध को घटाने से भूभा बिम्बार्ध होता है। रवि और चन्द्र के बिम्बोदय घटिकावयव से रवि और चन्द्र का बिम्बमान जानना चाहिए अर्थात् पूर्वक्षितिज में जब बिम्बकी ऊर्ध्वपाली देखने में आवे उसके बाद जितने घटिकावय में बिम्ब के अधः पाली का दर्शन हो उस घटिकावयव को वेध से जानकर अनुपात

$\frac{१८०० \times \text{वेधोपलब्ध घटिका वयव}}{\text{स्वदेशीय राश्युदयघ}}$, से रवि और चन्द्र की बिम्ब कला होती है। रवि बिम्ब का ऊर्ध्व प्रदेश और अधः प्रदेश और क्रान्तिवृत्त में जहां लगे हुए हैं उनके देखने ही

से इस तरह बिम्बकला होती है। परन्तु चन्द्र विमण्डल में रहते हैं इसलिये चन्द्र बिम्बकला इस तरह स्वल्पान्तर से होती है इति ।।१३।।

इदानीं दीपखौच्च्याच्छङ्कुतलान्तरभूमिज्ञाने छायां य आनयतीत्य-
स्योत्तरमाह ।

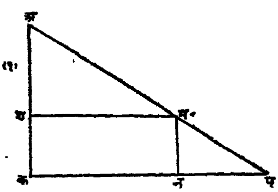
दीपतलशङ्कुतलयोरन्तरमिष्टप्रमाणशङ्कुगुणम् ।
दीपशिखौच्च्याच्छङ्कुं विशोध्य शेषोद्धृतं छाया ।।१४।।

सु. भा.—गणिताध्यायस्य ५३ आर्येयमतस्तत्रैव स्फुटा ।।१४।।

वि. भा.—दीपतलशङ्कुतलयोरन्तरं इष्टशङ्कुगुणं दीपशिखौच्च्य शङ्क्वन्तरेण भक्तं तदा छाया भवेदिति ।।

अत्रोपपत्तिः ।

अक=दीपशिखौच्च्यम् । क=दीपतलम् । मन=शङ्कुः । न=शङ्कुतलम् । नप=छाया । नक=दीपतलशङ्कुतलयोरन्तरम्=मश, म बिन्दुतः कपरेखायाः समानान्तरा मशरेखाऽस्ति । अक—कश=अक—मन=अश=दीपशिखौच्च्य—शङ्कु । तदा अशम, मनप त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः



$$\frac{\text{मश} \times \text{मन}}{\text{अश}} = \text{नप} = \frac{\text{दीपशङ्कुतलान्तर} \times \text{शङ्कु}}{\text{दीपशिखौच्च्य} - \text{शङ्कु}}$$

=छाया । सिद्धान्तशेखरे "विशङ्कुना दीपशिखोच्छ्रयेण शङ्कावभीष्टाङ्गुलके विभक्ते । प्रदीपशङ्क्वन्तरमाननिघ्ने प्रभाप्रमाणं प्रवदन्ति सन्तः" श्रीपत्युक्तमिदं लीलावत्यां 'शङ्कुः प्रदीपतलशङ्कुतलान्तरघ्नश्छाया भवेद्विनरदीपशिखौच्च्यभक्तः' भास्करोक्तमिदं च आचार्योक्तानुरूपमेवास्तीति ।।१४।।

अब 'दीपशिखौच्च्याच्छङ्कुतलान्तरभूमिज्ञाने छायां य आनयति'
इस प्रश्न के उत्तर को कहते हैं ।

हि. भा—दीपतल और शङ्कुतल के अन्तर को इष्टशंकु से गुणा कर शङ्कुहीन दीपशिखौच्च्य से भाग देने से छाया होती है ।

उपपत्ति ।

यहाँ संस्कृतोपपति में लिखित (१) चित्र को देखिये । अक=दीपशिखौच्च्य । क=दीपतल, मन=शङ्कु, न=शङ्कुतल, नप=छाया, नक=दीपतल और शङ्कुतल का

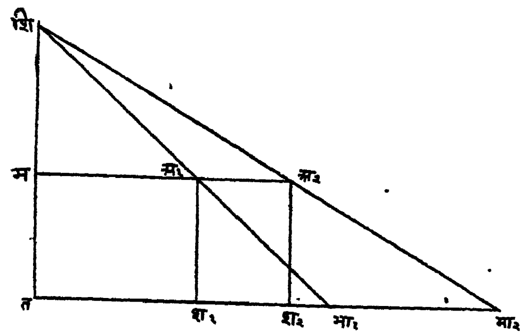
अन्तर=मश, म बिन्दु से कप रेखा की समानान्तर रेखा मश है। अक—कश=अक—मन =दीपशिखौच्च्य — शङ्कु=अश, तब अशम, मनप दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं $\frac{\text{मश} \times \text{मन}}{\text{अश}} = \frac{\text{दीप शङ्कुतलान्तर} \times \text{शङ्कु}}{\text{दीपशिखौच्च्य} - \text{शङ्कु}}$ =नप = छाया, इसमे आचार्योक्त उपपन्न हुआ। सिद्धान्तशेखर में 'विशङ्कुना दीपशिखोच्छ्रयेण' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से श्रीपति ने आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है लीलावती में 'शंकुः प्रदीपतलशङ्कुतलान्तरघ्नः' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित पद्य से भास्कराचार्य ने आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है इति ॥१४॥

इदानीं छाया द्वितीयभाग्रान्तरविज्ञानेनेत्यादि प्रश्नोत्तरमाह।

शङ्क्वन्तरेण गुणिता छाया छायान्तरेण भक्ता भूः।
स छायां शङ्कुगुणा दीपौच्च्यं छायया भक्ता ॥१५॥

सु. भा.—छायेष्टस्य कस्यापि शङ्कोश्छाया शङ्कोरन्तरेण शङ्कुमूलान्तरेण गुणिता छाययोरन्तरेण भक्ता भूर्भवति। सा सच्छाया छायया सहिता शङ्कुगुणा छायया भक्ता च दीपौच्च्यं भवति।

अत्रोपपत्तिः।



तशि=दीपौच्च्यम्। अ₁ श₁=अ₂ श₂ शङ्कुप्रमाणम्।

श₁ भा₁=प्रथमशङ्कुच्छाया
श₂ भा₂=द्वितीयशङ्कुच्छाया } श₂ भा₂—श₁ भा₁=छाग्रं।

श₂ भा₂=शङ्क्वन्तरम्=शग्रं, भा₁भा₂=छायाग्रान्तरम्=भाग्राग्रं।

=श₂ भा₂—(श₁ भा₁—श₁ शा₂)

=श₂ भा₂—श₁ भा₁ +श₁ श₂ =छाग्रं+शग्रं।

ततो गणिताध्यायस्य ५४ सूत्रेण।

$$\frac{(\text{छाग्रं}+\text{शग्रं})}{\text{छाग्रं}}=\text{तभा}_1 ।$$

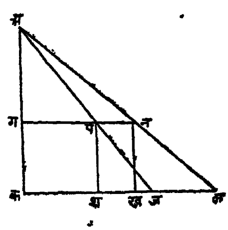
$$\text{श}_1\text{ त}=\text{तभा}_1-\text{श}_1\text{ भा}_1=\frac{(\text{छाग्रं}+\text{शग्रं})\text{ श}_1\text{ भा}_1-\text{छाग्रं}.\text{ श}_1\text{ भा}_1}{\text{छाग्र}}$$

$$=\frac{\text{शग्रं}.\text{ श}_1\text{ भा}_1}{\text{छाग्र}} ।$$

अत्राचार्येण तश, मानमेव भूसंज्ञं कल्पितमित्युपपन्नम् । द्वितीयच्छाया ग्रहणेन द्वितीया भूर्भवति । इयं भूः सच्छाया तदा छायाव्यवहारस्य ५४ सूत्रीया भूर्भवति ततो दीपौच्च्यं प्राग्वदिति । अत उपपन्नम् ॥१५॥

वि. भा.—कस्यापीष्टशङ्कोश्छाया शङ्क्वन्तरेण (शङ्कुद्वयमूलान्तरेण) गुणिता छाययोरन्तरेण भक्ता तदा भूर्भवति । सा छायया सहिता—शङ्कु-गुणिता, छायया भक्ता तदा दीपौच्च्यं भवतीति ॥१५॥

अत्रोपपत्तिः ।



पश=नख= शङ्कुद्वयम् । शख= शङ्कु मूलान्तरम् = शङ्क्वन्तरम् । अक= दीपौच्च्यम् । पश = प्रथमशङ्कुः । नख= द्वितीयशङ्कुः । शज = प्रथमच्छाया । खल=द्वितीयच्छाया । जल=छायाग्रान्तरम् । खल—शज=छायान्तरम् ।

$$\text{खल}-(\text{शज}-\text{शख})=\text{खल}-\text{शज}+\text{शख}=\text{छायान्तर}+\text{शङ्क्वन्तर}$$ ततो गणिताध्यायस्य ५४ सूत्रेण ।

$$\frac{\text{प्रथमच्छाया}(\text{छायान्तर}+\text{शङ्क्वन्तर})}{\text{छायान्तर}}=\text{कज},\text{ अतः कज}-\text{शज}=\text{कश} ।$$

$$=\frac{\text{प्रथमछाया}(\text{छायान्तर}+\text{शङ्क्वन्तर})}{\text{छायान्तर}}-\text{प्रथमच्छाया} ।$$

$$=\frac{\text{प्रथमच्छाया}\times\text{छायान्तर}+\text{प्रथमच्छाया}\times\text{शङ्क्वन्तर}-\text{छायान्तर}\times\text{प्रथमछाया}}{\text{छायान्तर}}$$

$$=\frac{\text{प्रथमच्छाया}\times\text{शङ्क्वन्तर}}{\text{छायान्तर}}=\text{कश}=\text{भूः} ।\text{ एवमेव }\frac{\text{द्वितीयच्छाया}.\text{ शंक्वन्तर}}{\text{छायान्तर}}$$

$=\text{कख}=\text{भूः}$ । $\text{कश}+\text{शज}=\text{भू}+\text{प्रथमच्छाया}=\text{कज}$ = (छायाव्यवहारस्य ५४

सूत्रोक्त भू)। कख+खल=भू+द्वितीयच्छाया=कल=छायाव्यवहारस्य ५४ सूत्रोक्त भू, लीलावत्यां 'छायाग्रयोरन्तर सङ्गुणा भा छाया प्रमाणान्तरहृद्भु-वेद्भूरित्यत्र' भास्कराचार्येण कज, कल इत्येव भू द्वयं गृहीतम्। ततः अकज, पशज त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः। $\frac{\text{पश} \times \text{कज}}{\text{शज}} = \frac{(\text{५४ सूत्रोक्त भू}) \times \text{प्रथमशं}}{\text{प्रथमच्छाया}}$

=अक=दीपौच्च्यम्। एवमेव अकल, नखल त्रिभुजयोः साजात्यात् $\frac{\text{नख} \times \text{कल}}{\text{खल}}$

$= \frac{\text{द्वितीयशं (५४ सूत्रोक्त भू)}}{\text{द्वितीयच्छाया}}$ =दीपौच्च्यम् एतेनाऽऽचार्योक्त सूत्रमुपपन्नम्॥१५॥

अब 'छाया द्वितीय भाग्रान्तर विज्ञानेन इत्यादि' प्रश्न के उत्तर को कहते हैं।

हि. भा.—किसी इष्ट शङ्कु की छाया को शङ्कुद्वय के अन्तर (शङ्कुद्वय मूलान्तर) से गुणा कर छायान्तर से भाग देने से भू होती है, भू में छाया को जोड़ने से जो हो उसको शङ्कु से गुणा कर छाया से भाग देने से दीपौच्च्य होता है इति॥१५॥

उपपत्तिः।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (१) चित्र को देखिये। पश=नख=दोनों शङ्कु। शख=शङ्कुमूलान्तर=शङ्क्वन्तर। अक=दीपौच्च्य। पश=प्रथमशङ्कु। नख=द्वितीयशङ्कु। शज=प्रथमच्छाया=प्रछा, खल=द्वितीयच्छाया=द्विछा जल=छाया-ग्रान्तर, खल—शज=छायान्तर, खल—(शज—शख)=खल—शज+शख=छायान्तर+शङ्क्वन्तर, तब गणिताध्याय के ५४ सूत्र से $\frac{\text{प्रछा (छायान्तर+शङ्क्वन्तर)}}{\text{छायान्तर}}$ =कज

अतः कज—शज=कश= $\frac{\text{प्रछा (छायान्तर+शङ्क्वन्तर)}}{\text{छायान्तर}}$ —प्रछा=

$= \frac{\text{प्रछा. छायान्तर+प्रछा शङ्क्वन्तर—प्रछा छायान्तर}}{\text{छायान्तर}} = \frac{\text{प्रछा. शङ्क्वन्तर}}{\text{छायान्तर}}$

=कश=भू। इसीतरह $\frac{\text{द्विछा. शङ्क्वन्तर}}{\text{छायान्तर}}$ =कख=भू। कश+शज=भू+प्रछा

=छायाव्यवहार की ५४ सूत्रोक्त भू। कख+खल=भू+द्विछा=कल=छायाव्यवहार की ५४ सूत्रोक्त भू, लीलावती में 'छायाग्रयोरन्तर सङ्गुणाभा 'इत्यादि श्लोक में भास्कराचार्य कज, कल इन्हीं दोनों को प्रथम भू, और द्वितीय भू कहते हैं। अब अकज, पशज दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं। $\frac{\text{पश.कज}}{\text{शज}}$ =अक= $\frac{(\text{५४ सूत्रोक्तभू}) \times \text{प्रथमशं}}{\text{प्रछा}}$

=दीपौच्च्य। इसी तरह अकल, नखल दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से $\frac{\text{नख} \times \text{कल}}{\text{खल}}$

$= \frac{\text{द्वितीयशं (५४ सूत्रोक्त, भू)}}{\text{द्विछा}}$ =दीपौच्च्य। इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ इति ॥१५॥

इदानीं छायातो गृहादीनामौच्च्यानयनमाह।

ज्ञात्वाशङ्कुच्छायामनुपातात् साधयेत् समुच्छ्रायान्।
गृहचैत्यतरुनगानामौच्च्यं विज्ञाय वा छायाम् ॥१६॥

सु. भा.—शङ्कुच्छायां ज्ञात्वाऽनुपाताद्गृहचैत्यतरुपर्वतानां समुच्छ्रायान् गणकैः साधयेत्। वा तेषामौच्च्यं विज्ञाय तेषामिष्टकाले छायां साधयेत्। इष्टकाले गृहादीनां छायाप्रमाणं ज्ञात्वा तदैवेष्टशङ्कोश्च छायाप्रमाणं विज्ञाय शङ्कुच्छायया शङ्कुप्रमाणं तदा गृहादिच्छायया किम्। एवं गृहादीनामौच्च्यं भवति। औच्च्याच्चैवमनुपातेन गृहादीनां छायां साधयेत् ॥१६॥

वि. भा.—शङ्कुच्छायां ज्ञात्वा, अनुपातात् गृहचैत्यवृक्षपर्वतानां समुच्छ्रायान् साधयेज्ज्यौतिषिकः। वा तेषामौच्च्यं विज्ञायेष्टकाले तेषां छायां साधयेदि ॥१६॥

अत्रोपपत्तिः।

यदि शङ्कुच्छायया शङ्कुप्रमाणं लभ्यते तदा गृहचैत्यवृक्षपर्वतानां छायया किमित्यनुपातेन तेषामुच्छ्रितिं प्रमाणमागमिष्यति। एवं तेषामौच्च्यज्ञानेन तेषां छायानयनमनुपातेनैव भवति यथा यदि शङ्कुना छाया लभ्यते तदा गृहादीना मौच्च्येन कि समागच्छन्ति तेषां छाया प्रमाणानीति ॥१६॥

अब छाया से गृहादियों का औच्च्या (ऊंचाई) नयन कहते हैं।

हि. भा.—शङ्कु की छाया जान कर अनुपात से गृह-चैत (माटा) वृक्ष, पर्वत इन सबों की उच्छ्रिति (ऊंचाई) को गणक साधन करे, वा उन सबों की उच्छ्रिति जानकर उन सबों की छाया साधन करे इति ॥१६॥

उपपत्ति।

यदि शङ्कुच्छाया में शङ्कु प्रमाण पाते हैं तो गृह-चैत्य-वृक्ष-पर्वतों की छाया में क्या इस अनुपात से उन सबों की ऊंचाई के मान आजायगा। यदि उन गृहादियों की ऊंचाई

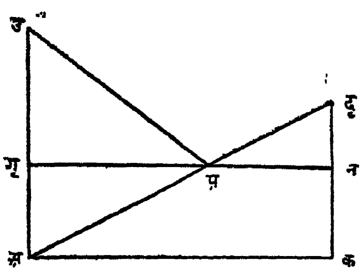
से उन सबों का छायानयन करना हो तो 'यदि शङ्कु में इष्टछाया पाते हैं तो गृहादियों के औच्च्य में क्या' इस अनुपात से गृहादियों के छायाप्रमाण आते हैं इति ॥१६॥

इदानीमिष्टगृहौच्च्यज्ञो य इत्यादि प्रश्नोत्तरमाह।

युतदृष्टिगृहौच्च्यहृता ह्यन्तरभूमिर्दृगौच्च्यसङ्गुणिता ।
फलभून्यस्ते तोये प्रतिरूपाग्रं गृहस्य नरात् ॥१७॥

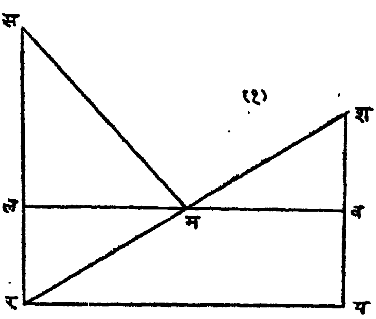
सु. भा.—गृहस्य नरस्य च मध्ये याऽन्तरभूमिः सा दृगौच्च्येन दृष्टयुच्छ्रित्या सङ्गुणिता युतदृष्टिगृहौच्च्यहृता दृष्टयुच्छ्रितिसंयुतगृहोच्छ्रित्या हृता। यत् फलं प्राप्तं तन्मिता भूर्नराद्गृहाभिमुखी या तत्र तोये जले न्यस्ते तस्मिन् गृहस्य प्रतिरूपाग्रमग्रस्य प्रतिबिम्बं दृश्यं भवेदिति।

अत्रोपपत्तिः



गृन = गृहनरान्तरभूमिः = अक। गृउ = गृहौच्च्यम्। प्र = जलम्। न दृ = दृगौच्च्यम्। तदा ज्योतिर्विद्यया गृहाग्रप्रतिबिम्बं चेद् दृ — दृष्ट्या दृश्यं तदा < गृ प्र उ = < न प्र दृ। अतः गृ उ = गृ अ = न क। दृ क = न दृ + गृ उ। दृ अ क, दृ प्र न त्रिभुजे च सजातीये। ततः प्र न $= \frac{\text{अक} \times \text{दृन}}{\text{दृन}}$। अत उपपन्नम् ॥१७॥

वि. भा.—नरात् (द्रष्टुः) गृहस्यान्तरभूमिरर्थाद् गृहनरयोर्मध्ये या भूमिः सा दृष्टयुच्छ्रित्या गुणिता दृष्टयुच्छ्रितियुतगृहौच्च्यभक्ता यत्फलं लब्धं भवेत् नराद् गृहाभिमुखं तन्मितभूमौ स्थापिते जले गृहाग्रस्य प्रतिबिम्बं दृश्यं भवेदिति।



लस = गृहौच्च्यम्। वश = दृगौच्च्यम्। म = जलम्। लव = गृहनरान्तरभूमिः = रय, गृहाग्रप्रतिबिम्बं यदि श दृष्टचा दृश्यं भवेत्तदा ज्योतिर्विद्यायाः पतितपरावर्त्तितकोणसाम्यं भवतीति सिद्धान्तात् < लमस = < वमश तथा < रमल = < वमश,

<मलर=<मलस=९० अतः रमल, लमस त्रिभुजद्वये तुल्ये (रे.प्र.अ.२६ क्षे) तेन लस=लर=वय। अतः यश=वश+लस शरय, शमव त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः $\frac{\text{रय.वश}}{\text{यश}}$=वम अत उपपन्नमाचार्योक्तमिति ॥१७॥

अब 'इष्टगृहौच्च्यज्ञो यः' इत्यादि प्रश्न को उत्तर कहते हैं।

हि. भा.—गृह और नर (द्रष्टा) के मध्य में जो अन्तर भूमि है उसको दृष्टि की उच्छ्रिति (ऊंचाई) से गुणा कर गृह की उच्छ्रितियुत दृष्ट्युच्छ्रिति से भाग देने से जो लब्ध हो तत्तुल्य भूमि नर से गृह की तरफ (गृहाभिमुख) जो हो वहां जल को स्थापन करने से उस जल में गृह के अग्र के प्रति बिम्ब दृश्य होता है इति ॥१७॥

उपपत्ति।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (१) चित्र को देखिये। लस=गृहौच्च्य, वश=दृगौच्च्य, दृष्टि की ऊंचाई, म=जल, लब=गृह और नर की अन्तर भूमि=रय, गृह के अग्र का प्रति बिम्ब यदि श दृष्टि से दृश्य होता है तब ज्योतिर्विद्या के पतित कोण और परावर्त्तित कोण की तुल्यता सिद्धान्त से ∠लमस=∠वमश तथा <रमल=<वमश, <मलर=<मलस=९०। इसलिये रमल, लमस दोनों त्रिभुज सर्वथा तुल्य हुए (रे.प्र.अ. २६ क्षे) अतः लस=लर=वय, तथा यश=वश+लस, शरय, शमव दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं $\frac{\text{रय.वश}}{\text{यश}}$ =वम, अतः आचार्योक्त उपपन्न हुआ इति ॥१७॥

इदानीं गृहपुरुषान्तरसलिले यो दृष्ट्वेत्यादि प्रश्नोत्तरमाह।

गृहपुरुषान्तरसलिले वीक्ष्य गृहाग्रं दृगौच्च्य सङ्गुणितम्।
गृहतोयान्तरमौच्च्यं गृहस्य नृजलान्तरेण हृतम् ॥१८॥

सु. भा.—गृहपुरुषयोर्मध्येयत् सलिलं स्थापितं तस्मिन् गृहाग्रं वीक्ष्य यदि गृहौच्च्यमपेक्षितं तदा गृहतोयान्तरं दृगौच्च्यसङ्गुणितं नृजलान्तरेण हृतं फलं गृहस्यौच्च्यं भवेत्। अत्रोपपत्तिः। पूर्वश्लोक क्षेत्रे गृहतोयान्तरम्=गृप्र। नृजलान्तरम्=प्र न। प्र ग्र उ, दृ न प्र त्रिभुजे च सजातीये ततः=गृ उ $=\frac{\text{गृ प्र}\times\text{न दृ}}{\text{प्र न}}$ अत उपपद्यते ॥१८॥

वि. भा.—गृहपुरुषान्तरे स्थापिते जले गृहाग्रं दृष्ट्वा यदि गृहौच्च्यज्ञानमभीष्टं तदा गृहजलान्तरं दृगौच्च्य (दृष्टयुच्छ्राय) गुणितं पुरुषजलान्तरेण भक्तं तदा लब्धं गृहस्यौच्च्यं भवेदिति।

अत्रोपपत्तिः ।

अत्र पूर्वश्लोको (१७) पपत्तौ लिखितं क्षेत्रं द्रष्टव्यम् । लस=गृहौच्च्यम् । वश=दृगौच्च्यम् । लव=गृहपुरुषान्तर भूमिः, म=जलम् । तदा सलम, शमव त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः $\frac{\text{वश}\times\text{लम}}{\text{वम}}$=लस=$\frac{\text{दृगौच्च्य}\times\text{गृहजलान्तर}}{\text{पुरुषजलान्तर}}$ =गृहौच्च्यम् । एतेनोपपन्नमाचार्योक्तम् ।।१८।।

अब 'गृहपुरुषान्तर सलिले यो दृष्ट्वाग्रं' इत्यादि प्रश्न के उत्तर को कहते हैं ।

हि. भा.—गृह और पुरुष के मध्य भूमि में स्थापित जल में गृह के अग्र को देख कर यदि गृहौच्च्यज्ञान अपेक्षित हो तब गृह और जल के अन्तर को दृगौच्च्य (दृष्टि की उच्छ्रिति) से गुणा कर पुरुष और जल के अन्तर से भाग देने से लब्ध गृहौच्च्य होता है इति ।

उपपत्ति ।

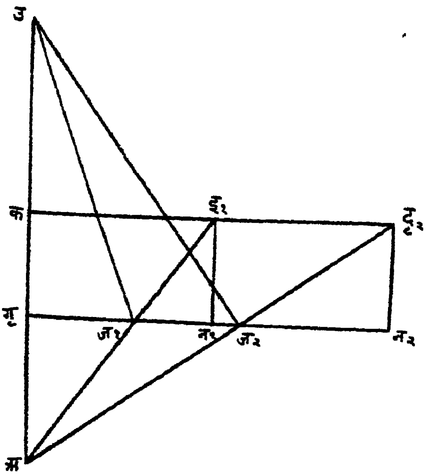
यहां पूर्व श्लोक (१७) की संस्कृतोपपत्ति में लिखित (१) क्षेत्र को देखिये । लस= गृहौच्च्य, वश=दृगौच्च्य । लव=गृह और पुरुष का अन्तर, म=जल, तब सलम और शवम दोनों त्रिभुजों में सजातीयत्व से अनुपात करते हैं $\frac{\text{वश.लम}}{\text{वम}}$=सल= $\frac{\text{दृगौच्च्य.गृहजलान्तर}}{\text{पुरुषजलान्तर}}$=गृहौच्च्य, इससे आचार्योक्त सूत्र उपपन्न हुआ ।।१८।।

इदानीं वीक्ष्य गृहाग्रं सलिले प्रसार्येत्यादि प्रश्नोत्तरमाह ।

प्रथमद्वितीय नृजलान्तरान्तरेणोद्धृता जलापसृतिः ।
दृगौच्च्य गुणोच्छ्रायस्तोयान्नृजलान्तरगुणा भूः ।।१९।।

सु. भा.—यत्र प्रथमं जले गृहाग्रप्रतिबिंब नरेण दृष्टं तत्र यन्नृजलान्तरं तत् प्रथमं ज्ञेयम् । एवं द्वितीयं नृजलान्तरं जानीयात् । ततो जलापसृतिर्जलयोरन्तरे भूमिः सा प्रथमद्वितीयनृजलान्तरयोरन्तरेणोद्धृता लब्धिर्द्विधा स्थाप्या । एकत्र दृगौच्च्यगुणा तदा गृहोच्छ्रायः स्यादन्यत्र नृजलान्तरेण गुणा तदा तोयाद्गृहतलपर्यन्तं भूभूमिः स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः ।



अ गृ = गृ उ = गृहौच्च्यम् । ज$_१$, ज$_२$ प्रथम द्वितीय जलस्थाने । न$_१$, न$_२$ प्रथमद्वितीयनरस्थाने । गृ क = न$_१$ द$_१$ = न$_२$ द$_२$ = दगौच्च्यम् । ज$_१$ ज$_२$ = जलान्तरम् = जलापसृतिः । न$_१$ न$_२$ = द$_१$ द$_२$ = नरान्तरम् । द्वयोरन्तरम् = न$_१$ न$_२$ — ज$_१$ ज$_२$ = न$_१$ न$_२$ — (ज$_१$ न$_१$ + न$_१$ ज$_२$) = न$_१$ न$_२$ — न$_१$ ज$_२$ — ज$_१$ न$_१$ = ज$_२$ न$_२$ — ज$_१$ न$_१$ ।

अ ज$_१$ ज$_२$, अ द$_१$ द$_२$ सजातीय त्रिभुजयोः क्रमेण अ गृ, अ क बहिर्लम्बः ।

$$\text{तेन } \frac{अ क}{अ गृ} = \frac{द_१ द_२}{ज_१ ज_२} \therefore \frac{अ क — अ गृ}{अ गृ} = \frac{क गृ}{अ गृ} = \frac{द_१ द_२ — ज_१ ज_२}{ज_१ ज_२}$$

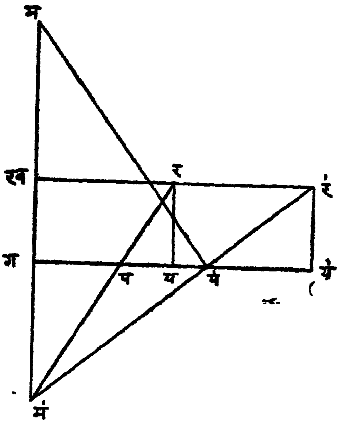
$$= \frac{न_१ न_२ — ज_१ ज_२}{ज_१ ज_२} \text{ । ततः } अ गृ = \frac{द औ \times ज_१ ज_२}{ज_२ न_२ — ज_१ न_१} \text{ ।}$$

ततः गृ ज$_१$ उ, ज$_१$ न$_१$ द$_१$ सजातीयजात्ययोः ।

$$गृ ज_१ = \frac{ज_१ न_१ ज_१ ज_२}{ज_२ न_२ — ज_१ ज_१} \text{ । एवं } गृ ज_२ \frac{ज_२ न_२ \times ज_१ ज_१}{ज_२ न_२ — ज_१ न_१}$$

अत उपपद्यते ॥१९॥

वि. भा.—नरेण गृहाग्रप्रतिबिम्बं जले प्रथमं यत्र दृष्टं तत्र नरजलान्तरं यत्तत् प्रथमं नरजलान्तरं बोध्यं, एवं नरेण द्वितीयं गृहाग्रप्रतिबिम्बं जले यत्र दृष्टं तत्र द्वितीयं नरजलान्तरं ज्ञेयम् । जलयोरन्तरे जलापसृतिभूमिः प्रथमद्वितीय नरजलान्तरयोरन्तरेण भक्ता लब्धिः स्थानद्वये स्थाप्या, एकत्र दृष्टयुच्छ्रायेण गुणिता गृहोच्छ्रितिर्भवेत् द्वितीयस्थाने नर जलान्तरेण गुणिता तदा जलाद् गृहतलपर्यन्तभूमिमानं भवेदिति ॥



उपपत्तिः ।

प, प' प्रथम द्वितीय जल स्थाने, य, य' प्रथम द्वितीय नरस्थाने, गम = गम' = गृहोच्छ्रितिः । प प' = जलान्तरम् = जलापसृतिः य य' = र र' = नरान्तरम् । अनयोरन्तरम् = य' — पप' = प'य — पय, सजातीययोः म' पप', म' र र' त्रिभुजयोः क्रमेण मग, म' ख बहिर्लम्ब स्तदा $\frac{\text{मख}'}{\text{मग}'} = \frac{\text{र र}'}{\text{प प}'}$

उभयत्रैक शोधनेन $\frac{\text{मख}'}{\text{म ग}'} - १ = \frac{\text{र र}'}{\text{प प}'} - १ = \frac{\text{म}'\text{ख} - \text{मग}}{\text{मग}} = \frac{\text{खग}}{\text{मग}} = \frac{\text{र र}' - \text{प प}'}{\text{प प}'}$

$= \frac{\text{य य}' - \text{प प}'}{\text{प प}'}$ अतः मग' = मग = $\frac{\text{दृष्टच्छ्रिति} \times \text{जलान्तर}}{\text{नरजलान्तरयोरन्तरं}}$ = गृहोच्छ्रितिः । अथ

गमप, परय सजात्य त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः $\frac{\text{पय. प प}'}{\text{प}'\text{य}' - \text{पय}}$ = गप = प्रथमजलस्थानाद् गृहतलपर्यन्त = $\frac{\text{प्रथमनरजलान्तर} \times \text{जलान्तर}}{\text{नरजलान्तरयोरन्तरं}}$, एवमेव

$\frac{\text{द्वितीय नरजलान्तर} \times \text{जलान्तर}}{\text{नर जलान्तरयोरन्तरं}}$ = द्वितीय जलस्थानाद् गृहत पर्यन्तं एतावताऽऽचार्योक्तमुपपन्नम् ॥१९॥

अब 'वीक्ष्य गृहाग्रं सलिले प्रसार्य 'इत्यादि प्रश्न के उत्तर को कहते हैं ।

हि. भा—गृह के अग्र का प्रतिबिम्ब जल में पहले जहां देखा गया वहां जो नर और जल का जो अन्तर है उसको प्रथम नर जलान्तर समझना चाहिये । एवं द्वितीय गृहाग्र प्रतिबिम्ब में जहां देखा गया वहां नर और जल का जो अन्तर है उस को द्वितीय नर जलान्तर समझना चाहिये । दोनों जलस्थानों के अन्तर (जलापसृति) में जो भूमि है उसको प्रथम द्वितीय नर जलान्तर के अन्तर से भाग देने से जो लब्धि हो उसको दो स्थानों में स्थापित करना एक

स्थान में दृष्टि की ऊंचाई (दृगौच्च्य) से गुणा करने से गृहोच्छ्राय होता है । द्वितीय स्थान में नरजलान्तर से गुणा करने से जल से गृहतलपर्यन्त भूमि होती है इति ।

उपपत्ति ।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (१) क्षेत्र को देखिये । प = प्रथम जलस्थान । प′ = द्वितीय जलस्थान । य = प्रथमनर (द्रष्टा) स्थान, य′ = द्वितीय नरस्थान, गम = ग′म = गृहोच्छ्रिति, पप′ = जलान्तर = जलापसृति यय′ = रर′ = नरान्तर, इन दोनों का अन्तर = यय′ —पप′ । मपप′, मरर′ सजातीय त्रिभुजद्वय के क्रम से मग, मख′ बहिर्लम्ब है । तब $\frac{\text{मख}'}{\text{मग}}$

$= \frac{\text{रर}'}{\text{पप}'}$ दोनों पक्षों में रूप घटाने से $\frac{\text{मख}'}{\text{मग}} - १ = \frac{\text{रर}'}{\text{पप}'} - १ = \frac{\text{मख}-\text{मग}}{\text{मग}} = \frac{\text{खग}}{\text{मग}}$

$= \frac{\text{रर}'-\text{पप}'}{\text{पप}'} = \frac{\text{यय}'-\text{पप}'}{\text{पप}'}$ अतः $\text{मग} = \text{म}'\text{ग} = \frac{\text{दृष्टयुच्छ्रिति} \times \text{जलान्तर}}{\text{नरजलान्तर का अन्तर}} =$ गृहोच्छ्रिति । अथ गमप, परय, जात्य त्रिभुजद्वय के सजातीयत्व से $\frac{\text{पय}.\text{पप}'}{\text{प}'\text{य}'-\text{पय}} = \text{गप} =$ प्रथमजल स्थान से गृहतलपर्यन्त $= \frac{\text{प्रथम नर जलान्तर} \times \text{जलान्तर}}{\text{नरजलान्तर द्वयान्तर}}$, इसी तरह

$\frac{\text{द्वितीयनरजलान्तर} \times \text{जलान्तर}}{\text{नरजलान्तर द्वयान्तर}} =$ द्वितीय जल स्थान से गृहतल पर्यन्त; इससे आचार्योक्त सूत्र उपपन्न हुआ इति ॥१९॥

इदानीमुच्छ्रितिमाह ।

छायापुरुषच्छिन्नं जलकुड्यान्तरमवाप्तमारूढ़िः ।
अध्यायो विंशत्यार्याणामेकोन विंशोऽयम् ॥२०॥

सु. *भा.*—छायाया यः पुरुषः शङ्कुभागस्तेन जलभित्योरन्तरं भक्तमत्र यदवाप्तं सा भित्तेरारूढिरुच्छ्रितिर्भवति । जलाद्यावताऽन्तरेण नरो भित्त्यग्रप्रतिबिंबं जले पश्यति तदन्तरमेवात्र नरस्य छाया कल्प्या । अर्कतेजसो या भित्तेश्छाया ज्ञातव्या । (छायाव्यवहारस्य प्रथमश्लोकश्च छायापुरुषार्थं द्रष्टव्यः) शेषं स्पष्टार्थम् ।

अत्रोपपत्तिः । नरस्य छायया नरप्रमाणसमोच्छ्रितिस्तदा भित्तेश्छायया किमित्यनुपातेन भित्तेरुच्छ्रितिः स्फुटा ।

मधुसूदनसूनुनोदितो यस्तिलकः श्रीपृथुनेह जिष्णुजोक्ते ।
हृदि तं विनिधाय नूतनोऽयं रचितो भादिविधौ सुधाकरेण ॥

इति श्रीकृपालुदत्तसूनुसुधाकरद्विवेदिविरचिते ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तनूतनतिलके शङ्कुछायादिज्ञानं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

वि. भा.—जलकुड्यान्तरं (जलभित्त्योरन्तरं) छायापुरुषच्छिन्नं (छायायाः पुरुषः शङ्कुभागस्तेन भक्तं) तदा लब्धं भित्तेरुच्छ्रितिर्भवेत्, आरूढ़िशब्देनोच्छ्रितिर्बोध्या । जले भित्त्यग्रप्रतिबिम्बं नरो यावतान्तरेण पश्यति तदेवान्तरमत्र नरस्य छाया, रविकिरणसम्बन्धेन भित्तेश्च्छायाऽन्यत्र जलकुड्यान्तरं तदा नरस्य रविकिरणसम्बन्धेन या छाया सैव छाया बोध्येति । आर्याणां विंशत्याऽयमेकोनविंशोध्यायोऽस्तीति ।

अत्रोपपत्तिः ।

नरस्य छायया नरतुल्योच्छ्रितिस्तदा भित्तेश्छायया किमिति समागच्छति भित्तेरुच्छ्रितिरिति ॥२०॥

इति ब्राह्मस्फुट सिद्धान्ते शङ्कुच्छायादिज्ञानं नामक एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

अब भित्ति की उच्छ्रिति को कहते हैं ।

हि. भा.—जल और भित्ति के अन्तर को छाया के शङ्कुभाग से भाग देने से जो लब्धि हो वह भित्ति की उच्छ्रिति (ऊंचाई) होती है । जल में नर (द्रष्टा) भित्ति के अग्र के प्रतिबिम्ब जल से जितने अन्तर पर देखता है उसी (अन्तर) को यहां नर की छाया कल्पना करनी चाहिये । रवि के तेज से भित्ति की जो छाया होती है अन्य प्रश्न में जल और भित्ति का अन्तर होता है तब रवि के तेज से नर की जो छाया होती है वही छाया समझनी चाहिये । यह बीस आर्याओं के उन्नीसवां अध्याय है इति ।

उपपत्ति ।

नर की छाया में नर प्रमाण तुल्य उच्छ्रिति पाते हैं तो भित्ति की छाया में क्या इस अनुपात से भित्ति की उच्छ्रिति आती है ॥२०॥

इति ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में शङ्कुच्छायादिज्ञान नामक उन्नीसवां अध्याय समाप्त हुआ ।

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

छन्दश्चित्युत्तराध्यायः

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

७

अथ छन्दश्चित्युत्तराध्यायः

ऋग्वर्गः पर्यायः समूहयोगावयुक्षु युग्मेषु ।
स्रो याः प्राग्वत् प्राप्तादाश्चतुष्कका: शेषयुक्तचोन्त्यः ॥ १ ॥

एकादियुतविहीनावाद्यन्तौ तद्विपर्ययौ यावत् ।
वर्गादिषु विषमयुजां क्रमोत्क्रमाद्वर्धयेत् पादान् ॥ २ ॥

एकैकेन द्व्या द्व्याः सोप्यधिकेषु तत् प्रतिष्ठेषु ।
वर्गादिरभीष्टान्तः प्रस्तारो भवति यवमध्यः ॥ ३ ॥

सूनोन्त्यो द्विपदाग्रं त्रिपदाद्यानामधः पृथक् संख्या ।
तच्छोध्यो व्येकः पृथगन्ताद्रूपमूर्ध्वंयुतम् ॥ ४ ॥

यावत् पादाव्येकागच्छाद्वर्गेष्वथैक वृद्धेषु ।
रूपाद्युतघाते वर्गाद्यानां परा संख्या ॥ ५ ॥

रूपाधिकपादार्धे विषमेषूर्ध्वः समेषु पादार्धे ।
अर्धाद्विगुणां व्येकां युलान्यधस्तस्य सर्वेषाम् ॥ ६ ॥

माध्यैस्तथार्धहीनैःक्रमपादैर्व्यस्ततुल्यपादाद्यः ।
विषमे व्येकं मध्ये प्रोह्याद्यान्यतः कुर्यात् ॥ ७ ॥

सैकक्रम तुल्याद्यैर्न्यासोऽभ्यधिको विशोधितश्चाधः ।
संख्यैक्यं तादृक् यादृक् प्रथमस्त्रिरहितो नष्टे ॥ ८ ॥

माध्यैः कृतैश्च दलितैः समसंख्यायां क्रमोत्क्रमात्क्षेप्यम् ।
विषमायां व्येकायां दलं क्रमादुत्क्रमात्सैकम् ॥ ९ ॥

समसंख्यायां सोपानक्रमोत्क्रमाभ्यां तथैव विषमाभ्याम् ।
कल्प्यापचिते दृष्टे प्रथमः शेषाक्षराण्यन्ते ॥ १० ॥

समदल समविषमाणां संख्या पादार्धं सर्वकल्पवधः ।
स्वाद्यवधोऽन्यैः पादैः स्वपरस्य प्राग्वधः सैकैः ॥ ११ ॥

आद्यादनन्तरोऽधः कल्प्योऽन्यतुल्यमाद्यः प्राक् ।
न्यासो वर्गोऽन्योनः प्रस्तारोऽर्धसमविषमाणाम् ॥ १२ ॥

नष्टेऽन्त्यात् स्वाधस्थोनकल्पघातोऽर्धतुल्यविषमाणाम् ।
व्येकः पृथक् स्ववर्गोद्धृतः फलं तुल्यकल्पानाम् ॥ १३ ॥

उद्दिष्टे कल्पहृतेऽतीतैः प्रथमः फले स्वरूपेऽन्यः ।
असकृद्वर्गांशयुते सैके वार्धसमविषमाणाम् ॥ १४ ॥

कल्पेषु पृथक् गुरुलघु संख्यैकादिभाजिता प्राग्वत् ।
विषमेष्वाद्यलघूनो लघुभिर्मेरुः समादीनाम् ॥ १५ ॥

एकद्वितयोः परतो द्विसङ्गुणोऽनन्तराद्विरूपोऽधः ।
वर्गधराद्योनोदलसमविषमाणां ध्वजो लघुभिः ॥ १६ ॥

लघुसंख्या पददलिता परतोऽधोऽधश्च शुध्यति हृता यैः ।
द्विगुणान्तैः शुद्धैर्वर्गपरैर्मन्दरो लघुभिः ॥ १७ ॥

कृत्वाऽधोऽधः कल्प्यान्येकाद्येकोत्तरानधस्तेषाम् ।
स्वात्परतोऽन्यैक्यमधः प्रस्तारादुक्तवदिहाद्यैः ॥ १८ ॥

गुरुषष्ट्येकानि घटीद्विगुणान्येकांगुलानि संख्या स्यात् ।
द्वाविंशतिरार्याणां छन्दश्चित्युत्तरोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इति श्रीब्राह्मस्फुट सिद्धान्ते छन्दश्चित्युत्तरोऽध्यायो विंशतितमः ॥ २० ॥

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

गोलाध्यायः

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

७

अथ गोलाध्यायः

व्याख्यायते । तत्र प्रथमं तदारम्भप्रयोजनमाह ।

ग्रहनक्षत्रभ्रमणं न समं सर्वत्र भवति भूस्थानाम् ।
तद्विज्ञानं गोलाद्यतस्ततो गोलमभिधास्ये ॥१॥

सु. भा.—भूस्थानां जनानां सर्वत्र ग्रहनक्षत्रभ्रमणं समं न भवति । तद्भ्रमणसंस्थानविज्ञानं च यतो गोलादेव भवति ततोऽहं गोलमभिधास्ये कथयामीति ॥१॥

वि. भा.—भूगोलनिवासिनां जनानां मध्ये ग्रहाणां नक्षत्राणां च भ्रमणं सर्वत्र समं (एकरूपं) न भवति, तेषां ग्रहनक्षत्राणां भ्रमणवैषम्यस्य विज्ञानं यतो गोलात् (गोलाध्यायात्) भवति, ततोऽहं (ब्रह्मगुप्तः) गोलं (गोलाध्यायं) अभिधास्ये (कथयामि) । प्रायः सर्वेऽपि ज्यौतिषसिद्धान्तग्रन्था ग्रहगणितगोलाध्यायाभ्यां विभक्ता भवन्ति, तत्र ग्रहगणिते ग्रहसाधनादयो विधयो गोलाध्याये ग्रहसाधनादिविधीनामुपपत्तयश्च वर्णिता भवन्ति, पूर्वं ग्रहसाधनादिविधीनुक्त्वाऽधुना तदुपपत्तिं कथयतीति । सिद्धान्तशेखरे "उडुग्रहाणां भ्रमणं न तुल्यं सर्वत्र भूगोलनिवासिनां हि । तत्तत्त्वबोधावगतिस्तु गोलादतः स्फुटं गोलमिहाभिधास्ये" श्रीपतिनाप्याचार्योक्तानुरूपमेव कथ्यत इति ॥१॥

अब गोलाध्याय प्रारम्भ किया जाता है, उसमें पहले आरम्भ करने का प्रयोजन कहते हैं ।

हि. भा.—भूगोल निवासी लोगों के मध्य में ग्रहों का भ्रमण और नक्षत्रों का भ्रमण सब जगह समान (एकरूप) नहीं होता है उनके भ्रमणवैषम्य का ज्ञान गोलाध्याय से होता है इसलिये मैं (ब्रह्मगुप्त) गोलाध्याय को कहता हूं । प्रायः ज्यौतिष के सब सिद्धान्त ग्रन्थ ग्रहगणित और गोलाध्याय से विभक्त होते हैं । ग्रहगणित में ग्रहसाधनादि विधियों का वर्णन रहता है और गोलाध्याय में उनकी उपपत्तियों का वर्णन रहता है । पूर्व में ग्रहसाधनादि विधियों को कह कर अब उनकी उपपत्ति कहते हैं इति ॥१॥

इदानीं भूगोलसंस्थानमाह ।

शशिबुधसितार्क कुजगुरुशनिकक्षावेष्टितो भ कक्षान्तः ।
भूगोलः सत्त्वानां शुभाशुभैः कर्मभिरुपात्तः ॥२॥

सु. भा.—अयं भूगोलः सत्त्वानां प्राणिनां शुभाशुभैः कर्मभिरुपात्तः प्राप्तो भवति । 'भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञकविरवि–इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव । शेषं स्पष्टम् ॥२॥

वि. भा.—चन्द्रबुधशुक्ररविकुजगुरुशनीनां कक्षावृत्तैर्वेष्टितः (आवृतः) नक्षत्रकक्षाया मध्येऽयं भूगोलोऽस्ति यश्च प्राणिनां 'शुभाशुभैः कर्मभिः प्राप्तो भवति । चन्द्रबुधशुक्रादिग्रहकक्षावृत्तानां कथमीदृशी उपर्युपरि स्थितिरस्ति तद्युक्तिज्ञानार्थं मध्यमाध्यायो द्रष्टव्यो वा मट्टीकाविभूषितो वटेश्वरसिद्धान्तस्य मध्यमाधिकारो द्रष्टव्यः भूमेः स्वरूपे मतान्तराणि सन्ति यथा "आदर्शोदरसन्निभा भगवती विश्वम्भरा कीर्त्तिता, कैश्चित् कैश्चन कूर्मपृष्ठसदृशी कैश्चित् सरोजाकृतिः । अस्माकं तु कदम्बपुष्पनिचयग्रन्थेः समा सम्मता सर्वत्रासुमतां चयेन निचिता तोयस्थलस्थायिनाम्" कैश्चित् पौराणिकैः देवतास्वरूपा भगवती पृथ्वी मुकुरतलतुल्या कथिता, कैश्चन कूर्मपृष्ठसदृशी उन्नतमध्या, कैश्चित् कमलाकारा कथिता, अस्माकं ज्यौतिषिकाणां तु कदम्बपुष्पनिचयग्रन्थेः समा, सर्वत्र जीवानां चयेन निचिताऽनुमतेति सिद्धान्तशेखरे श्रीपत्युक्तिरस्ति, सिद्धान्तशिरोमणौ 'सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चितः । कदम्बकुसुमग्रन्थिः केसर प्रसरैरिव' भास्करोक्तिरियं श्रीपत्युक्तिसदृश्येवास्ति, परन्तु नवीनाः पृथिव्या आकृतिं दीर्घं पिण्डाकृतिसदृशीं स्वीकुर्वन्ति । ग्रहनक्षत्रकक्षावृत्तसंस्थानसम्बन्धे सिद्धान्तशेखरे 'विधुबुधसित सूर्यैरेज्यपातङ्गिकक्षावलयपरिवृत्तोऽसावृक्षकक्षोदरस्थ' इत्यादि श्रीपत्युक्तिरियं सिद्धान्तशिरोमणौ 'भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षावृत्तैर्वृतो वृत्तः सन् मृदनिलसलिलव्योमतेजोमयोऽयम्' भास्करोक्तिरियं चाऽऽचार्योक्तिसदृश्येवास्तीति सम्प्रति वेधेन चन्द्रो भुवः समन्ताद् भ्रमणं करोति तथा सूर्यात् परितः क्रमेण बुधशुक्रभूमिभौमगुरुशनि नक्षत्राणि भ्रमन्तीति सिध्यति । अत एव प्राचीनानां भूस्थिरवादिनां भूपरितो ग्रहा भ्रमन्तीति वदतां मते बुधशुक्रकर्णयोर्महदन्तरमिति प्रसिद्धम् । पूर्वपश्चिमयोस्तयोर्दृश्यादृश्यत्वं च तन्मते न घटते । ग्रहाणामूर्ध्वाधरत्वं च तेषां कर्णानां ज्ञानेन स्फुटं विज्ञायते । बिम्बीयकर्णानामानयनं पूर्वमेव मध्यमाध्याये मया लिखितं तत्तत एव ज्ञातव्यम् । एवं रविग्रहबिम्बान्तरवेधेन सर्वे ग्रहा रविपरितो भ्रमन्तीति स्फुटं सम्प्रति नव्यमतेन विज्ञायत इति ॥२॥

अब भूगोल संस्थान को कहते हैं ।

हि. भा.—चन्द्र–बुध–शुक्र–रवि–मङ्गल–गुरु (बृहस्पति) शनि इन सबों के कक्षावृत्तों

से वेष्टित (घिराहुआ) नक्षत्र कक्षा के मध्य में यह भूगोल है, जो प्राणियों के शुभ-अशुभ कर्मों से प्राप्त होता है। चन्द्र बुध शुक्रादिग्रह कक्षावृत्तों की क्यों इस तरह उपर्युपरिस्थिति है इस की युक्ति के लिये मध्यगति अध्याय में लिखित उपपत्ति अथवा बटेश्वर सिद्धान्त के मध्यमाधिकार में हमारी लिखी हुई टीका देखनी चाहिये। भूगोल के स्वरूप में बहुत मतान्तर है जैसे पौराणिक लोग देवता स्वरूप भगवती पृथ्वी को अयनक के तल सदृश कहते हैं, कोई कोई कछुए की पृष्ठ के सदृश पृथ्वी के स्वरूप कहते हैं, कोई कोई कमल के आकार के सदृश कहते हैं, हमारे ज्यौतिषिकों के मत से कदम्ब फल के सदृश है और जिस तरह कदम्ब फल में सर्वत्र केसर रहता है उसी तरह इस गोलाकार पृथ्वी के ऊपर सर्वत्र प्राणियों की स्थिति है यह विषय सिद्धान्तशेखर में 'आदर्शोदरसन्निभा भगवती विश्वम्भरा' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक से श्रीपति ने कहा है, सिद्धान्तशिरोमणि में 'सर्वतः पर्वतारामग्रामचैत्य चयैश्चितः' इत्यादि श्लोक से भास्कराचार्य ने भी श्रीपति के कथनानुसार ही कहा है लेकिन नवीन लोग पृथ्वी का आकार दीर्घपिण्डाकार मानते हैं, इसके सम्बन्ध में वटेश्वर सिद्धान्त के मध्यमाधिकार में हमारी लिखी हुई टीका देखनी चाहिये। ग्रह-नक्षत्र कक्षावृत्तों की स्थिति के सम्बन्ध में सिद्धान्तशेखर में, 'विधुबुधसितसूर्यारेज्यपातङ्गिकक्षा' इत्यादि से श्रीपति तथा सिद्धान्त शिरोमणि में 'भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञ कविरविकुजेज्यार्कि नक्षत्रकक्षावृत्तैः' इत्यादि से भास्कराचार्य ने भी अचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है। सम्प्रति वेध से चन्द्र पृथ्वी के चारों तरफ भ्रमण करती है तथा सूर्य के चारों तरफ क्रम से बुध-शुक्र पृथ्वी-मङ्गल-गुरु-शनि और नक्षत्र परिभ्रमण करते हैं यह सिद्ध होता है, इसलिये प्राचीनों के 'पृथ्वी स्थिर है उसके चारों तरफ ग्रह भ्रमण करते हैं' मत में बुध और शुक्र के कर्ण में बहुत अन्तर होता जो नहीं होना चाहिये। तथा उन (प्राचीनों) के मत में बुध और शुक्र का दृश्यादृश्यत्व नहीं घटता है। ग्रहों का ऊर्ध्वाधरत्व उन (ग्रहों) के बिम्बीय कर्णज्ञान से समझा जाता है। बिम्बीय कर्णों का आनयन प्रकार मैं पहले ही मध्यमाध्याय में लिख चुका हूं। वह वहीं से समझना चाहिये; एवं रवि और ग्रह के बिम्बान्तर वेध से रवि के चारों तरफ सब ग्रह भ्रमण करते हैं यह इस समय नवीनों के मत से समझा जाता है इति ॥२॥

इदानीं देवासुरसंस्थानमाह।

खे भूगोलस्तदुपरि मेरौ देवाः स्थितास्तले दैत्याः।
खे भगणाक्षाग्रस्थावुपर्यधश्च ध्रुवौ तेषाम् ॥३॥

सु. भा.—आकाशे भूगोलस्तदुपरि मेरुस्तत्र मेरावुपरि देवाः स्थिताः। तले मेरुतले कुमेरौ दैत्याः स्थिताः। तेषां देवदैत्यानां ख आकाशे भगणाक्षाग्रस्थौ भगणाक्षो ध्रुवयष्टिस्तदग्रस्थौ ध्रुवावुपर्यधश्च। देवानामुत्तरो ध्रुव उपरि दक्षिणोऽधो दैत्यानां दक्षिण उपरि उत्तरो ध्रुवश्चाध इति। 'सौम्यं ध्रुवं मेरुगताः खमध्ये' इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ॥३॥

वि. भा.—खे (आकाशे) भूगोलोऽस्ति, भूगोलोपरि मेरुरस्ति, मेरावुपरि भागे देवाः) स्थिताः सन्ति, मेरुतले (मेरोरधोभागे) कुमेरौ दैत्याः स्थिताः सन्ति, तेषां (देवानां दैत्यानां च) खे (आकाशे) भगणाक्षाग्रस्थौ (भगणाक्षशब्देन ध्रुवयष्टि-स्तदग्रस्थितौ) ध्रुवौ उपर्यधश्चार्थात् देवानामुत्तरो ध्रुव उपरि, दक्षिणध्रुवश्चाधः, दैत्यानां दक्षिणध्रुव उपरि, उत्तर ध्रुवश्चाध इति ॥ सिद्धान्तशेखरे 'स्वमूर्धगं मेरु-गतास्तमुत्तरं तथेतरं वाड़ववा सिनो जनाः, वड़वानलवासिनः —दैत्याः । श्रीपत्यु-क्तमिदं सिद्धान्तशिरोमणौ 'सौम्यं ध्रुवं मेरुगताः खमध्ये याम्यं च दैत्या निजमस्तकोर्ध्वे, भास्करोक्तमिदं चाऽऽचार्योक्तानुरूपमेवास्तीति ॥३॥

अब देव और दैत्य के संस्थान (स्थिति) को कहते हैं ।

हि. भा.—आकाश में भूगोल है, भूगोल के ऊपर मेरु है, मेरु के ऊपरी भाग में देवता लोग स्थित हैं और मेरु के अधो भाग (कुमेरु) में दैत्य लोग स्थित हैं । उन देवताओं और दैत्यों के आकाश में ध्रुवयष्टी के अग्रद्वय में स्थित दोनों ध्रुव ऊपर और नीचे है अर्थात् उत्तर ध्रुव देवों के ऊपर है दक्षिण ध्रुव नीचे में है और दैत्यों का दक्षिण ध्रुव ऊपर में है उत्तर ध्रुव नीचे में है ॥ सिद्धान्तशेखर में 'स्वमूर्धगं मेरुगतास्तमुत्तरं' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित पद्य से श्रीपति तथा सिद्धान्त शिरोमणि में 'सौम्यं ध्रुवं मेरुगताः खमध्ये' इत्यादि वि. भा. लिखित पद्य से भास्कराचार्य ने भी आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा हैं इति ॥३॥

इदानीं देवानां दैत्यानां च भचक्रभ्रमणव्यवस्थामाह ।

ध्रुवयोर्बद्धं सव्यगममराणां क्षितिजसंस्थमुडुचक्रम् ।
अपसव्यगमसुराणां भ्रमति प्रवहानिलाक्षिप्तम् ॥४॥

सु. भा.—स्पष्टम् । 'सव्यापसव्यं भ्रमदृक्षचक्रम्' इत्यादि भास्करोक्तमेत-दनुरूपमेव ॥४॥

वि. भा.—प्रवहवायुना प्रेरितं ध्रुवयष्ट्यधीनं देवानां क्षितिज संसक्तं भचक्रं सव्यगं भ्रमति, दैत्यानामपसव्यगं भ्रमत्यर्थादुत्तरं क्रान्तिमण्डलार्धं देवाः सव्यगं पश्यन्ति, दक्षिणं तदर्धं—अपसव्यगं दैत्याः पश्यन्ति, सव्यगमिति पश्चिमाभिमुखं भ्रमत् अपसव्यगं च पूर्वाभिमुखं भ्रमदित्यर्थः । चलद् भमण्डलं स्वक्षितिजगतं देवा दैत्याश्च पश्यन्ति, तत्क्षितिजमण्डलेन सह क्रान्तिवृत्तस्य स्थानद्वये योग इति नक्षत्रचक्रं क्षितिजवृत्तस्थितमुपचर्यते । दक्षिणं क्रान्तिवृत्तार्धं कदाचिदपि देवैर्नावेक्ष्यते उत्तरं क्रान्तिवृत्तार्धं दैत्यैर्नावेक्ष्यत इति ॥ सिद्धान्तशेखरे 'सौम्यं हि मेषाद्यप-मण्डलार्धं पश्यन्त्यमी सव्यगमेव देवाः । तुलादिकं दक्षिणमन्यदर्धं सदैव दैत्यास्त्व-

पसव्यवर्त्ति, श्रीपत्युक्तमिदं सिद्धान्तशिरोमणौ 'सव्यापसव्यं भ्रमहृक्षचक्रं विलोकयन्ति क्षितिजप्रसक्तम्' भास्करोक्तमिदं चाऽऽचार्योक्तानुरूपमेवेति ॥४॥

अब देवों और दैत्यों की भचक्र-भ्रमण-व्यवस्था को कहते हैं ।

हि. भा.—प्रवह वायु द्वारा प्रेरित ध्रुव यष्टी के अधीन (अर्थात् ध्रुव यष्टी के घूमने से घूमने वाला) देवों का क्षितिज वृत्त संसक्त भचक्र सव्य घूमता है, और दैत्यों का अपसव्य घूमता है, अर्थात् क्रान्तिमण्डल के उत्तरार्ध को देव सव्यग देखते हैं, क्रान्ति मण्डल के दक्षिणार्ध को दैत्य अपसव्यग देखते हैं, सव्यग से पश्चिमाभिमुख भ्रमण करते हुए और अपसव्यग से पूर्वाभिमुख भ्रमण करते हुए समझना चाहिए । सिद्धान्तशेखर में 'सौम्यं हि मेषाद्यपमण्डलार्धं' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक से श्रीपति तथा सिद्धान्त शिरोमणि में 'सव्यापसव्यं भ्रमहृक्षचक्र'' इत्यादि से भास्कराचार्य ने भी आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है इति ॥४॥

इदानीं चक्रभ्रमणव्यवस्थामाह ।

अन्यत्र सर्वतो दिशमुन्नमति भपञ्जरो ध्रुवो नमति ।
लङ्कायामुडुचक्रं पूर्वापरगं ध्रुवौ क्षितिजे ॥५॥

सु. भा.—अन्यत्र मेरुतोऽन्यत्र सर्वतो दिशं भूगोले भपञ्जरो भचक्रमुन्नमति ध्रुवश्च नमति । लङ्कायामुडुचक्रं भचक्रं पूर्वापरगं सममण्डलाकारं ध्रुवौ च क्षितिजे स्त इति । आचार्येण यथा यथा मेरुतो द्रष्टा सर्वतो दिशं याति तथा तथा ध्रुवो नमतीत्युक्तम् । भास्करेण लङ्कामेव मूलस्थानं प्रकल्प्य स्थितिः प्रतिपादिता 'अतो निरक्षदेशे क्षितिमण्डलोपगौ ध्रुवौ नरः पश्यति दक्षिणोत्तरौ' इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ॥५॥

वि. भा.—मेरुतोऽन्यत्र सर्वतो दिशं पृथिव्यां भपञ्जरः (भचक्रं) उन्नमति, ध्रुवश्च नमति, लङ्कायां भचक्रं पूर्वापरगं सममण्डलाकारं ध्रुवौ च तत्क्षितिजे स्तः । द्रष्टा मेरुतो यथा यथा सर्वतो दिशं याति तथा तथा ध्रुवो नमतीत्याचार्येणोक्तम् । लङ्कामेव मूलस्थानं मत्वा भास्कराचार्येण स्थितिः प्रतिपादिता तेन 'निरक्षदेशे क्षितिमण्डलोपगौ ध्रुवौ नरः पश्यति दक्षिणोत्तरावि'त्यादि भास्करोक्ताऽऽचार्योक्तयोर्न कोऽपि भेदः, अर्थात् मेर्वभिमुखं गच्छतो नरस्योत्तरध्रुवोन्नतिस्तथा भचक्रस्य नतिर्भवति, एवमुत्तरभागतो निरक्षदेशाभिमुखं गच्छतो नरस्य विपरीते नतोन्नते भवतोऽर्थादुत्तरध्रुवस्य नतिर्भचक्रस्योन्नतिर्भवति, 'उदग्दिशं याति यथा यथा नरः' इत्यादि भास्करोक्तेरिदं स्फुटमस्ति, निरक्षाद्बहुत्रोत्तरदेशेऽपि उत्तरध्रुव-दर्शनं न भवत्यतोऽत्र सिद्धान्तप्रतिपादने भूपृष्ठावरोधनमनङ्गीकृत्य भूगर्भतः सर्वं विचार्यम् ध्रुवयोर्बद्धं भचक्रं प्रवहवायुनाऽऽक्षिप्तं सततं पश्चिमाभिमुखं

भ्रमति । चन्द्रादीनां ग्रहाणां कक्षाश्च तस्मिन् भचक्रे बद्धा भ्रमन्तीति ॥ सूर्यसिद्धान्ते "ध्रुवोन्नतिर्भचक्रस्य नतिर्मेरुं प्रयास्यतः । निरक्षाभिमुखं यातुर्विपरीते नतोन्नते ॥ भचक्रं ध्रुवयोर्बद्धमाक्षिप्तं प्रवहानिलैः । पर्येत्यजस्रं तन्नद्धा ग्रहकक्षा यथाक्रमम्" इति सूर्यांशपुरुषोक्तसदृशमथवाऽऽचार्योक्तं चेति ॥५॥

अब चक्रभ्रमण व्यवस्था को कहते हैं ।

हि. भा.—मेरु से अन्यत्र सब दिशाओं में भचक्र की उन्नति होती है और उत्तर ध्रुव की नति होती है । लङ्का में भचक्र सममण्डलाकार है और दोनों ध्रुव लङ्का क्षितिज में हैं । द्रष्टा मेरु से ज्यों ज्यों सब दिशाओं में जाते हैं त्यों त्यों ध्रुव की नति होती है यह आचार्य का कथन है, परन्तु लङ्का ही को मूल स्थान मानकर भास्कराचार्य ने स्थिति का प्रति पादन किया है इसलिये 'निरक्षदेशे क्षितिमण्डलोपगौ' इत्यादि भास्कराचार्योक्ति और आचार्योक्ति में कुछ भी भेद नहीं है । अर्थात् मेरु की ओर जाते हुए मनुष्य को उत्तर ध्रुव की उन्नति और भचक्र की नति देखने में आती है । एवं उत्तर भाग से निरक्ष देशाभिमुख जाते हुए मनुष्य को नति और उन्नति विपरीत देखने में आती हैं अर्थात् उत्तर ध्रुव की नति और भचक्र कीं उन्नति देखने में आती है । 'उदग्दिशं याति यथा यथा नरः' इत्यादि भास्करोक्ति से यह स्फुट है । निरक्षदेश से उत्तर भी बहुत देशों में उत्तर ध्रुव का दर्शन नहीं होता है, इसलिए यहां सिद्धान्त कहने में भूपृष्ठजनित अवरोध को स्वीकार न कर भूगर्भ ही से सब कुछ विचार करना चाहिए ॥ सूर्य सिद्धान्त में भी 'ध्रुवोन्नतिर्भचक्रस्य' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से इन्हीं बातों को कहा गया है इति ॥५॥

इदानीं देवादीनां रविभ्रमणस्थितिं कथयति ।

देवाः[1] सव्यगमसुराः पश्यन्त्यपसव्यगं रविं क्षितिजे ।
विषुवति समपश्चिमगं निरक्षदेशस्थिताः पुरुषाः ॥६॥

सु० भा०—विषुवति मेषतुलादौ देवाः क्षितिजे रविं सव्यगमसुरा अपसव्यगं निरक्षदेशस्थाः पुरुषाश्च समपश्चिमगं पश्यन्तीति प्रसिद्धम् ॥६॥

वि. भा.—देवा दैत्याश्च नाडीमण्डलरूपक्षितिजे विषुवति (सायनमेषतुलादौ) क्रमशः सव्यगमपसव्यगं रविं पश्यन्ति । निरक्ष देशवासिनस्तं रविं (सायनमेषादौ सायनतुलादौ च स्थितं सूर्यं) पूर्वापरवृत्तानुकारे नाडीवृत्ते पश्यन्तीति ॥६॥

अब देवादियों की रवि भ्रमण स्थिति को कहते हैं ।

हि. भा.—नाड़ी मण्डल रूपक्षितिज में सायन मेषादि में और सायनतुलादि में

(१) 'देवासुरा विषुवति क्षितिजस्थं दिवाकरम् । पश्यन्ति' इति सूर्य सिद्धान्तेऽप्येवमेवास्ति ।

सव्यगत रवि को देवता लोग देखते हैं और दैत्य लोग अपसव्यगत देखते हैं। निरक्ष देश वासियों के नाड़ीवृत्त पूर्वापर वृत्त हैं इसलिए वे लोग तब (सायन मेषादिस्थित सूर्य को और सायन तुलादि स्थित सूर्य को) पूर्वापर वृत्तगत देखते हैं इति ॥६॥

इदानीं देवदैत्ययोराशिसंस्थानमाह।

सौम्यमपमण्डलार्धं मेषाद्यं सव्यगं सदा देवाः।
पश्यन्ति तुलाद्यर्धं दक्षिणमपसव्यगं दैत्याः ॥७॥

सु. भा.—देवाः सदा मेषाद्यं सौम्यमुत्तरं क्रान्तिमण्डलार्धं सव्यगं दैत्याश्च तुलादिक्रान्तिमण्डलार्धं दक्षिणमपसव्यगं पश्यन्ति।

अत्रोपपत्तिः।

गोलसंस्थानेन 'लम्बाधिका क्रान्तिरुदक् च यावत्'—इत्यादि भास्करविधिना स्फुटा ॥७॥

वि. भा.—देवाः सर्वदा मेषाद्यमुत्तरं क्रान्तिवृत्तार्धसव्यगं पश्यन्ति। दैत्याः तुलादिक्रान्तिवृत्तार्धं दक्षिणं (अपसव्यगं) पश्यन्तीति।

अत्रोपपत्तिः।

मेरौ कुमेरौ चाक्षांशा नवतिः=९०, अतो लम्बांशाः=०, तेनमेषादिषण्णां राशीनां क्रान्तेर्लम्बांशाधिकत्वात्तदहोरात्रवृत्तानां तत्क्षितिजोर्ध्वगतत्वाच्च तत्र स्थितं रविं देवाः सर्वदा पश्यन्ति। एवमेव तुलादिषण्णां राशीनां क्रान्तेरपि लम्बांशाधिकत्वात्तदहोरात्रवृत्तानां तत्क्षितिजोर्ध्वगतत्वात्तेषु राशिषु स्थितं सूर्यं सर्वदा दैत्याः पश्यन्त्येव। दिनरात्रिसम्बन्धे सिद्धान्तशिरोमणौ 'लम्बाधिका क्रान्तिरुदक् च यावत्तावद्दिनं संततमेव तत्र। यावच्च याम्या सततं तमिस्रा' इत्येवं भास्करेण यत् कथितं तेनैव स्फुटमस्तीति ॥७॥

अब देवों के और दैत्यों के राशि संस्थान को कहते हैं।

हि. भा.—देवता लोग मेषादि उत्तर क्रान्तिवृत्तार्धं को सर्वदा सव्यगत देखते हैं। तथा दैत्य लोग तुलादि क्रान्तिवृत्तार्धं को अपसव्यगत देखते हैं इति ॥७॥

उपपत्ति।

मेरु में और कुमेरु में अक्षांश=९०, अतः लम्बांश शून्य=०, है इसलिये मेषादि (उत्तर गोलीय) छः राशियों की क्रांतियों के लम्बांशाधिक होने के कारण उन राशियों के अहोरात्रवृत्तों के क्षितिजवृत्त से ऊपर होने से उन राशियों में स्थित सूर्य को सर्वदा देखते हैं।

एवं तुलादि (दक्षिणगोलीय) छः राशियों की क्रान्तियों के लम्बांशाधिक होने के कारण उन राशियों में स्थित सूर्य को दैत्य लोग सर्वदा देखते हैं, सिद्धान्त शिरोमणि में 'लम्बाधिका क्रान्तिरुदक्' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित भास्करोक्त श्लोक से यह स्पष्ट है। सूर्य सिद्धान्त में 'देवासुरा विषुवति क्षितिजस्थं दिवाकरम्। पश्यन्ति' इससे सूर्यांश पुरुष आचार्योक्त के सदृश ही कहा है इति ॥ ७ ॥

इदानीं देवदैत्ययोः पितृमानवयोश्च दिनप्रमाणमाह।

पश्यन्ति देवदैत्या रविवर्षार्धमुदितं सकृत् सूर्यम्।
शशिगाः शशिमासार्धं पितरो भूस्था नराः स्वदिनम् ॥८॥

सु. भा.—देवदैत्याः सकृदुदितं सूर्यं रविवर्षार्धं सौरवर्षदलपर्यन्तं शशिगाः शशिपृष्ठस्थाः पितरश्च शशिमासार्धं पर्यन्तं भूस्था नराश्च स्वदिनं स्वदिनमानपर्यन्तं पश्यन्ति।

अत्रोपपत्तिः। भास्करगोलाध्यायतः स्फुटा ॥८॥

वि. भा.—देवा दैत्याश्च सकृदुदितं सूर्यं सौरवर्षार्धं पश्यन्ति। शशिगाः (चन्द्रपृष्ठस्थाः) पितरश्चान्द्रमासार्धं रविं पश्यन्ति। पृथिव्यां स्थिता मनुष्याः स्वदिनमानपर्यन्तं रविं पश्यन्तीति।

अत्रोपपत्तिः।

उत्तरध्रुवो देवानां खस्वस्तिकम्। दक्षिणध्रुवश्च दैत्यानां खस्वस्तिकम्। ध्रुवाभ्यां नवत्यंशेन यद्वृत्तं तन्नाडीवृत्तं देवदानवयोः क्षितिजवृत्तम्। नाडीवृत्तक्रान्तिवृत्तयोः सम्पाते सायनमेषादौ सायनतुलादौ च रविदर्शनानन्तरं पुनस्तत्सायनमेषादौ सायनतुलादौ च रविदर्शनं यावता कालेन भवेत् स रवेरेकभगणः (सायनरविभगणः) देवदैत्ययोरहोरात्रप्रमाणं भवति, परन्त्वेकसायनभगणभोगः सौरवर्षमतो देवदैत्ययोः सायनसौरवर्षार्धं (षण्मासप्रमाणं) दिनं सिद्धम्। परन्तु देवदैत्ययोर्दिनरात्री विलोमेन भवतोऽर्थाद्यदा मेषादावुदितं रविं प्रतिदिनं क्षितिजोपरिगतं देवाः पश्यन्ति तदा देवानामधःस्थितत्वाद्दैत्यास्तं रविं न पश्यन्ति, अतो यदा देवानां दिनं तदा दैत्यानां रात्रिः, यदा देवानां रात्रिस्तदा दैत्यानां दिनमिति। सिद्धान्तशेखरे "सकृदुद्गतो दिनकरः सुरासुरैरपि वत्सरार्धमवलोक्यते स्फुटम्। पितृभिश्च मासदलमिन्दुगोलगैर्द्युदलं महीतलगतैश्च मानवैः" श्रीपतिनाऽनेनाक्षरश आचार्योक्तानुरूपमेव कथितम्। अस्योपपत्तिर्दिनरात्रिस्वरूपे च सिद्धान्तशिरोमणौ।

"विषुवद्वृत्तं द्युसदां क्षितिजत्वमितं तथा च दैत्यानाम्।
उत्तरयाम्यौ क्रमशो मूर्ध्वोर्ध्वगतौ ध्रुवौ यतस्तेषाम् ॥

उत्तरगोले क्षितिजादूर्ध्वे परितो भ्रमन्तमादित्यम् ।
सव्यं त्रिदशाः सततं पश्यन्त्यसुरा असव्यगं याम्ये ।।

सांहितिका उत्तरायणदक्षिणायने देवानां दिनरात्री भवत इति कथयन्ति एतस्य खण्डनं सिद्धान्तशेखरे ।

दिनप्रवृत्तिर्मरुतामजादौ तुलाधरादौ च निशाप्रवृत्तिः ।
ते कल्पिते यैर्मृगकर्कयोरत्रोपपत्तिं न च ते ब्रुवन्ति ।।
द्वन्द्वान्तयातं कनकाद्रियाताः पश्यन्ति पङ्क्तेरुहिणीपतिं चेत् ।
अपक्रमस्यात्र समानतायां कथं कुलीरे न विलोकयन्ति ।।

देवानां मेषादौ सूर्ये दिनारम्भः, तुलादौ च रात्र्यारम्भः, यैः सांहितिकैस्ते दिनरात्री मकरकर्कयोः कल्पिते तेऽत्र युक्तिं न कथयन्ति । अर्थात् कथमुत्तर-दक्षिणायने देवानां दिनरात्री भवत इत्यत्र ते सांहितिकाः काञ्चिद्युक्तिं न वदन्ति । देवा मिथुनान्तस्थितं सूर्यं यदि पश्यन्ति तदा कर्कराशौ क्रान्तेः समत्वे कथं न पश्यन्तीति प्रश्नः । अस्य किमप्युत्तरं न तेन 'अत्रोपपत्तिं न च ते ब्रुवन्ति' कथनमिदं युक्तम् । श्रीपतिरत्नमालायाम्—

"शिशिरपूर्वमृतुत्रयमुत्तरं ह्ययनमाहुरहश्च तदामरम् ।
भवति दक्षिणमन्य दृतुत्रयं निगदिता रजनी मरुतां च सा ।।
गृहप्रवेशत्रिदशप्रतिष्ठाविवाह चौलव्रत बन्धपूर्वम् ।
सौम्यायने कर्म शुभं विधेयं यद्गर्हितं तत्खलु दक्षिणे च ।।"

इत्यनेन श्रीपतिरपि संहितोक्तफलादेशार्थं–उत्तरदक्षिणायने एव दिनरात्री कथयित्वाऽत्र ज्यौतिष सिद्धान्ते "अत्रोपपत्तिं न च ते ब्रुवन्ती" ति तदुपहासं करोतीति ।।

पितृदिनोपपत्तिः ।

चन्द्रस्योर्ध्वभागे पितरो निवसन्ति । भूगर्भाच्चन्द्रकेन्द्रगता रेखा पितृरणामूर्ध्व-याम्योत्तरवृत्ते यत्र लगति तत्र तेषामूर्ध्वखस्वस्तिकम्, तत्रैव परिणतचन्द्रोऽपि, यदि तत्र रविरपि भवेच्चन्द्रस्य शराभावश्चेत्तदा रविचन्द्रयोरेकत्र स्थित्वाद्दर्शान्तः, ऊर्ध्वखस्वस्तिकगते रवौ दिनार्धं भवति तेन दर्शान्ते पितृणां दिनार्धं भवतीति सिध्यति, सैव भूगर्भतश्चन्द्रकेन्द्रगता रेखाऽधोयाम्योत्तरवृत्ते यत्र लगति, तत्र तेषामधः खस्वस्तिकम् । तत्र रविचन्द्रयोः षड्भान्तरत्वात् पूर्णान्तः पितृणामर्धरा-त्रश्च, पितृणाममावास्यां मध्यान्हत्वात् पूर्णान्ते च रात्र्यर्धत्वात्तारतम्येन कृष्ण-पक्षस्य सार्धसप्तम्यां रविरुदेति शुक्लपक्षस्य सार्धसप्तम्यां चास्तमेतीति सिध्यति ।

सिद्धान्तशेखरे "चान्द्रे गोले शिरसि पितरः सन्ति तेषां च पर्वण्यूर्ध्वे भास्वान् भवति हि ततस्तत्र तद्वासरार्धम् । कृष्णाष्टम्यां सवितुरुदयोऽस्तं च शुक्लाष्टमी चेत् ? प्रोक्तस्तेषामिह मुनिवरैः पौर्णमास्यां निशीथः ॥" श्रीपतिनैवं कथ्यते। दर्शान्ते पितृदिनार्धम्, द्वितीयदर्शान्तेऽपितृदिनार्धं भवति, दर्शान्तद्वययोरन्तरं चान्द्रमासः, परन्तु दिनार्धान्तरकालः सूर्योदयान्तरकालतुल्यः। सूर्योदयद्वयान्तरकालश्चैकं दिनं तेन सिद्धं यत्पितृणामेकचान्द्रमासतुल्यं दिनं भवति । तेन चन्द्रोर्ध्वभागे वसन्तः पितरः सकृदुदितं रविं चान्द्रमासार्धं (पक्षपर्यन्तं) पश्यन्तीति सिद्धम् । सूर्यसिद्धान्ते 'सकृदुद्गतमब्दार्धं पश्यन्त्यर्कं सुरासुराः । पितरः शशिगाः पक्षं स्वदिनं च नरा भुवि' सूर्यांशपुरुषोक्तस्यास्य सदृशमेवाऽऽचार्योक्तमस्ति, सिद्धान्त शिरोमणौ 'रवीन्द्वोर्युतेः संयुतिर्यावदन्या विधोर्मास एतच्च पैत्रं द्युरात्र' मिति भास्करोक्तमाचार्योक्तानुरूपमेव । तथा च भास्करः ।

"विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः स्वाधः सुधादीधितिमामनन्ति ।
पश्यन्ति तेऽर्कं निजमस्तकोर्ध्वे दर्शे यतोऽस्माद् द्युदलं तदैषाम् ।
भार्धान्तरत्वान्न विधोरधःस्थं तस्मान्निशीथः खलु पौर्णमास्याम् ।
कृष्णेरविः पक्षदलेऽभ्युदेति शुक्लेऽस्त मेत्यर्थत एव सिद्धम् ।"

यस्मिन् वृत्ते ग्रहबिम्बं भ्रमति तदन्तर्गतो द्रष्टा यदि सर्वदा ग्रहबिम्बस्यैकं भागमेव पश्यति तदा ग्रहबिम्बं स्वाक्षोपरिस्वाङ्गभ्रमं करोति। यथा यदा वयं देवमन्दिरस्य प्रदक्षिणां कुर्मस्तदा भ्रमणवृत्तान्तर्गतो द्रष्टा सर्वदाऽस्मद्दक्षिणभागमेवास्मदङ्गभ्रमणेन पश्यति, भ्रमण वृत्तबहिर्गतो द्रष्टा च स्वाभिमुखमस्मच्छरीरावयवं भिन्नं भिन्नं पश्यतीति प्रत्यक्षप्रतीतिः। यथा बालावात्यावद् भूमौ लघुप्रदेशे भ्रमंतः स्वाङ्गभ्रममुत्पादयन्ति तथा वयं महति प्रदेशे प्रदक्षिणा परिधौ भ्रमन्तः स्वाङ्गभ्रममुत्पादयामः भ्रमणवृत्तस्यात्यल्पत्वात्तद्बहिः स्था द्रष्टारो बालानां स्वाङ्गभ्रमेण भिन्नान् भिन्नानवयवान् पश्यन्तीति। अथ यस्मिन् वृत्ते चन्द्रो भ्रमति तदन्तर्गता वयं सदा चन्द्रस्य कलङ्कसहितं तमेव भागं पश्यामोऽतः पूर्वकथितसिद्धान्तेन चन्द्रो भ्रमन् स्वाङ्गभ्रममुत्पादयतीति सिध्यति। अथ यच्च चन्द्रे कलङ्कनाम्ना प्रसिद्धं तत् सूक्ष्मदर्शकयन्त्रबलेन चन्द्रोपरि वनं पर्वतादिकं चास्तीति स्फुटं दृश्यते नव्यैस्तत्पर्वतादीनामुच्छ्रितिज्ञानं च कृतमस्तीति । पितृदिनसम्बन्धे बटेश्वर सिद्धान्ते मट्टीकाऽवलोकनीयेति ॥८॥

अब देव-दैत्यों को और पितर-मनुष्यों के दिनमान कहते हैं।

हि॰ भा॰—देव और दैत्य एक बार उदित सूर्य को छः महीने तक देखते हैं । चन्द्र पृष्ठ निवासी पितर एकबार उदित सूर्य को चान्द्रमासार्ध (एकपक्ष) देखते हैं । पृथ्वी पर स्थित मनुष्य अहोरात्रार्ध तक रवि को देखते हैं ॥८॥

उपपत्ति ।

उत्तरध्रुव देवों का खस्वस्तिक है । दक्षिण ध्रुव दैत्यों का ख स्वस्तिक है । दोनों ध्रुवों को केन्द्र मान कर नवत्यंश से जो वृत्त (नाड़ीवृत्त) होता है वह देव और दैत्यों का क्षितिज वृत्त है । नाड़ीवृत्त और क्रान्तिवृत्त के सम्पातद्वय सायन मेषादि में और सायन तुलादि में रवि दर्शन के बाद पुन: जितने काल में सायन मेषादि और सायन तुलादि में रवि-दर्शन होता है वह एक सायनरविभगण (एक सायन सौरवर्ष) देव और दैत्य का अहोरात्र मान होता है । अतः देवों और दैत्यों का सायन सौरवर्षार्ध (छः महीने) दिन सिद्ध हुआ । परन्तु देवों और दैत्यों का दिन और रात्रि बिलोम से होती है अर्थात् जब मेषादि में उदित रवि को प्रति दिन क्षितिज से ऊपर देव लोग देखते हैं तब देवों से अधः स्थित होने के कारण दैत्य लोग उस रवि को नहीं देखते हैं इसलिये जब देवों का दिन होता है तब दैत्यों की रात्रि होती है । जब देवों की रात्रि होती है तब दैत्यों का दिन होता है । सिद्धान्तशेखर में 'सकृदुद्गतो दिनकरः सुरासुरैरपि वत्सरार्धमवलोक्यते स्फुटम्' यह श्रीपत्युक्त आचार्योक्त के अनुरूप ही है । सूर्य सिद्धान्त में 'सकृदुद्गतमब्दार्धं पश्यन्त्यर्कं सुरासुराः' इस सूर्यांश पुरुषोक्ति के अनुरूप ही श्रीपत्युक्त और आचार्योक्त है । सिद्धान्तशिरोमणि में 'रवेश्चक्रभोगोऽर्कवर्षं प्रदिष्टं द्युरात्रं च देवासुराणां तदेव' इस से भास्कराचार्य ने भी आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा हैं । इसकी उपपत्ति और दिन रात्रि का स्वरूप सिद्धान्तशिरोमणि में "विषुवद्वृत्तं द्युसदां क्षितिजत्वमितं तथा च दैत्यानाम् । उत्तरयाम्यौ क्रमशो मूर्ध्वोर्ध्वगतौ" इत्यादि संस्कृतो-पपत्ति में लिखित श्लोक से इस तरह भास्कराचार्य ने कहा है । सांहितिक लोग 'उत्तरायण देवों का दिन और दक्षिणायन उनकी रात्रि होती है' कहते हैं, इसका खण्डन सिद्धान्तशेखर में 'दिनप्रवृत्तिर्मरुतामजादौ तुलाधरादौ च निशा प्रवृत्तिः' इत्यादि से श्रीपति ने किया है । मेषादि में सूर्य के रहने से दिनारम्भ होता है, तुलादि में सूर्य के रहने से रात्र्यारम्भ होता है, जो सांस्कृतिक लोग मकरादि में और कर्कादि में दिन और रात्रि कहते हैं वे लोग इसमें युक्ति कुछ भी नहीं कहते हैं अर्थात् उत्तरायण देवों का दिन होता है और दक्षिणायन रात्रि होती है इसमें कुछ भी युक्ति नहीं कहते हैं । देवता लोग यदि मिथुनान्त स्थित सूर्य को देखते हैं तो कर्कराशि में क्रान्ति के समत्व के कारण क्यों नहीं देखते हैं । इस प्रश्न का उत्तर कुछ नहीं है । इसलिये 'अत्रोपपत्तिं न च ते ब्रुवन्ति' यह श्रीपति का कहना ठीक है । श्रीपति रत्नमाला में 'शिशिरपूर्वमृतुत्रयमुत्तरं' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोकों से श्रीपति भी संहितोक्त फलादेश के लिये 'उत्तरायण और दक्षिणायन ही को दिन और रात्रि कह कर इस ज्यौतिष सिद्धान्त में 'अत्रोपपत्तिं न च ते ब्रुवन्ति' से उनका उपहास करते हैं ।

पितृ दिनोपपत्ति ।

चन्द्र के ऊर्ध्व भाग में पितर बसते हैं । भूकेन्द्र से चन्द्रकेन्द्र गत रेखा पितरों के ऊर्ध्व याम्योत्तरवृत्त में जहां लगती है वह बिन्दु उनका ऊर्ध्व खस्वस्तिक है । वही बिन्दु परिणत चन्द्र भी पितृ त्रिज्या गोल में है । ऊर्ध्वखस्वस्तिक गत रेखा अधोयाम्योत्तर वृत्त में जहां

लगती है वह पितरों का अधः खस्वस्तिक है। पितरों के ऊर्ध्व खस्वस्तिक (परिणतचन्द्र) में रवि के आने से पितरों का दिनार्ध काल होगा लेकिन वहीं पर चन्द्र भी है इसलिये यदि चन्द्र का शराभाव हो तो रवि और चन्द्र के एक स्थान में रहने से दर्शान्त (अमावास्या) होने के कारण सिद्ध होता है कि दर्शान्त में पितरों का दिनार्ध होता है। एवं द्वितीय दर्शान्त में द्वितीय दर्शान्त होता है, दोनों दर्शान्त का अन्तर एक चान्द्रमास है वही पितरों का दिनार्धान्तर काल भी है परन्तु दिनार्धान्तर काल (एक दिनार्ध से दूसरे दिनार्ध तक) उदयान्तर काल (एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक) के बराबर होता है, सूर्योदयद्वयान्तर काल एक दिन है अतः दिनार्धान्तर काल भी एक दिन के बराबर हुआ। इसलिये सिद्ध हुआ कि पितरों का दिन (अहोरात्र) एकचान्द्रमास के वराबर होता है अर्थात् पितर लोग चान्द्र मास के आधे (एक पक्ष) तक उदित सूर्य को देखते रहते हैं। सूर्य सिद्धान्त में 'सकृदुद्गतमब्दार्धं पश्यन्त्यर्कं सुरासुराः। पितरः शशिगाः पक्षं' इस सूर्यांश पुरुषोक्त के अनुरूप ही आचार्योक्त है। सिद्धान्त शिरोमणि में 'रवीन्द्वोर्युतेः संयुतिर्यावदन्या विधोर्मास एतच्च पैत्रं द्युरात्रम्' यह भास्करोक्त आचार्योक्त के अनुरूप ही है। तथा 'विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्तः स्वाधः सुधादीधितिमामनन्ति पश्यन्ति तेऽर्कं' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से गोलाध्याय में भास्कराचार्य ने उसी बात को कहा है इति ॥८॥

इदानीं भूगोले लङ्कावन्त्योः संस्थानमाह।

भूपरिधि चतुर्भागे लङ्काभूमस्तकात् क्षितितलाच्च।
लङ्कोत्तरतोऽवन्ती भूपरिधेः पञ्चदशभागे ॥९॥

सु. भा.—भूमस्तको मेरुः क्षितितलश्च कुमेरुस्तस्माद्भूपरिधिचतुर्थभागेऽन्तरे दक्षिणदिशि लङ्कानाम नगरी। लङ्कोत्तरतश्च भूपरिधिपञ्चदशभागेऽवन्ती वर्तते। भास्करश्चाचार्यानुयायी 'निरक्षदेशात् क्षितिषोडशांशे भवेदवन्ती' इति कथितवान्। तेनान्येषां मते 'षोडशे भागे' इत्यत्र पाठान्तरम्। चतुर्वेदाचार्यसम्मतः पाठश्च 'पञ्चदशभागे' अयमेव ॥९॥

वि. भा.—भूमस्तकात् (मेरोः) क्षितितलाच्च (कुमेरोश्च) भूपरिधिचतुर्थांशा (नवत्यंश) न्तरे-दक्षिणस्यां दिशि लङ्का नाम नगरी वर्त्तते। लङ्कात उत्तरदिशि भूपरिधिपञ्चदशांशान्तरेऽवन्ती (उज्जयिनी) वर्त्तते। भास्कराचार्येण गोलाध्याये 'निरक्षदेशात् क्षितिषोड़शांशे भवेदवन्ती गणितेन यस्मात्' एवं कथ्यते। भूपरिधियोजनषोड़शांशान्तरे निरक्षदेशादवन्ती वर्त्तते तदर्थं गणितम्। यदि षष्ट्यधिकशतत्रयै ३६० रंशै भूपरिधियोजनानि लभ्यन्ते तदा ऽवन्त्यक्षांशेन किमित्यनुपातेन निरक्षदेशावन्त्योरन्तरयोजनान्यागच्छन्ति तत्स्वरूपम्।

$$\frac{\text{भूपरिधियोजन} \times \text{अवन्त्यक्षांश}}{३६०} = \text{निरक्ष देशावन्त्योरन्तरयोजनानि}$$ । अवन्तीदेशे-

ऽक्षांशाः $=$ २२ । ३० $=$ २२ $\frac{१}{२}$ $=$ $\frac{४५}{२}$, अतः $\frac{\text{भूपरिधियोजन} \times ४५}{३६० \times २}$

$=$ $\frac{\text{भूपरिधियोजन} \times ४५}{७२०}$ हरभाज्या (४५) वनेन भक्तौ तदा $\frac{\text{भूपरिधियोजन}}{\frac{७२०}{४५}}$

$=$ $\frac{\text{भूपरिधियोजन}}{१६}$ $=$ निरक्षदेशावन्त्योरन्तर योजनानि । चतुर्वेदाचार्येण 'पञ्चदशे भागे' इत्येव कथ्यते यथा ऽऽचार्येण कथ्यते, कथं 'पञ्चदशे भागे' कथ्यते तत्र न कारणं किमपि प्रतिभाति । लङ्कातः सुमेरुः कुमेरुश्च नवत्यंशान्तरेऽस्ति' यतस्तत्राक्षांशाः $=$ ९० सन्तीति ॥९॥

अब भूगोल में लङ्का और अवन्ती की संस्थिति कहते हैं ।

हि. भा.—मेरु से और कुमेरु से भूपरिधि के चतुर्थांश (९० अंश) न्तर पर दक्षिण दिशा में लङ्का नामक नगरी है लङ्का से उत्तर दिशा में भूपरिधि के पञ्चदशां १५ शान्तर पर अवन्ती उज्जयिनी है । भास्कराचार्य अपने गोलाध्याय में 'निरक्ष देशात् क्षितिषोड़शांशे' इत्यादि से भूपरिधि के षोड़शांशान्तर पर गणित करके अवन्ती को कहते हैं । इसके लिये गणित इस तरह है । यदि भांश (३६०) में भूपरिधि योजन पाते हैं तो अवन्ती के अक्षांश में क्या इस अनुपात से निरक्ष देश और अवन्ती के अन्तर योजन आते हैं उसका स्वरूप $=$ $\frac{\text{भूपरिधियो} \times \text{अवन्ती के अक्षांश}}{३६०}$ परन्तु अवन्ती के अक्षांश $=$ २२ $\frac{१}{२}$ $=$ $\frac{४५}{२}$ अतः

$\frac{\text{भूपरिधियो} \times ४५}{३६० \times २}$ $=$ $\frac{\text{भूपरिधियो} \times ४५}{७२०}$ $=$ निरक्षदेश और अवन्ती के अन्तर योजन, यहां हर भाज्य को (४५) से भाग देने से $\frac{\text{भूपरिधियो}}{\frac{७२०}{४५}}$ $=$ $\frac{\text{भूपरिधियो}}{१६}$ $=$ निरक्षदेश और अवन्ती के अन्तर योजन । इसको सोलह से गुणा करने से भूपरिधि योजन होता है । भूपरिधियोजन मान के लिये आचार्यों में मतभेद है । अपनी कथित भूपरिधि की समीचीनता की दृढ़ता के लिये बहुत जोर देकर गोलाध्याय में कहते हैं "शृङ्गोन्नतिग्रहयुतिग्रहणोदयास्तच्छायादिकं परिधिना घटतेऽमुना हि । नान्येन तेन जगुरुक्तमहीप्रमाण प्रामाण्यमन्वययुजाव्यतिरेकेण" अर्थात् चन्द्र की शृङ्गोन्नति, ग्रहयुति, ग्रहण (चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण) ग्रहों का उदय समय और अस्त समय आदि हमारे ही भूपरिधि मान से ठीक समय पर होता है अन्यों के भूपरिधिमान से ठीक सयय पर नहीं होता है इसलिये हमारा ही कथित भूपरिधिमान ठीक है अन्याचार्यो का नहीं। आचार्य (ब्रह्मगुप्त) ने 'लङ्कोत्तरतोऽवन्ती भूपरिधेः परिधेः पञ्चदश भागे' से 'लङ्का से अवन्ती भूपरिधियोजन के पञ्चदशां १५ श पर है' जो कहा है इसमें कुछ युक्ति नहीं मिलती है । चतुर्वेदाचार्य ने आचार्योक्त पाठ ही का अनुमोदन किया है इति ॥ ९

इदानीं निरक्षस्वदेशान्तर योजनान्याह ।

अक्षांशकुपरिधिवधान्मण्डलभागाप्त योजनैर्विषुवत् ।
नतभागयोजनैरेवमुपरि सूर्योऽन्यदनुपातात् ॥१०॥

सु. भा.—अक्षांशानां भूपरिधेश्च वधात् मण्डलभागैश्चक्रांशैर्भक्ताद्यान्यवाप्तानि तैर्नतभागयोजनैः स्वदेशाद्विषुवन्निरक्षदेशो भवति। एवं जिनाल्पाक्षे देशे खस्वस्तिकोपरि यदा सूर्यो भवति तदा कैर्नतभागयोजनैर्विषुवद् देशो भवति । इत्यन्यच्च मेरुस्वदेशान्तरयोजनादिज्ञानं तत्तदन्तरभागतोऽनुपातात् कार्यमिति स्फुटम् । अत्र टीकायां चतुर्वेदाचार्यः 'कान्यकुब्जेऽक्षभागाः' २६ । ३५' ॥१०॥

वि. भा.—अक्षांशभूपरिध्योर्घाताद् भांशैर्भक्ताल्लब्धैर्नतभागयोजनैः स्वदेशान्निरक्षदेशो भवति । विषुवच्छब्देनात्र निरक्षदेशो ज्ञेयः । जिनाल्पाक्षांशे देशे यदा सूर्यः खस्वस्तिकोपरि भवति तदा कैर्नतभागयोजनैर्निरक्षदेशो भवति। अन्यच्च मेरुस्वदेशान्तरयोजनादिज्ञानं तत्तदन्तरांशतोऽनुपातात्कार्यमिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

यदि भांशैर्भूपरिधियोजनानि लभ्यन्ते तदा स्वदेशीयाक्षांशैः किमित्यनुपातेन लब्धयोजनानि स्वदेशनिरक्षदेशयोरन्तरयोजनानि भवन्ति । कस्मात् कस्माद्देशान्निरक्षदेशः कियदन्तरेऽस्तीति ज्ञानार्थं तत्तद्देशीयाक्षांशवशेन पूर्वोक्तानुपातः कार्य इति ॥१०॥

अब स्वदेश और निरक्षदेश के अन्तर योजन को कहते हैं ।

हि. भा.—अक्षांश और भूपरिधियोजन के घात में भांश ३६० से भाग देने से जो लब्धि हो उतने योजन पर स्वदेश से निरक्षदेश होता है । जिनाल्पा (चौबीस से कम) क्षांश देश में जब सूर्य खस्वस्तिक के ऊपर होता है तब कितने नतभाग योजन पर निरक्ष देश होता है । मेरु और स्वदेश का अन्तर योजनादि ज्ञान तत्तद्देश के अन्तरांश (अक्षांश) से करना चाहिये, यदि निरक्ष देश से किसी देश का अन्तर योजन ज्ञान करना हो तो पूर्वोक्त अनुपात से करना चाहिये । यदि साक्ष देश में दो देशों का अन्तर योजन करना हो तो दोनों देशों के अक्षांशान्तर से अनुपात (भांश में भूपरिधि योजन पाते हैं तो अक्षांशान्तर में क्या) द्वारा करना चाहिये ।

उपपत्ति ।

यदि भांश ३६° में भूपरिधि योजन पाते हैं तो स्वदेशीयाक्षांश में क्या इस अनुपात से लब्ध योजन निरक्षदेश और स्वदेश का अन्तरयोजन होता है अर्थात् लब्ध योजनान्तर पर

अपने देश से निरक्ष देश है। जिस किसी देश से निरक्ष देश की दूरी ज्ञात करनी हो तो उस देश के अक्षांश से पूर्वोक्तानुपात से करना चाहिये इति ॥१०॥

इदानीं खकक्षां ग्रहकक्षां चाह।

अम्बरयोजनपरिधिः शशिभगणाः शून्यखखजिनाग्निगुणाः ३२४००० ।
यस्य भगणैर्विभक्तास्तत्कक्षाऽर्को भषष्टयंशः ॥११॥

सु० भा०—कल्पे ये चन्द्रभगणास्ते ३२४००० एतैर्गुणा खकक्षा भवति। सा च यस्य ग्रहस्य कल्पभगणैर्विभक्ता तत्कक्षा तस्य ग्रहस्य कक्षा भवति। अर्कश्च भषष्टयंशः। अर्ककक्षा भकक्षायाः षष्टिभागः। अतोऽर्ककक्षा षष्टिगुणा भकक्षा भवतीति।

अत्रोपपत्तिः।

कल्पे चन्द्रभगणाः=५७७५३३'०००००)१८७१२०६'९२०००'००००० = खक(३२४०००
१७३२५९९
———
१३८६०७९
११५५०६६
———
२३१०१३२
२३१०१३२
———
×

अतो भास्करेणाचार्योक्तैव खकक्षा पठिता। शेषोपपत्तिर्भास्करोक्तविधिना स्फुटा ॥११॥

वि. भा.—कल्पे ये चन्द्रभगणास्ते ३२४००० एभिर्गुणास्तदाऽम्बरयोजनपरिधिः (खकक्षा) भवति। सा (खकक्षा) यस्य ग्रहस्य कल्पभगणैर्विभक्ता तस्य ग्रहस्य कक्षा भवति। भकक्षायाः षष्टय (६०) शो रविकक्षा भवतीति ॥११॥

अत्रोपपत्तिः।

आकाशे चतुर्दिक्षु यावत् रवेः किरणानां व्याप्तिः (प्रसारः) तत्परिधेः प्रमाणमेव खकक्षाप्रमाणमित्यागमप्रामाण्येन मान्यम्। वस्तुतो रवेश्चलत्वादाकाशे किरणानां सञ्चारेण यावत्तमोहानिस्तदाकारो वृत्तवन्न भवति। अत एव कल्पकुदिनग्रहगतियोजनघातसमा पठितखकक्षा कल्पे ग्रहभ्रमणयोजनैः समेति वक्तुं

शक्यते । वेधेन गतियोजनज्ञानं भवितुमर्हति, तत्कल्पकुदिनघातसमेयं पठित-खकक्षा संख्या भवति न वेति परीक्षा न भवितुमर्हति । अत एव भास्कराचार्यः । "ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा कल्पे ग्रहः क्रामति योजनानि । यावन्ति पूर्वैरिह तत्प्रमाणं प्रोक्तं खकक्षाख्यमिदं मतं नः ।" कल्पे चन्द्र भगणाः=५७७५३३००००० अतः कल्प चन्द्रभ × ३२४०००=१८७१२०६९२०००००००००=खकक्षा भास्कराचार्येणाऽपि 'कोटिघ्नैर्नखनन्दषट्कनखभूभूभृद्भुजङ्गेन्दुभिर्ज्योतिःशास्त्रविदो वदन्ति नभसः कक्षामिमां योजनै' रित्यनेनाऽऽचार्योक्त खकक्षा समैव खक[1] क्षामितिः पठिता । खकक्षा तुल्यानि योजनानि कल्पे ग्रहः क्रामति, भगणाश्च पाठपठित-समाः । एकभगणभोगेन ग्रहः स्वकक्षावृत्तयोजनानि भ्रमति ततोऽनुपातो यदि कल्प ग्रहभगणैः खकक्षामितयोजनानि लभ्यन्ते तदैकेन भगणेन किमिति जाता ग्रह कक्षा$=\frac{\text{खकक्षा}}{\text{कग्रभ}}$, अर्कोभषष्ट्यंश इत्यागमप्रामाण्येन $\frac{\text{भकक्षा}}{६०}$ = रविकक्षा

∴ भकक्षा=६० रविकक्षा, एतैर्योजनैः सर्वेषां ग्रहाणामुपरि दूरे कतिपय नक्षत्राणां वृत्तं भ्रमति, एतेनाऽऽचार्योक्तमुपपन्नम् ॥११॥

अब खकक्षा और ग्रह कक्षा को कहते हैं ।

हि. भा.—कल्प में पठित चन्द्रभगण को ३२४००० से गुणा करने से खकक्षा योजन परिधि प्रमाण होता है । खकक्षा को जिस ग्रह के कल्प भगण से भाग देते हैं फल उस ग्रह की कक्षा होती है । नक्षत्र कक्षा का साठवां अंश रवि कक्षा होती है इति ।

उपपत्ति ।

आकाश में चारों तरफ रवि किरणों का प्रसार जहां तक होता है, उस परिधि का प्रमाण ही खकक्षा प्रमाण है यह आगम प्रमाण से माना जाता है । वस्तुतः रवि के चलत्व

---

१ खकक्षा सम्बन्धे आचार्याणां भिन्नानि भिन्नानि मतानि सन्ति, सिद्धान्तशेखरे 'हिरण्यगर्भाण्डकटाहसंपुटप्रवेष्टकं तच्च बभाषिरे बुधाः । अदृश्यदृश्यं च गिरिं पुरातना जगुः खकक्षामिति गोलवेदिनः' हिरण्यगर्भो ब्रह्मा तस्याण्डकटाहस्य यत् संपुटं (परस्पराभिमुखं खण्डद्वयं) तदेव प्रवेष्टकं (करण्डकं यस्य तत्तथोक्तम्) बुधा गीतवन्तः । अर्थात् ब्रह्माण्ड-करण्डकान्तः स्थितमाकाशवृत्तमिति यावत् । गोलवेदिनो दृश्यादृश्यं गिरिं (लोकालोकाख्यं गिरिं) खकक्षा मिति गीतवन्तः' इति मतान्तरं श्रीपतिना कथितम् । स्वमतसम्बन्धे तेनैवं 'श्रीमदार्यभटजिष्णुनन्दन श्री त्रिविक्रमसुतादिसूरिभिः । सिद्भिरम्बरचरस्य कक्षया या कृताऽथ मयकाऽपि सोच्यते' कथ्यते । जिष्णुनन्दनो ब्रह्मगुप्तः । श्रीत्रिविक्रमसुतो लल्लः, आदिशब्देन सूर्यसिद्धान्तादिकारः कश्चिदिति बोध्यम् ॥

से आकाश में किरणों के संचार से जितनी दूर तक अन्धकार नष्ट होता है उसकी आकृति वृत्ताकार नहीं होती है। इसलिये कल्प कुदिन और ग्रहगति योजन के घाततुल्य यह खकक्षा कल्प में ग्रहों के भ्रमण योजन 'अर्थात् कल्प में जितने योजन ग्रह भ्रमण करते हैं' के बराबर होती है यह कह सकते हैं। खकक्षा के सम्बन्ध में आचार्यों का मत भिन्न भिन्न है इसलिये सिद्धान्तशिरोमणि में 'ब्रह्माण्डमेतन्मितमस्तु नो वा कल्पे ग्रहः क्रामति योजनानि' से भास्कराचार्य कहते हैं कि कल्प में जितने योजन ग्रह भ्रमण करते हैं तत्तुल्य ही खकक्षा योजन है यह मेरा मत है।

कल्प में चन्द्रभगण = ५७७५३३०००० अतः कल्प चंभगण × ३२४००० =१८७१२०६९२००००००००=खकक्षा। भास्कराचार्य ने भी 'कोटिघ्नैर्नखनन्द-षट्कनख भू' इत्यादि से आचार्योक्त खकक्षा के बराबर ही खकक्षा मान पठित किया है। ग्रहकल्प में खकक्षा तुल्य योजन भ्रमण करते हैं, एक भगण भोग से ग्रह स्वकक्षावृत्त योजन भ्रमण करते हैं। तब अनुपात करते हैं यदि कल्प ग्रहभगण में खकक्षायोजन पाते हैं तो एक भगण में क्या इस अनुपात से ग्रह कक्षा आती है $\frac{\text{खकक्षा}}{\text{कग्रभ}}$ = ग्रहकक्षा, 'अर्को भपष्टचंशः' अर्थात् नक्षत्र कक्षा का साठवां भाग रवि कक्षा है' इस आगमप्रमा से $\frac{\text{भकक्षा}}{६०}$ = रविकक्षा ∴ भकक्षा = ६० × रविकक्षा। इतने योजन पर सब ग्रहों से ऊपर दूर में कितने नक्षत्र का वृत्त है, सूर्य सिद्धान्त में 'भवेद्भकक्षा तीक्ष्णांशोर्भ्रमणं षष्टिताडितम्। सर्वोपरिष्टात् भ्रमति योजनैस्तैर्भमण्डलम्' सूर्यांश पुरुष की इस उक्ति के सदृश ही आचार्य ने कहा है 'यस्य भगणैर्विभक्तास्तत्कक्षा' यह आचार्योक्त भी 'सैव यत्कल्प भगणैर्भक्ता तद्भ्रमणं भवेत्' इस सूर्यांश पुरुषोक्त के अनुरूप ही है ॥११॥

ग्रहाः कियन्ति योजनानि भ्रमन्तीत्याह।

भपरिधिसमानि षष्ट्या खपरिधितुल्यानि कल्परविवर्षैः।
गच्छन्ति योजनानि ग्रहाः स्वकक्षासु तुल्यानि ॥१२॥

सु० भा०—षष्टया रविवर्षषष्टया ग्रहाः स्वकक्षासु भूपरिधिसमानि नक्षत्रकक्षासमानि योजनानि कल्परविवर्षैश्च खपरिधितुल्यानि खकक्षासमानि योजनानि गच्छन्ति। तथा सर्वे ग्रहाः कल्पे तुल्यान्येव योजनानि खकक्षामितानि गच्छन्ति।

अत्रोपपत्तिः।

भास्करोक्तेन विधिना स्फुटा। नकक्षा=६० रकक्षा = $\frac{\text{खक}}{\text{क सौव}}$ × ६०

खक = $\frac{\text{नक} \times \text{कसौव}}{६०}$।

कल्पसौरवर्षैः खकक्षामितयोजनानि तदा सौरवर्षषष्ट्या किम् । लब्धानि ग्रहभ्रमणयोजनानि = नक्षत्रकला । अत उपपन्नं भपरिधिसमानि षष्ट्येति । संप्रति वेधेन नवीनानां मते ग्रहाणां योजनात्मिका गतिर्न समानेति सुधीभिश्चिन्त्यम् ॥१२॥

वि. भा.—षष्ट्या (सौरवर्षषष्ट्या) कल्परविवर्षैश्च खकक्षातुल्यानि नक्षत्रकक्षासमानि योजनानि ग्रहाः स्वकक्षासु गच्छन्ति । तथा सर्वे ग्रहाः कल्पे तुल्यान्येव योजनानि खकक्षातुल्यानि परिभ्रमन्तीति ।

अत्रोपपत्तिः ।

अर्को भषष्ट्यंश इत्यागमप्रामाण्यात् $\frac{\text{नक्षत्रकक्षा}}{६०}$ = रविकक्षा, अतः नक्षत्रकक्षा = ६० × रविकक्षा = $\frac{\text{खकक्षा}}{\text{कल्परविभगण}}$ × ६० = $\frac{\text{खकक्षा}}{\text{कल्पसौरवर्ष}}$ × ६०, अतः $\frac{\text{नक्षत्रक} \times \text{कल्पसौवर्ष}}{६०}$ = खकक्षा ।

यदि कल्पसौरवर्षैः खकक्षा तुल्यानि योजनानि तदा सौरवर्षषष्ट्या किं समागच्छन्ति ग्रहभ्रमणयोजनानि नक्षत्रकक्षासमानानि अत उपपन्नमाचार्योक्तमिति ॥१२॥

अब ग्रह कितने योजन भ्रमण करते हैं सो कहते हैं ।

हि. भा.—ग्रह अपनी कक्षा में साठ सौरवर्ष से नक्षत्र कक्षातुल्य योजन कल्प रवि वर्ष से खकक्षा तुल्य योजन परिभ्रमण करते हैं. और सब ग्रह कल्प में खकक्षा तुल्य ही योजन परिभ्रमण करते हैं ।

उपपत्ति ।

नक्षत्र कक्षा का षष्ट्यंश रविकक्षा है इस आगम प्रमाण से $\frac{\text{नक्षत्रकक्षा}}{६०}$ = रविकक्षा, अतः नक्षत्रक = ६० रविक = $\frac{\text{खकक्षा}}{\text{कल्परविभगण}}$ × ६० = $\frac{\text{खकक्षा}}{\text{कल्पसौरवर्ष}}$ × ६०

∴ $\frac{\text{नक्षत्रकक्षा} \times \text{कल्पसौवर्ष}}{६०}$ = खकक्षा ।

यदि कल्प सौरवर्ष में खकक्षा योजन पाते हैं तो साठ सौरवर्ष में क्या इससे लब्ध ग्रहभ्रमणयोजन नक्षत्रकक्षा के समान आता है इति ॥१२॥

इदानीं ग्रहकक्षाक्रममाह ।

भगणस्याधः शनिगुरुभूमिजरविशुक्रसौम्यचन्द्राणाम् ।
कक्षा क्रमेण शीघ्राः शनैश्चराद्याः कलाभुक्त्या ॥१३॥

सु. भा:—भगणस्याधो भकक्षाया अधः क्रमेण शनि-गुरु-कुज-रवि-शुक्र-बुध-चन्द्राणां कक्षाः सन्ति। कलाभुक्त्या शनैश्चराद्याः शीघ्राः शीघ्रगतयः सन्ति शनेर्गुरुः शीघ्रगामी। गुरोर्भौमः। भौमाद्रविरित्यादि। एवं शीघ्रतमः शशी भवतीति। यदि शशिन ऊर्ध्वक्रमेण कक्षापाठः क्रियते तदा 'भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञकविरविकुजे' इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव।

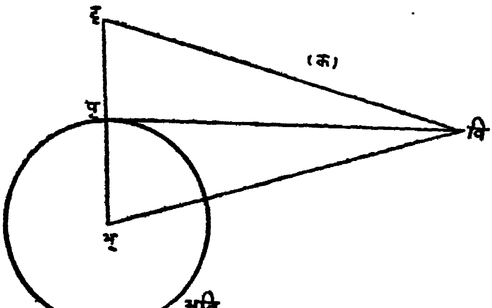
अत्रोपपत्तिः।

'कक्षाः सर्वा अपि दिविषदाम्' इत्यादिभास्करविधिना शनैश्चराद्याः शीघ्रा भवन्ति। कक्षाक्रमश्च वेधोपलब्ध्या। संप्रति वेधेन सर्वे ग्रहा दीर्घवर्तुले भ्रमन्ति। यदेकनाभौ रविरचल इति सर्वमुपलभ्यते। प्राचीनैर्भ्रमाद्ग्रहाणां कक्षा वृत्ताभा भूकेन्द्रकाश्च निश्चिता इति ॥१३॥

वि. भा.—नक्षत्रकक्षाया अधः क्रमेण शनि-गुरु-मङ्गल-रवि-शुक्र-बुध-चन्द्राणां कक्षाः स्युः। कलात्मकगत्या शनैश्चराद्या ग्रहाः शीघ्रगतयः सन्ति। शनितोगुरुः, गुरोर्मङ्गलः, मङ्गलाद्रविरित्यादयः शीघ्रगामिनः सन्ति। एतेन चन्द्रः सर्वग्रहापेक्षया शीघ्रगामी भवति; यदि चन्द्रादूर्ध्वक्रमेण ग्रहकक्षास्थितिर्दृश्यते तदा 'भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षावृत्तै' रित्यादि भास्कराचार्योक्ता ग्रहकक्षास्थितिरेवाऽऽयातीति।

अत्रोपपत्तिः।

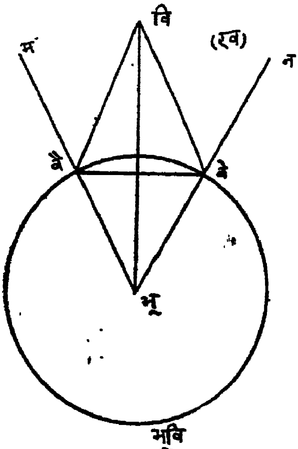
ग्रहकक्षानिवेशः कथमीदृश एतज्ज्ञानं बिम्बीयकर्णज्ञानाधीनमस्ति, यस्माद् ग्रहबिम्बीयकर्णाद्यस्य बिम्बीयकर्णमानमधिकं भवेत्तत्कक्षा महती भवत्यर्थाद्यस्य कर्णमानमल्पमस्ति तत्कक्षातः सा कक्षा (यस्यकर्णमानमधिकं तदीया) परिगता भवत्यतो वेधेन बिम्बीयकर्णसाधनं क्रियते।



भू=भूकेन्द्रम्। पृ=भूपृष्ठस्थानम्। वि=ग्रहबिम्बकेन्द्रम्। दृ=दृष्टिस्थानम्। पृदृ=नरोच्छ्रितिः। भूवि = बिम्बीयकर्णः। भूपृ = भूव्यासार्धम्। भूव्यासार्धं विदितमस्ति, तथा नरोच्छ्रितिरपि बिदितास्ति। विपृदृ, विदृपृ तुरीय यन्त्रद्वारामापनेन। विदितौ ततः १८०−(<विपृदृ+<विदृपृ)=<पृविदृ अयमपि कोणो विदितो जातस्तदा विपृदृ त्रि-

भुजेऽनुपातेन $\frac{\text{पृह} \times \text{ज्या} < \text{पृहवि}}{\text{ज्या} < \text{पृविह}}$ = पृवि, कोणज्या कोणोनभार्धांशज्ययोस्तुल्यत्वात् ज्या < विपृह = ज्या (१८० — < विपृह) < विपृभू कोणस्यापिज्ञानं जातम् । तदा विपृभू त्रिभुजे विपृ, भूपृ भुजयोस्तदन्तर्गतकोणस्य ज्ञानात् 'भूसंमुखास्रोद्भव कोटिशिञ्जिनीत्या' दि प्रकारेण भूवि भुजस्य ज्ञानं भवेदयमेव बिम्बीयकर्ण इति ।

अथवा वेधेन बिम्बीयकर्णानयनम् ।



भू = भूकेन्द्रम् । वि = ग्रह बिम्बकेन्द्रम् । वे = प्रथमवेधस्थानम् । वे' = द्वितीयवेधस्थानम् । भूवि = ग्रहबिम्बीयकर्णः । विवेन, विवे'म कोणौ तुरीययन्त्रद्वारा मापनेन विदितौ, वेवे' = वेधस्थानान्तरं विदितमस्ति तदा तत्पूर्णज्याऽपि विदिता भवेत् । भूवे = भूवे' = भूव्यासार्धम् । तदा भूवेवे' त्रिभुजे भुजत्रयज्ञानात् कोणत्रयस्यापि ज्ञानं भवेदेव १८० — (< विवेन + < भूवेवे') = < विवेवे' एवं १८० — (< विवे'म + ∠ भूवे'वे) = < विवे'वे इति कोणद्वयस्य ज्ञानात् १८० — (< विवेवे' + < विवे'वे) = < विवे'वे' एतत्कोणस्यापि ज्ञानं जातम् । तदा वेविवे' त्रिभुजेऽनुपातेन $\frac{\text{वेवे}' \times \text{ज्या} < \text{विवे}'\text{वे}}{\text{ज्या} < \text{वेविवे}'}$ = वेवि ततः भूवेवि त्रिभुजे भूवे, वेवि भुजयोस्तदन्तर्गतकोणस्य च ज्ञानात् 'भूसंमुखास्रोद्भवकोटिशिञ्जिनी' त्यादिना भूवि आधारस्य ज्ञानं भवेदयमेव बिम्बीयकर्णः ।

एतद्वेधेन कर्णानयनेन सर्वग्रहकर्णापेक्षया चन्द्रस्य कर्णोऽल्प उपलब्धोऽतः सर्वेषां ग्रहाणां कक्षापेक्षया चन्द्रकक्षालघ्वी, चन्द्रबिम्बीयकर्णाद्बुधबिम्बीयकर्णोऽधिकस्ततोऽधिकः शुक्रस्येत्यादेर्यथा यथाऽधिकः कर्ण उपलब्धस्तथातथोपर्युपरि चन्द्रबुधशुक्ररविकुजगुरुशनैश्चराणां कक्षा आचार्येणोक्ताः । वेधादिना सूर्यकेन्द्राद् ग्रहाणां बिम्बान्तरसूत्रज्ञानेन ग्रहाः सूर्यपरितो दीर्घवृत्ताकारकक्षासु भ्रमन्तीति नव्यानां मतेन सिध्यति ॥१३॥

अब ग्रहकक्षाक्रम को कहते हैं ।

हि॰ भा॰—नक्षत्र कक्षा के नीचे क्रम से शनि-गुरु-मङ्गल-रवि-शुक्र-बुध-चन्द्र

ग्रहों की कक्षाएं हैं। कलात्मक गति से शनैश्चरादिग्रह शीघ्रगतिक है अर्थात् शनि से गुरु शीघ्रगतिक है, गुरु से मङ्गल, मङ्गल से रवि, रवि से शुक्र, शुक्र से बुध, बुध से चन्द्र शीघ्रगामी है। इससे चन्द्र सब ग्रहों से अधिक शीघ्रगतिक सिद्ध होता है। यदि चन्द्र से उर्ध्व क्रम से ग्रह कक्षा स्थिति को देखा जाय तो सिद्धान्तशिरोमणि में 'भूमेः पिण्डः शशाङ्कज्ञ कविरविकुजेज्यार्कि नक्षत्रकक्षा' इत्यादि भास्कराचार्योक्त ग्रह कक्षा स्थिति ही देखने में आती है।

उपपत्ति।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (क) क्षेत्र को देखिये। ग्रह कक्षाओं का निवेशक्रम ऐसा (भाष्य में लिखित के अनुसार) क्यों हैं इसका ज्ञान ग्रहों के बिम्बीय कर्णों के ज्ञान से होता है। जिस ग्रह के बिम्बीय कर्ण से जिस ग्रह का बिम्बीय कर्ण अधिक होता है उसकी कक्षा बड़ी होती है अर्थात् जिसका विम्बीय कर्ण अल्प है उसकी कक्षा से वह कक्षा (जिसका बिम्बीय कर्ण अधिक है) ऊपर होती है। अतः वेध से बिम्बीय कर्णानयन करते हैं।

भू = भूकेन्द्र, पृ = भूपृष्ठस्थान, वि = ग्रह विम्बकेन्द्र, द्द = दृष्टिस्थान, पृद्द = नरोच्छ्रिति, भूवि = बिम्बीयकर्ण, भूपृ = भूव्यासार्ध, भूव्यासार्ध और नरोच्छ्रिति विदित है, विपृद्द, विद्दपृ दोनों कोण तुरीय यन्त्र से मापन करके जान लिये तब १८०–(< विपृद्द + < विद्दपृ) = < पृविद्द यह कोण भी विदित हो गया, अब विपृद्द त्रिभुज में अनुपात करते हैं।

(पृद्द × ज्या < पृद्दवि) / (ज्या < पृविद्द) = पृवि, कोणज्या और कोणोन भार्धांशज्या बराबर होती है अतः ज्या < विपृद्द = ज्या (१८० — < विपृद्द) से < विपृभू कोण का भी ज्ञान हो गया तब विपृभू त्रिभुज में विपृ, भूपृ इन दोनों भुजों के तथा उसके अन्तर्गत कोण के ज्ञान से 'भूसंमुखास्त्रोद्भव कोठिशिञ्जिनी' इत्यादि प्रकार से भूवि भुज (आधार) का ज्ञान हो जायगा यही बिम्बीय कर्ण है इति।

प्रकारान्तर से बिम्बीय कर्णानयन करते हैं।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (ख) क्षेत्र को देखिये। भू = भूकेन्द्र, वि = ग्रहबिम्बकेन्द्र, वे = प्रथम वेध स्थान, वे′ = द्वितीय वेधस्थान। भूवि = बिम्बीयकर्ण, विवेन, विवे′म दोनों कोणों को तुरीय यन्त्र से मापन कर जान लिया, वेवे′ = वेधस्थानान्तर विदित है, तब वेवे′ चाप की पूर्णज्या भी विदित हो जायगी, भूवे = भूवे′ = व्यासार्ध तब भूवेवे′ त्रिभुज में तीनों भुजों के ज्ञान से तीनों कोणों का भी ज्ञान हो जायगा, १८० — (< विवेन + < भूवेवे′) = < विवेवे′, एवं १८० — (< विवे′म + < भूवे′वे) = < विवे′वे इन दोनों कोणों के ज्ञान से १८० — (< विवेवे′ + < विवे′वे) = < वेविवे′ इस कोण का भी ज्ञान होगया तब वेविवे′ त्रि-

भुज में अनुपात करने हैं $\frac{\text{वेवे}' \times \text{ज्या}\angle \text{विवेवे}'}{\text{ज्या}\angle + \text{विवेवे}'}$ = वेवि, तब भूवेवि त्रिभुज में भूवे, वेवि दोनों भुजों के तथा तदन्तर्गत कोण के ज्ञान से 'भूसंमुखास्त्रोद्‌भव कोटिशिञ्जिनी' इत्यादि से भूवि आधार ज्ञान हो गया यही बिम्बीय कर्ण है।

इस वेध द्वारा कर्णानयन से सब ग्रहों के बिम्बीय कर्णों की अपेक्षा चन्द्र का बिम्बीय कर्ण अल्प उपलब्ध होता है अतः सब ग्रहों की कक्षा की अपेक्षा चन्द्र कक्षा छोटी है, चन्द्र कर्ण से बुध का कर्ण अधिक होता है, अतः चन्द्र कक्षा से बुध कक्षा बड़ी होती है, बुध कर्ण से शुक्र का कर्ण अधिक होता है अतः बुध कक्षा से शुक्र कक्षा बड़ी होती है, एवं शुक्र कक्षा से रवि कक्षा, रवि कक्षा से कुज कक्षा, कुज कक्षा से गुरु कक्षा इत्यादि कक्षाओं की छोटी बड़ी होने का कारण बिम्बीय कर्ण की न्यूनाधिकता है तथा कक्षाएं एक केन्द्रिक है इसलिये उपर्युपरि आचार्योक्त कक्षाक्रम पाठ के सदृश है, सूर्य सिद्धान्त में 'मन्दामरेज्यभूपुत्रसूर्य-शुक्रेन्दुजेन्दवः परिभ्रमन्त्यधोऽधः स्थाः' इस सूर्यांश पुरुषोक्त कक्षाक्रम पाठ के अनुरूप ही आचार्योक्त पाठ है इति ॥१३॥

इदानीं शनैश्चराद्याः कथं शीघ्रा इत्यस्य कारणमाह।

लघवोऽल्पे राश्यंशा महति महान्तोऽल्पवृत्तमल्पेन।
पूरयतीन्दुर्महता कालेन महच्छनैश्चारी ॥१४॥

सु. भा.—अल्पे वृत्ते राश्यंशाश्चक्रांशविभागा लघवो महति वृत्ते च महान्तो भवन्ति। अत इन्दुश्चन्द्रोऽल्पवृत्तं स्वकक्षाया अल्पेन कालेन शनैश्चारी शनिश्च महद्वृत्तं स्वकक्षाया महता कालेन पूरयति।

अत्रोपपत्तिश्चैककेन्द्रवृत्तानां चक्रांशविभागेनैव स्फुटा ॥१४॥

वि. भा.—अल्पे वृत्ते भगणांशविभागा लघवो भवन्ति, महति वृत्ते ते विभागा महान्तो भवन्ति। अस्मात् कारणात् चन्द्रोऽल्पवृत्तं स्वकक्षाया अल्पेन कालेन पूरयति, शनैश्चारी (शनिः) महद्वृत्तं स्वकक्षाया महता कालेन पूरयतीति।

अत्रोपपत्तिः।

सर्वेषां ग्रहाणां योजनात्मकगतयस्तुल्या एव भवन्ति, 'कल्पोद्‌भवैः क्षिति-दिनैर्गगनस्य कक्षा भक्ता भवेद्दिनगतिर्गगनेचरस्य। पादोनगोऽक्षधृतिभूमित योजनानी' त्यादि भास्करोक्तेः। सर्वासां ग्रहकक्षाणां कलानां वैषम्यात् कलादिका गतयस्तुल्या न भवंति। अर्थात् ग्रहाः स्वस्वकक्षावृत्ते भ्रमन्ति, कक्षावृत्तानि च चक्रकलाभिरङ्कितानि सन्ति तेन यदि ग्रहकक्षायोजनैश्चक्रकला लभ्यन्ते तदा

ग्रहगतियोजनैः किमित्यनुपातेन योजनगतिसम्बन्धिकलाः समायान्ति । तस्माद्यस्य ग्रहस्य कक्षा महती तस्य कलाया लघुत्वं, यस्य कक्षा लघ्वी तस्य कलाया महत्वं सिध्यति । शनि कक्षाऽन्यग्रहापेक्षया महती, चन्द्रकक्षा च लघ्वी, अतः शनैश्चरस्य कलात्मिका मध्यगतिर्लघुतमा, चन्द्रस्य च महत्तमा भवति, चन्द्रापेक्षया बुधोऽल्पगतिः । बुधापेक्षया शुक्रोऽल्पगतिः । शुक्रापेक्षया रविरल्पगतिरित्यादि । सिद्धान्तशेखरे 'तुल्या गतिर्योजनवर्त्मनैषां लिप्ता प्रकृत्या मृदुशीघ्रभावः' ऽप्येवमेवास्ति । सिद्धान्तशिरोमणौ "कक्षाः सर्वा अपि दिविषदां चक्रलिप्ताङ्किता वृत्ते लघ्व्यो लघुनि महति स्युर्महत्यश्च लिप्ताः । तस्मादेते शशिजभृगुजादित्यभौमेज्यमन्दा मन्दाक्रान्ता इव शशधराद् भान्ति यान्तः क्रमेण' इत्यनेन भास्कराचार्येणाप्याचार्योक्तानुरूपमेव कथ्यत इति ॥१४॥

अब शनैश्चरादिग्रह कैसे शीघ्रगतिक होते हैं इसके कारण कहते हैं ।

हि. भा.—स्वल्पवृत्त में राश्यंश विभाग लघु होते हैं । महद्वृत्त में वे विभाग महान् (बड़े) होते हैं । इस कारण से चन्द्र छोटी अपनी कक्षा को अल्प समय में ही पूरा करते हैं अर्थात् सम्पूर्ण कक्षा में घूम जाते हैं, और शनैश्चर अपनी बड़ी कक्षा को बहुत समय में पूरा करते हैं अर्थात् सम्पूर्ण कक्षा में घूमते हैं ।

उपपत्ति

सब ग्रहों की योजनात्मक गति तुल्य ही होती है, 'समा गतिस्तु योजनैर्नभः सदां सदा भवेदि' ति भास्करोक्तेः सिद्धान्तशेखरेऽपि 'तुल्यागतिर्योजनवर्त्मनैषां' श्रीपत्युक्तेः । सब ग्रह कक्षाओं की कलाओं की असमता के कारण कलादिक गति तुल्य नहीं होती है अर्थात् अपनी अपनी कक्षा में भ्रमण करते हैं । कक्षा वृत्तों में चक्रकला अङ्कित है अतः यदि ग्रह कक्षा योजन में चक्र कला पाते हैं तो ग्रहगति योजन में क्या इस अनुपात से योजन गति सम्बन्धी कला आती है । इस कारण से जिस ग्रह की कक्षा बड़ी हैं उसकी कला छोटी होती है और जिसकी कक्षा छोटी है उसकी कला बड़ी होती है यह सिद्ध हुआ । शनि कक्षा सब ग्रहों की कक्षाओं से बड़ी है इसलिये शनैश्चर की कलात्मक मध्यमगति सब ग्रहों की गति से छोटी होती है, चन्द्रकक्षा सब ग्रहों की कक्षा से छोटी है इसलिए चन्द्र की कलात्मक मध्यमगति सब ग्रहों की मध्यम गति से बड़ी होती है । अतः सबसे शीघ्रगतिक चन्द्र होता है । चन्द्र से अल्पगतिक बुध, बुध से अल्पगतिक शुक्र, शुक्र से अल्पगतिक रवि इत्यादि कक्षाक्रम के अनुसार शीघ्रगतिक और मन्दगतिक होते हैं । सिद्धान्तशेखर में 'तुल्यागतिर्योजनवर्त्मनैषां लिप्ता प्रकृत्या मृदुशीघ्रभावः' इससे श्रीपति ने भी शीघ्रगतिक और मन्दगतिक होने का कारण यही कहा है । सिद्धान्त शिरोमणि में 'कक्षाः सर्वा अपि दिविषदां' इत्यादि में भास्कराचार्य भी आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है इति ॥१४॥

इदानीं वृत्तपरिधेर्व्यासानयनमाह ।

यन्मूलं तद्व्यासो मण्डललिप्ताकृतेर्दशहृतायाः ।
तस्यार्धं व्यासार्धं योजनकर्णप्रमाणार्धम् ॥१५॥

सु. भा.—मण्डललिप्ताकृतेश्चक्रकलाकृतेर्दशहृताया यन्मूलं तच्चक्रकलापरिधेर्व्यासो भवति तस्यार्धं व्यासार्धं भवति। तद्व्यासार्धं ग्रहकक्षायोजनैर्गुणं चक्रकलाहृतं फलं ग्रहयोजनकर्णप्रमाणं भवति। एवं योजनकर्ण प्रमाणार्थमिदं व्यासार्धमुपयुक्तमस्ति। इदं व्यासार्धं स्थूलं स्थूलाद्ग्रहयोजनकर्णप्रमाणं च स्थूलं सुखार्थमङ्गीकृतम्। वस्तुतो वृत्तपरिधिवर्गस्य दशहृतस्य मूलं व्यासो न सूक्ष्मो भवतीति सूचितम्। ज्यादीनामानयने स्थूलत्वादयं व्यासो न युक्त इत्येतदर्थं वक्ष्यति चेति ॥१५॥

वि. भा.—दशभक्तस्य चक्रकलावर्गस्य यन्मूलं तच्चक्रकला परिधेर्व्यासो भवति। तस्यार्धं व्यासार्धं भवति। तद्व्यासार्धं ग्रह कक्षायोजनैर्गुणं चक्रकलाभक्तं तदा ग्रहयोजनकर्णप्रमाणं भवति, इदं साधितं व्यासार्धं योजनकर्णप्रमाणार्थमुपयुक्तमस्तीति।

अत्रोपपत्तिः।

व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते खबाणसूर्यैरित्यादि भास्करोक्तपरिध्यानयनप्रकारेण वृत्तपरिधिः $=\frac{\text{व्या}\times ३९२७}{१२५०}$, अत्रा $\frac{३९२७}{१२५०}$ स्य विततरूपकरणेनाऽऽसन्नमानानि $\frac{२२}{७}$, $\frac{३५५}{११३}$, $\frac{३९२७}{१२५०}$ व्यास परिध्योः सम्बन्धः $=\frac{२२}{७}$ $\frac{३५५}{११३}$, $\frac{३९२७}{१२५०}$ भास्करेण व्यास $\times$ सम्बन्ध $=\frac{\text{व्या}\times ३९२७}{१२५०}=$ सूक्ष्मपरिधिः कथ्यते, तथा $\frac{२२\times\text{व्या}}{७}=$ स्थूलपरिधिः कथ्यते, पर $\frac{३५५}{११३}$ मिदं कथं न गृहीतं, एतद्ग्रहणेन तु-भास्करोक्तसूक्ष्मपरिधितोऽपि सूक्ष्मतरः परिधिर्भवितुमर्हति। $\frac{\text{परिधि}}{\text{व्या}}=$ सम्बन्ध $=$ सं $=\frac{२२}{७}=३+\frac{१}{७}$ अत्राऽस्य वर्गः सं$^२=\left(३+\frac{१}{७}\right)^२$ $=१०$ स्वल्पान्तरात् $\therefore \frac{\text{परिधि}^२}{\text{व्या}^२}=१०\;\therefore$ परिधि$^२=१०\times$व्या^{२} पक्षौ १० भक्तौ तदा $\frac{\text{परिधि}^२}{१०}=$ व्या^{२}, मूलेन $\sqrt{\frac{\text{परिधि}^२}{१०}}=$ व्यासः, परन्तु $\left(३+\frac{१}{७}\right)^२$ <१० अतः 'तद्वर्गतो दशगुणात्पदं परिधिरि' तिसूर्यसिद्धान्तोक्तपरिध्यानयने नव्याः "तद्वर्गतोऽदशगुणात् पदं परिधिः" न दशेत्यदश किञ्चिन्न्यूना दश तैर्गुणात् पदं परिधिरेवं कथयन्ति दशगुणक एव समीचीन इति कमलाकरेण सौरवासनायां सिद्धान्ततत्वविवेके च सर्वं युक्ति शून्यं प्रलपितं रङ्गनाथेन स्वगूढार्थप्रकाशे दशगुणकः स्थूल उक्तः। एवं सौरभाष्ये नृसिंहेनापि व्यासः किञ्चिदधिकत्रिभिर्गुणितः

परिधिर्भवति, तत्र किञ्चिदधिकत्रयाणां वर्गो दशमितः कृतस्तेन व्यासवर्गो दशभिर्गुणितस्तन्मूलं स्थूलः परिधिरेव भवितुमर्हति, दशग्रहणाद् दोषावहमेव व्याख्यातमतो मन्नव्यानां व्याख्यानमेव समीचीनमिति सूर्यसिद्धान्तस्य सुधावर्षिणीटीकायां म.म. पण्डित सुधाकरद्विवेदिनः कथयन्ति । स्थूलपरिधितः साधितं व्यासार्धं स्थूलमेव भवेत् । वस्तुतो दश भक्तस्य वृत्तपरिधिवर्गस्य मूलं सूक्ष्मो व्यासो न भवति, अयं साधितो व्यासः स्थूलः, ज्यादीनामानयनोपयुक्तो नहि तत एवाग्रे कथयतीति ॥१५॥

अब परिधि से व्यास के आनयन को कहते हैं ।

हि. भा.—चक्रकला वर्ग को दश से भाग देने से जो लब्ध हो उसका मूल चक्र कला परिधि का व्यास होता है उसका आधा व्यासार्ध है । उस व्यासार्ध को ग्रह कक्षा योजन से गुणा कर चक्रकला से भाग देने से ग्रह योजन कर्ण प्रमाण होता है । यह साधित व्यासार्ध योजन कर्ण प्रमाण के लिये उपयुक्त है ।

उपपत्ति ।

'व्यासे भनन्दाग्निहते विभक्ते खवाणसूर्यैः' इत्यादि भास्करोक्तपरिध्यानयन से वृत्तपरिधि $=\frac{३९२७\times व्या}{१२५०}$ यहां इसका विततरूप करने से आसन्न मान $\frac{२२}{७}$, $\frac{३५५}{११३}$ $\frac{३९२७}{१२५०}$ आते हैं, व्यास और परिधि का सम्बन्ध $=\frac{२२}{७}, \frac{३५५}{११३}, \frac{३९२७}{१२५०}$ व्या $=$ व्यास, परिधि $=$ प, व्यास और परिधि का सम्बन्ध $=$ सं व्या $\times$ प $=\frac{व्या\times ३९२७}{१२५०}$ $=$ भास्करोक्त सूक्ष्म परिधि, तथा $\frac{२२\times व्या}{७}$ $=$ स्थूलपरिधि, परन्तु $\frac{३५५\times व्या}{११३}$ यह भास्करोक्त सूक्ष्म परिधि से सूक्ष्मतर परिधि है, जिसको भास्कराचार्य ने नहीं कहा है । इस के सम्बन्ध में "व्यासे पञ्चशराग्नि क्षुण्णे दहनेशभाजिते परिधिः । आचार्योक्तात्सूक्ष्मात्परिधेरपि भवति सूक्ष्मतरः" यह संशोधक (बापूदेव शास्त्री जी) कहते हैं । $\frac{परिधि}{व्यास}=सं^२$ $=स^२$ इसका वर्ग $=\left(३+\frac{१}{७}\right)^२=१०$ स्वल्पान्तर से, अतः $\frac{प^२}{व्या^२}=१० \therefore प^२$ $=$ आधार दोनों पक्षों को दश से भाग देने से $\frac{प^२}{१०}=$ व्या, मूल लेने से $\sqrt{\frac{प^२}{१०}}=$ व्या, परन्तु $\left(३+\frac{}{७}\right)^२>१०$ अतः 'तद्वर्गतो दशगुणात्पदं परिधिः' इस सूर्यसिद्धान्तोक्त परिध्यानयन में नवीन लोग 'तद्वर्गतोऽदशगुणात् पदं परिधिः' नहीं जो दश वह अदश हुआ

अर्थात् किञ्चिन्न्यून दश से परिधि को गुणा कर मूल लेने से व्यास होता हैं इस तरह कहते हैं। दश गुणक ही ठीक हैं यह बात कमलाकर ने 'सौरवासना में' और सिद्धान्त तत्त्व विवेक में सब युक्ति शून्य कही है। रङ्गनाथ ने अपनी गूढार्थ प्रकाश टीका में दश गुणक को स्थूल कहा है। एवं सौर भाष्य में नृसिंह ने भी व्यास को तीन से कुछ अधिक गुणक से गुणा करने से परिधि मान बताया है, वहाँ कुछ अधिक तीन का वर्ग दश लिया है। अतः व्यास वर्ग को दस से गुणाकर मूल लेने से स्थूल परिधिमान हो सकता है दश ग्रहण से दोषावह ही व्याख्या की गई है इसलिये हम नवीनों के व्याख्यान ही समीचीन हैं ये बातें सूर्यसिद्धान्त की सुधावर्षिणी टीका में म.म. पण्डित सुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं। स्थूल परिधि से साधित व्यासार्ध स्थूल ही है। वस्तुतः वृत्तपरिधि वर्ग को दस से भाग देकर मूल लेने से सूक्ष्म व्यास नहीं होता है, यह साधित व्यास स्थूल है, ज्या आदियों के साधन के लिये उपयुक्त नहीं है इसलिये आगे कहते हैं इति ।।१५।।

इदानीं तदेव प्रतिपादयति ।

भगणकला व्यासार्धं भवति कलाभिर्यतो न सविकलं हि ।
ज्यार्धानि न स्फुटानि च ततः कृतं व्यासदलमन्यत् ।।१६।।

सु. भा.—यतो भगणकलाव्यासार्धं पूर्वप्रकारेण सकलाभिः सावयवाभिः कलाभिरपि स्फुटं न भवति ततस्तस्माद्व्यासार्धज्ज्यार्धानि च न स्फुटानि भवन्ति, तस्माज्ज्यासाधने स्फुटार्थं मया चक्रकलापरिधिव्यासार्धमन्यत् कृतमित्याचार्योक्तिर्गोलयुक्तियुक्ताऽतिसमीचीनेति सिद्धान्तविदां स्फुटमिति । चतुर्वेदाचार्यसम्मतः पाठः 'सविकलम्'—इति । सविकलं सशेषमित्यर्थः ।।१६।।

इति सामान्यगोल प्रकरणम् ।

वि. भा.—हि (यतः) भगणकलाव्यासार्धं पूर्वप्रकारेण सावयवाभिः कलाभिरपि स्फुटं न भवति, ततः (तस्मात्) ज्यार्धानि स्फुटानि न भवन्ति, अस्मात् मया स्फुटार्थं चक्रकलापरिधि व्यासार्धं अन्यत्[1] कृतमित्याचार्योक्तिर्गोलयुक्तियुक्ता । सविकलं (सशेषम्) इति ।।१६।।

इति सामान्यगोल प्रकरणम्

अब उसी को कहते हैं ।

हि. भा.—जिस हेतु से सावयव कलाओं से भी भगण कला व्यासार्ध स्फुट नहीं होता है, इससे ज्यार्ध भी स्फुट नहीं होते हैं, इस कारण से मैंने स्फुटार्थ चक्रकला परिधि व्यासार्ध अन्य किया है यह आचार्य की उक्ति गोलयुक्ति से युत है इति ।।१६।।

इति सामान्य गोल प्रकरण समाप्त हुआ ।

---

१. दूसरा ।

अथ ज्याप्रकरणं प्रारभ्यते

तत्र प्रथमं ज्याखण्डानयनमाह।

राश्यष्टांशेष्वङ्कान् पदसन्धिभ्यः क्रमोत्क्रमात् कृत्वा।
बध्नीयात् सूत्राणि द्वयोर्द्वयोर्ज्यास्तदर्धानि ॥१७॥
ज्यार्धानि ज्यार्धानां ज्याखण्डान्यन्तराणि तान्येव।
व्यस्तान्यन्त्यादथवेषुरुत्क्रमज्या धनुस्ताभ्याम् ॥१८॥

सु. भा.—इष्टत्रिज्यया वृत्तमुत्पाद्य लम्बरूपाभ्यां व्यासाभ्यां वृत्तचतुर्भागं कृत्वा चत्वारि पदानि कार्याणि। तत्र कस्माच्चिदपि पदसन्धितोऽष्टादशशतकलानामष्टांशसमं शरद्विदस्रकलात्मकं धनुः क्रमादुत्क्रमात् कृत्वाऽर्थादुभयतो दत्त्वा द्वयोरग्रयोः सूत्रं बध्नीयादेवं द्विगुणशरद्विदस्रकलाचापं पदसन्धित उभयतो दत्त्वा द्वयोरग्रयोः सूत्रं बध्नीयात्। एवं त्रिगुणचतुर्गुणादि प्रथमचापवशतः सूत्राणि बध्नीयात्। एवं द्वयोर्द्वयोरग्रयोर्बद्धानि सूत्राणि ज्याः पूर्णज्या भवन्ति। तासामर्धानि ज्यार्धानि चतुर्विंशतिर्भवन्ति ज्यार्धानामन्तराणि ज्याखण्डानि भवन्ति। तान्येवान्त्याद्व्यस्तानि स्थाप्यानि तदोत्क्रमज्या उत्क्रमज्या खण्डान्यथवेषुः शरखंण्डानि भवन्ति। ताभ्यां क्रमोत्क्रमज्याखण्डानां धनुः साधनीयम्।

अत्रोपपत्तिः।

'इष्टाङ्गुलव्यासदलेन वृत्तम्'—इत्यादि विधिना तथा 'स्यादुत्क्रमज्याऽत्र विलोमखण्डैः'—इत्यादि विधिना भास्करोक्तेन स्फुटा ॥१७-१८॥

वि. भा.—इष्टत्रिज्यया वृत्तं विलिख्य लम्बरूपाभ्यां व्यासाभ्यां वृत्तचतुर्भागं विधाय पदानि कल्प्यानि, तत्र कस्माच्चिदपि व्यासप्रान्तासक्त (पदसन्धि) बिन्दोः राशिकलानां (अष्टादशशतकलानां) अष्टमांशेषु (शरद्विदस्रकलात्मकेषु) प्रत्येकमङ्कान्–लाञ्छनान् (चिह्नानि) क्रमादुत्क्रमात् कृत्वाऽर्थादुभयभागतो दत्त्वा द्वयोर्द्वयोः संमुखस्थचिन्हयोः सूत्राणि बध्नीयात् तानि ज्याः (पूर्णज्याः) भवन्ति, तासां पूर्णज्यानामर्धानि ज्यार्धानि चतुर्विंशतिर्भवन्ति। ज्यार्धानामन्तराणि यानि तानि ज्याखण्डानि भवन्ति। तान्येवान्त्याद्व्यस्तानि स्थाप्यानि तदोत्क्रमज्या खण्डानि, अथवेषुः शरखण्डानि भवन्ति, ताभ्यां (क्रमोत्क्रमज्या खण्डाभ्यां) धनुः (चापं) साध्यमिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

सिद्धान्तशेखरे "राश्यष्टभागेषु विधाय लाञ्छनान् सन्धेः पदानां तदनु द्वयोर्द्वयोः । निवध्य सूत्राणि परस्परं तयोः क्रमात् क्रमज्या शकलानि तद्दलम् ।। जीवादलानां वित्रराणि यानि ज्याखण्डकानीह भवन्ति तानि । व्यस्तानि वान्त्यादिषुवत् स्थितानि भचक्रषड्गोऽशधनुर्दलस्य ।।" इति सर्वथैवाऽऽचार्योक्तमेव श्लोकान्तरेणोक्तं श्रीपतिना । भास्करोऽप्यमुमेवाशयं किञ्चिद्विशदीकृत्य इष्टाङ्गुल व्यास दलेन वृत्तं कार्यं दिगङ्क भलवाङ्कितं च । ज्यासंख्ययाप्ता नवतेर्लवा ये तदाद्य जीवा धनुरेतदेव ।। द्विश्यादिनिघ्नं तदनन्तराणां चापे तु दत्वोभयतो दिगङ्कात् । ज्ञेयं तदग्रद्वयवद्धरज्जोरर्धं ज्यकार्धं निखिलानि चैवम् ।। ज्याचापमध्ये खलुवाणरूपा स्यादुत्क्रमज्याऽत्र विलोमखण्डैः ।।" एवमाह पूर्वं पठिताः क्रमज्या उत्क्रमज्याश्च कथमानीयन्ते इत्येतदर्थमियमुपपत्तिरेव ज्यासाधनस्य । त्रिज्यादि कल्पनयाऽनेन विधिना ज्यार्धानां प्रमाणान्यानेतुं शक्यन्त एवेति ।।१७।१८।।

अब ज्या प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

उसमें पहले ज्याखण्डानयन कहते हैं ।

हि. भा.—इष्ट त्रिज्या से वृत्त बना कर लम्बरूप दोनों व्यासों से वृत्त को चार भाग करने से चार पद होते हैं । उसमें किसी पद सन्धि से अठारह सौ कलाओं के अष्टांश २२५ दो सौ पचीस कला तुल्य चाप को क्रम से और विलोम से अर्थात् दोनों तरफ से देकर दोनों के अग्र में सूत्र को बाँध देना चाहिए । एवं द्विगुणित दो सौ पचीस कला को पद सन्धि से दोनों तरफ से देकर दोनों के अग्र में सूत्र को बाँध देना चाहिए । इस तरह दो दो के अग्र में बाँधे हुए सूत्र पूर्णज्याएं होती हैं । उनके आधे चौबीस ज्यार्ध (अर्धज्या) होते हैं । ज्यार्धों के अन्तर ज्याखण्ड होते हैं । उन्हीं को अन्त्य से व्यस्त (उल्टा) स्थापन करना । तब क्रमज्याखण्ड अथवा शरखण्ड होते हैं । उन दोनों खण्डों (क्रमज्या खण्ड औरउत्क्रमज्याखण्ड) से चाप साधन करना चाहिए ।।

उपपत्ति ।

सिद्धान्तशेखर में 'राश्यष्ट भागेषु विधाय लाञ्छनान् सन्धेः पदानां' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोकों से श्रीपति ने आचार्योक्त ही को सर्वथा श्लोकान्तर से कहा है । भास्कराचार्य भी इसी आशय को कुछ विशद कर 'इष्टाङ्गुलव्यासदलेन वृत्तं कार्यं दिगङ्कं भलवाङ्कितं च' इत्यादि श्लोकों से इस तरह कहते हैं । क्रमज्याएं और उत्क्रमज्याएं कैसे लायी जाती हैं इसके लिये ज्यासाधन की यही उपपत्ति है त्रिज्यादि कल्पना कर इसी विधि से ज्यार्धों के प्रमाण ला सकते हैं इति ।।१७–१८।।

इदानीं गणितेन ज्यार्धानयनमाह ।

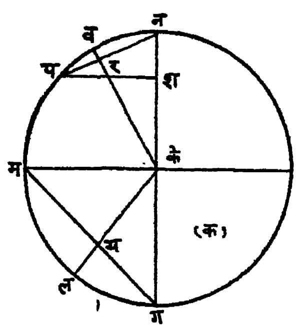
एकद्वित्रिगुणाया व्यासार्धकृतेः पृथक् चतुर्थेभ्यः ।
मूलान्यष्टद्वादशषोडशखण्डान्यतोऽन्यानि ॥१९॥

सु. भा.—व्यासार्धकृतेस्त्रिज्याकृतेः किंभूतायाः । एकगुणायास्तथा द्विगुणायास्तथा त्रिगुणायाः पृथक् चतुर्थेभ्यश्चतुर्भागेभ्यो मूलानि क्रमेण अष्ट द्वादश षोडश ज्याखण्डानि ज्यार्धानि भवन्ति । अत एभ्यो ज्यार्धेभ्योऽन्यानि वक्ष्यमाणविधिना साध्यानि । अत्रैतदुक्तं भवति । त्रिज्यावर्ग एकगुणश्चतुर्भक्तस्तन्मूलं राशिज्याऽष्टमी ज्या । त्रिज्यावर्गो द्विगुणश्चतुर्भक्तस्तन्मूलं शरवेदभागज्या द्वादशी ज्या । त्रिज्यावर्गस्त्रिगुणश्चतुर्भक्तस्तन्मूलं षष्टिभागज्या षोडशी ज्या ।

अत्रोपपत्तिः । भास्करज्योत्पत्त्या स्फुटा । भास्करेणापि तथैव पठितत्वादिति ॥१९॥

वि. भा.—एकगुणितत्रिज्यावर्गस्य, तथा द्विगुणितत्रिज्यावर्गस्य, तथा त्रिगुणितत्रिज्यावर्गस्य पृथक् चतुर्विभक्तस्य मूलानि क्रमेण अष्ट-द्वादश-षोड़श ज्यार्धानि भवन्ति, अत एभ्यो ज्यार्धेभ्योऽन्यानि ज्यार्धानि वक्ष्यमाणविधिना साध्यानीति ।

अत्रोपपत्तिः ।



के=वृत्तकेन्द्रम् । नपचापम्=६०°, वनचापम्=३०°, नर=ज्या३०, पश=ज्या ६०, पन=पूर्णज्या (६०°) । नश=ज्याउ ६०, ज्याउ=उत्क्रमज्या तदा केनर, पनश त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातेन $\frac{\text{नश} \times \text{केर}}{\text{पश}}$

$$= \text{नर} = \frac{\text{ज्याउ } ६० \times \text{ज्या } ६०}{\text{ज्या } ६०} = \text{ज्या}३० =$$

ज्याउ ६०=त्रि—ज्या ३० समयोजनेन त्रि=ज्या ३०+ज्या ३०=२ ज्या ३० पक्षौ द्वाभ्यां भक्तौ तदा $\frac{\text{त्रि}}{२}$=ज्या ३०=अष्टमं ज्यार्धम्=अष्टमी ज्या । अथ

$$\text{त्रि}^2 - \text{ज्या}^2\ ३० = \text{कोज्या}^2\ ३० = \text{ज्या}^2\ ६० = \text{त्रि}^2 - \left(\frac{\text{त्रि}}{२}\right)^2 = \text{त्रि}^2 - \frac{\text{त्रि}^2}{४}$$

$$= \frac{४\ \text{त्रि}^2 - \text{त्रि}^2}{४} = \frac{३\ \text{त्रि}^2}{४} \text{ मूल ग्रहणेन ज्या } ६० = \sqrt{\frac{३\ \text{त्रि}^2}{४}} = \text{षोड़शी}$$

ज्या। त्रि=त्रिज्या। केम=केग=त्रि। मग=पूर्णज्या (९०), मय=गय=ज्या ४५, ल=मगचापार्धविन्दुः। केम^2+केग^2=पूज्या^{2} (९०)=त्रि^{2}+त्रि^{2}=२ त्रि^{2}, पक्षौ चतुर्भिर्भक्तौ तदा $\frac{\text{पूज्या}^2 (९०)}{४} = \frac{२ \text{ त्रि}^2}{४}$ =ज्या^{2} ४५ मूलेन $\sqrt{\frac{२ \text{ त्रि}^2}{४}}$ =ज्या ४५=द्वादशी ज्या, एतेनैकगुणितत्रिज्यावर्गश्चतुर्भक्तस्तन्मूलमष्टमी ज्या =राशिज्या=त्रिंशदंशज्या, त्रिज्यावर्गो द्विगुणश्चतुर्भक्तस्तन्मूलं पञ्चचत्वारिंशदंशज्या=द्वादशी ज्या त्रिज्यावर्गस्त्रिगुणश्चतुर्भक्तस्तन्मूलं षष्टिभागज्या=षोड़शीज्या, आचार्योक्तमुपपन्नम्। सिद्धान्तशेखरे "शशियमदहनघ्नात् व्यासखण्डस्य वर्गात् पृथगुदधिविभक्तात् त्रीणि मूलानि यानि। वसुरविनृपसंख्याभाञ्जि जीवादलानि क्रमश इह भवेयुर्नूनमन्यानि तेभ्यः।" इत्यनेन श्रीपतिनाऽऽचार्योक्तमेव श्लोकान्तरेणोक्तम्। भास्करेणापि "त्रिज्यार्धं राशिज्या तत्कोटिज्या च षष्टिभागानाम्। त्रिज्यावर्गार्धपदं शरवेदांशज्यका भवति।" इत्युक्त्या तदेवोक्तमिति ॥१९॥

अब गणित से ज्यार्धानयन को कहते हैं।

हि. भा.—एक गुणित त्रिज्यावर्ग को चार से भाग देकर मूल लेने से अष्टमज्यार्ध =अष्टमीज्या=तीस अंश की ज्या होती है, तथा द्विगुणित त्रिज्यावर्ग को चार से भाग देकर मूल लेने से पैंतालीस अंश की ज्या=द्वादशीज्या होती है, एवं त्रिज्यावर्ग को तीन से गुणाकर चार से भाग देकर मूल लेने से साठ अंश की ज्या=षोड़शी ज्या होती है इति।

उपपत्ति।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (क) क्षेत्र को देखिये। के=वृत्तकेन्द्र। मपचाप =६०°। वनचाप=३०°, नर=ज्या ३०, पश=ज्या ६०, वन=पूर्णज्या (९०)। नश =ज्याउ ६०। ज्याउ=उत्क्रमज्या, तब केनर, पनश दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं $\frac{\text{नश} \times \text{केर}}{\text{पश}}$ =नर= $\frac{\text{ज्याउ } ६० \times \text{ज्या } ६०}{\text{ज्या } ६०}$ =ज्या ३० =ज्याउ ६०=त्रि—ज्या ३० दोनों पक्षों में ज्या ३० जोड़ने से त्रि=ज्या ३०+ज्या ३०=२ ज्या ३० दोनों पक्षों को दो से भाग देने से $\frac{\text{त्रि}}{२}$ =ज्या ३०=अष्टमीज्या=राशिज्या। तथा

त्रि^{2} — ज्या^{2} ३० = कोज्या^{2} ३० = ज्या^{2} ६० =त्रि^{2}—$\left(\frac{\text{त्रि}}{२}\right)^2$=त्रि^{2}—$\frac{\text{त्रि}^2}{४}$

= $\frac{४ \text{ त्रि}^2 — \text{त्रि}^2}{४} = \frac{३ \text{ त्रि}^2}{४}$ मूल लेने से ज्या ६०= $\sqrt{\frac{३ \text{ त्रि}^2}{४}}$ =षोड़शीज्या।

तथा केम=केग=त्रि। मग चाप पूर्णज्या=पूज्या (९०)। मय=गय=ज्या ४५। ल=

मगचापार्धं बिन्दु केम^2 + केग^2 = पूज्या^{2} (९०) = २ त्रि^{2} दोनों पक्षों में चार से भाग देने से $\frac{\text{पूज्या}^2 (९०)}{४}$ = ज्या^{2} ४५ = $\frac{२ \text{ त्रि}^2}{४}$ मूल लेने से $\sqrt{\frac{२ \text{ त्रि}^2}{४}}$ = ज्या ४५ = द्वादशी ज्या, इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ। सिद्धान्तशेखर में 'शशियमदहनघ्नात्' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से श्रीपति ने आचार्योक्त ही को श्लोकान्तर से कहा है। भास्कराचार्य ने भी 'त्रिज्यार्धं राशिज्या' इत्यादि से वही कहा है इति ॥१९॥

इदानीमर्धांशज्यानयनमाह।

तुल्यक्रमोत्क्रमज्यासमखण्डकवर्गयुतिचतुर्भागम्।
प्रोह्यानष्टं व्यासार्धवर्गतस्तत्पदे प्रथमम् ॥२०॥

तद्दलखण्डानि तदूनजिनसमानि द्वितीयमुत्पत्तौ।
कृतयमलैकदिगीशेषु सप्तरसगुणनवादीनाम् ॥२१॥

सु. भा.—तुल्यचापस्यैकस्यैव चापस्य समक्रमज्योत्क्रमज्ययोर्वर्गयुतेश्चतुर्थांशमनष्टं व्यासार्धकृतेः प्रोह्य हित्वा तत्पदे अनष्टस्य शेषस्य च पदे ग्राह्ये। तत्र प्रथमं पदं तद्दलखण्डानि तच्चापार्धज्या द्वितीयं च तदूनजिनसमानि तदर्धचापकोटिज्या स्यात्। एवमुत्पत्तौ ज्योत्पत्तौ पुनः पुनः समज्यार्धादष्टमाद् द्वादशाच्च कर्मणि कृते कृतयमलैकदिगीशेषु सप्तरसगुणनवादीनां ज्यार्धानामुत्पत्तिः स्यात्।

यथाऽष्टमाज्ज्यार्धात् तदर्धभागज्यया तत्कोटचर्धभागज्यया च

४	२०	१०	१४	५	१९	७	१७
२	२२	११	१३				
१	२३						

द्वादशाज्ज्यार्धाच्च

६	१८	९	१५
३	२१		

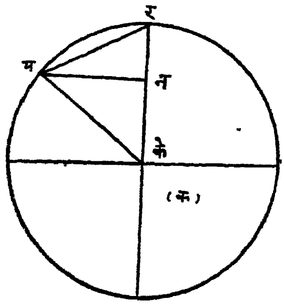
एतानि सिध्यन्ति।

द्वादशं षोडशं चतुर्विंशतिसङ्ख्यं त्रिज्येति त्रयं च ज्ञातमेव। अत इष्टव्यासार्धे तदर्धज्यानयनेन चतुर्विंशतिज्याः सिध्यंति।

अत्रोपपत्तिः। 'क्रमोत्क्रमज्याकृतियोगमूलाद्' इत्यादिभास्करविधिना स्फुटा ॥२०–२१॥

वि. भा.—एकस्यैव चापस्य क्रमज्योत्क्रमज्ययोर्वर्गयुतेश्चतुर्थांशमनष्टं त्रिज्यावर्गाद्विशोध्य तन्मूले (अनष्टस्य शेषस्य च) ग्राह्ये, तत्र प्रथममूलं तच्चापार्धज्या द्वितीयं च तदूनजिनसमानि तदर्धचापकोटिज्या स्यात्। एवमुत्पत्तौ (ज्योत्पत्तौ)

पुनः पुनः समज्यार्धादष्टमाद् द्वादशाच्च कार्यंकरणेन कृत ४ यमलै २ क १ दिगी १० शे११ षु ५ सप्तरसगुणनवादीनां ज्यार्धानामुत्पत्तिर्भवेत् ।



अत्रोपपत्तिः ।

के = वृत्तकेन्द्रम् । रय = इष्टचापम् । यन = चापज्या रन = चापस्योत्क्रमज्या, यर = चापपूर्णज्या, तदा यन^2 + रन^2 = यर^2 = चापपूर्णज्या^{2} पक्षौ चतुर्भिर्भक्तौ तदा $\frac{\text{यन}^2+\text{रन}^2}{४}=\frac{\text{चापज्या}^2+\text{चापोत्क्रमज्या}^2}{४}=\frac{\text{चापपूर्णज्या}^2}{४}$ = चापार्धज्या^{2} = अनष्ट । त्रि^{2} — $\frac{\text{चापपूर्णज्या}^2}{४}$ = चापार्धकोटिज्या^{2} । द्वयोर्मूल ग्रहणेन $\sqrt{\frac{\text{चापज्या}^2+\text{चापोत्क्रमज्या}^2}{४}}$ = चापार्धज्या । $\sqrt{\text{त्रि}^2-\frac{\text{चापपूर्णज्या}^2}{४}}$ = चापार्धकोटिज्या ।

एतेन नियमेनाष्टमाज्ज्यार्धात् तदर्धांशज्यया तत्कोटय'शार्धज्यया च अष्टमाज्ज्यार्धात् तदर्धज्या चतुर्थी ४। तत्कोटिज्या विंशी २० । एवं चतुर्थात् द्वितीया २ द्वाविंशी २२ च, द्वितीयात् प्रथमा १ । त्रयोविंशी च । एवमष्टम्या ज्यायाः तदर्धांशज्यया तत्कोटयर्धांशज्यया च ४ । २०, २ । २२, १ । २३, १० । १४ ५ । १९, ७ । १७, ११ । १३, द्वादश्याश्च ६ । १८, ३ । २१, ९ ।१५, त्रिज्या चान्तिमा चतुर्विंशी ज्या भवतीति । सिद्धान्तशेखरे ।

"उत्क्रमक्रमसमानसमज्याखण्डवर्गं युतिवेदविभागम् ।
व्यासखण्डकृतितस्तमनष्टं शोधयेदथ पदे भवतो ये ॥
आद्यमूलमिह तद्दलसंख्यं तद्विहीनजिनसम्मितमन्यत् ।
ज्यार्धमेवमपराणि समेभ्यो ज्यादलानि न भवन्त्यसमेभ्यः ॥"

श्रीपत्युक्तस्यास्याऽचार्योक्तमादर्शरूपमस्ति । भास्कराचार्येणापि ।

"इष्टा त्रिज्या सा श्रुतिर्दोर्भुजज्या कोटिज्या तद्वर्गं विशेषमूलम् । दोः कोटय'शानां क्रमज्ये पृथक् ते त्रिज्याशुद्धे कोटिदोरुत्क्रमज्ये । ज्याचापमध्ये खलु वाणरूपा स्यादुत्क्रमज्या त्रिभमौर्विकायाः । वर्गार्धमूलं शरवेदभागजीवा ततः कोटिगुणोऽपि तावान् । त्रिभज्यकार्धं खगुणांशजीवा तत्कोटि जीवा खरसांशकानाम् । क्रमोत्क्रमज्या कृतियोगमूलाद्दलं तदर्धांशकशिञ्जिनी स्यात् ।"

इत्ययमेवार्थः स्फुटोत्तया सम्यगुक्त इति ॥२०-२१॥

अब अर्धांशज्यानयन को कहते हैं ।

हि. भा.—एक ही चाप की समक्रमज्या और उत्क्रमज्या के वर्ग योग के चतुर्थांश (अनष्ट) को त्रिज्या वर्ग में से घटाकर उनका (अनष्ट और शेष) मूल लेना चाहिये उन में

प्रथम मूल उस चापार्ध की ज्या होती है, और द्वितीय मूल चौवीस में से उसको घटाने से उस अर्धचाप की कोटिज्या होती है। इस तरह ज्योत्पत्ति में पुनः पुनः समज्यार्ध अष्टम से और बारहम से कर्म करने से ४। २। १। १०। ११। ५। ७। ६।३।९ आदि अर्धांशज्या होते हैं। जैसे अष्टमज्या की अर्धांशज्या और उसकी कोटिज्या से ४। २०, २। २२, १। ३, १०। १४, ५। ६, ७। १७, ११। १३ बारह वीज्या से ६। १८, ३। २१, ९। १५ बारहवीं सोलहवीं चौवीसवीं (त्रिज्या) ये तीनों ज्या विदित ही हैं इन से इष्ट व्यासार्ध में उनके अर्धज्यानयन से चौवीस ज्याए सिद्ध होती हैं इति।

उपपत्ति।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (क) क्षेत्र को देखिये। के=वृत्तकेन्द्र। रय=इष्ट-चाप, यन=चापज्या। रन=चाप की उत्क्रमज्या। यर=चापपूर्णज्या। तब $\text{यन}^2 + \text{रन}^2 = \text{यर}^2 = \text{चापपूर्णज्या}^2$, दोनों पक्षों को चार से भाग देने से $\frac{\text{यन}^2 + \text{रन}^2}{४}$

$$= \frac{\text{चापज्या}^2 + \text{चापोत्क्रमज्या}^2}{४} = \frac{\text{चापपूर्णज्या}^2}{४} = \text{चापार्धज्या}^2 = \text{अनष्ट}, \text{त्रि}^2 - \frac{\text{चापपूज्या}^2}{४} = \text{चापार्धकोटिज्या}^2,$$

दोनों का मूल लेने से $\sqrt{\frac{\text{चापज्या}^2 + \text{चापोत्क्रमज्या}^2}{४}}$

$= \text{चापर्धज्या}$ तथा $\sqrt{\text{त्रि}^2 - \frac{\text{चापपूज्या}^2}{४}} = \text{चापार्ध कोटिज्या}$। इससे आचार्योक्त सूत्र उपपन्न हुआ। सिद्धान्तशेखर में 'उत्क्रमक्रमसमानसमज्याखण्डवर्गयुतिवेदविभागम्' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्रीपत्युक्त श्लोकों का आदर्श आचार्योक्त ही है, भास्कराचार्य ने भी "इष्टा त्रिज्या सा श्रुतिर्दोर्भुजज्या" इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोकों से आचार्योक्त बात को ही स्पष्टतया कहा है इति ॥२०-२१॥

इदानीं विशेषमाह।

एवं जीवाखण्डाल्पानि बहूनि वाऽऽद्यखण्डानि।
ज्यार्धानि वृत्तपरिधेः षष्ठचतुर्थभागानाम् ॥२२॥

सु. भा.—एवं तदर्धज्यानयनेन गणकेनाल्पानि वा बहूनि यथेप्सितानि जीवाखण्डानि साध्यानि। आचार्येण च स्वग्रन्थे चतुर्विंशतिर्ज्यार्धानि साधितानि यदीप्सितानि ९६ ज्यार्धानि स्युस्तदा पुनस्तदर्धभागज्याविधिः कार्यः। अर्धभाग-ज्याविधौ सर्वत्र त्रिज्यार्धं त्रिज्यावर्गार्धपदं त्रिगुणत्रिज्यावर्गचतुर्थांशपदं क्रमेण वृत्तपरिधेः षष्ठचतुर्थत्रिभागानां ज्यार्धानि चाद्यखण्डानि व्यक्तानि। परिधिषष्ठ-भागस्य षष्टिभागानां या ज्या पूर्णज्या तस्या अर्धं त्रिज्यार्धम् चतुर्थभागस्य नवते-

ज्यार्धं त्रिज्यावर्गार्धपदम् । त्रिभागस्य विंशत्यधिकशतभागानां ज्यार्धं त्रिगुणत्रिज्यावर्गचतुर्थांशपदम् । इति ज्यार्धान्याद्यानि विज्ञाय ततस्तदर्धभागज्यानयन विधानेन वृत्तपादे यथेप्सितानि ज्याखण्डानि साध्यानीति सर्वं स्फुटम् ।

वि. भा.—एवं पूर्वोक्तार्धज्यानयनविधिनाऽल्पानि बहूनि वेप्सितानि ज्याखण्डानि ज्योतिर्विद्भिः साध्यानि आचार्येण चतुर्विंशतिर्ज्यार्धानि साधितानि यदि ९६ संख्यकज्यार्धानीप्सितानि भवेयुस्तदा पुनस्तदर्धांशज्याविधिः कार्यः । अर्धांशज्याविधौ त्रिज्यार्धं-त्रिज्यावर्गार्धमूलं-त्रिगुणत्रिज्यावर्गचतुर्थांशमूलं क्रमेण वृत्तपरिधेः षष्ठचतुर्थत्रिभागा (६०, ९०, १२०) नां ज्यार्धानि चाद्यखण्डानि व्यक्तानि । वृत्तपरिधिषष्ठांशस्य षष्टयंशस्य पूर्णज्यार्धं त्रिंशदंशज्या $= \frac{त्रि}{२}$ वृत्तपरिधेश्चतुर्थांशस्य नवतेः पूर्णज्यार्धं पञ्चचत्वारिंशदंशज्या $= \sqrt{\frac{त्रि^२}{२}}$ वृत्तपरिधेस्तृतीयांशस्य विंशत्यधिक शतमितांशानां ज्यार्धं = ज्या ६० $= \sqrt{\frac{३\ त्रि^२}{४}}$

इति ज्यार्धान्याद्यानि ज्ञात्वा ततस्तदर्धांशज्यानयनविधिना वृत्तपादे (नवत्यंशतुल्ये) यथेप्सितानि ज्याखण्डानि साध्यानीति ॥२२॥

अब विशेष कहते हैं ।

हि. भा.—एवं पूर्व कथित अर्धज्यानयन से अल्प वा बहुत यथेच्छ ज्याखण्ड साधन करना चाहिये । आचार्य अपने ग्रन्थ में चौबीस ज्यार्ध साधन किया है, यदि ९६ संख्यक ज्यार्ध अभीष्ट हो तो फिर अर्धांशज्या विधि करनी चाहिये । अर्धांशज्या विधि में सब जगह त्रिज्या का आधा, त्रिज्यावर्ग के आधा का मूल, त्रिगुणित त्रिज्यावर्ग के चतुर्थांश का मूल क्रम से वृत्तपरिधि का षष्ठांश, चतुर्थांश और तृतीयांश का ज्यार्ध आद्यखण्ड व्यक्त है वृत्तपरिधि का षष्ठांश $\frac{३६०}{६}$ = ६० की पूर्णज्या का आधा त्रिज्यार्ध, परिधि का चतुर्थांश $\frac{३६०}{४}$ = ९० की पूर्णज्या का आधा पैंतालीस अंश की ज्या $= \sqrt{\frac{त्रि^२}{२}}$, परिधि का तृतीयांश $= \frac{३६०}{३} = १२०$ इसका ज्यार्ध (पूर्णज्यार्ध) = ज्या ६० $= \sqrt{\frac{३\ त्रि^२}{४}}$, इन ज्यार्धों को जान कर अर्धांशज्यानयन विधि से वृत्तपाद (९०°) में यथेप्सित ज्याखण्डों का साधन करना चाहिये इति ॥२२॥

इदानीं प्रकारान्तरेणार्धांशज्यानयनमाह ।

उत्क्रमसमखण्डगुणाद् व्यासादथवा चतुर्थभागाद्यत् ।
कृत्वोक्तखण्डकानि ज्यार्धानयनं न लघ्वस्मात् ॥२३॥

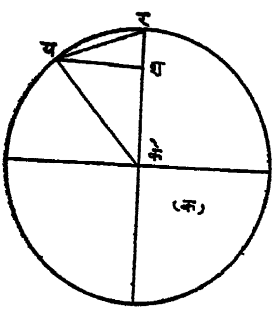
सु० भा०—अथवोत्क्रमसमखंडं समसङ्ख्यकज्यायाया उत्क्रमज्या तया गुणाद् व्यासात् किंविशिष्टात् चतुर्थभागाच्चतुर्विभक्ताद्यल्लब्धं तदुक्तखण्डानि क्रमोत्क्रमज्या वर्गयुतसमानि कृत्वा ज्यार्धानयनं प्राग्वत् कार्यम् । अस्मादानयनादन्यदानयनं न लघ्वस्तीति । अनेन प्रकारेण लाघवेन ज्यार्धानि सिध्यन्तीत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः ।

'त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेर्दलस्य' इत्यादि भास्करविधिना स्फुटज्योत्पत्तावन्ये विशेषा भास्करान्त्यज्योत्पत्तौ प्रसिद्धा एव ॥२३॥

वि. भा.—यत्संख्यकाया ज्याया अर्धज्या आनीयते तत्संख्यका या उत्क्रमज्या तया गुणाद् व्यासाच्चतुर्विभक्ताद्यल्लब्धं तदुक्तखण्डानि क्रमोत्क्रमज्यावर्गयुत समानि कृत्वा पूर्ववज्ज्यार्धानयनं कार्यम् । अस्मादानयनादन्यदानयनं न लघ्वस्ति, अर्थादनेन प्रकारेण लाघवेन ज्यार्धानि सिध्यन्तीति ।

अत्रोपपत्तिः ।



के=वृत्तकेन्द्रम् । रयचापम्=अ, अस्यैव चापस्यार्धांशज्यानयनमभीष्टम् । यश=ज्याअ, रश=उज्या अ । रय=अ चापस्य पूर्णज्या । केश=चापकोटिज्या =कोज्याअ । त्रि=त्रिज्या=केर, तदा केर—केश =रश=त्रि—कोज्याअ=उज्याअ वर्ग करणेन त्रि^{2} —२ त्रि. कोज्याअ+कोज्या^{2} अ=उज्या^{2} अ परन्तु यश^2+रश^2=अ चापपूर्णज्या^{2}=ज्या^{2}अ+उज्या^{2} अ =त्रि^{2} —२ त्रि. कोज्याअ+कोज्या^{2}अ+ज्या^{2}अ= त्रि^{2}–२ त्रि. कोज्याअ+त्रि^{2}=२ त्रि^{2}–२ त्रि. कोज्याअ =२ त्रि (त्रि—कोज्याअ)=२ त्रि. उज्याअ पक्षौ चतुर्भिर्भक्तौ तदा $\frac{२त्रि.\ उज्याअ}{४}$

$$=\frac{अचापपूज्या^2}{४}=ज्या^2\ \frac{१}{२}अ\ मूल\ ग्रहणेन \sqrt{\frac{२\ त्रि\ उज्याअ}{४}}$$

$$=\sqrt{\frac{त्रि.\ उज्याअ}{२}}=ज्या\ \frac{१}{२}\ अ\cdots\cdots(१)\ \sqrt{\frac{व्या\ उज्याअ}{४}}$$ अस्मात्

'तुल्यक्रमोत्क्रमज्या समखण्डकवर्गयुतिचतुर्भागमि' त्याचार्योक्तप्रकारेण अर्धांशज्याभिस्तत्कोटिज्याभिश्च ज्यार्धानि भवन्त्येनाचार्योक्तमुपपन्नम् । सिद्धान्तशेखरे "उत्क्रमाविषमखण्डविनिघ्नात् व्यासतो भवति यो युगभागः । तेन पूर्वकथिताच्च

(१) एतेन 'त्रिज्योत्क्रमज्या निहतेर्दलस्य मूलं तदर्धांशकशिञ्जिनी वा' भास्करोक्तमिदमुपपद्यते ।

विधानात् ज्यादलानि यदि वाऽत्र भवन्ति" इत्यनेन श्रीपतिनाऽऽचार्योक्तमेव पुनरुक्तीकृतम् । सिद्धान्तशिरोमणौ भास्कराचार्येणापि—"त्रिज्योत्क्रमज्यानिहतेर्दलस्य मूलं तदर्धांशक शिञ्जिनी वा । तस्याः पुनस्तद्दलभागकानां कोटेश्च कोटयंशदलस्य चैवम् ।" इत्यनेन तदेवोक्त्वा वासनाभाष्ये सम्यगुपपादितमिति ।।२३।।

इति ज्या प्रकरणम्

अब प्रकारान्तर से अर्धांशज्यानयन को कहते हैं

हि. भा.—यत्संख्यक ज्या की अर्धज्या लाते हैं तत्संख्यक उत्क्रमज्या से व्यास को गुणा कर चार से भाग देने से जो लब्ध हो उससे पूर्ववत् ज्यार्धानयन करना चाहिये। इस आनयन प्रकार से अन्य आनयन प्रकार छोटा नहीं है अर्थात् इस प्रकार से लाघव ही से ज्यार्ध सिद्ध होता है ।

उपपत्ति ।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (क) क्षेत्र को देखिये । के=वृत्तकेन्द्र । रयचाप =अ, इसी चाप का अर्धांशज्यानयन करना है । यश=ज्याअ, रश=उज्याअ, रय=अ-चाप की पूर्णज्या, केश=चापकोटिज्या=कोज्याअ केर=त्रिज्या=त्रि । तब केर—केश= रय=त्रि—कोज्याअ=उज्याअ, वर्ग करने से त्रि^{2}—२ त्रि. कोज्याअ+कोज्या^{2}अ=उज्ला^{2}अ परन्तु यश^2+रश^2=अचाप पूर्णज्या^{2}=ज्या^{2}अ+उज्या^{2}अ=त्रि^{2}—२ त्रि कोज्याअ+कोज्या^{2}अ+ज्या^{2}अ=त्रि^{2}—२ त्रि. कोज्याअ+त्रि^{2}=२ त्रि^{2}—२ त्रि. कोज्याअ=अचापपूज्या^{2} =२ त्रि (त्रि—कोज्याअ)=२ त्रि. उज्याअ=व्या × उज्याअ दोनों पक्षों को चार से भाग देने से $\frac{\text{व्यास—उज्याअ}}{४}=\frac{\text{अचापपूज्या}^2}{४}$=ज्या^{2} $\frac{१}{२}$ अ इससे 'तुल्य क्रमोत्क्रमज्या समखण्डकवर्गयुतिचतुर्भागम्" इस पूर्वोक्त प्रथम प्रकार से अर्धांशज्या और उसकी कोटिज्या से ज्यार्ध होता है इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ । २ त्रि (त्रि—कोज्याअ)=अचापपूज्या^{2} =२ त्रि. उज्याअ दोनों पक्षों को चार से भाग देने से $\frac{\text{२ त्रि. उज्याअ}}{४}=\frac{\text{त्रि. उज्याअ}}{२}$ $=\frac{\text{अचापपूज्या}^2}{४}$=ज्या^{2} $\frac{१}{२}$अ, मूल लेने से $\sqrt{\frac{\text{त्रि उज्याअ}}{२}}$=ज्या $\frac{१}{२}$ अ, इस से 'त्रिज्योत्क्रमज्या निहतेर्दलस्यमूलम्' इत्यादि भास्करोक्त उपपन्न होता है। सिद्धान्तशेखर में 'उत्क्रमाविषमखण्डविनिघ्नात्' इत्यादि श्रीपत्युक्त आचार्योक्त की ही पुनरुक्ति है । भास्कराचार्य ने भी 'त्रिज्योत्क्रमज्या निहतेर्दलस्य' इत्यादि इससे उसी को कह कर वसनाभाष्य में अच्छी तरह कहा है इति ।।२३।।

इति ज्या प्रकरण समाप्त हुआ

अथ स्फुटगति वासना ।

तत्रादौ स्पष्टीकरणे छेद्यकमाह ।

कक्षामण्डलमध्यं भूमध्ये मध्यमः स्वकक्षायाम् ।।
अनुलोमं मन्दोच्चात् प्रतिलोमं भ्रमति शीघ्रोच्चात् ।। २४ ।।

सु. भा.—भूमध्ये कक्षामण्डलस्य मध्यं केन्द्रमस्ति । मध्यमो ग्रहः स्वकक्षायां प्रतिवृत्ते मन्दोच्चादनुलोमं शीघ्रोच्चाच्च प्रतिलोमं भ्रमति । 'भूमेर्मध्ये खलु भूवलयस्यापि मध्यम्' –इत्यादिना तथा 'मन्दोच्चितोऽग्रे प्रतिमण्डले प्राग्ग्रहोऽनु–लोमं निजकेन्द्रगत्या'—इत्यादिना भास्करविधिनाऽपीयमेव स्थितिः ।।२४।।

वि. भा.—भूमध्ये (भूकेन्द्रे) कक्षावृत्तस्य केन्द्रमस्ति, मध्यमो ग्रहः स्वकक्षायां (प्रतिवृत्ते) मन्दोच्चादनुलोमं शीघ्रोच्चाच्च विलोमं भ्रमति । मन्दोच्चादनुलोमं राश्यादिगणनयाऽग्रतः शीघ्रोच्चाच्च विलोमत इति राश्यादिगणनया पृष्ठतो यथोत्तरं भ्रमति । ग्रहगत्यपेक्षया शीघ्रोच्चगतिर्महती भवतीति तत्र यदि शीघ्रोच्चं स्थिरं मन्यते तदा ग्रहो विपरीतगमन इव लक्ष्यते । मन्दोच्चस्य चालक्ष्याल्पगतित्वात् सदैव ग्रहो राश्यादिगणनया अनुगामी भवतीति । सिद्धान्त शेखरे "मध्यः स्वकक्षा परिधौ स्फुटस्तु स्वकेन्द्रवृत्ते भ्रमति द्युचारी । स्वमन्दतुङ्गादनुलोमगत्या विलोमतो याति च शीघ्रतुङ्गात्" श्रीपतिनैवं कथितम् । अत्र लल्लः—"अनुलोमं निजमन्दात् प्रतिलोमं गच्छति स्वशीघ्रोच्चात् । कक्षावृत्ते मध्यः स्वकेन्द्रवृत्ते ग्रहाः स्पष्टाः ।। " स्वकेन्द्रवृत्ते (स्वीये प्रतिवृत्ते) । भास्करश्च "मन्दोच्चतोऽग्रे प्रतिमण्डले प्राक् ग्रहोऽनुलोमं निजकेन्द्रगत्या । शीघ्राद्विलोमं भ्रमतीव भाति विलम्बितः पृष्ठत एव यस्मात्" एवमेव ग्रहभ्रमणव्यवस्थां प्रतिपादयतीति ।। २४ ।।

अब स्फुटगति वासना प्रारम्भ की जाती है ।

उसमें पहले स्पष्टी करण में छेद्यक को कहते हैं ।

हि. भा.—भूकेन्द्र कक्षावृत्त का केन्द्र है । मध्यमग्रह अपनी कक्षा में मन्दोच्च से अनुलोम (क्रमिक) और शीघ्रोच्च से विलोम (उल्टा) भ्रमण करते हैं मन्दोच्च से अनुलोम अर्थात् राश्यादि गणना से आगे और शीघ्रोच्च से विलोम अर्थात् राश्यादि गणना से पीछे भ्रमण करते हैं । ग्रहगति की अपेक्षा शीघ्रोच्चगति अधिक हैं यदि शीघ्रोच्च को स्थिर माना जाय तो ग्रह विपरीत चलते हुए लक्षित होते हैं । मन्दोच्च की अत्यन्त अल्प गति के कारण राश्यादि गणना से ग्रह सर्वदा अनुगामी होते हैं । सिद्धान्त शेखर में 'मध्यः स्वकक्षा परिधौ'

इत्यादि से श्रीपति ने आचार्योक्त के अनुसार ही कहा है। 'अनुलोमं निजमन्दात् प्रतिलोमं' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक से लल्लाचार्य तथा 'मन्दोच्चऽतोग्रे प्रतिमण्डले प्राक्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक से भास्करा चार्य ने भी इसी तरह ग्रहभ्रमण व्यवस्था कही है इति ।। २४ ।।

इदानीं नीचोच्चवृत्तभङ्गिमाह ।

नीचोच्चवृत्तमध्यं मध्ये तद्भ्रमति मध्यगः स्वोच्चात् ।
तत्परिधौ प्रतिलोमं मन्दोच्चाद् भ्रमति शीघ्रोच्चात् ।। २५ ।।
अनुलोमं मध्यसमं भूस्थः पश्यति यतो न कक्षायाम् ।
स्पष्टं तन्मध्यान्तरमृणं धनं वा ग्रहे मध्ये ।। २६ ।।

सु. भा.—कक्षायां यत्र मध्यग्रहचिह्नं तस्मिन् मध्ये नीचोच्चवृत्तस्य मध्यं नीचोच्चवृत्तकेन्द्रं भवति तत् केन्द्रं च मध्यचलनाद् भ्रमति । शेषं भास्करभङ्ग्या स्फुटम् ।।२५-२६।।

वि. भा.—कक्षायां यत्रमध्यग्रहचिन्हं तत्र मध्ये नीचोच्चवृत्तस्य मध्यं (केन्द्रं) भवति । नीचोच्चवृत्तपरिधौ मन्दोच्चात् प्रतिलोमं शीघ्रोच्चाच्चानुलोमं ग्रहो भ्रमति । यतो (यस्मात्कारणात्) भूस्थो द्रष्टा कक्षायां मध्यग्रहतुल्यं स्पष्टग्रहं न पश्यति तस्मात् कारणात् स्पष्टमध्यग्रहयोरन्तरं फलं मध्यमग्रहे ऋणं धनं वा क्रियते तदा स्पष्टग्रहो भवति । अर्थात् समायां भूमौ बिन्दुं कृत्वा तं केन्द्रं प्रकल्प्य त्रिज्यातुल्येन कर्कटकेन कक्षावृत्तं विलिखेत् । तद्भगणाङ्कितं कृत्वा मेषादेरारभ्य ग्रहमुच्चं च दत्त्वा चिन्हे कार्ये । भूकेन्द्रादुच्चोपरिगता रेखा कार्या सोच्चरेखा कथ्यते । भूकेन्द्रादुच्चरेखोपरि लम्बरेखा(तिर्यग्रेखा)कार्या, भूकेन्द्रादु पर्यन्त्यफलज्यामुच्चोन्मुखीं दत्त्वा तदग्रात् त्रिज्या व्यासार्धेनैव प्रतिवृत्तं कार्यम् । उच्चरेखया सह यत्रास्य सम्पातस्तत्र प्रतिवृत्तेऽप्युच्चं ज्ञेयम् । तस्मादुच्चभोगं विलोमेन देयम् । ततो ग्रहमनुलोमं दत्त्वा तत्र चिन्हं कार्यम् । प्रतिवृत्तकेन्द्रादुच्चरेखोपरि लम्बरेखा प्रतिवृत्तीयतिर्यग्रेखा कार्या, तिर्यग्रेखयोरन्तरमन्त्यफलज्या तुल्यमेव सर्वत्र भवति । ग्रहोच्चरेखयोर्ज्यारूपमत्तरं दोर्ज्या (भुजज्या) भवति । ग्रहप्रतिवृत्ततिर्यग्रेखयोरन्तरं कोटिज्या, ग्रह कक्षामध्यगतिर्यग्रेखयोरूर्ध्वाधरमन्तरं स्फुटा कोटिः । भूकेन्द्रात्प्रतिवृत्तस्य ग्रहावधि सूत्रं कर्णः । कर्णसूत्रं यत्र कक्षा वृत्तेलगति तत्र स्फुटो ग्रहः कक्षावृत्ते स्फुटमध्यग्रहयोरन्तरं फलं तच्च मध्यग्रहात् स्फुटग्रहेऽग्रस्थे धनं मेषादिकेन्द्रे पूर्वाकर्षणेनोत्पद्यते । मध्यग्रहात् स्फुटग्रहे पृष्ठस्थे फलमृणं तुलादिकेन्द्रे पश्चादाकर्षणेन भवति ।। सिद्धान्तशेखरे "द्रष्टा स्फुटं पश्यति मध्यतुल्यं भान्तस्थिते भार्धगते च केन्द्रे । यस्मादभावोऽत्र फलस्य तस्मात् भवेद् ग्रहस्योर्ध्वमधःस्थितस्य ।। ऊनाधिकं पश्यति मध्य-

माच्च स्फुटं नरस्तद्विवरं फलं हि। ऋणं धनं च क्रियतेऽत एव मध्यग्रहे स्पष्टबुभुत्सुभिस्तत् ॥" श्रीपतिनैवमेवं कथितम्। लल्लाचार्यस्तु प्रथममार्यभटोक्त स्पष्टीकरणक्रियाया उपपत्तिमेवाह। "मध्यमतुल्यं स्पष्टं भान्तगते भार्धगेऽपि वा केन्द्रे। द्रष्टा पश्यति यस्मान्मध्यस्यातः फलाभावः ॥ स्पष्टं पश्यति यस्मान्मध्यादूनाधिकं नरस्तस्मात्। विवरं तयोः फलमृणं धनं च मध्यग्रहे क्रियते ॥" भास्कराचार्येणापि "भूमेर्मध्ये खलु भवलयस्यापि मध्यं यतः स्याद्यस्मिन् वृत्ते भ्रमति खचरो नास्य मध्यं कुमध्ये। भूस्थो द्रष्टा नहि भवलये मध्यतुल्यं प्रपश्येत्, तस्मात् तज्ज्ञैः क्रियतइह तद्दोः फलं मध्यखेटे ॥" इत्यनेन प्रथममेकेनैव श्लोकेन प्राचीनोक्तो मध्यमग्रहस्य स्पष्टताविधायको विधिरुपपादितः पश्चाद्विशदव्याख्यया उपपादित इति।

अथ ग्रह स्पष्टीकरणे छेद्यकाद्युपपत्तौ किमर्थं प्राचीनैः कक्षावृत्तप्रतिवृत्तादिकल्पना कृता तदर्थं किञ्चिदुच्यते। भूकेन्द्रमिति कल्पितात् कस्माच्चिदपि बिन्दोरभीष्टत्रिज्याव्यासार्धेन कक्षावृत्तसंज्ञकं वृत्तं कार्यम्, वस्तुत इदं वेधवलयं, एतद्वृत्तकेन्द्रात् तत्तद्गोलस्थग्रहेषु सूत्रं यत्र यत्राऽस्मिन् वृत्ते लगति तत्र तत्र स ग्रहः परिणतः कल्प्यते। कक्षावृत्तकेन्द्रात् (भूकेन्द्रात्) कक्षावृत्तस्योर्ध्वाधरा व्यासरेखा कार्या, केन्द्रत एतदुपरि लम्बरूपाऽन्या तिर्यग्रेखा च कार्या, केन्द्रादूर्ध्वाधरव्यासरेखायामिष्टग्रहस्य वेधावगतान्त्यफलज्यासमं खण्डं छित्वा छेदितबिन्दोस्तत्त्रिज्या व्यासार्धेनैव वृत्तं शीघ्रप्रतिवृत्तसंज्ञकं कार्यम्। इदमेव वृत्तं मन्दस्पष्टग्रहभ्रमणवृत्तम्। वृत्तस्याप्यस्य केन्द्रं भूकेन्द्र (कक्षावृत्तकेन्द्रं) मेव कथं नेति प्रतिदिनं वेधविधिना कर्णज्ञानेन निश्चितम्। अथ स बिन्दुर्भूकेन्द्रात् कियदन्तरेऽस्ति यस्मात्प्रतिवृत्तपर्यन्तं नीयमानं सूत्रं तुल्यं भवतीत्यस्यापि ज्ञानं वेधविधिना कृत्वा स एव बिन्दुः प्रतिवृत्तस्य केन्द्ररूपः कल्पितः। कक्षावृत्तप्रतिवृत्तयोः केन्द्राभ्यां भगोलीयमेषादिगते रेखे यत्र यत्र कक्षावृत्ते प्रतिवृत्ते च लग्ने तत्र तत्र तद्वृत्तद्वये मेषादिबिन्दू भवतः। भूकेन्द्रात्प्रतिवृत्तस्य यो बिन्दुः सर्वबिन्द्वपेक्षयाऽतिदूरे भवेत्स उच्चसंज्ञकस्तस्य राश्यादिज्ञानं कृत्वातन्मितमेव कक्षावृत्तेऽप्युच्चं परिकल्प्य ग्रहानयनं भवति, इतोऽन्यथा नेति, तथोच्चयोस्तुल्यत्वे एतयोः सूत्रयोर्भगोलीयमेषादिबिन्दौ योगे सत्यपि समानान्तरत्वं स्वीकृत्यानन्तदूरे यस्मिन् बिन्दौ सूत्रद्वयस्य योगो भवेत्ते सूत्रे अपि समानान्तरे भवत इति प्राचीनाः स्वीकृतवन्तः। इह वास्तवभगोलस्तावति दूरेऽस्ति यत्र भूकेन्द्रमारभ्य शनिकक्षानिष्ठादपि कस्माच्चन बिन्दुतो नीयमाना रेखाऽनन्ता भवति। ग्रहसाधनगणिते भूकेन्द्राच्छनिकक्षापर्यन्तमेव भगोलबिन्दुगतरेखयोः समानान्तरत्वं स्वीक्रियते। अतोऽत्र भगोलस्य केन्द्रं यत्र कुत्रापि कल्पयितुं शक्यते। भूकेन्द्रात् प्रतिवृत्तस्य को बिन्दुरतिदूरेऽस्ति यदुच्चसंज्ञकं वृत्तद्वयकेन्द्रगतैव रेखा सर्वाधिका भवत्यतः प्रतिवृत्तस्यापीयमेव रेखोच्चरेखा भवेत्। वस्तुतः प्रतिवृत्त एवोच्चमस्ति। अनुपातागतं राश्याद्युच्चं कक्षावृत्ते दत्तं भूकेन्द्रात्तद्गतरेखैव प्रतिवृत्तीयोच्चरेखा भवतीति विलोमेन प्रतिवृत्ते मेषादिज्ञानं भवेत्। अथ यदि कया-

ऽपि रीत्या प्रतिवृत्तीयग्रहस्य ज्ञानं भवेत्तदा तस्मात् स्थानादुच्चरेखायाः समानान्तर-रेखा यत्रकक्षावृत्ते लगति तत्र तत्तुल्यो ग्रहः कक्षावृत्ते भवति, भूकेन्द्रात्प्रतिवृत्तस्थ ग्रहगता रेखा यत्र कक्षावृत्ते लगति तत्रैव स (प्रतिवृत्तीयः) ग्रहो दृग्गोचरीभूतो भवत्यतस्तयोरन्तरं ग्रहस्य शीघ्रफलम् । अथ प्रतिवृत्ते मेषादितो मन्दोच्चराश्यादि दत्वा तदग्रे प्रतिवृत्तकेन्द्रारेखानेया तत्र मन्दान्त्यफलज्या तुल्यं दानं दत्त्वा दाना-ग्रविन्दुतस्त्रिज्या व्यासार्धेन वृत्तं कार्यं तन्मन्दप्रतिवृत्तम् । अत्रापि मेषादिज्ञानं विपरीतगणनया भवेत् । शीघ्रप्रतिवृत्तमन्दप्रतिवृत्त केन्द्राभ्यां भगोलीयमेषादि-गतरेखयोः समानान्तरत्वमत्रापि स्वीक्रियते । अतस्ततो राश्यादिगणनयाऽनु-लोममेव मन्दस्पष्टग्रहो दत्तः । मन्दप्रतिवृत्तीयमन्दस्पष्टग्रहात्तत्रत्योच्चरेखायाः समानान्तरा रेखा यत्र शीघ्रप्रतिवृत्ते लगति तत्र मन्दप्रतिवृत्तीयमन्दस्पष्टग्रहतुल्य एव मन्दस्पष्टग्रहः । शीघ्रप्रतिवृत्तकेन्द्रमन्दप्रतिवृत्तीय मन्दस्पष्टग्रहगतारेखा यत्र शीघ्रप्रतिवृत्ते लगति तत्रैव तं ग्रहं शीघ्रप्रतिकेन्द्रस्थद्रष्टा पश्यति, अतः शीघ्रप्रति-वृत्तकेन्द्रान्मन्दप्रतिवृत्तीयमन्दस्पष्टग्रहगत खा-तथोच्चरेखायाः समानान्तररेखा-याश्च शीघ्रप्रतिवृत्ते यदन्तरं तन्मन्दफलम् । मन्दप्रतिवृत्त केन्द्राच्छीघ्र प्रतिवृत्तीय मन्दस्पष्टग्रहगता रेखा यत्र मन्दप्रतिवृत्ते लगति स एव बिन्दुर्मन्दप्रतिवृत्तीयो मन्दस्पष्टग्रहः । अथ मन्दस्पष्टो निरूप्यते । वेधेन प्रथमं स्पष्टग्रहस्यैव ज्ञानं भवत्यतो वेधवृत्ते यत्र ग्रहविम्बमुपलभ्यते तदुपरि तत्केन्द्राद्गतारेखा यत्र ग्रहगोले लगति तत्रैव वास्तवं ग्रह बिम्बं तदुपरितद्गोलीयकदम्बप्रोतवृत्तं कार्यं तद्यत्रशीघ्रप्रतिवृत्ते लगति तत्रैकविधः शरसाधनोपयुक्तो मन्दस्पष्टग्रहः । वेधवलये यत्र बिम्बमुपलब्धं तदुपरि-तद्गोलीय कदम्बप्रोतवृत्तं कार्यं तत्कक्षावृत्ते यत्र लग्नं भूकेन्द्रात्तद्गता रेखा शीघ्र-प्रतिवृत्ते यत्र लगति सोऽन्यो मन्दस्पष्टग्रहः । प्राचीनैरेतयोर्मन्दस्पष्टग्रहयोर्भेदो न स्वीक्रियते । स्पष्टग्रहज्ञानं विना मन्दस्पष्टग्रहज्ञानं भवतु तदर्थं तदुपकरणरूपमेकं मन्दप्रतिवृत्ते भ्रमन्तं मध्यमग्रहं कल्पितवन्तः प्राचीनाः । अतोऽत्र मन्दप्रतिवृत्तीयो वास्तवो ग्रहो मध्यमग्रह एव, स तत्तुल्यराशेर्यदन्तरेण शीघ्रप्रतिवृत्तेऽवलोक्यते तदेव मन्द फलम् । स एव च मन्दस्पष्टो ग्रहः । ततः सोऽपि मन्दस्पष्टग्रहो वेधवृत्ते तत्तुल्यराशेर्यदन्तरेणावलोक्यते तदेव शीघ्रफलं स एव च स्पष्टग्रह इति कल्पनेऽपि न किमपि तारतम्यमिति कक्षावृत्तं यथार्थतः शीघ्रप्रतिवृत्तमेव मन्दफलसाधनार्थम् ।

अत्र तद्वेधाकरणेऽभीष्ट बिन्दुरेव ग्रहगोलकेन्द्रमतः कक्षावृत्तमेव ज्ञात्वा फलानयनं कृतम् । प्रतिवृत्तीया कोटिरेखा (उच्चरेखा समानान्तरा रेखा) कक्षावृत्ते यत्र लगति तत्रैव शीघ्रप्रतिवृत्तीयमन्दस्पष्टसमानराश्यात्मको बिन्दुः । भूकेन्द्रादेत-द्बिन्दुगता रेखा यत्र कक्षावृत्ते लगति तत्रैव सोऽवलोकितो भवति, तदन्तरं फल-मेवेति । तत्साधनोपायः समीचीन एव । यतः प्रथमतः कल्पितकक्षावृत्तं शीघ्र प्रतिवृत्तमस्ति । तत्र वेधाकरणे तावदिष्टस्थान एव मेषादिः कल्पितः । वृत्तकेन्द्रा-त्तदुपरि गतोच्चरेखैवात्रत्योच्चरेखा । मेषादेर्मन्दप्रतिवृत्तीयसमानो मध्यग्रहो दत्तः ।

मन्दकेन्द्रं वेदितव्यम् । अथ चैषां तत्रैव वास्तवावस्थानमिति यथैतत्तुल्यं केन्द्रं तत्रापि भवेत्तथा मन्दप्रतिवृत्ते मेषादिः स्वीकृतः । मध्यस्य यत्रोपलम्भः स एव मन्दस्पष्टोऽतोऽत्रत्यं फलाद्यानयनं समीचीनं तत्संस्कारेण मन्दस्पष्टग्रहोऽपि समीचीनः । अथ चैतेन प्रदर्शितमार्गेण वास्तवं शीघ्रप्रतिवृत्तं यत्तत्रत्यस्य मन्दस्पष्टग्रहस्योच्चस्य मेषादेश्च ज्ञानं जातम् । अथात्रवेधं विना ज्ञातव्यस्थितावेव पुनरभीष्टबिन्दोः कृतं कक्षावृत्तं वास्तवकक्षावृत्तम् । अत्र मेषादिविन्दु-शीघ्रोच्चमन्द स्पष्टग्रहश्च पूर्वोक्तविधिनाऽङ्किताः । शीघ्रप्रतिवृत्ते या स्थितिरागता प्रथमं तथैव प्रयोजनमतोऽत्र मन्दस्पष्टादेर्दीयमानत्वात्तत्तुल्या एव ते स्वस्थाने शीघ्रप्रतिवृत्तसंज्ञके यथा भवेयुस्तथा मेषादिकल्पना कृता । प्रतिवृत्ते यो मन्दस्पष्ट विन्दुः ततस्तदुच्चरेखायाः समानान्तरा रेखा यत्र कक्षावृत्ते लगति तत्रैव तन्मन्दस्पष्टसमानं खण्डं मेषादितो भवितुमर्हति । भूकेन्द्रात्तत्प्रतिवृत्तीयमन्दस्पष्टग्रहगता कर्णरेखा कक्षावृत्ते यत्र लगति तत्र तदुपलब्धिः । कोटिकर्णरेखयोरन्तरं फलमिति तत्साधनार्थं यान्युपकरणानि तैस्तज्ज्ञानं सुगममिति ॥ २५-२६ ॥

अब नीचोच्चवृत्त भङ्गी को कहते हैं ।

हि. भा.— कक्षावृत्त में जहाँ मध्यमग्रह चिन्ह है वही नीचोच्चवृत्त का केन्द्र है । नीचोच्चवृत्त परिधि में मन्दोच्च से विलोम और शीघ्रोच्च से अनुलोम ग्रह भ्रमण करते हैं । जिस प्रकार भूकेन्द्र स्थित द्रष्टा (दर्शक) कक्षा में मध्यम ग्रह के वरावर स्पष्ट ग्रह को नहीं देखते हैं उसी प्रकार स्पष्ट ग्रह और मध्यम ग्रह का अन्तर (फल) मध्यम ग्रह में ऋण वा धन किया जाता है तब स्पष्ट ग्रह होते हैं । अर्थात् समान भूमि में इष्ट बिन्दु को केन्द्र मान कर इष्ट त्रिज्या व्यासार्ध से कक्षावृत्त बनाकर उसको भगणाङ्कित कर मेषादि से उच्च और ग्रह को देखकर चिह्नित करना चाहिये । भूकेन्द्र से उच्चोपरि गत रेखा उच्चरेखा कहलाती हैं । भूकेन्द्र से उच्चरेखा के ऊपर लम्ब रेखा (तिर्यक्रेखा) करनी चाहिये । भूकेन्द्र से उच्च की ओर उच्चरेखा में अन्त्य फलज्या तुल्य देकर दानाग्र बिन्दु के द्वारा उसी त्रिज्या व्यासार्ध से प्रतिवृत्त बनाना चाहिये । इस प्रतिवृत्त में उच्चरेखा ऊर्ध्व भाग में जहां लगती है वहां प्रतिवृत्त में उच्च होता है । बहां से प्रतिवृत्त में उच्च भोग विलोम देना चाहिये । वहां से ग्रह को अनुलोम देकर चिह्न कर देना चाहिये । प्रतिवृत्त केन्द्र से उच्च रेखा के ऊपर लम्ब रेखा प्रतिवृत्तीय तिर्यक् रेखा करनी चाहिये । दोनों तिर्यक् रेखाओं का अन्तर सर्वत्र अन्त्यफलज्या तुल्य ही होता है । ग्रह और उच्च का ज्यारूप अन्तर दोर्ज्या (भुजज्या) होती है । ग्रह से प्रतिवृत्तीय तिर्यग्रेखा पर्यन्त कोटिज्या होती है । ग्रह से कक्षा मध्यगतिर्यग्रेखा पर्यन्त स्फुट कोटि है । भूकेन्द्र से प्रतिवृत्तस्थ ग्रह पर्यन्त रेखा कर्ण है । कर्ण रेखा जहाँ कक्षावृत्त में लगती है वही स्पष्ट ग्रह है । कक्षावृत्त में स्फुट ग्रह और मध्यम ग्रह का अन्तर फल है । मध्यम ग्रह से स्फुट ग्रह के आगे रहने से मध्यम ग्रह में उस फल को धन करने से स्फुट ग्रह होते हैं । मध्यम ग्रह से स्फुट ग्रह के पीछे रहने से मध्यम ग्रह में से उस फल को ऋण करने से स्फुट

ग्रह होते हैं ।। सिद्धान्तशेखर में 'द्रष्टा स्फुटं पश्यति मध्यतुल्यं भान्तस्थिते भार्धगते च केन्द्रे' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से श्रीपति ने इसी तरह कहा है । लल्लाचार्य ने पहले आर्यभटोक्त स्पष्टी करण क्रिया की उपपत्ति ही कही है । 'मध्यमतुल्यं स्पष्टं भान्तरते भार्धगेऽपि वा केन्द्रे' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से भास्कराचार्य ने भी 'भूमेर्मध्ये खलु भवलस्यापि मध्यं यतः स्यात्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक (एक ही) से पहले प्राचीनोक्त मध्यम ग्रह की स्पष्टता विधायक विधि को कहा हैं । पश्चात् विशद व्याख्या से प्रतिपादन किया है । ग्रहों के स्पष्टी करण में छेद्यक आदि की उपपत्ति में प्राचीनाचार्यों ने कक्षावृत्त-प्रतिवृत्तादियों की कल्पना क्यों की इसके सम्बन्ध में कुछ कहते हैं । किसी इष्ट बिन्दु (कल्पित भूकेन्द्र) से इष्ट त्रिज्या व्यासार्ध से कक्षावृत्त संज्ञक वृत्त बनाना वस्तुतः यह वेधवलय (वेधवृत्त) है इस वृत्त के केन्द्र से तत्तत् ग्रह गोलस्थ ग्रह गत सूत्र जहां जहां इस वृत्त (कक्षावृत्त) में लगते हैं तहां तहां वे ग्रह परिणत होते हैं । कक्षा वृत्त केन्द्र (भूकेन्द्र) से कक्षावृत्त की ऊर्ध्वाधर व्यास रेखा और केन्द्र से उसके ऊपर लम्बरूप तिर्यक् व्यास रेखा करनी चाहिये । ऊर्ध्वाधार व्यास रेखा में केन्द्र से उच्चाभिमुख वेध विदित ग्रह की अन्त्यफलज्या तुल्य दान देकर दानाग्र बिन्दु से उसी त्रिज्या व्यासार्ध से वृत्त बनाना यह शीघ्र प्रतिवृत्त कहलाता है । यही वृत्त मन्दस्पष्टग्रह भ्रमणवृत्त हैं । इस वृत्त का भी केन्द्र भूकेन्द्र ही क्यों नहीं होता है इसका ज्ञान प्रति दिन वेधविधि से कर्ण ज्ञान द्वारा होता है । वह बिन्दु भूकेन्द्र से कितने अन्तर पर हैं जहाँ से प्रति वृत्त की प्रत्येक बिन्दु गत रेखा बरावर होती है वेध से इसको भी समझ कर उसी बिन्दु को प्रति वृत्त के केन्द्र की कल्पना की गयी, कक्षावृत्त और प्रतिवृत्त के केन्द्र से भगोलीय मेषादिगत रेखाद्वय वृत्तद्वय (कक्षावृत्त और प्रतिवृत्त) में जहां जहां लगता है वहां वहां वृत्तद्वय में मेषादि बिन्दु होते हैं । भूकेन्द्र से प्रतिवृत्त का जो प्रदेश सब बिन्दुओं से अति दूर है वह उच्च संज्ञक है, उसके राश्यादि जानकर तत्तुल्य ही उच्च कक्षावृत्त में कल्पना कर ग्रहानयन होता है । इससे अन्यथा नहीं होता है । तथा उच्चद्वय के तुल्यत्व में इन दोनों रेखाओं को भगोलीय मैषादि बिन्दु में योग रहने पर भी समानान्तरत्व स्वीकार कर अनन्त दूर में जिस बिन्दु में रेखा द्वय को योग होता है वह रेखाद्वय भी समानान्तर होता है इसको प्राचीनाचार्यों ने स्वीकार किया है । वास्तव भगोल इतनी दूर पर है जहां भूकेन्द्र से आरम्भ कर शनि कक्षानिष्ठ किसी बिन्दु से लायी गयी रेखा अनन्त होती है । ग्रह गणित में भूकेन्द्र से शनि कक्षापर्यंत ही भगोलीय बिन्दुगत रेखाद्वय का समानान्तरत्व स्वीकार किया जाता है । इसलिये भगोल का केन्द्र जहां तहां कल्पना कर सकते हैं । भूकेन्द्र से प्रतिवृत्त का कौन बिन्दु अति दूर है जो उच्च संज्ञक है वृत्तद्वय केन्द्र गत रेखा ही सर्वाधिक होती हैं, इसलिये यही रेखा प्रतिवृत्त की भी उच्च रेखा होती है, वस्तुतः प्रतिवृत्त ही में उच्च है, अनुपातागत राश्यादि उच्च को कक्षावृत्त में दिया जाता है भूकेन्द्र से तद्गत रेखा ही प्रतिवृत्तीय उच्च रेखा होती है इस विलोम से प्रतिवृत्त में मेषादि ज्ञान होता है। यदि किसी रीति से प्रति वृत्तीय ग्रह ज्ञान हो तो उस स्थान से उच्च रेखा की समानान्तर रेखा कक्षावृत्त में जहाँ

लगती है वहां उसी ग्रह के बरावर ग्रह कक्षा वृत्त में होते हैं, भूकेन्द्र से प्रतिवृत्तस्थ ग्रहगत रेखा कक्षा वृत्त में जहां लगती है वहीं पर वह (प्रतिवृत्तीय ग्रह) दृश्य होते हैं अतः उन दोनों का अन्तर ग्रह का शीघ्र फल है। प्रतिवृत्त में से मेषादि मन्दोच्चराश्यादि देकर उस के अग्र गत प्रतिवृत्त केन्द्र से जो रेखा होगी उसमें मन्दान्त्यफलज्या तुल्य प्रतिवृत्त केन्द्र से दान देकर दानाग्र बिन्दु से त्रिज्या व्यासार्ध से जो वृत्त होता है वह मन्द प्रतिवृत्त है, इसमें भी मेषादिज्ञान विपरीत गणना से होता है। शीघ्र प्रतिवृत्त और मन्द प्रतिवृत्त के केन्द्र से भगोलीय मेषादि गत रेखाद्वय का समानान्तरत्व यहां भी स्वीकार करते हैं। अतः मेषादि से राश्यादि गणना से अनुलोम ही मन्द स्पष्ट ग्रह को देना चाहिये। मन्द प्रतिवृत्तीय मन्द स्पष्टग्रह से उच्च रेखा की समानान्तर रेखा शीघ्र प्रतिवृत्त में जहां पर लगती है वहां मन्द प्रतिवृत्तीय मन्द स्पष्टग्रह के बरावर ही मन्द स्पष्टग्रह होते हैं। शीघ्र प्रतिवृत्त के केन्द्र से मन्द प्रतिवृत्तीय मन्द स्पष्ट ग्रहगत रेखा शीघ्र प्रतिवृत्त में जहां लगती है वहीं पर उस ग्रह को शीघ्र प्रतिवृत्त केन्द्रस्थ द्रष्टा देखता है इसलिये शीघ्र प्रतिवृत्त केन्द्र से मन्द प्रतिवृत्तीय मन्द स्पष्ट ग्रहगत रेखा और उच्च रेखा की समानान्तर रेखा का शीघ्र प्रतिवृत्त में जो अन्तर होता है वह मन्द फल है। मन्द प्रतिवृत्त के केन्द्र से शीघ्र प्रतिवृत्तीय मन्द स्पष्टग्रह गत रेखा मन्द प्रतिवृत्त में जहां लगती है वही बिन्दु मन्द प्रतिवृत्तीय मन्द स्पष्ट ग्रह है। अब मन्द स्पष्टग्रह का निरूपण करते हैं। वेध से पहले स्पष्टग्रह ही का ज्ञान होता है अतः वेध वृत्त में जहां बिम्ब उपलब्ध होता है केन्द्र से तद्गत रेखाग्रह गोल में जहां लगती है वहीं पर वास्तव ग्रहबिम्ब होता है, उसके ऊपर तद्गोलीय कदम्ब प्रोतवृत्त शीघ्र प्रतिवृत्त में जहां लगती है वहां एक तरह के शरसाधनोपयुक्त मन्द स्पष्टग्रह होते हैं। वेधवलय में जहां बिम्ब उपलब्ध होता है उसके ऊपर तद्गोलीय कदम्ब प्रोतवृत्त करने से वह कक्षावृत्त में जहां लगता है भूकेन्द्र से तद्गत रेखा शीघ्र प्रतिवृत्त में जहां लगती है वह अन्य मन्द स्पष्ट ग्रह है; प्राचीनाचार्य इन दोनों मन्द स्पष्ट ग्रहों में भेद नहीं मानते हैं। स्पष्ट ग्रह ज्ञान बिना मन्द स्पष्ट ग्रह ज्ञान हो इसके लिये उसके उपकरण रूप मन्द प्रतिवृत्त में भ्रमण करते हुए एक मध्यम ग्रह को प्राचीनों ने कल्पित किया। इसलिये मन्द प्रतिवृत्तीय वास्तव ग्रह मध्यम ग्रह ही है वह जितना अन्तरित करके शीघ्र प्रतिवृत्त में देखे जाते हैं वही मन्द फल है, वही (मध्यम ग्रह) मन्द स्पष्ट ग्रह है। वह मन्द स्पष्ट ग्रह वेधवृत्त में तत्तुल्य राशि से जितना अन्तर करके देखे जाते हैं वही शीघ्र फल है, वही स्पष्टग्रह है इस कल्पना में किसी तरह का तारतम्य नहीं है, यथार्थतः मन्द फल साधनार्थ शीघ्र प्रतिवृत्त ही कक्षा वृत्त है, यहां वेध न करने से अभीष्ट बिन्दु ही ग्रह गोल का केन्द्र है अतः कक्षावृत्त ही का जान कर फलानयन किया। प्रतिवृत्तीय कोटि रेखा (उच्च रेखा की समानान्तर रेखा) कक्षावृत्त में जहां लगती है वहीं पर शीघ्र प्रतिवृत्तीय मन्द स्पष्ट समान राश्यात्मक बिन्दु है। इस बिन्दु में भूकेन्द्र से रेखा लाने से कक्षावृत्त में जहां लगती है वहीं पर वह देखे जाते हैं उन दोनों का अन्तर फल ही है। उसके साधन के उपाय समीचीन ही है क्योंकि प्रथम कल्पित कक्षावृत्त प्रतिवृत्त ही है। वहां बिना वेध के इष्ट स्थान ही

की मेषादिं कल्पना की गयी। वृत्तकेन्द्र से तदुपरिगत उच्च रेखा ही यहां की उच्च रेखा है, मेषादि से मन्द प्रतिवृत्तीय समान मध्यमग्रह देकर मन्दकेन्द्र जानना चाहिये। मध्यम ग्रह की उपलब्धि जहां होती हैं वही मन्द स्पष्ट है इसलिये यहां के फलादियों का आनयन समीचीन ही है उसके संस्कार से मन्द स्पष्ट ग्रह भी समीचीन ही होते हैं। इस प्रदर्शित मार्ग से वास्तव शीघ्र प्रतिवृत्तीय मन्द स्पष्ट ग्रह-उच्च और मेषादि का ज्ञान हुआ। यहां वेध बिना जानने योग्य स्थिति ही में पुनः अभीष्ट बिन्दु से जो कक्षावृत्त होता है वह वास्तव कक्षा वृत्त है। इसमें मेषादि बिन्दु, शीघ्रोच्च और मन्द स्पष्टग्रह पूर्वोक्त विधि से अङ्कित करना। शीघ्र प्रतिवृत्तीय मन्द स्पष्ट बिन्दु से उच्च रेखा की समानान्तर रेखा कक्षा वृत्त में जहां लगती है वहीं मेषादि से मन्द स्पष्टग्रह के तुल्य खण्ड होता है। भूकेन्द्र से प्रतिवृतीय मन्द स्पष्ट-ग्रह गत कर्ण रेखा कक्षा वृत्त में जहां लगती है वहीं पर उसकी उपलब्धि होती है। कोटि रेखा और कर्ण रेखा का अन्तर फल है उसके साधन के लिये जो उपकरण (सामग्री) हैं उनसे उसका साधन सुगम ही है इति ॥२५-२६॥

इदानीं नीचोच्चवृत्तभङ्ग्या शीघ्रफलं साधयति।

कोटिफलं व्यासार्धात् पदयोराद्यन्तयोर्भवत्युपरि।
द्वितृतीययोर्यतोऽधस्तद्युक्तोनं ततः कोटिः ॥ २७ ॥

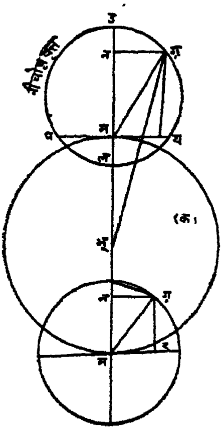
कर्णस्तद् भुजफलकृतिसंयोगपदं तदुद्धृता त्रिज्या।
भुजफल गुणिताप्तधनुर्गणितेनैवं फलं शीघ्रे ॥ २८ ॥

सु. भा.—स्पष्टार्थमार्याद्वयं भास्करोक्तभङ्ग्या ॥२७–२८॥

वि. भा.—यत आद्यन्तयोः (प्रथम चतुर्थयोः) पदयोः-व्यासार्धात् (त्रिज्यातः) कोटिफलमुपरि भवति। द्वितीयतृतीयपदयोश्च कोटिफलं त्रिज्यातोऽधो भवति, तस्मात् कारणात् तेन कोटिफलेन युक्तं हीनं च व्यासार्धं (त्रिज्यामानं) नीचोच्च वृत्तीया स्फुटा कोटिर्भवति। तस्याः (स्फुटकोटेः) भुजफलस्य वर्गयोगमूलं शीघ्र-कर्णो भवति। त्रिज्या भुजफलेन गुणिता तेन शीघ्रकर्णेन भक्ता लब्धस्य चापं शीघ्रे कर्मणि फलं (शीघ्रफलं) भवतीति।

अत्रोपपत्तिः।

उ=उच्चम्। ग्र=पारमार्थिको ग्रहः। भू=भूकेन्द्रम्। म=मध्यमग्रहः। मग्र=शीघ्रान्त्यफलज्या=अंफज्या। भूम=त्रिज्या=त्रि। ग्रन=शीघ्रभुजफलम्। मन=ग्रर=कोटिफलम्=कोफ। म केन्द्राच्छीघ्रान्त्यफलज्या व्यासार्धेन शीघ्र-नीचोच्चवृत्तम्। पय=नीचोच्चवृत्तीय तिर्यग्रेखा।



कक्षावृत्ते मध्यमग्रहस्थानं केन्द्रं प्रकल्प्यान्त्यफलज्यामितेन व्यासार्धेन नीचोच्चवृत्तं विलिख्य भूकेन्द्रान्मध्यग्रहस्थानगता रेखा कार्या साऽत्रोच्चरेखा, नीचोच्चवृत्तस्योच्चरेखया सह यौ योगौ तयोरूपरितन उच्चसंज्ञकः। अधस्तनो नीचसंज्ञकः। उच्चरेखोपरि मध्यग्रहस्थानात्कृता लम्बरेखा नीचोच्चवृत्तीयतिर्यग्रेखा, नीचोच्चवृत्तमुच्चप्रदेशाद् भांशैरङ्कनीयम्। तत्रोच्चाच्छीघ्रकेन्द्रमनुलोमं देयम्। तत्र शीघ्रकेन्द्राग्रे पारमार्थिको ग्रहः। अत्र ग्रहोच्चरेखयोस्तिर्यगन्तरं शीघ्रभुजफलम्। ग्रह तिर्यग्रेखयोररन्तरं कोटिफलम्। भूकेन्द्र ग्रहयोरन्तरं शीघ्रकर्णः। एतदानयनम्। मकरादिकेन्द्रे (प्रथम पदे) भूम त्रिज्यात उपरिमन कोटिफलं दृश्यते अतः भूम + मन = त्रि + कोफ = भून = स्पष्टा कोटिः। भून^2 + ग्रन^2 = भूग्र^2 = स्पष्टाको^{2} + भुजफ^2 = (त्रि + कोफ)^2 + भुजफ^2 = शीघ्रकर्ण^2 मूलेन $\sqrt{}$ (त्रि + कोफ)^2 + भुजफ^2 = शीघ्रफलम्। एवमेव चतुर्थे पदे, अत्रोर्ध्वभागे क्षेत्रे मकरादि केन्द्रं वोध्यम्। अधोभागे च कर्क्यादिकेन्द्रम्। कर्क्यादिकेन्द्रे (द्वितीय पदे तृतीयपदे च) भूम = त्रिज्या, ग्रर = कोटिफलं = मन ग्रन = भुजफलम्। भूग्र = शीघ्रकर्णः। अत्र भूम त्रिज्यातः मन कोटिफलमधो दृश्यतेऽतः भूम — मन = भून = त्रि — कोटिफ = स्पष्टाकोटि, मन^2 + ग्रन^2 = स्पष्टाको^{2} + भुजफ^2 = (त्रि — कोफ)^2 + भुजफ^2 = शीघ्रकर्ण^2 मूल ग्रहणेन $\sqrt{}$(त्रि — कोफ)^2 + भुजफ^2 = शीघ्रक।

अथ शीघ्रफलानयनम्। शीघ्रकर्ण एकोऽवयवः। भुजफलं द्वितीयोऽवयवः। स्पष्टा कोटिस्तृतीयोऽवयवः' इत्यवत्रयैवत्पन्नमेकं जात्यत्रिभुजम्। त्रिज्यैकोऽवयवः। शीघ्रफलज्या द्वितीयोऽवयवः। शीघ्रफल कोटिज्या तृतीयोऽवयवः, इत्यवयवत्रयैरुत्पन्नं द्वितीयं जात्यत्रिभुजम्। एतयोस्त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातो यदि शीघ्रकर्णेन भुजफलं लभ्यते तदा त्रिज्ययाकिमित्यनुपातेन समागच्छति शीघ्रफलज्या तत्स्वरूपम् = $\frac{\text{भुजफ} \times \text{त्रि}}{\text{शीघ्रकर्ण}}$ = शीफज्या, अस्याश्चापम् = शीघ्रफलम्। एतेनाऽऽचार्योक्तमुपपन्नम्। सूर्य सिद्धान्ते "शैघ्र्यं कोटिफलं केन्द्रे मकरादौ घनं स्मृतम्। संशोध्यं तु त्रिजीवायां कर्क्यादौ कोटिजं फलम्॥ तद्बाहुफलवर्गैक्यान्मूलं कर्णश्चलाभिधः। त्रिज्याभ्यस्तं भुजफलं चलकर्णविभाजितम्। लब्धस्य चापं लिप्तादिफलं शैघ्र्यमिदं स्मृतमिति सूर्यसिद्धान्तकारोक्तानुरूपमेवाचार्योक्तमस्ति। सिद्धान्त शेखरे "त्रिज्यकायां पदैस्तत् फलमथ खलु कोटेः कोटिसिद्धयै विधेयम्। कोटिवाहु फलवर्गसमासाद्यत्पदं तदिह कर्णमवेहि। दोः फल त्रिगुणयोरभिघातात् कर्णलब्ध-

धनुराशुफलं स्यात् ॥" श्रीपत्युक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेवेति। सिद्धान्तशिरोमणौ 'त्रिज्योर्ध्वतः कोटिफलं मृगादौ कर्क्यादिकेन्द्रे तदधो यतः स्यात्। अतस्तदैक्यान्तरमत्र कोटिरि'त्यादि भास्करोक्तमप्याचार्योक्तानुरूपमेवेति ॥ २७–२८ ॥

अब नीचोच्चवृत्तभङ्गी से शीघ्रफलानयन करते हैं।

हि. भा.—प्रथम पद और चतुर्थपद (मकरादि केन्द्र) में त्रिज्या से कोटिफल ऊपर होता है। द्वितीयपद और तृतीयपद (कर्क्यादिकेन्द्र) में कोटिफल त्रिज्या से नीचा होता है इसलिये मकरादि केन्द्र में त्रिज्या में कोटिफल को जोड़ने से और कर्क्यादि केन्द्र में त्रिज्या में कोटिफल को घटाने से नीचोच्चवृत्तीय स्पष्टा कोटि होती हैं, स्पष्टकोटि और भुजफल के वर्गयोग का मूल शीघ्र कर्ण होता है। त्रिज्या को भुजफल से गुणाकर शीघ्रकर्ण से भाग देने से जो लब्ध हो उसका चाप शीघ्रफल होता है इति।

उपपत्ति।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (क) क्षेत्र को देखिये। उ = उच्च। ग्र = पारमार्थिकग्रह। भू = भूकेन्द्र, म = मध्यमग्रह। मग्र = शीघ्रान्त्यफलज्या = अंफज्या। भूम = त्रिज्या = त्रि। ग्रन = शीघ्रभुजफल। मन = ग्रर = कोटिफल = कोफ। म केन्द्र से शीघ्रान्त्यफलज्या व्यासार्ध से जो वृत्त होता है वह शीघ्रनीचोच्चवृत्त है। पय = नीचोच्चवृत्तीय तिर्यग्रेखा. उल = उच्चरेखा। कक्षावृत्तीय मध्यम ग्रहस्थान को केन्द्र मान कर अन्त्यफलज्या व्यासार्ध से नीचोच्चवृत्त लिखकर भूकेन्द्र से मध्यमग्रह स्थान गत रेखा करनी चाहिये, वही यहां उच्च रेखा है। उच्च रेखा और नीचोच्चवृत्त का ऊपर भाग में योग उच्च संज्ञक है। अधोभाग में योग नीच संज्ञक है। उच्च रेखा के ऊपर मध्यमग्रह स्थान से लम्ब रेखा नीचोच्चवृतीय तिर्यग्रेखा है। नीचोच्चवृत्त में उच्च प्रदेश से भांश ३६० अङ्कित करना, उस (नीचोच्चवृत्त) में उच्च से शीघ्र केन्द्र को अनुलोम दान देना, वहां शीघ्र केन्द्राग्र में पारमार्थिक ग्रह होता है। यहाँ ग्रह और उच्चरेखा का तिर्यक् अन्तर शीघ्र भुजफल है। ग्रह और तिर्यक् रेखा का अन्तर कोटिफल है। भूकेन्द्र और ग्रह का अन्तर शीघ्रकर्ण है। इसका आनयन करते हैं। मकरादि केन्द्र में (प्रथम पद में और चतुर्थपद में) भूम त्रिज्या से ऊपर मन कोटिफल को देखते हैं अतः भूम + मन = भून = त्रि + कोफ = स्पष्टाकोटि, भून^2 + ग्रन^2 = भूग्र^2 = स्पष्टाको^{2} + भुजक^2 = (त्रि + कोफ)^2 + भुजफ^2 = शीघ्रकर्ण^2 मूल लेने से $\sqrt{(\text{त्रि}+\text{कोफ})^2+\text{भुजफ}^2}$ = शीघ्रक। इसी तरह चतुर्थपद में भी होता है। क्षेत्र के ऊर्ध्व भाग में मकरादि केन्द्र समझना चाहिये। अधोभाग में कर्क्यादिकेन्द्र समझना चाहिये। द्वितीय पद में भूम = त्रिज्या, ग्रर = कोटिफल = मन। ग्रन = भुजफल, भूग्र = शीघ्रकर्ण, यहां भूम त्रिज्या से मन कोटि फल को नीचा देखते हैं अतः भूम − मन = भून = त्रि − कोफ = स्पष्टाको। भून^2 + ग्रन^2 = स्पको^{2} + भुजफ^2 = (त्रि − कोफ)^2 + भुजफ^2 = शीघ्रक^2 मूल लेने से $\sqrt{(\text{त्रि}-\text{कोफ})^2+\text{भुजफ}^2}$ = शीघ्रक, अवशीघ्रफलानयन करते हैं। शीघ्र कर्ण एक

भुज, भुजफल द्वितीयभुज, स्पष्टा कोटि तृतीयभुज, इन तीनों भुजों से उत्पन्न एक जात्य त्रिभुज है। तथा त्रिज्या एक भुज, शीघ्र फलज्या द्वितीयभुज, शीघ्रफल कोटिज्या तृतीय भुज इन तीनों भुजों से उत्पन्न द्वितीय जात्य त्रिभुज है। इन दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं यदि शीघ्र कर्ण में शीघ्र भुजफल पाते हैं तो त्रिज्या में क्या इस अनुपात से शीघ्र फलज्या आती है उसका स्वरूप $= \frac{\text{शीभुफ} \times \text{त्रि}}{\text{शीकर्ण}} =$ शीफज्या, इसका चाप $=$ शीफल, इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ। सूर्यसिद्धान्त में "शैघ्र्यं कोटिफलं केन्द्रमकरादौ धनं स्मृतम्। संशोध्यं तु त्रिजीवायां' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित सूर्यसिद्धान्तकारोक्त श्लोकों के अनुरूप ही आचार्योक्त है। सिद्धान्तशेखर में 'त्रिज्यकायां पदैस्तन्। फल मथ खलु कोटेः कोटिसिद्धच्यै विधेयम्' इत्यादि श्रीपत्युक्त आचार्योक्त के अनुरूप ही है। सिद्धान्तशिरोमणि में 'त्रिज्योर्ध्वतः कोटिफलं मृगादौ कर्क्यादि केन्द्रे तदधो यतः स्यात्' इत्यादि भास्करोक्त भी आचार्योक्त के अनुरूप ही है इति ॥२७–२८॥

इदानीं मन्दकर्मणि कर्णः किमु न क्रियते इत्यत्र कारणमाह।

त्रिज्याभक्तः परिधिः कर्णगुणो बाहुकोटिगुणकारः।
असकृन्मान्दे तत्फलमाद्यसमं नात्रकर्णोऽस्मात् ॥ २६ ॥

सु. भा.—'स्वल्पान्तरत्वान्मृदुकर्मणीह'—इत्यादि भास्करोक्तेन स्पष्टेयमार्या ॥ २९ ॥

वि. भा.—मन्दफलसाधने मन्दपरिधिर्मन्दकर्णेन गुणितः त्रिज्याभक्तः सन् भुजकोटचोर्गुणकोऽसकृत् वारं वारं क्रियया स्यात्। ततश्च परिधेः मान्दं फलमाद्यसममेव कर्णानुपातं विनैवानीते न मन्दफलेन सममेवेति तस्मान्मन्दफलानयनक्रियायां कर्णो न कृतोऽर्थात् कर्णाग्रे यदि मन्दफलं तदा त्रिज्याग्रे किमिति त्रैराशिकार्थं कर्णानयनं न कृतमित्यर्थः। सिद्धान्तशेखरे "त्रिज्याहृतः श्रुतिगुणः परिधिर्यतो दोः कोटचोर्गुणो मृदुफलानयनेऽसकृत् स्यात्। स्यान्मान्दमाद्यसममेव फलं ततश्च कर्णः कृतो न मृदुकर्मणि तन्त्रकारैः ॥" इह मन्दफल साधनेऽपि कर्णानुपातेन यत्फलं तदेव समीचीनमिति कर्णः कथं न कृत इत्यस्योपपत्तिरूपोऽयं श्रीपतेः श्लोक आचार्योक्त श्लोकस्यानुवादरूप एव। भास्कराचार्येणापि "स्वल्पान्तरत्वान्मृदुकर्मणीह कर्णः कृतो नेति वदन्ति केचित्। त्रिज्योद्धृतः कर्णगुणः कृतेऽपि कर्णे स्फुटः स्यात् परिधिर्यतोऽत्र ॥ तेनाद्यतुल्यं फलमेति तस्मात् कर्णः कृतो नेति च केचिदूचुः। नाशङ्कनीयं न चले किमित्थं यतो विचित्रा फलवासनाऽत्र ॥" इह कर्णेन यत्फलमानीयते तदेव समीचीनम्। यन्मन्दकर्मणि कर्णेन कृतस्तत्स्वल्पान्तरात्। मन्दफलानि हि स्वल्पानि तदन्तरं चातिस्वल्पमिति केषांचित् पक्षः।

आचार्योऽत्र कारणमाह । मन्दकर्मणि मन्दकर्णतुल्येन व्यासार्धेन यद्वृत्तमुत्पद्यते तत्कक्षावृत्तम् । तेन ग्रहो गच्छति । यो मन्दपरिधिः पाठपठितः स त्रिज्यापरिणतः । अतोऽसौ कर्णव्यासार्धे परिणाम्यते । यदि त्रिज्यावृत्तेऽयं परिधिस्तदा कर्णवृत्ते क इति स्फुटपरिधिः । तेन भुजज्या गुण्या भांशैः ३६० भाज्या, ततस्त्रिज्यया गुण्या कर्णेन भाज्या तदा जातं स्वरूपम् $= \frac{\text{परिधि. कर्ण} \times \text{भुज्या} \times \text{त्रि}}{\text{त्रि} \times ३६० \times \text{कर्ण}}$

$= \frac{\text{परिधि} \times \text{भुज्या}}{३६०}$ पूर्वफलतुल्यमेव फलमागच्छतीत्याचार्यमतम् ।

अथ यद्येवं परिधेः कर्णेन स्फुटत्वं तर्हि शीघ्रकर्मणि किं न कृतमत्र चतुर्वेदाचार्य आह । चले कर्मणीत्थं किं न कृतमिति नाशङ्कनीयम् । यतः फलवासना विचित्रा । शुक्रस्यान्यथा परिधेः स्फुटत्वं कुजस्यान्यथा तथा किं न बुधादीनामिति नाशङ्कनीयमत आचार्योक्तिरत्र सुन्दरी ॥ २९ ॥

अब मन्द कर्म में कर्णानुपात क्यों नहीं किया जाता है इसके कारण कहते हैं ।

हि. भा.—मन्द फल साधन में मन्द परिधि को कर्ण से गुणाकर त्रिज्या से भाग देने से भुज और कोटि का गुणक बार-बार क्रिया से होता है । उस परिधि से मान्दफल आद्य सम ही होता है अर्थात् बिना कर्णानुपात के समागत मन्दफल के बराबर ही होता है । इसलिये मन्दफलानयन में कर्णानुपात नहीं किया गया अर्थात् यदि कर्णाग्र में मन्दफल पाते हैं तो त्रिज्याग्र में क्या इस त्रैराशिक के लिये कर्णानुपात नहीं किया जाता है । सिद्धान्तशेखर में 'त्रिज्याहृतः श्रुतिगुणः परिधिः' इत्यादि विज्ञानभाष्य में लिखित श्लोक से मन्दफल साधन में भी कर्णानुपात से जो फल आता है वही समीचीन है । इसलिये कर्णानुपात क्यों नहीं किया गया इसके उपपत्तिरूप श्रीपत्युक्तश्लोक आचार्योक्त श्लोक के अनुवादरूप ही है । भास्कराचार्य भी 'स्वल्पान्तरत्वान्मृदुकर्मणीह' इत्यादि विज्ञानभाष्य में लिखित श्लोकों से यहां कर्ण से जो फल लाते हैं वही समीचीन हैं, मन्दकर्म में कर्णानुपात स्वल्पान्तर से नहीं किया गया, मन्दफल स्वल्प है उसका अन्तर अतिशयेन स्वल्प है यह किसी-किसी का पक्ष है । यहां आचार्य कारण कहते हैं । मन्दकर्म में मन्दकर्ण तुल्य व्यासार्ध से जो वृत्त होता है वह कक्षावृत्त है । उसमें ग्रह भ्रमण करते हैं । पाठपठित मन्द परिधि त्रिज्याग्र में परिणत है । उसको कर्ण व्यासार्ध में परिणत करते हैं, यदि त्रिज्यावृत्त में यह पाठ-पठित मन्दपरिधि पाते हैं तो कर्णवृत्त में क्या इससे स्फुट परिधि प्रमाण आता है, इसको भुजज्या से गुणाकर ३६० भांश से भाग देकर जो फल होता है उसको त्रिज्या से गुणाकर कर्ण से भाग देना चाहिये तब उसका स्वरूप $= \frac{\text{परिधि. कर्ण. भुज्या. त्रि}}{\text{त्रि. ३६०. कर्ण}} = \frac{\text{परिधि. भुज्या.}}{३६०}$

पूर्वफल तुल्य ही फल आता है यह आचार्य का मत है यदि इस तरह कर्ण से परिधि का स्फुटत्व होता है तब शीघ्रकर्म में क्यों नहीं किया गया इसके लिये चतुर्वेदाचार्य कहते हैं ।

शीघ्रकर्म में इस तरह क्यों नहीं किया गया यह आशङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि फलोपपत्ति विचित्र है, यहां ब्रह्मगुप्तोक्त ही बहुत सुन्दर है इति ॥ २६ ॥

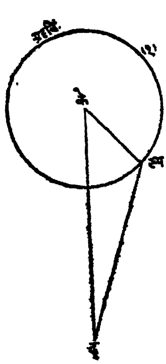
इदानीं विशेषमाह ।

प्रतिपादनार्थमुच्चं प्रकल्पितं ग्रहगतेस्तथा पातः ।
भुक्तेरूनाधिकता मानस्य च भवति कर्णवशात् ॥ ३० ॥

सु. भा.—ग्रहगतेः प्रतिपादनार्थमुच्चं प्रकल्पितं तथा पातश्च प्रकल्पितः क्रान्तिवृत्तीयगत्यर्थमुच्चं विमण्डलीयगत्यर्थं पातः प्रकल्पित इति । कर्णस्य न्यूनाधिकवशात् भुक्तेर्बिम्बमानस्य च न्यूनाधिकता भवतीति । एवं मन्दस्पष्टग्रहे स्थितिर्भवति । भौमादीनां शीघ्रकर्णवशतश्च बिम्बमाने न्यूनाधिकता भवति परन्तु स्पष्टगतौ कर्णवशेन न न्यूनाधिकतोत्पद्यत इति छेद्यकेन सर्वं स्फुटम् । 'यः स्यात् प्रदेशः प्रतिमण्डलस्य' इत्यादि तथा 'उच्चस्थितो व्योमचरः सुदूरे' इत्यादि च भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ॥३०॥

वि. भा.—ग्रहगतेः प्रतिपादनार्थमुच्चं प्रकल्पितं तथा पातश्च प्रकल्पितः । उच्चं क्रान्तिवृत्तीयगत्यर्थं विमण्डलीयगत्यर्थं च पातः प्रकल्पित इत्यर्थः । कर्णस्य न्यूनाधिक्यवशाद् भुक्तेर्बिम्बमानस्य च न्यूनाधिकता भवति । मन्दस्पष्टग्रहे एवं स्थितिर्भवति । मङ्गलादीनां ग्रहाणां शीघ्रकर्णवशाद्बिम्बमाने न्यूनाधिकत्वं भवति । परं स्फुटगतौ कर्णवशेन न्यूनाधिकता नोत्पद्यते । कर्णवशेन बिम्बमाने न्यूनाधिकत्वं कथं भवति तदर्थं भास्करेण 'उच्चस्थितो व्योमचर; सुदूरे नीचस्थित इत्यादिना युक्तियुक्तं कथितम् । यथा

(ख)



दृ=दृष्टिस्थानम् = भूकेन्द्रम् । दृके=ग्रहकर्णः । केस्प = बिम्ब व्यासार्धम् । दृकेस्प त्रिभुजेऽनुपातः क्रियते । यदि ग्रहकर्णेन त्रिज्या लभ्यते तदा बिम्ब व्यासार्धेन किं जाता बिम्बार्धकलाज्या तत्स्वरूपम् $= \frac{\text{त्रि. बिव्या } \frac{1}{2}}{\text{ग्रहक}}$, उच्चस्थानीय कर्णः >अन्यस्थानीय क अत उच्चस्थाने हरस्याधिकत्वाद्बिम्बमानमन्यस्थानीय-बिम्बमानादल्पं भवेत् । नीचस्थानीयकर्णः <अन्यस्थानीय कर्ण, अतो नीचस्थाने हरस्याल्पत्वादन्यस्थानीय बिम्बमानादधिकं बिम्बमानं भवितुमर्हतीति ॥ ३० ॥

अब विशेष कहते हैं।

हि. भा.—ग्रहगति ज्ञान के लिये उच्च की कल्पना की गई है तथा पात की कल्पना की गयी है। अर्थात् क्रान्ति वृत्तीय गति के लिये उच्च कल्पित है, और विमण्डलीय गति के लिये पात कल्पित है। कर्ण की न्यूनाधिकतावश से ग्रहगति और बिम्बमान में न्यूनाधिकता होती है, इस तरह की स्थिति मन्दस्पष्ट ग्रह में होती है। कुजादिग्रहों के शीघ्रकर्णवश से बिम्बमान में न्यूनाधिकता होती है। लेकिन स्पष्टगति में कर्णवश से न्यूनाधिकता नहीं होती है। कर्णवश से बिम्वमान में न्यूनाधिकत्व क्यों होता है, नीचे लिखी हुई युक्ति से स्पष्ट है।

संस्कृत भाष्य में लिखित (१) क्षेत्र को देखिये। दृ=दृष्टिस्थान=स्वल्पान्तर से भूकेन्द्र। के=बिम्बकेन्द्र। दृके=ग्रहकर्ण केस्प=बिम्ब व्यासार्ध। दृकेस्प त्रिभुज में अनुपात करते हैं। यदि ग्रहकर्ण में त्रिज्या पाते हैं तो बिम्ब व्यासार्ध में क्या इस अनुपात से बिम्बार्ध कलाज्या आती है। इसका स्वरूप $= \frac{\text{त्रि. विंव्या } \frac{१}{२}}{\text{ग्रह कर्ण}} = \text{ज्या } \frac{१}{२} \text{ विंक}$। उच्चस्थानीय ग्रहकर्ण > अन्यस्थानीयग्रहकर्ण, इसलिये उच्चस्थान में हर की अधिकता से बिम्बमान अन्य स्थानीय बिम्बमान से अल्प होता है। तथा नीचस्थानीय कर्ण > अन्यस्थानीय कर्ण, अतः नीचस्थान में हर की अल्पता से बिम्बमान अन्यस्थानीय बिम्बमान से अधिक होता है इति ॥ ३० ॥

इदानीं स्फुटयोजनात्मककर्णानयनमाह।

कक्षा व्यासार्धगुणा मण्डललिप्ता विभाजिता कर्णः।
स्वकलाकर्णेन गुणः कर्णस्त्रिज्याहृतः स्पष्टः ॥३१॥

सु. भा.—ग्रहकक्षा व्यासार्धेन त्रिज्यया गुणा मण्डललिप्ताभिश्चक्रकलाभिर्विभाजिता फलं मध्यमयोजनकर्णः स्यात्। स कर्णः स्वकलाकर्णेन स्फुटशीघ्रकर्णेन गुणस्त्रिज्याहृतः स्पष्टो योजनकर्णः स्यात्।

अत्रोपपत्तिः।

पूर्वार्धस्य परिधितो व्यासार्धानयनेन स्फुटा। त्रिज्यातुल्येन कलाकर्णेन मध्यो योजनकर्णस्तदा स्वेष्टकलाकर्णेन किमित्यनुपातेन स्फुटो योजनकर्णो भवति। 'लिप्ताश्रुतिघ्नस्त्रिगुणेन भक्तः'—इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ॥३१॥

वि. भा.—ग्रहकक्षा त्रिज्यया गुणा मण्डलकलाभिः (चक्रकलाभिः) भक्ता तदा मध्यमयोजनकर्णो भवेत् स कर्णः स्फुटशीघ्रकर्णनगुणः, त्रिज्यया भक्तस्तदा स्फुटो योजनकर्णः स्यादिति।

अत्रोपपत्तिः ।

यदि चक्रकलाभिर्ग्रहकक्षा योजनानि लभ्यन्ते तदा त्रिज्यया किं समागच्छति मध्यमयोजनकर्णः । पुनरनुपातो यदि त्रिज्ययाऽयं मध्यमयोजनकर्णो लभ्यते तदा स्फुटशीघ्रकर्णेन किं समागच्छति स्फुटो योजनकर्णः । एतावताऽऽचार्योक्तमुपपन्नम् । सिद्धान्तशिरोमणौ 'लिप्ताश्रुतिघ्नस्त्रिगुणेन भक्तः स्पष्टो भवेद्योजनकर्ण एवमिति' भास्करोक्तमाचार्योक्तानुरूपमेवास्तीति ॥३१॥

अब स्पष्ट योजनात्मक कर्णानयन को कहते हैं ।

हि. भा.—ग्रहकक्षा को त्रिज्या से गुणा कर चक्रकला से भाग देने से मध्यमयोजन कर्ण होता है । मध्यमयोजन कर्ण को स्फुट शीघ्र कर्ण से गुणाकर त्रिज्या से भाग देने से स्फुट योजन कर्ण होता है ।

उपपत्ति । -

यदि चक्र कला में ग्रह कक्षा योजन पाते हैं तो त्रिज्या में क्या इस अनुपात से मध्यमयोजन कर्णप्रमाण आता है । पुनः अनुपात करते है यदि त्रिज्या में यह मध्यम योजन कर्ण पाते हैं तो स्फुट शीघ्र कर्ण में क्या इससे स्फुट योजन कर्ण आता है । इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ । सिद्धान्तशिरोमणि में 'लिप्ताश्रुतिघ्नस्त्रिगुणेन भक्तः' इत्यादि भास्करोक्त आचार्योक्त के अनुरूप ही है इति ॥३१॥

इदानीं भूरविचन्द्राणां योजनव्यासानाह ।

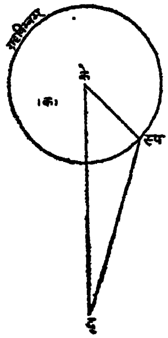
मृद्दहनजलमयानां विष्कम्भो योजनैः क्विनेन्दूनाम् ।
शशिवसुतिथिभि १५८१ र्यमपक्षशररसै ६५२२ शून्यवसुवेदैः ॥३२॥

सु. भा.—क्विनेन्दूनां भूरविचन्द्राणां किंविशिष्टानां मृद्दहनजलमयानां क्रमेण शशिवसुतिथिभिर्यमपक्षशररसैः शून्यवसुवेदैर्योजनैर्विष्कम्भो ज्ञेयः । भूगोलस्य मृण्मयस्य व्यासः=१५८१ । सूर्यगोलस्याग्निमयस्य व्यासः=६५२२ । जलमयस्य चन्द्रस्य व्यासः=४८० । योजनात्मको ज्ञेय इत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः । भास्करविधिना 'पुरान्तरं चेदिदमुत्तरं स्यात्'—इत्यादिना तथा 'बिम्बं रवेर्द्विद्विशरर्तुसंख्यानि' इत्यादिना तत्तद्वासनया च स्फुटा ॥३२॥

वि. भा.—मृण्मयस्य भूगोलस्य व्यासः=१५८१, अग्निमयस्य सूर्यगोलस्य व्यासः=६५२२, जलमयस्य चन्द्रस्य व्यासः=४८०, योजनात्मको भवतीति ।

अत्रोपपत्तिः ।



के=ग्रहबिम्बकेन्द्रम् । दृ=दृष्टिस्थानम् । दृके=दृष्टिसूत्रम् । दृष्टिस्थानाद्ग्रहबिम्बस्पर्शरेखा=दृस्प, केस्प=ग्रहबिम्बव्यासार्धम् । ग्रहबिम्बव्यासार्धसंमुखः कोणो दृष्टिस्थानगतः=स्फुटबिम्बार्धकला । $<$ दृस्पके=९०, तदा दृकेस्प त्रिभुजे ऽनुपातेन $\frac{\text{त्रि. केस्प}}{\text{दृके}}$ $=$ ज्या $<$ स्पदृके $=$ ज्या $\frac{\text{स्फुविं}}{२} = \frac{\text{त्रि. }\frac{१}{२}\text{ योव्या}'}{\text{क}}$

$=$ स्फुविं $\frac{१}{२}$ स्वल्पान्तराज्ज्याचापयोरभेदात् । अतः $\frac{\text{त्रि. योव्या}}{\text{मक}} =$ मविं, $\frac{\text{त्रि योव्या}'}{\text{क}}$ $=$ स्फुविं, मक=मध्यमकर्णः ततः $\frac{\text{स्फुविं}}{\text{मविं}} = \frac{\text{त्रि. योव्या}'\text{ मक}}{\text{त्रि. योव्या क.}}$, यदि स्वल्पान्तरात् योव्या′ = योव्या तदा $\frac{\text{स्फुविं}}{\text{मविं}} = \frac{\text{मक}}{\text{क}}$, उच्चस्थाने ग्रहबिम्बं लघु, गतिश्च लघ्वी, नीचस्थाने बिम्बं महत्, गतिश्च महती, अतो बिम्बयोर्निष्पत्तिर्गत्योर्निष्पत्तिसमा, अतः $\frac{\text{मक}}{\text{क}} = \frac{\text{स्फुविं}}{\text{मविं}} = \frac{\text{स्फुग}}{\text{मग}}$ अतः $\frac{\text{मक मग}}{\text{स्फुग}}$ $=$ क स्फुट बिम्बेऽस्योत्थापनेन स्फुविं $= \frac{\text{त्रि. योव्या}'}{\text{क}} = \frac{\text{त्रि.स्फुग}}{\text{मक}} \times \frac{\text{योव्या}}{\text{मग}}$ स्वल्पान्तरात् । अत्र यदि स्वल्पान्तरात् मध्यमकर्णः स्फुटकर्णसमस्तदा $\frac{\text{त्रि स्फुग. योव्या.}}{\text{क. मग}} =$ स्फुविं, अतः $\frac{\text{क. स्फुविं}}{\text{त्रि}} = \text{योव्या}' = \frac{\text{स्फुग. योव्या}}{\text{मग}}$ मध्यगतिस्थाने दृके, दृस्प यष्टिभ्यां वेधेन यत् केस्प मानं तदेव द्विगुणं तदा योव्या मानं भवेत् । तथा स्फुट गति स्थाने यत् केस्प मानं तदेव द्विगुणं तदा योव्या′ मानं बोध्यम्, अनया रीत्या रवि चन्द्रयोर्योजनव्यासानयनं कार्यम् । भूव्यासानयनं वेधेन भवति तदर्थं वटेश्वर सिद्धान्ते मट्टीका द्रष्टव्येति ॥३२॥

अब भू (पृथ्वी) रवि और चन्द्र के योजन व्यास को कहते हैं ।

हि. भा.—मृण्मय भूगोल का योजनात्मक व्यास=१५८१, अग्निमय सूर्य गोल का योजनात्मक व्यास=६५२२ है जलमय चन्द्रगोल का योजनात्मक व्यास=४८०, है इति ।

उपपत्ति ।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (क) क्षेत्र को देखिये । के = ग्रहबिम्बकेन्द्र । दृ= दृष्टिस्थान । दृके=दृष्टि सूत्र । दृष्टि स्थान से ग्रहबिम्ब की स्पर्शरेखा=दृस्प, केस्प =ग्रहबिम्ब व्यासार्ध, ग्रहबिम्ब व्यासार्ध संमुख दृष्टि स्थानगत कोण=स्फुट बिम्बार्धकला, $<$दृस्पके=९०, तब दृकेस्प त्रिभुज में अनुपात से $\frac{\text{त्रि.केस्प}}{\text{दृके}}$=ज्या$<$स्पदृके=ज्या$\frac{\text{स्फुबिं}}{२}$

$=\frac{\text{त्रि}\ \frac{१}{२}\ \text{यो}\acute{\text{व्या}}}{\text{क}}$=स्फुबिं $\frac{१}{२}$ स्वल्पान्तर से ज्या और चाप के अभेदत्व से अतः $\frac{\text{त्रि.योव्या}}{\text{मक}}$

=मबिं । $\frac{\text{त्रि.यो}\acute{\text{व्या}}}{\text{क}}$ =स्फुबिं । मक=मध्यम कर्ण, स्फुट बिम्ब में मध्यम बिम्ब से भाग

देने से $\frac{\text{स्फुबिं}}{\text{मबिं}}=\frac{\text{त्रि. यो}\acute{\text{व्या}}\text{. मक}}{\text{त्रि. योव्या. क}}$ यदि स्वल्पान्तर से यो$\acute{\text{व्या}}$=योव्या तब $\frac{\text{स्फुबिं}}{\text{मबिं}}=\frac{\text{मक}}{\text{क}}$ उच्चस्थान में ग्रहबिम्ब छोटा होता है, ग्रह गति भी छोटी होती है । नीच स्थान में ग्रह बिम्ब बड़ा होता है, गति भी बड़ी होती है अतः बिम्बों की निष्पत्ति गति की निष्पत्ति के बराबर होती है, अतः $\frac{\text{मक}}{\text{क}}=\frac{\text{स्फुबिं}}{\text{मबिं}}=\frac{\text{स्फुग}}{\text{मग}}$, अतः $\frac{\text{मक.मग}}{\text{स्फुग}}$=क स्फुट बिम्ब में इसके उत्थापन

से स्फुबिं=$\frac{\text{त्रि. यो}\acute{\text{व्या}}}{\text{क}}=\frac{\text{त्रि. स्फुग}}{\text{मक}}\times\frac{\text{योव्या}}{\text{मग}}$ स्वल्पान्तर से । यहां स्वल्पान्तर से

यदि मध्यमकर्ण =स्फुट कर्ण तब $\frac{\text{त्रि. स्फुग. योव्या}}{\text{क. मग}}$= स्फुबिं, अतः $\frac{\text{क.स्फुबिं}}{\text{त्रि}}$ =यो$\acute{\text{व्या}}$

$=\frac{\text{स्फुग.योव्या}}{\text{मग}}$ मध्यम गति स्थान में दृके, दृस्प यष्टिद्वय से वेध से जो केस्प मान होता है उसको द्विगुणित करने से योव्या मान होता है । तथा स्फुट गति स्थान में जो केस्प मान होता है उसको द्विगुणित करने से यो$\acute{\text{व्या}}$ मान जानना चाहिये । इस रीति से रवि और चन्द्र का व्यासानयन करना चाहिये, भूव्यासानयन वेध से होता है उसके लिये वटेश्वर सिद्धान्त में मेरी टीका देखनी चाहिये इति ।।३२।।

इदानीं भूभाबिम्बानयनमाह ।

क्वर्कव्यासान्तरगुणमिन्दुस्फुटकर्णमर्ककर्णहृतम् ।
प्रोह्य भुवो भूच्छाया विष्कम्भश्चन्द्रकक्षायाम् ।।३३।।

सु० भा०—इन्दुस्फुटकर्णं क्वर्कव्यासान्तरगुणमर्ककर्णहृतं फलं भुवो

भूव्यासात् प्रोह्य चन्द्रकक्षायां भूच्छायाविष्कम्भो भवति । 'भूव्यासहीनं रविबिम्ब मिन्दुकर्णाहृतम्' इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ।

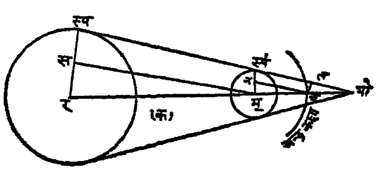
अत्रोपपत्तिः ।

भास्करोक्तेन विधिना स्फुटा । अनेन प्रकारेण चन्द्रकक्षायां भूभाव्यासो नायातीत्यस्य मीमांसा कमलाकरेण तत्त्वविवेकचन्द्रग्रहणाधिकारे समीचीना कृता । लाघवेन सूक्ष्मभूभाकला बिम्बानयनं मदुक्तं यथा

रवितनुदलजीवा लम्बनोर्व्या विहीना,
क्षितिजजनितया तत्कार्मुकं कार्यमार्यैः ।
द्विजपतिजपराख्यं लम्बनं तद्विहीनं ॥
भवति वसुमतीभाबिम्बखण्डं सुसूक्ष्मम् ।
अत्रोपपत्तिर्भूभाक्षेत्रेण त्रिकोणमित्या च सुगमा ॥

यदि रविभूबिम्बयोर्विरुद्धपालिभवा स्पर्शरेखा क्रियते तदा भूभाभोत्पद्यते यद्वशाच्चन्द्रबिम्बे मालिन्यमुपलभ्यते । भूभाभासाधनार्थमुपरिभूभानयनसूत्रे प्रथमपादे 'विहीना' स्थाने 'च युक्ता' तृतीयपादे 'तद्विहीन' मित्यत्र 'तद्युतं सत्' इति ज्ञेयम् । ग्रहणान्यविशेषार्थं मदीयं ग्रहणकरणं निरीक्षणीयमित्यर्थः ॥३३॥

वि. भा.—इन्दुस्फुटकर्णं (चन्द्रस्फुटकर्णं) क्ष्वर्कव्यासान्तरेण (भूव्यासहीनरविव्यासेन) गुणं रविकर्णभक्तं लब्धं भूव्यासाद्विशोध्य चन्द्रकक्षायां भूभाव्यासो भवतीति ।

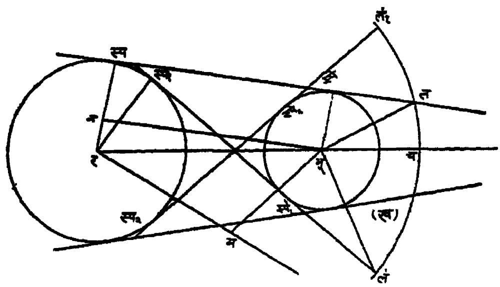


अत्रोपपत्तिः ।

रविबिम्बभूबिम्बयोः क्रमस्पर्शरेखा यत्र चन्द्रकक्षायां लगन्ति तद्विन्दुजनितमार्गो वृत्ताकारो भवति तदेव भूभावृत्तम् । सर्वाः स्पर्शरेखा वर्धितरविकर्णेन साकमेवस्मिन्नेव बिन्दौ मिलन्ति, स च योगबिन्दुः = यो, र = बिम्ब के, भू = भूकेन्द्रम् । रस्प = रविव्यासार्धम् । भूस्प′ = भूव्यासार्धम् । भूबिन्दुतः स्पर्शरेखायाः समानान्तरा भूस रेखा कार्या च = चन्द्र केन्द्रम् । च बिन्दुतः स्पर्शरेखायाः समानान्तरा च न रेखा कार्या । सस्प = भूस्प′ = भूव्यासार्धम् = भूव्या $\frac{1}{2}$ रस्प — सस्प = रव्या $\frac{1}{2}$ — भूव्या $\frac{1}{2}$, भूर = रविकर्णः । भूच = चन्द्रकर्णः । च बिन्दुतः स्पर्शरेखोपरिलम्बो भूभाव्यासार्धसमः = नस्प′, भूरस, भूचन त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातेन $\frac{\text{रस} \times \text{भूच}}{\text{रभू}}$ = भून = $\frac{(\text{रव्या}\frac{1}{2} - \text{भूव्या}\frac{1}{2})\ \text{चन्द्रकर्ण}}{\text{रविकर्ण}}$ अतः भूस्प′—

भून=नस्प'=भूव्या$\frac{1}{2}$— $\frac{\text{(रव्या } \frac{1}{2}\text{—भूव्या} \frac{1}{2}\text{) चंकर्ण}}{\text{रकर्ण}}$ =भूभाव्या$\frac{1}{2}$=चल द्विगुणी करणेन भूव्या— $\frac{\text{चंकर्ण (रव्या—भूव्या)}}{\text{रकर्ण}}$ =भूभाव्यासः, एतेनाऽऽचार्योक्तमुपपन्नम् ।

अयं भूभाव्यासश्चन्द्रकक्षायां नायातीति क्षेत्रदर्शनेनैव स्फुटम् । अनेनैवे "भूव्यासहीनं रविबिम्बमिन्दुकर्णाहतं भास्कररकर्णभक्तम् । भूविस्तृतिर्लब्धफलेन हीना भवेत्कुभाविस्तृति रिन्दुमार्गे ।" ति भास्करोक्तमप्युपपद्यते । सिद्धान्तशेखरे "इन्दुश्रुतिः स्फुटमहर्यतिभूतधात्रि व्यासान्तरेण गुणिता रविकर्णभक्ता । भूविस्तृतेः फलमपोह्य वदन्ति शेषं छायां भुवः शशधरभ्रमणप्रदेशे ।" श्रीपत्युक्तमपीदमाचार्योक्तानुरूपमेवेति ।



र=रविबिम्बकेन्द्रम् । भू=भूकेन्द्रम् । भूर=रविकर्णः ।

रस्प=रविव्यासार्धम्=रव्या$\frac{1}{2}$ । भूस्प'=भूव्यासार्धम्=भूव्या$\frac{1}{2}$, भूबिन्दुः स्पर्शरेखायाः समानान्तरा रेखा=भून, भूल=चन्द्रकर्णः । रन=रव्या$\frac{1}{2}$—भूव्या$\frac{1}{2}$

<रनभू=९०, भूरन त्रिभुजेऽनुपातः क्रियते $\frac{\text{त्रि (रव्या}\frac{1}{2}\text{—भूव्या}\frac{1}{2}\text{)}}{\text{रक}}$ =ज्या<

रभून= $\frac{\text{त्रि. रव्या}\frac{1}{2}}{\text{रक}}$ — $\frac{\text{त्रि. भूव्या}\frac{1}{2}}{\text{रक}}$ =ज्या$\frac{1}{2}$ रविं ज्यारपलं, अस्याश्चापं

(चा) नवतेर्विशोध्यं तदा<नरभू=९०—चा=<च भूस्प', भूलस्प' त्रिभुजेऽनुपातः $\frac{\text{त्रि. भूव्या}\frac{1}{2}}{\text{चक}}$ =ज्या<भूलस्प'=ज्याचंपलं, अस्याश्चाम्=चंपलं नवतेर्विशोध्यं तदा

<लभूस्प'=९०–चंपलं, ततः <चभूस्प'—<लभूस्प'=९०—चा—(९०—चंपलं) =९०—चा—९०+चंपलं=चंपलं—चा=<चभूल=भूभाबिम्बार्धम् । अनेन "रवितनुदलजीवा लम्बस्य ज्ययोना क्षितिजजनितया तत्कार्मुकं कार्यमार्यैः । द्विजपतिजपराख्यं लम्बनं तद्विहीनं भवति वसुमतीभाबिम्बखण्डं सुसूक्ष्मम् ।" इति म.म. सुधाकरोक्तमुपपद्यते । अत्रैव यदि ज्याचापयोरभेदत्वं स्वीक्रियेत तदा $\frac{1}{2}$ रविं —रपलं=चा । परन्तु भूभाबिम्बार्धम्=चंपलं—चा=चंपलं—($\frac{1}{2}$ रविं—रपलं)

=चंपलं+रपलं—$\frac{1}{2}$रविं, एतेन "दिवाकर निशानाथपरलम्बनसंयुतिः । रवि बिम्बार्धं रहिता भूभाबिम्वदलं भवेत् ।" इति यूरपदेशीयानां प्रकार उपपद्यत इति । एवं यदि स्प, स्प^{I}, स्प, स्प^{I}, विरुद्ध स्पर्शरेखे क्रियेते तदा चन्द्रकक्षायां ल^{I}, ल, विन्द्वोरन्तर्गतो भागः सर्वकिरणानां संयोगाभावात् म्लान इव भवति । अतस्तत्र प्रदेशत एव चन्द्रकान्तिमालिन्यम् । अत एव ल^{I}भूच इदं कोणमानं भूभाभाबिम्बार्धं कल्प्यते तदा र बिन्दुतः स्प, स्प^{I}, रेखायाः समानान्तरा रेखा कार्या तदुपरि भू बिन्दुतो लम्बः = भूम तदा भूम=$\frac{1}{2}$ रव्या+$\frac{1}{2}$ भूव्या ततो रभूभ त्रिभुजेऽनुपातेन $\frac{\text{त्रि } (\frac{1}{2} \text{ रव्या} + \frac{1}{2} \text{ भूव्या})}{\text{रक}}$ =ज्या $\frac{1}{2}$ रविं+ज्यारपलं=ज्या<मरभू अस्याश्चापम्=चा, नवतेर्विशोध्यं तदा ९०—चा=<मभूर, तथा भूल^{I}स्प^{I}, त्रिभुजेऽनुपातः $\frac{\text{त्रि} \times \frac{1}{2} \text{ भूव्या}}{\text{चकं}}$ =ज्या<भूल^{I}स्प^{I},=ज्याचंपलं, अस्याश्चापं, नवेतेर्विशोध्यं तदा ९०—चंपलं= <ल^{I}भूस्प^{I}, ∴ ∠मभूर+ <ल^{I}भूस्प^{I},=९०—चा+९०— चंपलं = <रभूल^{I}=१८०—(चा+चंपलं)

∴ १८०—{१८०—(चा+चंपलं)} = १८०-१८०+ चा +चंपलं =चा +चंपलं= <चभूल^{I}= भूभाभाबिम्वार्धम् । एतेन "रवितनुदलजीवा लम्बनस्य ज्ययाऽऽढ्या क्षितिजजनितया तत्कार्मुकं कार्यमार्यैः । द्विजपतिजपराख्यं लम्बनं तद्युतंसद् भवति वसुमतीभाभावपुः खण्डमानम् ।" इति म. म. सुधाकर द्विवेद्युक्तं सूत्रमुपपन्नम् ।

अत्रैव यदि स्वल्पान्तराज्ज्या चापयोरभेदत्वं स्वीक्रियेत तदा चा =$\frac{1}{2}$ रविं +रपलं, तदा भूभाभाबिम्बार्धम्=चा+चंपलं=$\frac{1}{2}$ रविं+रपलं+ चपलं, एतेन "दिवाकर निशानाथपरलम्बनसंयुतिः । रविबिम्बार्धसहिता भूभाभाविस्तृतेर्दलम् ।" इति म. म. सुधाकरोक्तसूत्रमुपपद्यते । अत्रान्ये विशेषा वटेश्वरसिद्धान्तस्य मट्टीकायां विलोक्या इति ॥ ३३ ॥

अब भूभा बिम्बानयन कहते हैं ।

हि. भा.—चन्द्रके स्फुटकर्ण को भूव्यासहीन रविव्यास से गुणाकर रविकर्ण से भाग देने से जो लब्ध हो उसको भूव्यास में घटाने से चन्द्रकक्षा में भूभाव्यास होता है । इति ॥

उपपत्ति ।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (क) क्षेत्र को देखिये । रविविम्ब और भूबिम्ब की क्रमस्पर्शरेखायें चन्द्रकक्षा में जहाँ जहां लगती है उन बिन्दु जनित मार्ग वृत्ताकार होता है, वही भूभावृत्त है; वर्धित रविकर्ण चन्द्रकक्षा में जहां लगता है वह विन्दु उस वृत्त का केन्द्र होता है । सब स्पर्शरेखायें वर्धित रविकर्ण के साथ एक ही बिन्दु में मिलती है । वह यह

बिन्दु है। र=रविबिम्ब केन्द्र। भू=भूकेन्द्र। रस्प=रविव्यासार्ध=$\frac{1}{2}$ रव्या। भूस्प=भूव्यासार्ध=$\frac{1}{2}$ भूव्या, भूर=रविकर्ण। च=चन्द्रकेन्द्र। भू बिन्दु से स्पर्शरेखा की समानान्तरा रेखा=भूस, च बिन्दु से स्पर्शरेखा की समानान्तरा रेखा=चन सस्प=भूस्प=$\frac{1}{2}$ भूव्या, रस्प—सस्प=$\frac{1}{2}$ रव्या—$\frac{1}{2}$ भूव्या, च बिन्दु से स्पर्शरेखा के ऊपर लम्ब=$\frac{1}{2}$ भूभाव्या =नस्प भूरस, भूचन दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं $\frac{\text{रस} \times \text{भूच}}{\text{रभू}}$

$=\text{भून} = \frac{(\frac{1}{2}\text{ रव्या} - \frac{1}{2}\text{ भूव्या})\text{ चंकर्ण}}{\text{रविक}}$ अतः भूस्प— भून =नस्प= $\frac{1}{2}$ भूव्या—

— $\frac{(\frac{1}{2}\text{ रव्या}-\frac{1}{2}\text{ भूव्या})\text{ चंक}}{\text{रक}}$ = $\frac{1}{2}$ भूभाव्या = चल, द्विगुणित करने से भूव्या—

— $\frac{\text{चंक (रव्या—भूव्या)}}{\text{रक}}$ = भूभाव्यास, इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ। इसी से 'भूव्यासहीनं रवि बिम्बमिन्दुकर्णाहतं' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित भास्करोक्त सूत्र भी उपपन्न होता है। यह भूभाव्यास चन्द्रकक्षा में नहीं आता है। यह क्षेत्र देखने ही से स्फुट है।

अब यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (ख) क्षेत्र को देखिये। र=रवि विम्बकेन्द्र। भू=भू केन्द्र, भूर=रविकर्ण रस्प=रविव्यासार्ध=$\frac{1}{2}$ रव्या। भूस्प=भूव्यासार्ध=$\frac{1}{2}$ भूव्या, भू बिन्दु से स्पर्शरेखा की समानान्तरा रेखा=भून, भूल = चन्द्रकर्ण, रन=$\frac{1}{2}$ रव्या — $\frac{1}{2}$ भूव्या, $<$ रनभू = ९०, भूरन त्रिभुज में अनुपात करते हैं।

$$\frac{\text{त्रि }(\frac{1}{2}\text{ रव्या} - \frac{1}{2}\text{ भूव्या})}{\text{रक}} = \text{ज्या} < \text{रभून} = \frac{\text{त्रि. }\frac{1}{2}\text{ रव्या}}{\text{रक}} - \frac{\text{त्रि. }\frac{1}{2}\text{ भूव्या}}{\text{रक}}$$

=ज्या $\frac{1}{2}$ रवि—ज्यारपलं, इसका चाप=चा, नवत्यंश में घटाने से $<$नरभू=९०—चा = $<$ चभूस्प, भूलस्प त्रिभुज में अनुपात करते हैं। $\frac{\text{त्रि. }\frac{1}{2}\text{ भूव्या}}{\text{चंकर्ण}}$ =ज्या $<$ भूलस्प =ज्या चंपलं, इसका चाप=चन्द्रपरम लम्बन=चंपलं, नवत्यंश में घटाने से $<$ लभूस्प =९०—चंपलं, अतः $<$ चभूस्प —$<$लभूस्प=९०— चा — (९० चंपलं) = ९० — चा — ९० + चंपलं=चंपलं—चा=$\frac{1}{2}$ भूभावि, इससे 'रवितनुदल जीवा लम्बनस्य ज्ययोना' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित म. म. पण्डित सुधाकर द्विवेदीजी का सूत्र उपपन्न हुआ। इनके प्रकार से वास्तव भूभा बिम्बार्ध आता है। यहीं पर ज्या और चाप का

अभेदत्व स्वीकार करने से $\frac{1}{2}$ रविं—रपलं = चा, परन्तु भूभा विम्बार्ध = चंपलं—चा । अतः चंपलं—($\frac{1}{2}$ रविं—रपलं) = चंपलं + रपलं $\frac{1}{2}$ रविं = भूभाविम्बार्ध, इससे 'दिवाकर-निशानाथ परलम्बनसंयुतिः' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित यूरप देशीय का प्रकार उपपन्न होता है ॥

एवं यदि स्प$_१$, स्प$'_१$, स्प$_२$ स्प$'_२$ विरुद्ध स्पर्शरेखायें की जाय तो चन्द्र कक्षा में ल', ल$'_१$ बिन्दुओं के अन्तर्गत भाग सब किरणों के संयोग के अभाव से म्लान की तरह होता है, अतः वहां चन्द्रकान्ति की मलिनता होती है । अत एव ल' भू च कोणमान को भूभाभा विम्बार्ध कल्पना करते हैं, तब र बिन्दु से स्प$_१$ स्प$'_१$ रेखा की समानान्तर रेखा के ऊपर भू बिन्दु से लम्ब = भूम, तब भूम = $\frac{1}{2}$ रव्या + $\frac{1}{2}$ भूव्या, अतः रभूम त्रिभुज में अनुपात से $\frac{\text{त्रि} (\frac{1}{2}\text{रव्या} + \frac{1}{2}\text{भूव्या})}{\text{रक}}$ = ज्या $\frac{1}{2}$ रविं + ज्या रपलं = ज्या < मरभू, इसका चाप = चा, नवत्यंश में घटाने से ९० — चा = < मभूर, तथा भूलस्प$'_१$ त्रिभुज में अनुपात से $\frac{\text{त्रि.} \frac{1}{2}\text{भूव्या}}{\text{चंक}}$ = ज्या < भूल'स्प$'_१$ = ज्या चंपलं इसके चाप को नवत्यंश में घटाने से ९०—चपलं = < ल'भूस्प$'_१$ अतः < मभूर + ल'भूस्प$'_१$ = ९० — चा + ९० — चपलं = < रभूल'

= १८०—(चा + चंपलं) ।

∴ १८०—{१८०—(चा + चंपलं)}

= चा + चंपलं = < चभूल' = भूभाभा विम्बार्धं, इससे 'रवितनुदलजीवा लम्बनस्य ज्ययाऽऽदचा' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित, म. म. पण्डित सुधाकर द्विवेदीजी का सूत्र उपपन्न हुआ । यहां पर यदि ज्या और चाप में अभेदत्व स्वीकार किया जाय तो चा = $\frac{1}{2}$ रविं + रपलं, तब भूभाभा बिम्बार्ध = चा + चंपलं = $\frac{1}{2}$ रविं + रपलं + चंपलं, इससे "दिवाकरनिशानाथपरलम्बनसंयुतिः । रवि विम्बार्धं सहिता भूभाभा विस्तृतेर्दलम्" म. म. पण्डित सुधाकर द्विवेदीजी का सूत्र उपपन्न होता है । यहां अन्य विशेष बातें वटेश्वरसिद्धान्त की हमारी टीका में देखनी चाहिये इति ॥ ३३ ॥

इदानीं कलात्मकबिम्बान्याह ।

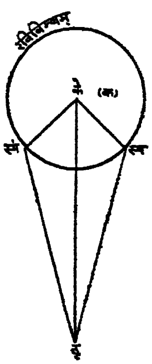
तद्गुणितं व्यासार्धं शशिकर्णहृतं तमः प्रमाणकलाः ।
एवं त्रिज्यारविशशिविष्कम्भगुणा स्वकर्णहृता ॥३४॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् । 'सूर्येन्दुभूभातनुयोजनानि त्रिज्याहतानि' इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ।

अत्रोपपत्तिः ।

त्रैराशिकेन भास्करोक्तया ॥३४॥

वि. भा.—भूभायायोजनात्मकबिम्बमानेन गुणितं त्रिज्याप्रमाणं चन्द्रकर्णेन भक्तं तदा कलात्मकं भूभाबिम्बं भवति । एवं योजनात्मकं रविबिम्बं त्रिज्यया गुणयित्वा रविकर्णेन भजेत्फलं कलात्मकं रविबिम्बं भवति । योजनात्मकं चन्द्रबिम्बं त्रिज्यया गुणयित्वा चन्द्रकर्णेन भजेत् फलं कलात्मकं चन्द्रबिम्बं भवतीति ।



अत्रोपपत्तिः ।

के = रविबिम्बकेन्द्रम् । दृ = दृष्टिस्थानम् = भूकेन्द्रम् । दृस्प दृस्प' दृष्टिस्थानाद्रविबिम्ब स्पर्शरेखे, दृके = रवि कर्णः । केस्प = केस्प' = रविबिम्ब व्यासार्धम् < केस्पदृ = केस्प'दृ = ९०, < केदृस्प = < केदृस्प' = रविबिम्ब कला । दृकेस्प त्रिभुजेऽनुपातेन $\frac{\text{त्रि} \times \text{केस्प}}{\text{दृके}}$

$= \frac{\text{त्रि} \times \frac{१}{२} \text{रव्या}}{\text{रविकर्ण}}$ = ज्या $\frac{१}{२}$ रविंकला अस्याश्चापं द्विगुणितं तदा रविबिम्बकला प्रमाणं भवति । परन्त्वाचार्येण रविबिम्बकलार्धज्या (ज्या $\frac{१}{२}$ रविंक) प्रमाणं द्वाभ्यां गुणयित्वा चापं कृतं तद्बिम्बकलाप्रमाणं कथ्यते तन्न समीचीनं यतो द्विगुणितार्धज्या द्विगुणित चापपूर्णज्या भवति, पूर्णज्यातश्चापकरणविधिर्नास्त्यतो भास्कराचार्योक्तं न समीचीनम् । एवमेव चन्द्रस्यापि $\frac{\text{त्रि} \frac{१}{२} \text{चंव्या}}{\text{चंकर्ण}}$ = ज्या $\frac{१}{२}$ चंविंक अस्याश्चापं द्विगुणितं तदा वास्तवं चन्द्रबिम्बकलाप्रमाणं भवति । एवं $\frac{\text{त्रि} \frac{१}{२} \text{भूभाव्या}}{\text{चंकर्ण}}$ = ज्या $\frac{१}{२}$ भूभाविंक, अस्याश्चापं द्विगुणितं वास्तवं भूभाबिम्बकला प्रमाणं भवति, आचार्योक्तन्त्वसमीचीनमेव । सिद्धान्तशेखरे "एतानि भास्करमृगाङ्कमहीप्रमाणां त्रिज्याहतानि तनुविस्तृतियोजनानि । भक्तानि भानुशशिशीतकरश्रवोभिर्लिप्तामयानि हि भवन्ति यथाक्रमेण ।" श्रीपत्युक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेव तथा सिद्धान्तशिरोमणौ "सूर्येन्दुभूभातनुयोजनानि त्रिज्याहतान्यर्कशशीन्दुकर्णैः । भक्तानि तत्कार्मुकलिप्तिकास्तास्तेषां क्रमान्मानकला भवन्ति ।" भास्करोक्तमिदं च न समीचीनमिति पूर्वोक्तोपपत्त्या स्फुटमेवेति ॥३४॥

अब कलात्मक बिम्बानयन को कहते हैं।

हि. भा.—योजनात्मक भूभाबिम्ब को त्रिज्या से गुणा कर चन्द्रकर्ण से भाग देने से कलात्मक भूभाबिम्ब होता है एवं योजनात्मक रविबिम्ब को त्रिज्या से गुणाकर रविकर्ण से भाग देने से कलात्मक रविबिम्ब होता है। योजनात्मक चन्द्र बिम्ब को त्रिज्या से गुणा कर चन्द्रकर्ण से भाग देने से कलात्मक चन्द्र बिम्ब होता है इति।

उपपत्ति।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (क) क्षेत्र को देखिये। के=रविबिम्बकेन्द्र। दृ= दृष्टिस्थान=भूकेन्द्र। दृस्प, दृस्प' दृष्टि स्थान से रवि बिम्ब की स्पर्श रेखा, दृके=रविकर्ण केस्प=केस्प'=रविबिम्बव्यासार्ध <केस्पदृ=<केस्प'दृ=९०, <केदृस्प=<केदृस्प'=रवि बिम्बकला, दृकेस्प त्रिभुज में अनुपात करते हैं $\frac{\text{त्रि.केस्प}}{\text{दृके}}=\frac{\text{त्रि }\frac{1}{2}\text{ रव्या}}{\text{रकर्ण}}$ =ज्या < $\frac{1}{2}$ रविंक द्विगुणित करने से $\frac{\text{त्रि. रव्या}}{\text{रकर्ण}}$=रविविंकला। एवं $\frac{\text{त्रि. चंव्या}}{\text{चंकर्ण}}$ = चंविकला। $\frac{\text{त्रि.भूभाव्या}}{\text{चंकर्ण}}$=भूभाविंक इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ। शिद्धान्तशेखर में 'एतानि भास्करमृगाङ्कमहीप्रमाणां' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्रीपत्युक्त प्रकार आचार्योक्त के अनुरूप ही है। लेकिन ये प्रकार (आचार्योक्त तथा श्रीपत्युक्त) ठीक नहीं है। अनुपात से जो बिम्बकलार्धज्या आती है उसके चाप को द्विगुणित करने से बिम्बकला प्रमाण वास्तविक होता है, आचार्य बिम्वकलार्धज्या को द्विगुणित कर बिम्बकला प्रमाण कहते हैं। सिद्धान्तशिरोमणि में 'सूर्येन्दुभूभातनुयोजनानि' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से भास्कराचार्य बिम्बकलार्धज्या को द्विगुणित कर बिम्बकला प्रमाण को कहते हैं यह भी ठीक नहीं है क्यों कि बिम्बकलार्धज्या को द्विगुणित करने से द्विगुणित बिम्बकलार्ध चाप की पूर्णज्या होती है। पूर्णज्या से चाप करने का नियम नहीं है अतः भास्करोक्त प्रकार भी ठीक नहीं हैं इति ॥३४॥

इदानीं छादकमाह।

भूच्छायेन्दुं चन्द्रः सूर्यं छादयति मानयोगार्धात्।
विक्षेपो यद्यूनः शुक्लेतरपञ्चदश्यन्ते ॥३५॥

सु. भा.—यदि मानयोगार्धात् मानैक्यखण्डाद्विक्षेप ऊनस्तदा शुक्ले पञ्चदश्यन्ते पूर्णान्ते भूच्छाया चन्द्रं छादयति। इतरपञ्चदश्यन्ते दर्शान्ते चन्द्रः सूर्यं छादयति। 'भूभाविधुं विधुरिनं ग्रहणे पिधत्ते' इति भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ॥३५॥

वि. भा.—यदि मानयोगार्धात् (बिम्वयोर्मानैक्यार्धात्) विक्षेपः (शरः) ऊनोऽल्पोभवेत्तदा शुक्ले पञ्चदश्यन्ते (पूर्णान्ते) भूच्छाया (भभा) चन्द्रं छादयति। इतरपञ्चदश्यन्ते (अमान्ते) चन्द्रः सूर्यं छादयतीत्यर्थाद्यदा रवितः षड्भान्तरे चन्द्रस्थानं तदा पूर्णान्तः। अतोऽमान्तकाले सूर्यचन्द्रस्थाने राश्यादिभिः सर्वावयवै-स्तुल्यौ स्यातां चन्द्रोपरिगतं कदम्बप्रोतवृत्तं क्रान्तिवृत्ते यत्र लगति तत्र चन्द्र-स्थानं तत्रैव च यदा रविस्तदाऽमान्तकाल इत्यमान्तस्य परिभाषातः, पौर्णमास्य-न्ते चैकोऽन्यस्मात् षड्भान्तरेऽतस्तदांऽशादिकौ समौ स्याताम्। अधःस्थश्चन्द्रो मेघवद्रवेश्छादको भवेदत एव कस्मिंश्चिद्देशे रविश्छन्नः क्वचिन्न छन्नो लक्ष्यते कक्षान्तरत्वात्। चन्द्रश्च पूर्वाभिमुखं गच्छन् भूभां प्रविशत्यत एव भूभैव चन्द्रस्य छादकः। ग्रस्तश्चन्द्रः सर्वत्रैव दर्शनयोग्ये समये लक्ष्यते। अनेनैव छादकनिर्णयेन रवेः पश्चिमतः स्पर्शश्चन्द्रस्य च पूर्वत इति ॥३५॥

इति ब्राह्मस्फुट सिद्धान्ते स्फुटगतिवासना

अब छादक को कहते हैं।

हि. भा.—छाद्य और छादक के मानैक्यार्ध से चन्द्रशर अल्प हो तब पूर्णान्त में भूभा चन्द्रबिम्ब को आच्छादित (ढकती) करती है, और अमान्त में चन्द्र सूर्य विम्ब को आच्छा-दित करते हैं अर्थात् जब रविसे छः राशि पर चन्द्रस्थान रहता है तब पूर्णान्त होता है। इसलिये अमान्तकाले सूर्य और चन्द्र स्थान राश्यादि सर्वावयव से बराबर होता है, चन्द्रोप-रिगत कदम्ब प्रोतवृत्त क्रान्तिवृत्त में जहां लगता है वही चन्द्र स्थान है, वहीं पर जब रवि होते हैं तो अमान्तकाल होता है इस अमान्त की परिभाषा से, पूर्णान्त में एक दूसरे से छः राश्यन्तर पर रहते हैं अतः तब अंशादि अवयव से दोनों बराबर होते हैं, चन्द्र पूर्वाभि-मुख जाते हुए भूभा में प्रवेश करते हैं इसलिये भूभा ही चन्द्र की छादिका है, रवि से अधः स्थित चन्द्र मेघ की तरह रवि के छादक होते हैं, अतः किसी देश में रवि छन्न, और किसी देश में नही छन्न लक्षित होते हैं कक्षान्तरत्व के कारण से। ग्रस्त चन्द्र सब जगह दर्शन योग्य समय में लक्षित होते हैं। इसी छादक निर्णय से रविग्रहण में पश्चिम से स्पर्श और चन्द्रग्र-हण में पूर्व से स्पर्श सिद्ध होता है इति ॥३५॥

इति ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में स्फुटगति वासना समाप्त।

अथ ग्रहणवासना प्रारभ्यते ।

तत्रादौ छादकनिर्णयमाह ।

महदिन्दोरावरणं कुण्ठविषाणो यतोऽर्धसञ्छन्नः ।
अर्धच्छन्नो भानुस्तीक्ष्णविषाणस्ततोऽस्याल्पम् ॥३६॥

सु. भा.—यतोऽर्धसञ्छन्नश्चन्द्रः कुण्ठविषाणो भवत्यत इन्दोरावरणं छादकमानं महत् । भानुश्चार्धच्छन्नस्तीक्ष्णविषाणो भवति ततस्तस्मादस्यावरणमल्पमस्तीत्यवगम्यते । लघुपरिधौ महापरिधिखण्डितेन विषाणयोः परिधियोगबिन्द्वोः कुण्ठता महापरिधौ च लघुपरिधिखण्डितेन विषाणयोस्तीक्ष्णतोत्पद्यते । अतश्चन्द्रस्य च्छादकः पृथुतरः सूर्यस्याल्पतर इति । 'छादकः पृथुतरस्ततो विधिः' इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ॥३६॥

वि. भा.—यस्मात् कारणात् अर्धच्छन्नश्चन्द्रः कुण्ठविषाणो भवति अतश्चन्द्रस्याऽऽवरणं (छादकमानं) महत् । भानुः (सूर्यः) अर्धच्छन्नः तीक्ष्णविषाणो भवति, तस्मात्कारणादस्याऽऽवरणमल्पमस्तीति । लघुपरिधेर्बृहत्परिधिना खण्डने परिधियोगबिन्दुरूपयोर्विषाणयोः कुण्ठता भग्नशृङ्गता जायते, बृहत्परिधेर्लघुपरिधिना खण्डने विषाणयोस्तीक्ष्णतोपपद्यते । अत एव चन्द्रस्याच्छादको महान् सूर्यस्य च लघुरिति । एतं प्राचीनोक्तयुक्तिवादमेव भास्कराचार्योऽपि "छादकः पृथुतरस्ततो विधोरर्धखण्डिततनोर्विषाणयोः । कुण्ठता च महती स्थितिर्यतो लक्ष्यते हरिणलक्षणग्रहे । अर्धखण्डिततनोर्विषाणयोस्तीक्ष्णता भवति तीक्ष्णदीधितेः । स्यात् स्थितिर्लघुरतो लघुः पृथक् छादको दिनकृतोऽवगम्यते । इत्यनेनोक्तवानिति ॥३६॥

अब ग्रहण वासना प्रारम्भ की जाती है ।
उसमें पहले छादक निर्णय को कहते हैं ।

हि. भा.—आधा आच्छादित चन्द्र का शृङ्गकुण्ठ (भोंथ) होता है इसलिये चन्द्र का छादक बड़ा है । आधे आच्छादित सूर्य के शृङ्ग तीक्ष्ण (नुकीले) होते हैं अतः सूर्य के छादक छोटे हैं । लघुपरिधि को बृहत् परिधि से काटने से परिधि के योग बिन्दुरूप शृङ्गद्वय की कुण्ठता होती है । वृहत्परिधि को लघु परिधि से काटने से दोनों शृङ्गों की तीक्ष्णता होती है अतः चन्द्र का छादक महान् है और सूर्य का छादक लघु है । इस प्राचीनोक्त युक्तिवाद ही को भास्कराचार्य ने भी "छादकः पृथुतरस्ततोविधोः' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से कहा है इति ॥३६॥

इदानीं राहुकृतं ग्रहणं नेति वराहमिहिरादीनां मतं प्रतिपादयति ।

यदि राहुः प्राग्भागादिन्दुं छादयति किं तथा नार्कम् ।
स्थित्यर्धं महदिन्दोर्यथा तथा किं न सूर्यस्य ॥३७॥

किं प्रतिविषयं सूर्यो राहुश्चान्यो यतो रविग्रहणे ।
ग्रासान्यत्वं न ततो राहुकृतं ग्रहणमर्केन्द्वोः ॥३८॥

एवं वराहमिहिरश्रीषेणार्यभटविष्णुचन्द्राद्यैः ।
लोकविरुद्धमभिहितं वेदस्मृतिसंहिताबाह्यम् ॥३९॥

सु. भा.—आर्याद्वयं स्पष्टार्थम् । एवं वराहमिहिरादिभी राहुकृतं रवीन्द्वोर्न ग्रहणमिति लोकविरुद्धं वेदस्मृतिसंहिताबाह्यं चाभिहितम् ॥३७-३९॥

वि. भा.—यदि राहुः पूर्वतश्चन्द्रं छादयति अर्थाच्चन्द्रग्रहे पूर्वतः स्पर्शो भवति, तथा रविं कथं न छादयति अर्थात् सूर्यग्रहणेऽपि पूर्वत एव कथं न स्पर्शो भवति । चन्द्रग्रहणे स्थित्यर्धं महद्भवति तथा सूर्यस्य कथं न भवति । प्रत्येक देशे सूर्यो राहुश्च अन्योऽन्यो भवति किम् ? यतः सूर्यग्रहणे ग्रासान्यत्वं भवति तस्मात् कारणात् राहुकृतं सूर्यचन्द्रमसोर्ग्रहणं न भवतीति वराहमिहिर-श्रीषेणार्यभट-विष्णुचन्द्राद्यैर्लोकविरुद्धं वेदस्मृतिसंहिताबहिर्भूतं कथितमिति । यदि राहुकृतं सूर्यचन्द्रयोर्ग्रहणं तदा चन्द्रस्य प्राक्स्पर्शः, सूर्यस्य पश्चादिति कथम् । राहोरेकरूपत्वात् । चन्द्रस्य पश्चान्मुक्तिः, रवेः प्राग् मुक्तिरिति कथम् । ग्रहणद्वये स्पर्शमोक्षादेर्दर्शनं समानरूपेण भवितव्यम् । अर्धखण्डितस्य रवेर्विषाणयोः (शृङ्गयोः) तीक्ष्णता स्थितिश्च लघ्वी, रवेः क्वापि ग्रहणमस्ति क्वापि नास्तीत्यादि नोपपद्यते अत्र वराह मिहिरोक्तम् ।

"आवरणं महदिन्दोः कुण्ठविषाणस्ततोऽर्धसञ्छन्नः ।
स्वल्पं रवेर्यतोऽतस्तीक्ष्णविषाणो रविर्भवति ॥"

लल्लोक्तं च—

"प्रथमं रविमण्डलं ततो न ततः खण्डितमिन्दुमण्डलम् ।
न समाकृतिरीक्ष्यते स्थितिर्यदतो राहुकृतो न स ग्रहः ॥

सवितुश्च यदन्यथाऽन्यथा प्रतिदेशं सकलं समीक्ष्यते ।
न च कुत्रचिदित्यवैत्य कः कुरुते राहुकृते ग्रहे ग्रहम् ॥"

सिद्धान्तशेखरे

"राहुणा यदि पिधीयते ग्रहस्तिग्मशीतमहसोः स्वतृप्तये ।
नैकरूपमवलोक्यते कथं स्पर्शमोचनविमर्दपूर्वकम् ॥"
श्रीपतिना संक्षेपेणोक्तमिति ॥३७-३९॥

अब राहुकृत ग्रहण नहीं होता है वराहमिहिरादियों के मत को कहते हैं।

हि. भा.—यदि राहु पूर्वदिशा से चन्द्र को आच्छादित (ढकता) करता है अर्थात् यदि चन्द्र ग्रहण में पूर्व से स्पर्श होता है, तो उसी तरह सूर्य को क्यों नहीं आच्छादित करता है अर्थात् सूर्य ग्रहण में भी पूर्व ही से क्यों स्पर्श नहीं होता है, चन्द्रग्रहण में स्थित्यर्ध बड़ा होता है वेसे ही सूर्यग्रहण में क्यों नहीं होता है। क्या प्रत्येक देश में सूर्य और राहु भिन्न होते हैं, क्यों कि सूर्य ग्रहण में ग्रास में भिन्नता होती है । इसलिये राहुकृत सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण नहीं होता है ये बातें वराहमिहिर-श्रीषेण—आर्यभट—विष्णुचन्द्र आदि आचार्यों ने लोकविरुद्ध और वेद स्मृति संहिता से वहिर्भूत कही हैं यदि राहुकृत सूर्य-ग्रहण और चन्द्रग्रहण होता हैं तो चन्द्र के पूर्व तरफ स्पर्श और सूर्य के पश्चिम तरफ स्पर्श क्यों होता है क्योंकि राहु एक ही है। चन्द्र ग्रहण में पश्चिम में मोक्ष होता है, सूर्यग्रहण में पूर्व तरफ से क्यों ? दोनों ग्रहणों में स्पर्श मोक्ष आदि का दर्शन समान रूप से होना चाहिये, सो नहीं होता है, अर्ध खण्डित रविविम्ब के शृङ्गद्वय की तीक्ष्णता और स्थिति लघु, रवि ग्रहण कहीं दृश्य होता है कहीं नहीं इत्यादि उपपन्न नहीं होता है यहां वराह-मिहिरोक्त वचन 'आवरणं महदिन्दोः कुण्ठविषाणः' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित है। "प्रथमं रवि मण्डलं ततो न ततः खण्डितमिन्दुमण्डलम्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से राहुकृत ग्रहण का खण्डन लल्लाचार्य ने किया है। सिद्धान्तशेखर में 'राहुणा यदि पिधीयते ग्रहः' इत्यादि से श्रीपति ने भी राहुकृत ग्रहण का खण्डन किया है इति ॥३७-३९॥

इदानीं संहितामतमवलम्ब्य वराहादीन् निराकरोति ।

यद्येवं ग्रहणफलं गर्गाद्यैः संहितासु यदभिहितम् ।
तदभावे होमजपस्नानादीनां फलाभावः ॥४०॥

सु. भा.—गर्गाद्यै राहुवशतः संहितासु यद्ग्रहणफलमभिहितं तद् व्यर्थमेव। यद्येवमेव वराहमिहिरादीनां मतमिति । तदभावे राहुकृतग्रहणाभावे । शेषं स्पष्टार्थम् ॥४०॥

वि. भा.—यद्येवं वराहमिहिरादीनां मतं संहितासु राहुवशतो यद्ग्रहण-फलं कथितं तद्व्यर्थमेव भवेत्। तदभावे (राहुकृत ग्रहणाभावे) होमजपस्नाना-दीनामपि फलाभावो भवेदिति ॥४०॥

अब संहितामत को अवलम्बन कर वराहमिहिरादि मत का खण्डन करते हैं।

हि. भा.—यदि वराहमिहिर आदि आचार्यों के इस तरह मत हैं तब संहिताओं में राहुवश से जो ग्रहण फल कहा गया है वह व्यर्थ है । राहुकृत ग्रहण के अभाव (राहु के द्वारा ग्रहण नहीं होने) में होम जप स्नान आदि का भी फलाभाव होता है इति ॥४०॥

इदानीं लोकप्रथामाह ।

राहुकृतं ग्रहणद्वयमागोपालाङ्गनादिसिद्धमिदम् ।
बहुफलमिदमपि सिद्धं जपहोमस्नानफलमत्र ॥४१॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् ॥४१॥

वि. भा.—राहुद्वारा सूर्यग्रहणं चन्द्रग्रहणं च भवतीति गोपस्त्रीष्वपि प्रसिद्धमस्त्यर्थाद्गोपस्त्रियोऽपि जानन्ति यद्राहुकृतं ग्रहणद्वयं भवति, अत्र ग्रहणे जप करणे होम करणे स्नाने च बहुफलं भवतीत्यपि प्रसिद्धमस्तीति ॥४१॥

अब लोक प्रथा को कहते हैं ।

हि. भा.—राहुद्वारा सूर्यग्रहण और चन्द्र ग्रहण होता है यह विषय गोपालों (ग्वालों) की स्त्रियों में भी प्रसिद्ध है अर्थात् ग्वालों की स्त्रियां तक भी इस बात को जानती हैं कि दोनों ग्रहण राहु से ही होते हैं, और इस ग्रहण समय में जप करने से, हवन करने से, और स्नान करने से बहुत फल होता है यह भी उन लोगों (ग्वालों की स्त्रियों) में प्रसिद्ध है इति ॥४१॥

इदानीं राहुकृतं ग्रहणं भवतीत्यत्र स्मृतिवाक्यं प्रदर्शयति ।

स्मृतिषूक्तं न स्नानं राहोरन्यत्र दर्शनाद्रात्रौ ।
राहुग्रस्ते सूर्ये सर्वं गङ्गासमं तोयम् ॥४२॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् ॥४२॥

वि. भा.—सूर्ये राहुग्रस्ते चन्द्रे वा राहुग्रस्ते सर्वं जलं गङ्गासमं भवति । राहुदर्शनाद् भिन्न समये रात्रौ स्नानं न कुर्यात् । एवं स्मृतिषु (धर्मशास्त्रेषु) उक्तम् (कथितम्) । सिद्धान्तशेखरे "सर्वं च गङ्गासममम्बु राहुग्रस्ते दिनेशे यदि वा शशाङ्के । राहूपलब्धेरपरत्र कुर्यात् । स्नानं न रात्रौ स्मृतिषूक्तमेवम् ।" श्रीपतिनैवमुच्यते । "अप्रशस्तं निशि स्नानं राहोरन्यत्रदर्शनात् । राहुदर्शनसंक्रान्तिविवाहात्ययवृद्धिषु । स्नानदानादिकं कुर्यान्निशि काम्यव्रतेषु च । सर्वं गङ्गासमं तोयं सर्वे ब्रह्मसमा द्विजाः । सर्वं भूमिसमं दानं राहुग्रस्ते दिवाकरे ।" इत्यादि स्मृति पुराणवचनानुकूलं श्रीपत्युक्तमिति स्फुटमेवेति ॥४२॥

अब राहुकृत ग्रहण होता है इस में स्मृति वाक्य को दिखलाते हैं ।

हि. भा.—राहु द्वारा सूर्य के ग्रस्त होने में वा चन्द्र के ग्रस्त होने में सब जल गङ्गाजल के बराबर होता हैं । राहुदर्शन से भिन्न समय में रात्रि में स्नान नहीं करना

चाहिये, इस तरह धर्मशास्त्र में कहा गया है। सिद्धान्तशेखर में 'सर्वं च गङ्गासमम्बुराहुग्रस्ते' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक से श्रीपति ने आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है। तथा "अप्रशस्तं निशि स्नानं राहोरन्यत्रदर्शनात्" इत्यादि विज्ञानभाष्य में लिखित स्मृति पुराण बचनों के अनुकूल ही कहा है इति ॥४२॥

इदानीं राहुकृतग्रहणे वेदवाक्यं प्रदर्शयति ।

स्वर्भानुरासुरिनं तमसा विव्याध वेदवाक्यमिदम् ।
श्रुति संहितास्मृतीनां भवति यथैक्यं तदुक्तिरतः ॥४३॥

सु. भा.—'स्वर्भानुर्ह वा आसुरिः सूर्यं तमसा विव्याध'—इति माध्यन्दिनी श्रुतिः । अथ यथा श्रुतिसंहितास्मृतीनामैक्यं भवति तथा कथनमुचितमत एकवाक्यता प्रतिपादनार्थं तदुक्तिरत्रोचिता ॥४३॥

वि. भा.—स्वर्भानुरासुरिरित्यादिवेदवचनम् यथा स्वर्भानुर्हवा आसुरिः सूर्यं तमसा विव्याध । इति माध्यन्दिनी श्रुतिस्तत्र आसुरिरसुरकुलोत्पन्नः स्वर्भानुः (सिंहिकासूनुः राहुः) तमसा (अन्धकारेण) इनं (सूर्यबिम्बं) विव्याध (भेदितवान्) इदं वेदवाक्यमस्ति, यथा श्रुतिसंहितास्मृतीनामैक्यं (समता) भवति तथा कथनमुचितमत एकताप्रतिपादनार्थं तदुक्तिरत्रोचितास्तीति । सिद्धान्तशेखरे 'स्वर्भानुरासुरिरिनं तमसा घनेन विव्याध वेदवचने तदपि प्रसिद्धम् । प्रोक्तानि भानुशशिनोरसुरेश्वरेण सञ्छन्नयोरपि च सांहितिकैः फलानि ।' श्रीपतिनैवं कथितम् । असुरेश्वरेण (राहुणा) आच्छादितयोः सूर्यचन्द्रमसोः सांहितिकैः (संहितावेत्तृभिः) शुभाशुभानि च फलानि प्रोक्तानि । यदाह गर्गसंहितायां भटोत्पलः "यन्नक्षत्रगतो राहुर्ग्रसते शशिभास्करौ । तज्जातानां भवेत्पीड़ा ये नराः शान्तिवर्जिताः ।" इत्यादिना सर्वत्रैव ग्रहणकारणं राहुरिति प्रसिद्धम् ॥४३॥

अब राहुकृत ग्रहण में वेदवाक्य को कहते हैं ।

हि. भा.— 'स्वर्भानुर्हवा आसुरिः सूर्यं तमसा विव्याध' यह माध्यन्दिनी श्रुति है इसका अर्थ यह है आसुरि (राक्षस कुलोत्पन्न) स्वर्भानु (सिंहिका पुत्र राहु) ने अन्धकार से सूर्य बिम्ब को भेदित किया, । श्रुति (वेद) संहिता और स्मृति (धर्मशास्त्र) में जैसे ऐक्य (समता-एकवाक्यता) हो वैसे कहना उचित है अतः एकता प्रतिपादन के लिये उस की उक्ति यहां उचित है । सिद्धान्तशेखर में 'स्वर्भानुरासुरिरिनं तमसा घनेन' इत्यादि से श्रीपति ने आचार्योक्त के सदृश ही कहा है इति ॥४३॥

इदानीं स्वोक्तिमाह ।

राहुस्तच्छादयति प्रविशति यच्छुक्लपञ्चदश्यन्ते ।
भूछाया तमसीन्दोर्वरप्रदानात् कमलयोनेः ॥४४॥

चन्द्रोऽम्बुमयोऽधः स्थो यदग्निमयभास्करस्य मासान्ते ।
छादयति शमिततापो राहुश्छादयति तत् सवितुः ॥४५॥

सु. भा.—इन्दोर्यद्बिम्बं शुक्लपञ्चदश्यन्ते पूर्णान्ते भूछायातमसि भूमान्धकारे प्रविशति तदेव बिम्बं कमलयोनेर्ब्रह्मणो वरप्रदानाद् भूछायामाश्रित्य राहुश्छादयति । एवं मासान्ते दर्शान्तेऽग्निमयस्य भास्करस्य महद्बिम्बं जलमयः शमिततापोऽधः स्थश्च चन्द्रश्छादयति सवितुः सूर्यस्य तदेव बिम्बं छायामाश्रित्य राहुश्छादयतीति । भास्करोक्तिरप्येतादृशी ॥४५॥

वि भा.—इन्दोः (चन्द्रस्य) यद्बिम्बं शुक्लपक्षपञ्चदश्यन्ते (पूर्णान्ते) भूछायातमसि (भूभान्धकारे) प्रविशति, तदेव बिम्बं ब्रह्मणो वरप्रदानात् भूछायामाश्रित्य राहुश्छादयति । एवं मासान्ते (अमान्तकाले) ऽग्निमयस्य भास्करस्य (सूर्यस्य) महद्बिम्बं जलमयः शमिततापोऽधः स्थश्चन्द्रश्छादयति, सूर्यस्य तदेव बिम्बं भूछायामाश्रित्य राहुश्छादयतीति । सिद्धान्तशेखरे "विष्णुलूनशिरसः किल पङ्गोर्दत्तवान् वरमिमं परमेष्ठी । हेमदानविधिना तव तृप्तिस्तिग्मशीतमहसोरुपरागे । भूमेश्छायां प्रविष्टः स्थगयति शशिनं शुक्लपक्षावसाने राहुर्ब्रह्मप्रसादात् समधिगतवरस्तत्तमो व्यासतुल्यः । ऊर्ध्वस्थं भानुबिम्बं सलिलमयतनोरप्यधोवर्त्तिबिम्बं संसृत्यैवं च मासव्युपरति समये स्वस्य साहित्यहेतोः ।" इत्यनेन श्रीपतिनाऽऽचार्योक्तानुरूपमेव कथितम् । श्रीपत्युक्तश्लोकार्थः विष्णुना (नारायणेन) लूनं (छिन्नं) शिरो (मस्तकं) यस्य स विष्णुलूनशिरास्तस्य पङ्गोः (गतिविकलस्य राहोरित्यर्थः) परमेष्ठी (ब्रह्मा) इमं वरं दत्तवान् । किं वरमित्याह् तिग्मशीतमहसोः (सूर्याचन्द्रमसोः) उपरागे (ग्रहणे) होमदानविधिना ग्रहणकाले यद्दानं दीयते यच्चाग्नौ हूयते तेन तव तृप्तिः (तर्पणमाप्यायनमित्यर्थः) भविष्यति ब्रह्मप्रसादात् समधिगतवरोराहुः तत्तमो व्यासतुल्यः (तस्या भूच्छायाया अन्धकाररूपेण व्यासेन समानः) शुक्लपक्षावसाने (पौर्णमास्यन्ते) भूभां प्रविष्टः सन् चन्द्रं ग्रसते । एवममूना प्रकारेण मासव्युपरति समये (अमावास्यायां) स्वस्य साहित्यहेतोः । सूर्यचन्द्राभ्यां मिलनकामनया पीयूषपिण्डस्य चन्द्रस्य अधोवर्त्ति बिम्बं सूर्यबिम्बापेक्षयेतिभावः । संसृत्य (आश्रित्य) ऊर्ध्वस्थं सूर्यबिम्बं स्थगयति स्वस्य साहित्यहेतोरिति । अत्र लल्लोक्तम्—"ग्रहणे कमलासनानुभावाद्धुतदत्तांशभुजोऽस्य सन्निधानम् । यदतः स्मृतिवेदसंहितासु ग्रहणं राहुकृतं गतं प्रसिद्धिम् ।" इति, श्रीपत्युक्तं च "भूमेश्छायां प्रविष्टः स्थगयति शशिन" मित्यादि दृष्ट्वा भास्कराचार्येण गोलाध्यायस्य ग्रहणवासनाधिकारे—

दिग्देशकालावरणादिभेदान्नच्छादको राहुरिति ब्रुवन्ति ।
यन्मानिनः केवल गोलविद्यास्तत्संहिता वेदपुराणबाह्यम् ॥

राहुः कुभामण्डलगः शशाङ्कं शशाङ्कगश्छादयतीनबिम्बम् ।
तमोमयः शम्भुवरप्रदानात् सर्वागमानामविरुद्धमेतत् ॥

एवमुक्तमिति ।

अथात्र संहितायां गणितागतसमयात् पूर्वं परतो वा ग्रहणदर्शने तदुत्पातरूपमिति तत्फलं च गर्गोक्तम् ।

"वेलाहीने शस्त्रभयं गर्भाणां श्रावणं तथा ।
अतिवेले फलानां तु सस्यानां क्षयमादिशेत् ॥

दृक्समे पर्वणि नृपा निर्वैरा विगतज्वराः ।
प्रजाश्च सुखिताः सर्वभयरोगविवर्जिताः ॥"
इति लक्ष्यीकृत्य वराहमिहिरेण
"वेलाहीने पर्वणि गर्भविपत्तिश्च शस्त्रकोपश्च ।
अतिवेले कुसुमफलक्षयो भयं सस्यनाशश्च ॥

हीनातिरिक्तकाले फलमुक्तं पूर्वशास्त्रदृष्टत्वात् ।
स्फुटगणितविदः कालः कथञ्चिदपि नान्यथा भवति ॥"
एवं दृग्गणितैक्यं विधाने स्वपाटवं प्रदर्शितमिति ॥४४-४५॥

अब अपना मन्तव्य कहते हैं ।

हि. भा.—पूर्णान्तकाल में चन्द्र बिम्ब भूभा के अन्धकार में प्रवेश करता है ब्रह्मा के वरप्रदान से भूछाया (भूभा) को आश्रयण कर अर्थात् भूभा बिम्ब में प्रविष्ट हो कर राहु उसी चन्द्र बिम्ब को आच्छादित करता है । एवं अमान्त काल में सूर्य बिम्ब से अधः स्थित चन्द्रबिम्ब सूर्यबिम्ब को आच्छादित करता है, ब्रह्मवरप्रदान से राहु चन्द्रबिम्ब में प्रविष्ट हो कर उसी सूर्य बिम्ब को आच्छादित करता है । अर्थात् पूर्णान्त काल में भूभामण्डलगत राहु चन्द्र बिम्ब को आच्छादित करता हैं तथा अमान्त में चन्द्रमण्डलगत राहु सूर्यबिम्व को आच्छादित करता है । सिद्धान्तशेखर में "विष्णुलूनशिरसः किल पङ्गोर्दत्तवान् वरमिमं परमेष्ठी" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से श्रीपति ने भी आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है । 'ग्रहणे कमलासनानुभावाद्ध्रुतदत्तांशभुजोऽस्य सन्निधानम्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित लल्लोक्त श्लोक को देख कर तथा 'भूमेश्छायां प्रविष्टः स्थगयति शशिनं' इत्यादि विज्ञानभाष्य में लिखित श्रीपत्युक्त को देख कर सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय ग्रहणवासनाधिकार में "दिग्देश कालावरणादिभेदान्नच्छादको राहुरिति ब्रुवन्ति" इत्यादि से भास्कराचार्य ने आचार्योक्त के अनुरूप ही संहिता-वेद-स्मृति-पुराणों के मतों के साथ ज्यौतिष सिद्धान्त का समन्वय किया है । संहिता में गणितागत समय से पहले वा पीछे ग्रहणदर्शन होने से उत्पातरूप फल गर्ग ने कहा है जैसे "बेलाहीने शस्त्रभयं गर्भाणां श्रावणं तथा" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों को देखना चाहिये । इसी को लक्ष्य कर

वराह मिहिराचार्य ने "वेलाहीने पर्वणि गर्भविपत्तिश्च शस्त्रकोपश्च" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से दृग्गणितैक्य विधान में अपनी पटुता को दिखलाया है इति ॥४४-४५॥

इदानीं राहुबिम्बमाह ।

भूछायाव्याससमः शशिकक्षायां स्थितः शशिग्रहणे ।
राहुश्छादयतीन्दुं सूर्यग्रहणेऽर्कमिन्दुसमः ॥४६॥

सु. भा.—शशिग्रहणे शशिकक्षायां स्थितो भूछायाव्याससमो राहुरिन्दुं सूर्यग्रहणे चेन्दुसमोऽर्कं सूर्यं च छादयति ॥४६॥

वि. भा.—शशिग्रहणे (चन्द्रग्रहणे) चन्द्रकक्षायां स्थितो भूभाव्याससमो राहुश्चन्द्रं छादयति । सूर्यग्रहणे च चन्द्रसमो राहुः सूर्यं छादयतीति ॥४६॥

अब राहुबिम्ब को कहते हैं ।

हि. भा. – चन्द्रग्रहण में चन्द्रकक्षा में स्थित भूभाव्यास के बराबर राहु चन्द्र बिम्ब को ग्रस्त करता है । तथा सूर्यग्रहण में चन्द्र व्यास के बराबर राहु सूर्य को ग्रसित करता है इति ॥४६॥

इदानीं ग्रहणे राहुदर्शनं कथं न भवतीत्याह ।

यत् तदधिकं तमोमयराहुव्यासस्य सूर्यदृष्टत्वात् ।
नश्यति भूछायेन्द्वोर्व्याससमोऽस्माद् भवति राहुः ॥४७॥

सु. भा.—तमोमयराहुव्यासस्य यन्मानं तदधिकं ताभ्यां भूभाचन्द्रव्यासाभ्यामधिकं तत् सूर्यदृष्टत्वात् तत्तेजसा नश्यति तस्माद्राहुर्भूछायासमश्चन्द्रमसो व्याससमश्चैव भवति । स चान्धकारमध्ये स्थितत्वान्न दृश्यो भवतीति स्फुटम् ॥४७॥

वि. भा.—तमोमयराहुव्यासस्य यन्मानं तदधिकं ताभ्यां भूभाचन्द्राभ्यामधिकं तत् सूर्यदृष्टत्वात्तत्तेजसा नश्यति, अस्मात् कारणाद्राहुर्भूछायेन्द्वोः (भूभाचन्द्रमसोः) व्याससमश्चैव भवति । स चान्धकारमध्ये स्थितत्वान्न दृश्यो भवतीति ॥४७॥

अब ग्रहण में राहु दर्शन क्यों नहीं होता है कहते हैं ।

हि. भा.—भूभा और चन्द्र से सूर्य बिम्ब के अधिक होने के कारण सूर्य बिम्ब के तेज से अन्धकार मय राहु का अन्धकार नष्ट होता है अतः भूभाबिम्ब व्यास के बराबर तथा चन्द्रबिम्ब के व्यास के बराबर ही तमोमय राहु व्यास होता है, वह अन्धकार के बीच में रहने के कारण दृश्य नहीं होता है इति ॥४७॥

इदानीं निर्गलितार्थमाह ।

भूछायेन्दुमतो हि ग्रहणे छादयति नार्कमिन्दुर्वा ।
तत्स्थस्तद्व्याससमो राहुश्छादयति शशिसूर्यौ ।।४८।।

सु. भा.—अतो ग्रहणे भूछाया चन्द्रं वा चन्द्रः सूर्यं न छादयतिं । किन्तु तद्व्याससमस्तत्स्थो राहुरेव शशिसूर्यौ छादयतीति सिद्धान्तः ।।४८।।

वि. भा.—अतोऽस्मात् कारणात् ग्रहणे भूछाया (भूभा) चन्द्रं न छादयति वा चन्द्रः सूर्यं न छादयति किन्तु तद्व्याससमस्तत्स्थो राहुरेव चन्द्रसूर्यौ छादयतीति ।।४८।।

इति ग्रहण वासना

अब निर्गलितार्थ (निचोड़) को कहते हैं ।

हि. भा.—इस कारण से ग्रहण में भूभा चन्द्र को आच्छादित नहीं करती है, वा चन्द्र सूर्य को आच्छादित नहीं करते है किन्तु उनके व्यास के बराबर तत्स्थित राहु ही चन्द्र और सूर्य को आच्छादित करता है इति ।।४८।।

इति ग्रहण वासना

अथ गोलबन्धाधिकारः प्रारम्यते ।

तत्रादौ पूर्वापरयाम्योत्तरक्षितिजवृत्तान्याह ।

प्राच्यपरं सममण्डलमन्यद्याम्योत्तरं क्षितिजमन्यत् ।

परिकरवत् तन्मध्ये भूगोलस्तत्स्थितद्रष्टुः ॥४९॥

सु. भा.—पूर्वापरमेव वृत्तं सममण्डलम् । अन्यद् याम्योत्तरवृत्तम् । परिकरवत् कटिबन्धनवत् तदर्धेऽन्यत् क्षितिजम् । तन्मध्ये तेषां वृत्तानां गर्भीयकेन्द्रे तत्स्थित द्रष्टुस्तस्य भूगोलस्योपरि स्थितो यो द्रष्टा तस्य भूगोलः कल्प्य इति ॥४९॥

वि. भा.—प्रथमं पूर्वापरं सममण्डलसंज्ञकं वृत्तं विधायान्यत् (द्वितीयं) याम्योत्तरवृत्तं च विधाय पूर्वापरयाम्योत्तरवृत्तयोः सर्वतोऽप्यर्धभागे लम्बाकारेण संश्लिष्टमन्यत् (तृतीयं) क्षितिजवृत्तसंज्ञकं विधेयम् । तेषां वृत्तानां गर्भीयकेन्द्रे तस्य भूगोलस्योपरि स्थितो यो द्रष्टा तस्य भूगोलः कल्प्यः । सिद्धान्तशेखरे "श्रीपरार्यादिससारदारुघटितैः श्लक्ष्णैः समैर्मंडलैर्गोलज्ञो दृढसन्धिबन्धरुचिरं गोलं विनिर्मापयेत् । तत्र प्रागपरं विधाय वलयं याम्योत्तरं चापरं तिर्यक् तद्द्वितयार्धसक्तमभितः कुर्यात्तृतीयं पुनः ।" इति श्रीपत्युक्तवृत्तरचनाक्रम आचार्योक्तानुरूप एव, एवमेव गोलबन्धविधिर्लल्लोक्तशिष्यधीवृद्धिदतन्त्रे, भास्करसिद्धान्तशिरोमणौ चास्ति, भास्करेण "सुसरलवंशशलाकावलयैः श्लक्ष्णैः सचक्रभागाङ्कैः । रचयेद् गोलं गोले शिल्पे चानल्पनैपुणो गणकः ।" इति श्रीपत्युक्तिरेव विशदीकृतेत्यवगम्यत इति ॥४९॥

अब गोलबन्धाधिकार प्रारम्भ किया जाता है ।

उस में पहले पूर्वापरवृत्त, याम्योत्तरवृत्त और क्षितिजवृत्त को कहते हैं ।

हि. भा.—प्रथम सममण्डल संज्ञक पूर्वापर वृत्त बनाकर द्वितीय याम्योत्तर वृत्त को बनाकर इन दोनों (पूर्वापर वृत्त और याम्योत्तर वृत्त) के चारों तरफ अर्धभाग में लम्बाकार सटा हुआ तृतीय क्षितिजवृत्त बनाना चाहिये उन वृत्तों के गर्भीय केन्द्र में उस भूगोल के ऊपर स्थित द्रष्टा (दर्शक) के भूगोल की कल्पना करनी चाहिये । सिद्धान्तशेखर में 'श्रीपर्ण्यादि ससार दारुघटितैः' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक से श्रीपति आचार्योक्त वृत्त रचनानुरूप ही वृत्त रचना क्रम को कहा है । इसी तरह गोलबन्ध विधि लल्लोक्त शिष्यवृद्धिदतन्त्र में और भास्कर सिद्धान्तशिरोमणि में भी है । भास्कराचार्य 'सुसरलवंशशलाकावलयैः,' इत्यादि से श्रीपत्युक्ति ही को विशदरूप में कहा है इति ॥ ४९॥

इदानीमुन्मण्डलसंस्थानमाह ।

पूर्वापरयोर्लग्नं याम्योत्तरयोर्नतोन्नतं क्षितिजात् ।
स्वाक्षांशैरुन्मण्डलमहर्निशोर्हानि वृद्धिकरम् ॥५०॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् । पूर्वापरक्षितिजसङ्गमयोर्विलग्नम्'—इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपम् ॥५०॥

वि. भा.—पूर्वापरवृत्तक्षितिजवृत्तयोः पूर्वदिशि यत्र योगः पश्चिमदिशि च यत्र योगस्तद्बिन्दुद्वयगतं क्षितिजात् स्वाक्षांशैर्याम्योत्तरयोर्नतोन्नतमर्थात् दक्षिणसमस्थानात् स्वाक्षांशैरधोगतमुत्तरसमस्थानाच्च स्वाक्षांशैरुपरिगतमुन्मण्डलं भवति तच्च दिनरात्र्योरपचयोपचयकारकं भवत्यर्थादेतदुन्मण्डलं निरक्षदेशीयं क्षितिजं भवति उन्मण्डलवति देशे दिनरात्री-उपचयापचयवत्यौ भवतः । उन्मण्डलहीने निरक्षदेशे च दिनरात्री सर्वदैव समाने भवत इति । सिद्धान्तशेखरे "संसक्तं समवृत्तभूजवलयप्राक्पश्चिमासङ्गयोर्याम्योदक् क्षितिजाधरोत्तरगतं स्वाक्षांशतुल्यान्तरे । स्यादुन्मण्डलमेतदप्यवनिजं देशे निरक्षे स्मृतं जायेते तमस्विनी दिवसयोर्वृद्धिक्षयौ तद्वशात् ।" इति श्रीपत्युक्तोन्मण्डलरचनाक्रम आचार्योक्तानुरूप एव । सिद्धान्तशिरोमणौ 'पूर्वापरक्षितिजसङ्गमयोर्विलग्नं याम्ये ध्रुवे पललवैः क्षितिजादधः स्थे । सौम्ये कुजादुपरि चाक्षलवैर्ध्रुवे तदुन्मण्डलं दिननिशोः क्षयवृद्धिकारि ।" भास्करोक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेवेति ॥५०॥

अब उन्मण्डल संस्थान को कहते हैं ।

हि. भा.—पूर्वापरवृत्त और क्षितिजवृत्त की पूर्वदिशा में जहां योग (पूर्वस्वस्तिक) है और पश्चिम दिशा में योग (पश्चिम स्वस्तिक) है, एतद्बिन्दुद्वय गत तथा दक्षिण समस्थान से अपने अक्षांशान्तर पर अधोगत उत्तर समस्थान से अपने अक्षांशान्तर पर ऊपर गया हुआ वृत्त उन्मण्डल है, यह दिन और रात्रि का हानि (अपचय) और वृद्धि (उपचय) कारक है । यह उन्मण्डल ही निरक्ष देशीय क्षितिज है इसलिये निरक्ष देश में दिन और रात्रि सर्वदा बराबर होती है, निरक्ष देश से भिन्न देश (जहां उन्मण्डल है) में दिन और रात्रि के न्यूनाधिकत्व के कारण उन्मण्डल ही है । सिद्धान्त शेखर में श्रीपति और भास्कराचार्य ने भी आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है इति ॥५०॥

इदानीं विषुवन्मण्डलसंस्थानमाह ।

विषुवन्मण्डलमूर्ध्वं सममण्डलतः स्थितं स्वकाक्षांशैः ।
याम्येनोत्तरतोऽधः क्षितिजे प्राच्यपरयोर्लग्नम् ॥५१॥

सु. भा.—ऊर्ध्वं खस्वस्तिकम् । अधोऽधः स्वस्तिकम् । शेषं स्पष्टम् । 'पूर्वापरस्वस्तिकयोर्विलग्नम्'—इत्यादि भास्करोक्तं चिन्त्यम् ।।५१।।

वि. भा.—सममण्डलतः (पूर्वापरवृत्तात्) स्वकीयाक्षांशैर्दक्षिणेनोर्ध्वभागे (ऊर्ध्वखस्वस्तिके) स्वकीलाक्षांशैरुत्तरतोऽधः खस्वस्तिके स्थितं क्षितिजवृत्ते पूर्वस्वस्तिके पश्चिमस्वस्तिके च लग्नं विषुवन्मण्डलं विषुवन्नाम (समरात्रिन्दिवकालः) उपचारात् समरात्रिन्दिवकालो यत्र तिष्ठति रवौ भवति तत्रासक्तमिति। पूर्वापर विन्द्वोरेव विषुवचिन्हे गोलवन्धे प्राचीनैः स्वीकृते इति पूर्वापर चिन्हयोः संसक्तमित्यर्थः) स्यात्-एतस्य नाम नाड़ीवृत्तमप्यस्ति यतो वृत्तमिदं षष्टया ६० नाड़िकाभिश्चिन्हितमस्तीति । सिद्धान्तशेखरे "नतमथ समवृत्ताद्दक्षिणेनाक्षभागैं र्विषुवदुपपतन्तं मण्डलं नाड़िकाख्यम् । उदगपि पलभागैः स्यादधस्तात्तदेतद् गगन रसमिताभिर्लाञ्छितं नाड़िकाभिः ।" श्रीपत्युक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेवास्ति-सिद्धान्तशिरोमणौ "पूर्वापरस्वस्तिकयोर्विलग्नं खस्वस्तिकाद् दक्षिणतोऽक्षभागैः । अधश्च तैरुत्तरतोऽङ्कितं च षष्टयाऽत्र नाड़ीवलयं विदध्यात् ।" भास्करोक्तश्चायं श्रीपत्यादर्शरूपो द्रष्टव्य इति ।।५१।।

अब विषुवन्मण्डल की संस्थिति को कहते हैं ।

हि. भा.—पूर्वापर वृत्त से दक्षिण तरफ अक्षांशान्तर (ऊर्ध्वखस्वस्तिक) में, उत्तर तरफ अधः खस्वस्तिक (अक्षांशान्तर) में स्थित, क्षितिज वृत्त में पूर्वस्वस्तिक और पश्चिम स्वस्तिक में लगा हुआ विषुवद्वृत है, इसका नाम नाड़ी वृत्त भी है क्यों कि इस वृत्त में साठ नाड़ी (घटी) अङ्कित रहती हैं, विषुवद्वृत्त इसका नाम इसलिये है कि विषुवत् उसको कहते हैं जहां पर रवि के रहने से दिनमान और रात्रिमान बराबर होता है सायनमेषादि और सायन तुलादि में रवि के रहने से यह स्थिति होती है अर्थात् पूर्वस्वस्तिक और पश्चिम स्वस्तिक में संसक्त रहने से इसका नाम विषुदद्वृत्त है इति । सिद्धान्तशेखर में 'नतमथसमवृत्ताद्दक्षिणेनाक्षभागैः' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक से श्रीपति ने आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है सिद्धान्तशिरोमणि में 'पूर्वापर स्वस्तिकयोर्विलग्नं' इत्यादि से भास्कराचार्य श्रीपत्युक्त को आदर्श रूप मानते हैं इति ।।५१।।

इदानीं क्रान्तिमण्डलसंस्थानमाह ।

विषुवन्मण्डललग्नं मेषतुलादावुदक् कुलीरादौ ।
जिनभागैर्याम्येन मृगादावपममण्डलमिहार्कः ।।५२।।

पाताश्चन्द्रादीनां भ्रमन्ति भार्धे रवेश्च भूछाया ।
पातादपमण्डलवद् विमण्डलानि स्वविक्षेपैः ।।५३।।

सु. भा.—स्पष्टार्थम् । 'क्रान्तिवृत्तं विधेयं'—इत्यादि तथा 'क्रान्तिपाते च पाताद्भूपट्कान्तरे' इत्यादि भास्करोक्तं चिन्त्यं । आचार्यमतेऽयनाभावो ज्ञेयः । पातादपमण्डलवदित्यनेन ग्रहाणां विमण्डलानि न्यस्तानीत्यग्रे सम्बन्धः ।।५२-५३।।

वि. भा.—पूर्वापरवृत्त नाड़ीवृत्त क्षितिजवृत्तोन्मण्डलानां पूर्वदिशि सम्पातविन्दुः पूर्वस्वस्तिकं, पश्चिमदिशि सम्पातविन्दुश्च पश्चिमस्वस्तिकम् । अनयोः पूर्वापरस्वस्तिकयोः मेपादितुलादिबिन्दू अपि तिष्ठत इत्ययनांशाभावकालिकीस्थितिः । तेन मेपादिविन्दौ तुलादिविन्दौ च (पूर्वस्वस्तिके पश्चिम स्वस्तिके च) नाड़ीवृत्तेन सह सक्तवृत्तं क्रान्तिवृत्तं वध्नीयात्, कुलीरादौ (कर्कटादौ) मिथुनान्तबिन्द्वात्मके नवत्यंशचापे नाड़ीवृत्ताच्चतुर्विंशत्यंशैरुत्तरतः-मृगादौ (धनुरन्तबिन्द्वात्मके तुलादिविन्दोर्नवत्यंशचापे) चतुर्विंशत्यंशैर्दक्षिणतः । वध्नीयात् अस्मिन् (क्रान्तिवृत्ते) वृत्ते रविर्भ्रमति, चन्द्रादीनां ग्रहाणां पाताश्च भ्रमन्ति । रवेः षड्भान्तरे भूछाया (भूभा) भ्रमति । पातात् (क्रान्ति विमण्डल सम्पातात्) क्रान्तिवृत्तवत् स्वस्वशरांशान्तरे तेपां ग्रहाणां (चन्द्रादीनां) विमण्डलानि भवन्ति । सिद्धान्तशेखरे "पूर्वापरस्वस्तिकसक्तवृत्तं क्रान्त्याख्यमत्राजतुलाधराद्योः । उदग् जिनांशैः खलु कर्कटादौ नाड्याह्वयाद् दक्षिणतो मृगादौ । भ्रमत्यमुष्मिन् वलये दिनेशः शशाङ्कपूर्वद्युसदां च पाताः । सहस्रगोः षड्भवनान्तरे हि छाया मही गोल समुत्थिता च ।" श्रीपत्युक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेव । शिष्यधीवृद्धिदे तन्त्रे लल्लोक्तं च "मेषतुलादौ लग्नं नाड़ीवृत्तेऽपमण्डलं तदुदक् । जिनभागैः कर्क्यादौ याम्यैस्तैरेव मकरादौ । भ्रमति रविरत्र वलये ग्रहाश्च चन्द्रादयः स्वपातयुताः । भूभाभार्धेभानोः स्वशीघ्रवृत्ते ज्ञसितपातौ ।" इत्यनुपदमेव गृहीतं श्रीपतिना । भास्कराचार्येण च "क्रान्तिवृत्तं विधेयं गृहाङ्कं भ्रमत्यत्र भानुश्चभार्धेकुभा भानुतः । क्रान्तिपातः प्रतीपं तथा प्रस्फुटाः क्षेपपाताश्च तत्स्थानकान्यङ्कयेत् । क्रान्तिपाते च पाताद् भषट्कान्तरे नाड़िकावृत्तलग्नं विदध्यादिदम् । पाततः प्राक्त्रिभे सिद्धभागैरुदक् दक्षिणे तैश्च भागैर्विभागे ऽपरे ।" इति प्राचीनोक्तरीत्यैव तथैव क्रान्तिवृत्तसंस्थानमुक्तम् । रवित एव छायोत्पद्यते । रविकेन्द्राद् भूकेन्द्रगामिसूत्रं यत्र क्रान्तिवृत्ते लगति तदेव भूभामध्यस्थानम् । रविः क्रान्तिवृत्ते—क्रान्तिवृत्तस्य केन्द्रं च भूकेन्द्रम् । अतो रवेर्भूकेन्द्रगामिसूत्रं क्रान्तिवृत्तस्य व्यासत्वाद्रवितः षड्भान्तरे क्रान्तिवृत्ते लगति तेन 'भार्धे रवेश्च भूछाये' ति युक्तियुक्तमाचार्योक्तमिति ।।५२–५३।।

अब क्रान्तिवृत्त संस्थान को कहते हैं ।

हि. भा.—पूर्वापरवृत्त नाड़ीवृत्त क्षितिजवृत्त उन्मण्डल इन वृत्तों के पूर्वतरफ सम्पात बिन्दु पूर्वस्वस्तिक है, और पश्चिम तरफ सम्पात बिन्दु पश्चिम स्वस्तिक है । अयनांशाभाव काल में पूर्वस्वस्तिक ही मेषादि बिन्दु तथा पश्चिम स्वस्तिक तुलादि बिन्दु रहता है । अतः

मेषादि विन्दु (पूर्वस्वस्तिक) और तुलादि विन्दु (पश्चिम स्वस्तिक) में नाड़ीवृत्त के साथ संसक्त क्रान्तिवृत्त को बांधना चाहिये। कर्कादि (मिथुनान्त विन्द्वात्मकनवत्यंशचाप) में नाड़ीवृत्त से चौबीस अंश उत्तर, मकरादि (धनुरन्तविन्द्वात्मक नवत्यंशचाप) में चौबीस अंश दक्षिण क्रान्तिवृत्त को बांधना चाहिये, इस क्रान्तिवृत्त में रवि भ्रमण करते हैं चन्द्र आदि ग्रहों के पात भ्रमण करते हैं। रवि से छः राशि पर भूभा भ्रमण करती हैं। पात (क्रान्तिवृत्त और विमण्डल के सम्पात) से क्रान्तिवृत्त के सदृश अपने अपने शरांशान्तर पर उन ग्रहों का विमण्डल होता है। रवि से छाया की उत्पत्ति होती है। रविकेन्द्र से भूकेन्द्र-गामी सूत्र क्रान्तिवृत्त में जहां लगता है वही भूभा मध्यस्थान (केन्द्र) है। रवि क्रान्तिवृत्त में है, क्रान्तिवृत्त का केन्द्र भूकेन्द्र है इसलिये रवि से भूकेन्द्रगामी सूत्र क्रान्तिवृत्त में छः राशि पर लगता है क्यों कि वह सूत्र (रवि से भूकेन्द्रगामी सूत्र) क्रान्तिवृत्त का व्यास है, व्यास रेखा वृत्त के दो समान खण्ड करती है अतः रवि से छः राशि पर भूभाकेन्द्र होना है यह आचार्योक्त युक्तियुक्त है। सिद्धान्तशेखर में 'पूर्वापर स्वस्तिक सक्तवृत्तं इत्यादि' विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से श्रीपतिआचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है। शिष्यवृद्धिद तन्त्र में 'मेषतुलादौ लग्नं नाड़ीवृत्तेऽपमण्डलं' इत्यादि लल्लाचार्योक्त विषय को अक्षरशः श्रीपति ने ग्रहण किया है इति ॥५२-५३॥

इदानीं विमण्डलान्याह।

सौम्यं विमण्डलार्धं प्रथमं याम्यं द्वितीयमेतेषु।
चन्द्रकुजजीवमन्दा भ्रमन्ति शीघ्रेण बुधशुक्रौ ॥५४॥

सु. भा.—प्रथम विमण्डलार्धं मेषादिराशिषट्कं विक्षेपांशैः सौम्यं द्वितीय-मर्धं तुलादिषट्कञ्च याम्यं विक्षेपांशैर्बध्नीयात्। बुधशुक्रौ शीघ्रेण शीघ्रोच्चेन स्वस्वविमण्डले भ्रमतः। तयोः शीघ्रोच्चे विमण्डले भ्रमत इति शेषं स्पष्टा-र्थम् ॥५४॥

वि. भा.—क्रान्तिविमण्डलयोः सम्पातः पात इति ततः प्रथमं विमण्डलार्धं मेषादिराशिषट्करूपं शरांशैः सौम्यं (उत्तरदिशि) द्वितीयमर्धं (तुलादिराशिषट्कं च) शरांशैर्याम्यं (दक्षिणदिशि) बध्नीयात्। एतेषु स्वस्वविमण्डलेषु चन्द्रभौमगुरु-शनयो भ्रमन्ति बुधशुक्रौ शीघ्रोच्चेन स्वस्वविमण्डले भ्रमतोऽर्थात्तयोः शीघ्रोच्चे विमण्डले भ्रमत इति। सिद्धान्तशेखरे "विमण्डलार्धं प्रथमं निजेषुभागैरुदक् चोत्तर-पातचिन्हात्। सषड्गृहाद् दक्षिणतो द्वितीयमर्धं तथाऽपक्रमवृत्तवच्च। एतेषु च स्वस्वविमण्डलेषु चन्द्रार जीवार्कसुता भ्रमन्ति। निजोच्चवृत्तेन चलाभिधेन किलोश-नश्चान्द्रमसायिनी च।" इत्यनेन श्रीपतिः, लल्लः "भूभा भार्धभानोः स्वशीघ्रवृत्ते ज्ञसितपातौ। विक्षेपमण्डलदलं पूर्वं क्षेपांशकैरुदक् पातात्। षड्भयुताद्दक्षिणतो

विमण्डलार्धं द्वितोयं स्यात् ।" भास्करश्च—नाड़िकामण्डले क्रान्तिवृत्तं यथा क्रान्तिवृत्ते तथा क्षेपवृत्तं न्यसेत् । क्षेपवृत्तं तु राश्यङ्कितं तत्र च क्षेपपातेषु चिन्हानि कृत्वोक्तवत् । क्रान्तिवृत्तस्य विक्षेपवृत्तस्य च क्षेपपाते सषड्भे च कृत्वा युतिम् । क्षेपपातागृतः पृष्ठतश्च त्रिभे क्षेपभागैः स्फुटैः सौम्ययाम्ये न्यसेत् ।" इत्यनेन सर्वं तथैव कथितवान् । केवलं "क्षेपभागैः स्फुटै" रित्युक्त्या ग्रहाणां स्फुटशरा अपेक्षितास्ते च

शीघ्रकर्णेन भक्तास्त्रिभज्यागुणाः स्युः परक्षेपभागाग्रहाणां स्फुटाः ।
क्षेपवृत्तानि षण्णां विदध्यात्पृथक् स्वस्ववृत्ते भ्रमन्तीन्दु पूर्वाग्रहाः ॥

इत्यनेनानीता भगोलविमण्डल रचनां भास्करेण गृहीताः । प्राचीनैस्त एव पूर्वपठिताः शरा अत्र विमण्डलरचनायामपि गृहीता ॥ इति ॥५४॥

अब विमण्डलों को कहते हैं ।

हि. भा.—क्रान्तिवृत्त और विमण्डल के सम्पात पात है, वहां से प्रथम विमण्डलार्ध (मेषादि छः राशिरूप) को शरांशान्तर पर उत्तर तरफ तथा द्वितीय विमण्डलार्ध (तुलादि छः राशिरूप) को शरांशान्तर पर दक्षिण तरफ बांधना चाहिये । इन अपने अपने विमण्डलों में चन्द्र, भौम, गुरु, शनि भ्रमण करते हैं । बुध और शुक्र शीघ्रोच्च से अपने अपने विमण्डल में भ्रमण करते हैं । सिद्धान्तशेखर में 'विमण्डलार्धं प्रथमं निजेषु भागैः' इत्यादि से श्रीपति, 'भूभा भार्धभानोः स्वशीघ्रवृत्ते ग्रसित पातौ' इत्यादि से लल्लाचार्य, 'नाड़िका मण्डले क्रान्तिवृत्तं यथा क्रान्तिवृत्ते' इत्यादि से भास्कराचार्य ने सब एक ही तरह कहा है । केवल भास्कराचार्य ने 'शीघ्रकर्णेन भक्तास्त्रिभज्यागुणाः' इत्यादि से साधित भगोलीय परमस्फुटशरवश से भगोलीय विमण्डल रचना की हैं प्राचीनाचार्यो ने पूर्व पठितशर ही को इस विमण्डल रचना में ग्रहण किया है इति ॥५४॥

इदानीं दृग्मण्डलाभिनिवेशमाह ।

दृग्मण्डलार्धमूर्ध्वं यत् तत् परिधिस्थितं द्रष्टा ।
पश्यति यतः क्षितिस्थस्तद्भ्रमति ततो ग्रहाभिमुखम् ॥५५॥

सु. भा.—यतः क्षितिस्थः क्षितिगर्भस्थो द्रष्टा यदूर्ध्वं दृग्मण्डलार्धं तत्परिधिस्थितं ग्रहं पश्यन्ति ततस्तस्मात् कारणात् तद् दृग्मण्डलं ग्रहाभिमुखं भ्रमति । 'ऊर्ध्वाधर स्वस्तिककीलयुग्मे' इत्यादि भास्करोक्तं विचिन्त्यम् ॥५५॥

वि. भा.—यतः (यस्मात् कारणात्) भूगर्भस्थो द्रष्टा ऊर्ध्वं दृग्मण्डलार्धं यत् तत्परिधिस्थितं ग्रहं पश्यति तस्मात् कारणात् तद् दृग्मण्डलं ग्रहाभिमुखं भ्रमतीति । सिद्धान्तशेखरे "द्रष्टुर्ग्रहाभिमुखमभ्रमवृत्तसक्तं दृग्मण्डलं प्रतिपलं भ्रमति ग्रहाणाम्"

श्रीपत्युक्तमेवास्ति । भास्करश्च–"ऊर्ध्वाधरस्वस्तिक कीलयुग्मे प्रोतं श्लथं दृग्वलयं तदन्तः । कृत्वा परिभ्राम्य च तत्र तत्र नेयं ग्रहो गच्छति यत्र यत्र । ज्ञेयं तदेवाखिल खेचराणां पृथक् पृथग्वा रचयेत्तथाष्टौ ।" यथा दृग्मण्डलबन्धनमुपपादयति तदेव श्रीपत्युक्त्याऽपि पर्यवस्यतीति स्फुटमेव ।।५५।।

अब दृग्मण्डल को कहते हैं ।

हि. भा.—भूगर्भस्थित द्रष्टा (दर्शक) दृग्मण्डल के ऊर्ध्व परिध्यर्ध स्थित ग्रह को देखता है इसलिये वह दृग्मण्डल ग्रहाभिमुख भ्रमण करता है । सिद्धान्तशेखर में 'द्रष्टुर्ग्रहाभिमुखम-भ्रमवृत्तसक्तं दृग्मण्डलं प्रतिपलं भ्रमति ग्रहाणाम् ।' श्रीपति इस तरह कहते हैं । भास्कराचार्य 'ऊर्ध्वाधरस्वस्तिक कीलयुग्मे प्रोतं श्लथं दृग्वलयं तदन्तः ।' इत्यादि से दृग्मण्डल बन्धन को जैसे कहते हैं श्रीपत्युक्ति से भी वही होता है इति ।।५५।।

इदानीं दृक्क्षेपवृत्तमाह ।

क्षितिजापमण्डलयुतिर्लग्नं लग्नाग्रया दिशा लग्नम् ।
दृक्क्षेपमण्डलं दक्षिणोत्तरं वित्रिभविलग्ने ।।५६।।

सु. भा.—क्षितिजक्रान्तिमण्डलयोर्यत्र युतिस्तदेव लग्नम् । दृक्क्षेपमण्डलं लग्नाग्रया दिशा लग्नं वित्रिभलग्ने वित्रिभलग्नस्थाने क्रान्तिमण्डले दक्षिणोत्तरं तिर्यग् भवति । लग्नाग्रा यद्युत्तरा तदा लग्नाग्रांशै र्दक्षिणसमस्थानात् पूर्वस्वस्तिक-दिशि दक्षिणाग्रायां च लग्नाग्रांशैर्दक्षिणसमस्थानात् पश्चिमस्वस्तिकदिशि क्षितिजे लग्नं वित्रिभखस्वस्तिकगतं दृक्क्षेपमण्डलं भवतीत्यर्थः । 'ज्ञेयं तदेवाखिल-खे चराणाम्'—इत्यादि भास्करोक्तं विचिन्त्यम् ।।५६।।

वि. भा.—क्षितिजवृत्तक्रान्तिवृत्तयोर्यत्र योगस्तदेव लग्नम् । लग्नोत्पन्नं नवत्यंशवृत्तं दृक्क्षेपवृत्तं भवति तच्च वित्रिभ लग्नस्थाने क्रान्तिवृत्ते तिर्यक् (लम्ब-रूपं) भवति, लग्नाग्रया दिशा लग्नमर्थाल्लग्नाग्रा यद्युत्तरा तदा दक्षिणसमस्था-नाल्लग्नाग्रांशैः पूर्वस्वस्तिकदिशि यदि च लग्नाग्रा दक्षिणा तदा दक्षिणसमस्था-नाल्लग्नाग्रांशैः पश्चिमस्वस्तिकदिशि क्षितिजे लग्नं वित्रिभलग्नखस्वस्तिकगतं तत् (दृक्क्षेपवृत्तं) भवतीत्यर्थः । सिद्धान्तशेखरे 'प्राग्लग्नमत्र भवनत्रितयेन हीनं दृक्क्षेपमण्डलमुशन्ति कुशाग्रधीराः' इत्यनेन श्रीपतिः, सिद्धान्तशिरोमणौ 'दृग्मण्डलं वित्रिभलग्नकस्य दृक्क्षेपवृत्ताख्यमिदं वदन्ती' त्यनेन भास्करोऽप्याचार्यो क्तानुरूपमेव कथयतीति ।।५६।।

अब दृक्क्षेपवृत्त को कहते हैं ।

हि. भा.—क्षितिजवृत्त और क्रान्तिवृत्त की पूर्व दिशा में जहां योग है वही लग्न है ।

लग्नोत्पन्न नवत्यंश वृत्त दृक्क्षेपवृत्त होता है। वह (दृक्क्षेपवृत्त) वित्रिभ लग्नस्थान में क्रान्तिवृत्त के ऊपर तिर्यक् (लम्ब रूप) होता है, तथा लग्नाग्रा यदि उत्तर दिशा की है तब दक्षिण समस्थान से लग्नाग्रांशान्तर पर पूर्वस्वस्तिक की तरफ यदि लग्नाग्रा दक्षिण दिशा की है तब दक्षिण समस्थान से लग्नाग्रांशान्तर पर पश्चिम स्वस्तिक की तरफ क्षितिजवृत्त में लगता है। अर्थात् वह दृक्क्षेपवृत्त त्रिविभलग्न और खस्वस्तिक में गया हुआ होता है। सिद्धान्तशेखर में "प्राग्लग्नमत्र भवनत्रितयेन हीनं' इत्यादि से श्रीपति तथा सिद्धान्तशिरोमणि में 'दृग्मण्डलं वित्रिभ लग्नकस्य' इत्यादि से भास्कराचार्य ने भी आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है इति ॥५६॥

इदानीं मेषादि द्वादशराशीनामहोरात्रवृत्तान्यमाह।

विषुवदुदग् बध्नीयात् क्रान्त्यंश समान्तरेष्वजादीनाम्।
वृत्तत्रितयं व्यस्तं कर्क्यादीनां तुलादीनाम् ॥५७॥

विषुवद्दक्षिणतोऽन्यन्मकरादीनां तदेव विपरीतम्।
स्वाहोरात्राण्येषां व्यासाः पृथगेवमिष्टमपि ॥५८॥

सु. भा.—स्वाहोरात्राणि द्युज्या एषामहोरात्रवृत्तानां व्यासा ज्ञेयाः। एवमिष्टमहोरात्रवृत्तमपि पृथग्गोलोपरि निवेश्यम्। शेषं स्पष्टम्। 'ईप्सितक्रान्तितुल्येऽन्तरे' इत्यादि तथा 'अथ कल्प्या मेषाद्याः' इत्यादि च भास्करोक्तं विचिन्त्यम् ॥५७-५८॥

वि. भा.—अजादीनां (मेषादीनां) त्रयाणां राशीनां (मेषवृषमिथुनानां) क्रान्त्यंशतुल्यान्तरेषु नाड़ीवृत्तादुत्तरदिशि वृत्तत्रितयं स्वाहोरात्रवृत्ताह्वयं बध्नीयादर्थान्मेषान्तक्रान्त्यंशैर्नाड़ीवृत्तादुत्तरे यद्वृत्तं तन्मेषान्ताहोरात्रवृत्तम्। वृषान्तक्रान्त्यंशान्तरे नाड़ीवृत्तादुत्तरे यद्वृत्तं तद्वृषान्ताहोरात्रवृत्तम्। मिथुनान्तक्रान्त्यंशान्तरे नाड़ीवृत्तादुत्तरे मिथुनान्ताहोरात्रवृत्तमिति। इति वृत्त त्रितयं (मेष वृषमिथुनानामहोरात्रवृत्तत्रितयं) व्यस्तं विपरीतक्रमेण कर्क्यादीनामहोरात्रवृत्तानि भवंत्यर्थाद्वृषान्ताहोरात्रवृत्तमेव कर्कान्ताहोरात्रवृत्तम्। मेषान्ताहोरात्रवृत्तमेव सिंहान्ताहोरात्रवृत्तम्। कन्यान्ताहोरात्रवृत्तं तु मीनान्ताहोरात्रवृत्तरूपं नाड़ीवृत्तमेवास्ति। तुलादीनां षण्णां राशीनां नाड़ीवृत्ताद्दक्षिणदिशि—अहोरात्र वृत्तं भवति। यथा तुलान्तक्रान्त्यशान्तरे नाड़ीवृत्ताद्दक्षिणदिशि यद्वृत्तं तत्तुलान्ताहोरात्रवृत्तम्। नाड़ीवृत्ताद्दक्षिणदिशि वृश्चिकान्तक्रान्त्यंशान्तरे वृश्चिकान्ताहोरात्रवृत्तम्। नाड़ीवृत्ताद्दक्षिणदिशि धनुरन्तक्रान्त्यंशान्तरे धनुरान्ताहोरात्रवृत्तम्। तदेव विपरीतं मकरादीनामहोरात्रवृत्तानि भवन्त्यर्थाद्वृश्चिकान्ताहोरात्रवृत्तमेव मकरान्ताहोरात्रवृत्तम्। तुलान्ताहोरात्रवृत्तमेव कुम्भान्ताहोरात्रवृत्तम्। कन्यान्ता-

होरात्रवृत्तमेव नाड़ीवृत्तरूपं मीनान्ताहोरात्रवृत्तम्। एषामहोरात्रवृत्तानां व्यासाः पृथक् पृथक् द्युज्या भवंति। एवमिष्टमप्यहोरात्रवृत्तगोलोपरि पृथक् निवेश्यम्। सिद्धान्तशेखरे "मेषाद् वृत्तात्रितयमपमांशैर्ग्रहाणां त्रयाणां नाड़ीवृत्तादिदमुदगपि व्यत्ययात् कर्कटाच्च। षण्णां जूकात् कथितमनुदक् चैवमिष्टापमांशैः स्वाहोरात्राह्वयमभिहितं मण्डलं गोलविद्भिः।"श्रीपतिः। लल्लश्च-वृत्तत्रयमपमांशैर्नाड़ीवृत्ताद् भवत्यजादीनाम्। व्यस्तं कर्क्यादीनामेवं षण्णां तुलादीनाम्। इष्टक्रान्तेरग्रे तद् द्युज्यामण्डलं च बध्नीयात्। मध्येऽस्य ग्रहगोला भवन्ति वृत्तैर्भगोलस्य।" आचार्यस्याऽऽदर्शभूताविति। भास्कराचार्योऽपि "ईप्सितक्रान्तितुल्येऽन्तरे सर्वतो नाड़िकाख्यादहोरात्रवृत्ताह्वयम्। तत्र बध्वा घटीनां च षष्ट्याऽङ्कयेदस्य विष्कम्भखण्डं द्युजीवा मता।" एषां प्राचीनानां सदृशमेवाहोरात्रवृत्तं कथयति। केवलमयनांशलब्धिकारणात् 'विषुवत्क्रान्तिवलयोः सम्पातः क्रान्तिपातः स्यादि' ति प्रथमं कथयित्वा "अथ कल्प्या मेषाद्या अनुलोमं क्रान्तिपाताङ्कात्।" इत्याह ॥५७-५८॥

अब मेषादिद्वादश (बारह) राशियों के अहोरात्रवृत्त को कहते हैं।

हि. भा—मेषादि तीन राशि (मेष–वृष-मिथुन) यों के क्रान्त्यंशतुल्य अन्तर पर नाड़ीवृत्त से उत्तर तरफ अहोरात्र वृत्त संज्ञक तीन वृत्तों को बांधना चाहिये-अर्थात् नाड़ीवृत्त से उत्तर तरफ मेषान्त क्रान्त्यंशान्तर पर जो वृत्त होता है वह मेषान्ताहोरात्रवृत्त है, वृषान्त क्रान्त्यंशान्तर पर नाड़ीवृत्त से उत्तर जो वृत्त होता है वह वृषान्ताहोरात्रवृत्त है। एवं नाड़ीवृत्त से उत्तर मिथुनान्त क्रान्त्यंशान्तर पर मिथुनान्ताहोरात्र वृत्त होता है। यह मेष- वृत्त-मिथुन के अहोरात्र वृत्त विपरीत क्रम से कर्क्यादि तीन राशियों का अहोरात्रवृत्त होता है अर्थात् वृषान्ताहोरात्र वृत्त ही कर्कान्ताहोरात्र वृत्त होता है, मेषान्ताहोरात्रवृत्त ही सिंहान्ताहोरात्रवृत्त होता है। कन्यान्ताहोरात्रवृत्त मीनान्ताहोरात्रवृत्तरूप नाड़ीवृत्त ही हैं। तुलादि छः राशियों के नाड़ीवृत्त से दक्षिण तरफ अहोरात्रवृत्त होता है। जैसे नाड़ीवृत्त से दक्षिण तुलान्त क्रान्त्यंशान्तर पर तुलान्ताहोरात्रवृत्त होता है। नाड़ीवृत्त से दक्षिण वृश्चिकान्त क्रान्त्यंशान्तर पर वृश्चिकान्ताहोरात्रवृत्त होता है। एवं नाड़ीवृत्त से दक्षिण धनुरन्त क्रान्त्यंशान्तर पर धनुरन्ताहोरात्र वृत्त होता है। ये ही विपरीत क्रम से मकरादि राशियों का अहोरात्र वृत्त होते हैं अर्थात् वृश्चिकान्ताहोरात्रवृत्त ही मकरान्ताहोरात्रवृत्त होता हैं। तुलान्ताहोरात्रवृत्त ही कुम्भान्ताहोरात्रवृत्त होता है। कन्यान्ताहोरात्रवृत्त ही नाड़ीवृत्तरूप मीनान्ताहोरात्रवृत्त होता है। इन अहोरात्रवृत्तों की व्यास द्युज्या होती है। एवं इष्ट अहोरात्रवृत्त को भी पृथक् गोल के ऊपर निवेश करना चाहिये। सिद्धान्तशेखर में 'मेषाद्वृत्तत्रितयमपमांशैर्ग्रहाणां त्रयाणां' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्रीपत्युक्त के तथा 'वृत्तत्रयमपमांशैर्नाड़ीवृत्तात्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित लल्लोक्त का आदर्शरूप आचार्योक्त ही है। भास्कराचार्य भी 'ईप्सितक्रान्तितुल्येऽन्तरे सर्वतो नाड़िकाख्यादहोरात्रवृत्ताह्वयम्'

इत्यादि से प्राचीनोक्त अहोरात्रवृत्तों के सदृश ही अहोरात्रवृत्त कहते हैं । केवल अयनांश की उपलब्धि के हेतु से 'विषुवत्क्रान्तिवलयोः सम्पातः क्रान्तिपातः स्यात्' पहले यह कह कर 'अथ कल्प्या मेषाद्या अनुलोमं क्रान्तिपाताङ्कात् ।' यह कहते हैं इति ॥५७-५८॥

इदानीं राश्युदयाः कथं समानेत्याशङ्क्याह ।

लङ्का समपश्चिमगं प्राणेन कलां भमण्डलं भ्रमति ।
अपमण्डलस्य राशिर्द्वादशभागः क्षितिजलग्नाः ॥५९॥

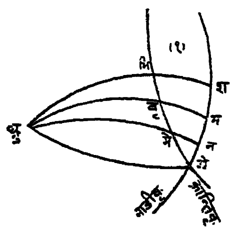
यान्त्युदयं मेषाद्या यतस्तदुदया न कालसमाः ।
क्रान्तिवशाल्लङ्कायां तदूनताधिक्यमक्षवशात् ॥६०॥

सु. भा.—लङ्कासमपश्चिमगं भमण्डलं भचक्रमध्यप्रदेशरूपं नाडीमंडलं प्राणेनैकेनासुना कलामेकं कलां भ्रमति । नाडीमण्डलस्यैका कलैकेनासुनोदेति । क्रान्तिमण्डलस्य द्वादशभागो द्वादशसमानभागो राशिरुच्यते । ते मेषाद्याः क्षितिजलग्ना यत उदयं यान्त्यतो लङ्कायां क्रान्तिवशात् तिरश्चीनत्वात् तदुदयाः कालसमाः कालेन समा न सन्ति । एवं स्वदेशेऽपि क्रान्तिवशादक्षवशाच्च तेषां राशीनामुदयेषु ऊनताधिक्यं भवति । 'यो हि प्रदेशो ऽपमण्डलस्य तिर्यक्स्थितो यात्युदयं तथाऽस्तम्'—इत्यादि भास्करोक्तं चिन्त्यम् ॥६०॥

वि. भा.—लङ्कापश्चिमपश्चिमगं भमण्डलं भचक्रमध्यप्रवेशरूपं नाडीवृत्तं प्राणेन (एकेनासुना) कलां (एकां कलां) भ्रमत्यर्थान्नाड़ीवृत्तस्यैका कलैकेनासुनोदेति । क्रान्तिवृत्तस्य द्वादशतुल्यभागो राशिः कथ्यते, ते मेषाद्या यतः क्षितिजलग्ना उदयं यान्त्यतो लङ्कायां क्रान्तिवशात् तदुदयाः कालेन समा न सन्ति । एवं स्वदेशेऽपि क्रान्तिवशादक्षवशाच्च तेषां राशींनामुदयेषु न्यूनाधिक्यं भवतीति ।

अत्रोपपत्तिः ।

क्रान्तिवृत्तस्य त्रिशदंशात्मक एको राशिः । राश्याद्युपरि राश्यन्तोपरि च ध्रुवप्रोतवृत्तकरणेन तयोरन्तर्गतं नाडीवृत्तीयचापं तद्राशेर्निरक्षोदयमानम् । यथा मेषाद्युपरिध्रुवप्रोतवृत्तं नाड़ीवृत्ते मेषादिविन्दा (नाड़ीवृत्त क्रान्तिवृत्तयोः सम्पातबिन्दौ) वेव लगति तस्मान् मेषान्तोपरि ध्रुवप्रोतवृत्तनाड़ीवृत्तयोः सम्पातं यावन्मेषोदयमानं निरक्षदेशीयम् । एवं मेषान्तो (वृषादि) परि ध्रुवप्रोतवृत्तवृषान्तोपरि ध्रुवप्रोतवृत्तयोरन्तर्गतं नाड़ीवृतीयचापं निरक्षदेशीयं वृषोदयमानम् । वृषान्तो (मिथुनादि) परिध्रुवप्रोतवृत्तमिथुनान्तोपरि ध्रुवप्रोत (आयनप्रोतवृत्त) वृत्तयोरन्तर्गतं नाड़ीवृत्तीयचापं निरक्षदेशीयं मिथुनोदयमानमेतेषु न्यूनाधिक्यं कथं भवतीति प्रदर्श्यते ।



गो= गोलसन्धिः = मेषादिः । मे=मेषान्तविन्दुः । वृ=वृषान्तविन्दुः । मि=मिथुनान्त विन्दुः । गोमे=मेवृ =३०°, गोन=मेषोदयमानम् । नम=वृषोदयमानम् । मश=मिथुनोदयमानम् । ध्रु=ध्रुवः । ध्रुमि=परमाल्पद्युज्याचापम्=<ध्रुगोमि ध्रुमे=मेषान्त द्युज्याचापम् । ध्रुवृ=वृषान्त द्युज्याचापम् । <मेवृध्रु=वृषान्तजयष्टयंशाः=९०–वृषान्तजायनवलनम् । गोलसन्धावायनवलनं परमं जिनांशसमम् । अयनसन्धावर्थान्मिथुनान्ते आयनवलनम्=०, अत एतयोर्मध्ये वृषान्ते आयनवलनम्<२४ परमाल्पद्युज्याचापम्=९०—जिनांश=९०—२४=६६,

वृषान्ते यष्टयंशाः=९०—वृषान्तजायनवलनं=९०—जिनांशाल्पाऽऽयनवलनम् । अतो वृषान्ते यष्टयंशाः>परमाल्पद्युज्याचापम्, ध्रुगोमे चापीय त्रिभुजेऽनुपातः क्रियते ज्या<गोध्रुमे= $\frac{\text{परमाल्पद्युज्या} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्युज्या}}$ =मेषोदयज्या=ज्यागोन

ध्रुमेवृ चापीय त्रिभुजेऽनुपातेन $\frac{\text{वृषान्तजयष्टि} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्युज्या}}$ =ज्या<मेध्रुवृ=ज्या

नम=वृषोदयज्या, परन्तु वृषान्तय>परमाल्पद्यु । अतः $\frac{\text{वृषान्तयष्टि} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्युज्या}}$

> $\frac{\text{परमाल्पद्युज्या} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्युज्या}}$ अर्थात् वृषोदयज्या>मेषोदयज्या वा मेषोदयमान

<वृषोदयमानं, एवमेव मिष्टध्रुचापीय त्रिभुजेऽनुपातेन $\frac{\text{वृषान्तयष्टि} \times \text{ज्या ३०}}{\text{परमाल्पद्युज्या}}$

=ज्या<मिध्रुवृ=ज्यामश = मिथुनोदयज्या, परन्तु वृषान्तयष्टि>परमाल्पद्यु

तथा मेषान्तद्यु>परमाल्पद्यु अतः $\frac{\text{वृषान्तयष्टि} \times \text{ज्या ३०}}{\text{परमाल्पद्यु}}$

> $\frac{\text{वृषान्तयष्टि} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्यु}}$ अर्थात् मिथुनोदयज्या>वृषोदयज्या

∴ मिथुनोदयज्या<वृषोदयज्या<मेषोदयज्या वा मिथुनोदयमा<वृषोदयमान<मेषोदयमान ∴ सिद्धम् ।

एतदुपपत्तिर्वस्तुतो यथैव शिष्यधीवृद्धिदतन्त्रे लल्लाचार्येणोक्ता तथैव श्लोकान्तरेण श्रीपतिना भास्कराचार्येण चोक्ता स्वस्वग्रन्थे ।

यथा लल्लः—

लङ्कावृत्ते मध्यस्थितं भुवो यत्कुजं तदुद्वृत्तम् ।
तेन न तत्र चरदलं सदा समत्व च दिवसनिशोः ॥

इत्यादि से प्राचीनोक्त अहोरात्रवृत्तों के सदृश ही अहोरात्रवृत्त कहते हैं। केवल अयनांश की उपलब्धि के हेतु से 'विषुवत्क्रान्तिवलयोः सम्पातः क्रान्तिपातः स्यात्' पहले यह कह कर 'अथ कल्प्या मेषाद्या अनुलोमं क्रान्तिपाताङ्कात् ।' यह कहते हैं इति ।।५७-५८।।

इदानीं राश्युदयाः कथं समानेत्याशङ्कयाह ।

लङ्का समपश्चिमगं प्राणेन कलां भमण्डलं भ्रमति ।
अपमण्डलस्य राशिर्द्वादशभागः क्षितिजलग्नाः ।।५६।।

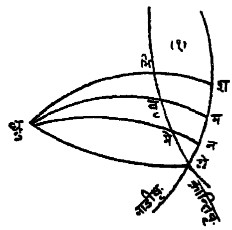
यान्त्युदयं मेषाद्या यतस्तदुदया न कालसमाः ।
क्रान्तिवशाल्लङ्कायां तदूनताधिक्यमक्षवशात् ।।६०।।

सु. भा.—लङ्कासमपश्चिमगं भमण्डलं भचक्रमध्यप्रदेशरूपं नाडीमंडलं प्राणेनैकेनासुना कलामेकं कलां भ्रमति । नाडीमण्डलस्यैका कलैकेनासुनोदेति । क्रान्तिमण्डलस्य द्वादशभागो द्वादशसमानभागो राशिरुच्यते । ते मेषाद्याः क्षितिजलग्ना यत उदयं यान्त्यतो लङ्कायां क्रान्तिवशात् तिरश्चीनत्वात् तदुदयाः कालसमाः कालेन समा न सन्ति । एवं स्वदेशेऽपि क्रान्तिवशादक्षवशाच्च तेषां राशीनामुदयेषु ऊनताधिक्यं भवति । 'यो हि प्रदेशो ऽपमण्डलस्य तिर्यक्स्थितो यात्युदयं तथाऽस्तम्'—इत्यादि भास्करोक्तं चिन्त्यम् ।।६०।।

वि. भा.—लङ्कापश्चिमपश्चिमगं भमण्डलं भचक्रमध्यप्रवेशरूपं नाड़ीवृत्तं प्राणेन (एकेनासुना) कलां (एकां कलां) भ्रमत्यर्थान्नाड़ीवृत्तस्यैका कलैकेनासुनोदेति । क्रान्तिवृत्तस्य द्वादशतुल्यभागो राशिः कथ्यते, ते मेषाद्या यतः क्षितिजलग्ना उदयं यान्त्यतो लङ्कायां क्रान्तिवशात् तदुदयाः कालेन समा न सन्ति । एवं स्वदेशेऽपि क्रान्तिवशादक्षवशाच्च तेषां राशीनामुदयेषु न्यूनाधिक्यं भवतीति ।

अत्रोपपत्तिः ।

क्रान्तिवृत्तस्य त्रिंशदंशात्मक एको राशिः । राश्याद्युपरि राश्यन्तोपरि च ध्रुवप्रोतवृत्तकरणेन तयोरन्तर्गतं नाडीवृत्तीयचापं तद्राशेर्निरक्षोदयमानम् । यथा मेषाद्युपरिध्रुवप्रोतवृत्तं नाड़ीवृत्ते मेषादिविन्दा (नाड़ीवृत्त क्रान्तिवृत्तयोः सम्पात-बिन्दौ) वेव लगति तस्मान् मेषान्तोपरि ध्रुवप्रोतवृत्तनाड़ीवृत्तयोः सम्पातं यावन्मेषो-दयमानं निरक्षदेशीयम् । एवं मेषान्तो (वृषादि) परि ध्रुवप्रोतवृत्तवृषान्तोपरि ध्रुवप्रोतवृत्तयोरन्तर्गतं नाड़ीवृतीयचापं निरक्षदेशीयं वृषोदयमानम् । वृषान्तो (मिथुनादि) परिध्रुवप्रोतवृत्तमिथुनान्तोपरि ध्रुवप्रोत (आयनप्रोतवृत्त) वृत्तयोर-न्तर्गतं नाड़ीवृत्तीयचापं निरक्षदेशीयं मिथुनोदयमानमेतेषु न्यूनाधिक्यं कथं भवतीति प्रदर्श्यते ।



गो= गोलसन्धिः = मेषादिः । मे=मेषान्तबिन्दुः । वृ=वृषान्तबिन्दुः । मि=मिथुनान्त विन्दुः । गोमे=मेवृ =३०°, गोन=मेषोदयमानम् । नम=वृषोदयमानम् । मश=मिथुनोदयमानम् । ध्रु=ध्रुवः । ध्रुमि=परमाल्पद्युज्याचापम्=<ध्रुगोमि ध्रुमे=मेषान्त द्युज्याचापम् । ध्रुवृ=वृषान्त द्युज्याचापम् । <मेवृध्रु=वृषान्तजयष्टयंशाः=९०–वृषान्तजायनवलनम् । गोलसन्धावायनवलनं परमं जिनांशसमम् । अयनसन्धावर्थान्मिथुनान्ते आयनवलनम्=०, अत एतयोर्मध्ये वृषान्ते आयनवलनम्<२४ परमाल्पद्युज्याचापम्=९०—जिनांश=९०—२४=६६,

वृषान्ते यष्टयंशाः=९०—वृषान्तजायनवलनं=९०—जिनांशाल्पाऽऽयनवलनम् । अतो वृषान्ते यष्टयंशाः>परमाल्पद्युज्याचापम्, ध्रुगोमे चापीय त्रिभुजेऽनुपातः क्रियते ज्या<गोध्रुमे= $\frac{\text{परमाल्पद्युज्या} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्युज्या}}$ =मेषोदयज्या=ज्यागोन

ध्रुमेवृ चापीय त्रिभुजेऽनुपातेन $\frac{\text{वृषान्तजयष्टि} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्युज्या}}$ =ज्या<मेध्रुवृ=ज्या

नम=वृषोदयज्या, परन्तु वृषान्तय>परमाल्पद्यु । अतः $\frac{\text{वृषान्तयष्टि} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्युज्या}}$

$> \frac{\text{परमाल्पद्युज्या} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्युज्या}}$ अर्थात् वृषोदयज्या>मेषोदयज्या वा मेषोदयमान

<वृषोदयमानं, एवमेव मिष्टध्रुचापीय त्रिभुजेऽनुपातेन $\frac{\text{वृषान्तयष्टि} \times \text{ज्या ३०}}{\text{परमाल्पद्युज्या}}$

=ज्या<मिध्रुवृ=ज्यामश = मिथुनोदयज्या, परन्तु वृषान्तयष्टि>परमाल्पद्यु

तथा मेषान्तद्यु>परमाल्पद्यु अतः $\frac{\text{वृषान्तयष्टि} \times \text{ज्या ३०}}{\text{परमाल्पद्यु}}$

$> \frac{\text{वृषान्तयष्टि} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्यु}}$ अर्थात् मिथुनोदयज्या>वृषोदयज्या

∴ मिथुनोदयज्या<वृषोदयज्या<मेषोदयज्या वा मिथुनोदयमा<वृषोदयमान<मेषोदयमान ∴ सिद्धम् ।

एतदुपपत्तिर्वस्तुतो यथैव शिष्यधीवृद्धिदतन्त्रे लल्लाचार्येणोक्ता तथैव श्लोकान्तरेण श्रीपतिना भास्कराचार्येण चोक्ता स्वस्वग्रन्थे ।

यथा लल्लः—

लङ्कावृत्ते मध्यस्थिते भुवो यत्कुजं तदुद्वृत्तम् ।
तेन न तत्र चरदलं सदा समत्व च दिवसनिशोः ॥

तत्राक्षाभावेऽपि स्वस्वक्रान्त्या स्थितौ तिरश्चीनौ ।
ज्यायस्या मेषवृषौ यतोऽल्पकालोदयौ तेन ॥
मिथुनान्तोऽल्पक्रान्त्या पदान्तगत्वादृजुः स्थितो यस्मात् ।
तस्माच्चिरोदयोऽसावक्षवशाच्चान्यविषयेषु ॥
प्रागायतं कुलीरान्मकारादुदगायतं यतः षट्कम् ।
अक्ष भूमवशगत्वादधिकन्यूनोदयं तस्मात् ॥ इति

सिद्धान्तशेखरे श्रीपतिः—

यो द्वादशांशोऽपममण्डलस्य राशिः स ते द्वादश मेषपूर्वाः ।
तिर्यक्तया क्रान्तिवशान्निरक्षेऽप्युशन्ति कालेन समेन नैव ॥
निरक्षतायामपि हन्त यस्मात् तिर्यक् स्थितौ मेषवृषौ महत्या ।
क्रान्त्या भवेतामत एव चाल्पकालोदयौ तौ पुरि रावणस्य ॥
मिथुनोऽल्पतयाऽपमस्य तेषामृजुरास्ते नियतं पदान्तगत्वात् ।
अतएव चिरोदयोऽन्यदेशेष्वपि वा ऽक्षस्य वशेन तद्वदेवम् ॥
याम्यायतं कर्कटकाद् भषट्कं यतो मृगादेरुदगायतं हि ।
भवेत्ततस्तच्चिरतुच्छकालसमुद्गमि स्वाक्षवशभूमेण ॥ इति

सिद्धान्तशिरोमणेर्गोलाध्याये भास्कराचार्यश्च ।

"यो हि प्रदेशोऽपममण्डलस्य तिर्यक् स्थितो यात्युदयं तथाऽस्तम् ।
सोऽल्पेन कालेन य ऊर्ध्वसंस्थोऽनल्पेन सोऽस्मादुदया न तुल्याः ॥
य उद्गमे याम्यनता मृगाद्याः स्वस्वापमेनापि निरक्षदेशे ।
याम्याक्षतस्तेऽति नतत्वमाप्ता उद्यन्ति कालेन ततोऽल्पकेन ॥
कर्क्यादयः सौम्यनता हि येऽत्र ते यान्ति याम्याक्षवशादृजुत्वम् ।
कालेन तस्माद्बहुनोदयन्ते तदन्तरे स्वं चरखण्डमेव ॥" इति ५९-६०॥

अब राशियों का उदयमान बराबर क्यों नहीं होता है सो कहते हैं ।

हि. भा.—भचक्रमध्यप्रदेशरूप नाड़ीवृत्त एक असु में एक कला भ्रमण करता है अर्थात् नाड़ीवृत्त की एक कला एक असु में उदित होती है । क्रान्तिवृत्त का समान द्वादश भाग राशि कहलाता है । वे मेषादिराशि क्षितिज संलग्न होने से उदित होता है इसलिये क्रान्तिवश से लङ्का में वह उदय काल बराबर नहीं होता है एवं अपने देश में भी क्रान्तिवश से और अक्षांश वश से उन राशियों के उदय में न्यूनाधिक्य होता है इति ॥५९-६०॥

उपपत्ति ।

राश्यादि के ऊपर ध्रुवप्रोतवृत्त तथा राश्यन्त के ऊपर ध्रुवप्रोतवृत्त नाड़ीवृत्त में जहां

लगता है तदन्तर्गत नाड़ीवृत्तीय चाप उस राशि का निरक्षदेशीय उदयमान होता है। जैसे मेषादिगत ध्रुवप्रोतवृत्त में नाडीवृत्त मेषादि (गोलसन्धि) ही में लगता है वहां (मेषादि) से मेषान्तोपरिगत ध्रुव प्रोतवृत्त नाड़ीवृत्त के सम्पात पर्यन्त निरक्षदेशीय मेषोदयमान है। एवं मेषान्तो (वृषादि) परिगत ध्रुव प्रोतवृत्त तथा वृषान्तोपरिगत ध्रुव प्रोतवृत्त के अन्तर्गत नाड़ीवृत्तीय चाप निरक्ष देशीय वृषोदयमान है एवं वृषान्तो (मिथुनादि) परिगत ध्रुवप्रोतवृत्त तथा मिथुनान्तोपरिगत ध्रुवप्रोतवृत्त के अन्तर्गत नाड़ीवृत्तीय चाप निरक्ष देशीय मिथुनोदय मान हैं, इन उदयमानों में न्यूनाधिक्य क्यों होता है तदर्थ निम्नलिखित युक्ति है यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (१) क्षेत्र को देखिये।

गो = गोलसन्धि = मेषादि, मे = मेषान्त बिन्दु। वृ = वृषान्तबिन्दु। मि = मिथुनान्त विन्दु। गोमे = मेवृ = वृमि = ३०° गोन = मेषोदयमान। नम = वृषोदयमान। मश = मिथुनोदयमान। ध्रु = ध्रुव। ध्रुमि = परमालद्युज्याचाप ध्रुमे = मेषान्तद्युज्याचाप। ध्रुवृ = वृषान्त द्युज्याचाप। < ध्रुगोमि = परमाल्पद्युज्यांश, < मेवृध्रु = वृषान्तजयष्ट्यंश = ९० – वृषान्तजायनवल। गोल सन्धि में आयनवलन परमं जिनांश (२४) के बराबर होता है अयन सन्धि (मिथुनान्त) में आयनवलनाभाव होता है अतः इन दोनों के बीच (वृषान्त) में आयनवलन < २४, परमाल्पद्युज्याचाप = ९० – जिनांश = ९० – २४ = ६६, वृषान्त में यष्ट्यंश = ९० – वृषान्तायनवलन = ९० – जिनांशाल्पायनवलन। अतः वृषान्त में यष्ट्यंश < परमाल्पद्युज्याचाप। ध्रुगोमे चापीय त्रिभुज में अनुपात करते है $\frac{\text{परमाल्पद्यु} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्यु}}$ = ज्या < गोध्रुमे = मेषोदयज्या = ज्यागोन। ध्रुमेवृ चापीय त्रिभुज में अनुपात से $\frac{\text{वृषान्तयष्टि} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्यु}}$ = ज्या < मेध्रुवृ = ज्यानम = वृषोदयज्या परन्तु वृषान्तयष्टि > परमाल्पद्यु ∴ $\frac{\text{वृषान्तय} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्यु}} > \frac{\text{परमाल्पद्यु} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्यु}}$ अर्थात् वृषोदयज्या > मेषोदयज्या वा मेषोदयमान < वृषोदयमान। इसी तरह मिवृध्रु चापीय त्रिभुज में अनुपात से $\frac{\text{वृषान्तयष्टि} \times \text{ज्या ३०}}{\text{परमाल्पद्यु}}$ = ज्या < मिध्रुवृ = ज्यामश = मिथुनोदयज्या। परन्तु वृषान्तयष्टि > परमाल्पद्यु, तथा मेषान्तद्यु > परमाल्पद्यु

अतः $\frac{\text{वृषान्तय} \times \text{ज्या ३०}}{\text{परमाल्पद्यु}} > \frac{\text{वृषान्तय} \times \text{ज्या ३०}}{\text{मेषान्तद्यु}}$ अर्थात् मिथुनोदयज्या > वृषोदयज्या, अतः मिथुनोदयज्या > वृषोदयज्या > मेषोदयज्या, वा मिथुनोदयमान > वृषोदयमान > मेषोदयमा। अतः आचार्योक्त उपपन्न हुआ। यह उपपत्ति यथार्थतः शिष्यधीवृद्धिदतन्त्र में जिस तरह लल्लाचार्य ने कहा है उसी तरह श्लोकान्तर से श्रीपति और भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थ में कहा है।

जैसे लल्लाचार्योक्त शिष्यवृद्धिदतन्त्र में

'लङ्कावृत्ते मध्यस्थिते भुवो यत्कुजं तदुद्वृत्तम्' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में श्लोकों को देखना चाहिये ।

सिद्धान्तशेखर में श्रीपति

'यो द्वादशांशोऽपममण्डलस्य राशिः स ते द्वादश मेष पूर्वाः' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोकों को देखना चाहिये ।

सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय में भास्कराचार्य

'यो हि प्रदेशोऽपममण्डलस्य तिर्यक् स्थितो यात्युदयं' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में देखना चाहिये ॥५९-६०॥

इदानीं चराग्रयोः संस्थानमाह ।

क्षितिजोन्मण्डलयोर्यत्स्वाहोरात्रान्तरं चरदलं तत् ।
क्षितिजेऽग्रा प्राच्यपरस्वाहोरात्रान्तरांशज्या ॥६१॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् । 'उन्मण्डलक्ष्मावलयान्तराले'—इत्यादि तथा 'क्ष्माजे द्युरात्रसमण्डलमध्यभाग'—इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपं विचिन्त्यम् ॥६१॥

वि. भा.—स्वक्षितिजवृत्तोन्मण्डलयोरन्तरेऽहोरात्रवृत्तीयं चापं चरखण्डकालः कथ्यते । क्षितिजाहोरात्रवृत्तयोः सम्पातात्पूर्वस्वस्तिकं यावत् क्षितिजवृत्तेऽग्रांशाः । एतज्ज्याऽग्रा कथ्यत इति । सिद्धान्तशिरोमणेर्गोलाध्याये 'उन्मण्डलक्ष्मावलयान्तराले द्युरात्रवृत्ते चरखण्डकाल' इत्यनेन भास्कराचार्येणाप्याचार्योक्तानुरूपमेव कथितम् । तथे' क्ष्माजे द्युरात्र सममण्डलमध्यभागजीवाऽग्रका भवति पूर्वपराशयोः सा' त्यनेनाचार्योक्तानुरूपमेवाग्रा स्वरूपं कथितमिति ॥६१॥

अब चर और अग्रा की स्थिति को कहते हैं ।

हि. भा.—स्वक्षितिजवृत्त और उन्मण्डल के अन्तर्गत अहोरात्र वृत्तीय चाप चरखण्ड काल कहलाता है । क्षितिजाहोरात्र वृत्त के सम्पात से पूर्वस्वस्तिकपर्यन्त क्षितिज वृत्तीय चाप अग्रांश हैं इसकी ज्या अग्रा कहलाती है । सिद्धान्तशिरोमणि गोलाध्याय में उन्मण्डल-क्ष्मावलयान्तराले' इत्यादि से भास्कराचार्य आचार्योक्त चर खण्डकाल के सदृश ही चरखण्ड काल कहा है । तथा 'क्ष्माजे द्युरात्र सममण्डल मध्यभाग' इत्यादि से आचार्योक्त अग्रा के अनुरूप ही अग्रा को भी कहा है इति ॥६१॥

इदानीं शङ्कुदृग्ज्ययोः संस्थानमाह ।

स्वाहोरात्रे क्षितिजाद्दिनगतशेषोच्चता रवेः शङ्कुः ।
तस्माद्दिनगतशेषं शङ्कुकुमध्यान्तरं दृग्ज्या ॥६२॥

सु. भा.—क्षितिजात् सकाशात् स्वाहोरात्रवृत्ते दिनगते वा पश्चिमकपाले दिनशेषे या रवेरुच्चता लम्बरूपा स शङ्कुर्भवति । तस्माच्छंकोश्च त्रिप्रश्नाधिकारविधिना दिनगतशेषं च भवति । शङ्कुकुमध्यान्तरं शङ्कुमूलस्य कुमध्यस्य भूगर्भस्य चान्तरं दृग्ज्येत्युच्यते । रविकेन्द्रात् क्षितिजोपरि लम्बः शङ्कुः । शङ्कुमूलं भूगर्भान्तरं च दृग्ज्या भवतीत्यर्थः ॥६२॥

वि. भा.—क्षितिजात् स्वाहोरात्रवृत्ते दिनगते वा पश्चिमकपाले दिनशेषे या रवेरुच्चता लम्बरूपा स शङ्कुर्भवति । तस्मात् (शङ्कोः) त्रिप्रश्नाधिकारोक्तविधिना दिनगतशेषं च भवति । शङ्कुमूलस्य भूगर्भस्य चान्तरं दृग्ज्येति कथ्यते । रविबिम्बकेन्द्रात् क्षितिजधरातलोपरि लम्बः शङ्कुः कथ्यते । सिद्धान्तशेखरे "पूर्वापरक्षितिजवृत्तत उन्नतांशज्याशङ्कुरत्र कथितः स्फुटमिष्टभायाम् । तस्याग्रतो दिनकरोऽम्बररत्नबिम्बमध्यावलम्बकमुत प्रवदन्ति शङ्कुम् ।" इत्यनेन श्रीपतिनापि भूगर्भभूपृष्ठयोरभेदस्वीकारात् सूर्यबिम्ब केन्द्रात् क्षितिजधरातलोपरि लम्बसूत्रं शङ्कुः कथ्यते । शिष्यधीवृद्धिदतन्त्रे लल्लः "पूर्वापरकुजवृत्तादुन्नतलवशिञ्जिनीष्टभाशङ्कुः । तस्याग्रे दिवसकरो नरोऽर्कबिम्बावलम्बो वा ।" भास्कराचार्यश्च "दृष्टिमण्डलभवा लवाः कुजादुन्नता गगनमध्यतो नताः । शङ्कुरुन्नतलवज्यका भवेद् दृग्गुणश्च नतभाग शिञ्जिनी ।" तथैव सदृशोत्त्यैव शङ्कुं प्रतिपादयन्तीति ॥६२॥

अब शंकु और दृग्ज्या की स्थिति को कहते हैं ।

हि. भा.—क्षितिजवृत्त से स्वाहोरात्रवृत्त जो दिनगत है उसमें वा पश्चिमकपाल में दिनशेष में रवि की जो उच्चता है वह शङ्कु है अर्थात् रवि बिम्वकेन्द्र से क्षितिज धरातल के ऊपर लम्ब रेखा शङ्कु है। उस शङ्कु से त्रिप्रश्नाधिकारोक्त विधि से दिनगत और दिनशेष होता है, शङ्कु मूल से भूगर्भपर्यन्त रेखा दृग्ज्या कहलाती है तथा रविबिम्ब केन्द्र से क्षितिज धरातल के ऊपर लम्ब रेखा शङ्कु है अर्थात् रबिबिम्ब केन्द्र से खस्वस्तिक गत्तवृत्त दृग्वृत्त है, रवि केन्द्र से खस्वस्तिक पर्यन्त चाप नतांश चाप है इसकी ज्या दृग्ज्या है, तथा रविबिम्ब केन्द्र से दृग्वृत्त और क्षितिजवृत्त के सम्पात पर्यन्त दृग्वृत्तीय चाप उन्नतांश है, इसकी ज्या शङ्कु है । सिद्धान्तशेखर में श्रीपति, शिष्यधीवृद्धिदतन्त्र में लल्लाचार्य, गोलाध्याय में भास्कराचार्य सब एक ही तरह शङ्कु को कहते है इति ॥६२॥

इदानी प्रकारान्तरेण तयोः संस्थानं शङ्कुतलंचाह ।

दृग्मण्डले नतांशज्या दृग्ज्या शङ्कुरुन्नतांशज्या ।
अर्कोदयास्तसूत्राद्दिनशङ्कोर्दक्षिणेन तलम् ॥६३॥

सु. भा.—दिनशङ्कोर्दिवाशङ्कोस्तलं मूलमर्कोदयास्तसूत्राद्दक्षिणेन भवति ।

अर्कग्रहणमुपलक्षणार्थम् ।

शेषं स्पष्टार्थम् । 'दृष्टिमण्डलभवा लवाः कुजात्'—इत्यादिभास्करोक्तमेतदनुरूपं विचिन्त्यम् ॥६३॥

वि. भा.—दृग्वृत्ते यो हि नतांशस्तज्ज्या दृग्ज्या कथ्यते, उन्नतांशचापस्य ज्या शङ्कुः । दिवाशङ्कुमूलं रवेरुदयास्तसूत्राद्दक्षिणेन भवति । अत्रार्कग्रहणमुपलक्षणार्थम् । रव्युपरि दृग्वृत्ते निवेशिते दृग्वृत्तक्षितिजवृत्तयोः सम्पातद्वयगतं सूत्रं दृक्कुज सूत्रम् । रवि विम्बकेन्द्रादूर्ध्वाधर सूत्रोपरि लम्बरेखा दृग्ज्या । रविबिम्बकेन्द्रादेव दृक्कुज सूत्रोपरिलम्बरेखा शङ्कुः । शङ्कुमूलाद् भूकेन्द्रपर्यन्तं दृक्कुजसूत्रखण्डं तथा नतांशज्यामूलाद् भूकेन्द्रपर्यन्तमूर्ध्वाधरसूत्रखण्डं चेति भुजचतुष्टयैरेकं चतुर्भुजं जातम् । अत्र शङ्कूर्ध्वाधररेखयोः समानान्तरत्वात् नतांशज्या-दृक्कुजसूत्र खण्डं च समानान्तरमत इत्यायतं चतुर्भुजम् । तेन दृक्कुजसूत्रखण्डं दृग्ज्यासंज्ञकं रविबिम्बकेन्द्रादूर्ध्वाधरसूत्रोपरिलम्बेन नतांशज्या प्रमाणेन समानम् । तथैव शङ्कुरेखा नतांशज्यामूलाद् भूकेन्द्रपर्यन्तं-ऊर्ध्वाधर सूत्र खण्डेन समानेति । अत्र लल्लोक्तम्- "अम्बरमध्यांशुमतोर्मध्यांशज्या भवेन्नतज्या रवे । शङ्कोर्मूलाद्दिङ्मध्यगामिनी भूतले दृग्ज्या ।" इति "दृष्टिमण्डलभवा लवाः कुजादुन्नता गगनमध्यतो नताः" इत्यादि भास्करोक्तं च सदृशमेवेति ॥६३॥

अब प्रकारान्तर से उन दोनों (दृग्ज्या और शङ्कु) की संस्थिति और शङ्कुतल को कहते हैं ।

हि. भा.—दृग्वृत्त में जो नतांश चाप है उसकी ज्या दृग्ज्या कहलाती है । तथा उन्नतांश चाप की ज्या शङ्कु कहलाती है । दिवाशङ्कुमूल रवि के उदयास्त सूत्र से दक्षिण होता है । यहां रविग्रहण उपलक्षण के लिये है । रविबिम्ब केन्द्र के ऊपर दृग्वृत्त करने से दृग्वृत्त और क्षितिज वृत्त के दो स्थानों में जो योग है तद्गत् सूत्र दृक्कुज सूत्र है । रवि बिम्बकेन्द्र से ऊर्ध्वाधर सूत्र के ऊपर लम्बरेखा दृग्ज्या है रवि बिम्ब केन्द्र ही से दृक्कुज सूत्र के ऊपर लम्ब रेखा शङ्कु । शङ्कुमूल से भूकेन्द्रपर्यन्त दृक्कुज सूत्रखण्ड तथा नतांशज्या मूल से भूकेन्द्रपर्यन्त ऊर्ध्वाधर सूत्रखण्ड इन चारों भुजों से एक चतुर्भुज उपपन्न हुआ । यहां शङ्कु और ऊर्ध्वाधर सूत्र के समानान्तर होने के कारण नतांशज्या और दृक्कुज सूत्रखण्ड समानान्तर हुआ अतः यह आयत चतुर्भुज है । इसलिये दृक्कुज सूत्र खण्ड दृग्ज्या संज्ञक रवि बिम्ब केन्द्र से ऊर्ध्वांवर सूत्र के ऊपर लम्बनतांशज्या के बराबर हुआ । उसी तरह शङ्कुसूत्र और नतांशज्यामूल से भूकेन्द्रपर्यन्त ऊर्ध्वाधर सूत्र खण्ड के बराबर हुआ । यहां "अम्बरमध्यांशुमतोः" इत्यादि लल्लोक्त तथा 'दृष्टिमण्डलभवा लवाः' इत्यादि भास्करोक्त समान ही है इति ॥६३॥

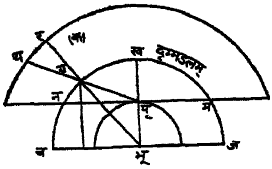
इदानीं दृग्गोलस्य दृश्यादृश्यत्वं लम्बनावनत्युत्पत्तौ कारणं चाह ।

दृश्यादृश्यं दृग्गोलार्धं भूव्यासदलविहीनयुतम् ।
द्रष्टा भूगोलोपरि यतस्ततो लम्बनावनती ॥६४॥

सु. भा.—दृग्गोलार्धं दृग्मण्डलार्धं भूव्यासदलेन विहीनं कुपृष्ठगानां दृश्यं खण्डं भूव्यासदलेन युतं चादृश्यखण्डं भवति । यतो द्रष्टा भूगोलोपरि भूपृष्ठे तिष्ठति ततस्तस्माल्लम्बनावनती भवतः । कुपृष्ठगानां कुदलेन हीनं'—इत्यादि तथा 'यतः क्वर्धोच्छ्रितो द्रष्टा'—इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपं विचिन्त्यम् ॥६४॥

वि. भा.—दृग्मण्डलार्धं भूव्यासार्धेन विहीनं तदा भूपृष्ठवासिनां दृश्यं खण्डं भवति । दृग्मण्डलार्धं भूव्यासार्धेन युतं तदाऽदृश्य खण्डं भवति । यतो द्रष्टा भूपृष्टोपरि तिष्ठति तस्मात् कारणाल्लम्बनावनती भवेताम् ।

यथोपपत्तिः ।



भू=भूकेन्द्रम् । पृ=भूपृष्ठ स्थानम्, चभूज=गर्भक्षितिज धरातलम्, नपृम = पृष्ठक्षितिजधरातलम् । भूपृ=भूव्यासार्धम् । ग्र=दृग्मण्डलेग्रहः । नखम= क्षितिजादुपरि दृग्मण्डलार्धम्=दृश्यखण्डम् । भूख=दृग्मण्डलव्यासार्धम् । दृग्मण्डलव्या $\frac{1}{2}$—भूपृ= दृग्मण्डलव्या $\frac{1}{2}$—भूव्या $\frac{1}{2}$=पृख, पृ (भूपृष्ठ) स्थितो द्रष्टा दृग्मण्डलार्ध (दृश्यखण्ड) स्थितं ग्र ग्रहं पश्यन्ति । क्षितिजाधो दृग्मण्डलार्धम्=अदृश्य खण्डम् । = दृग्मण्डलव्या $\frac{1}{2}$+भूव्या $\frac{1}{2}$ । भू, पृ बिन्दुभ्यां (ग्र) ग्रहगते रेखे नीलाम्बरगोलीय दृग्मण्डले यत्र लग्ने तयोरन्तरं दृग्मण्डलीयचापं दृग्लम्बनं कथ्यते । यर= दृग्लम्बनम् । ग्रख=पृष्ठीयनतांशाः= $<$ग्र पृख, कोणज्या कोणोन भार्धांशज्ययोस्तुल्यत्वात् ज्या $<$ ग्रपृख=ज्या (१८०— $<$ ग्रपृख)= पृष्ठीयदृग्ज्या=ज्या $<$ ग्रपृभू । भूग्र=ग्रहकर्णः । तदाऽनुपातेन $\frac{\text{पृदृग्ज्या.भूव्या } \frac{1}{2}}{\text{ग्रक.र्ण}}$ =ज्या $<$ भूग्रपृ = दृग्लम्बनज्या, यतः $<$ भूग्रपृ= $<$ यग्रर नीलाम्बरगोलस्य केन्द्रं यत्र कुत्रापि कल्पयितुं शक्यते तेन ग्र बिन्दावपि तत्केन्द्रं भवितुमर्हति । अतः $<$ यग्रर=यर चापम् । परं यरचापम्=दृग्लम्बनम् । अतः $<$ भूग्रपृ कोणोऽपि दृग्लम्बनम् । नतिश्च दृग्लम्बनाधीना । लम्बननत्योरुत्पत्तेः कारणं भूपृष्ठबिन्दुरेव सिद्धान्तशेखरे दृग्मण्डलार्धं यदि होर्ध्ववर्त्तिग्रहं यतस्तत्परिणाहसंस्थम् । द्रष्टा प्रपश्यत्यवनीतलस्थो भ्रमत्यतः खेचरसंमुखं तत् ।" लल्लश्च-दृग्मण्डलमुपरिष्टाद् दृष्टः स्यात्तद्वृत्तौ खचरः । श्रीपतेः प्रमाणम् । भास्कराचार्यः-कुपृष्ठगानां कुदलेन हीनं दृग्मण्डलार्धं खचरस्य दृश्यम् ।

कुच्छन्नलिप्तानुरतो विशोध्याः स्वभुक्तितिथ्यंशमिताः प्रभार्थम् ।" इति विशेषमाहेति ॥६४॥

अब दृग्गोल के दृश्यत्व और अदृश्यत्व को तथा लम्बन और नति की उत्पत्ति के कारण को कहते है ।

हि. भा.—दृग्मण्डलार्ध में भूव्यासार्ध घटाने से भूपृष्ठस्थ लोगों का दृश्यखण्ड होता है । दृग्मण्डलार्ध में भूव्यासार्ध जोड़ने से अदृश्य खण्ड होता है । क्योंकि द्रष्टा भूपृष्ठ के ऊपर रहता है इसलिये लम्बन और नति होती है (अर्थात् लम्बन और नति की उत्पत्ति होती है) ।

उपपत्ति ।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (क) क्षेत्र को देखिये । भू = भूकेन्द्र, पृ = भूपृष्ठस्थान चभूज = गर्भक्षितिजधरातल । नपृम = पृष्ठक्षितिजध, भूपृ = भूव्यासार्ध = भूव्या$\frac{१}{२}$, ग्र = दृग्मण्डले ग्रहः । नखम = क्षितिज से ऊपर दृग्मण्डलार्ध = दृश्यखण्ड । भूख = दृग्मण्डलव्यासार्ध । दृग्मण्डलव्या$\frac{१}{२}$ — भूव्या$\frac{१}{२}$ = पृख । पृ (भूपृष्ठ) स्थित द्रष्टा दृग्मण्डलार्ध (दृश्यखण्ड) स्थित (ग्र) ग्रह को देखता है । क्षितिज अधोभाग में दृग्मण्डलार्ध = अदृश्यखण्ड = दृग्मण्डलाव्या$\frac{१}{२}$ + भूव्या$\frac{१}{२}$ । भू और पृ बिन्दुओं से ग्र—ग्रहगत भूग्र, पृग्र रेखाद्वय को बढ़ाने से नीलाम्बर गोलीय दृग्मण्डल में जहां लगता है तदन्तर्गत दृग्मण्डलीय चाप दृग्लम्बन कहलाता है । यर = दृग्लम्बन ग्रख = पृष्ठीयनतांश = $<$ ग्रपृख, कोणज्या और कोणोन भार्धांशज्या बराबर होती है अतः ज्या $<$ ग्रपृख = ज्या (१८० — $<$ ग्रपृख) = पृष्ठीयदृग्ज्या = ज्या $<$ ग्रपृभू । भूग्र = ग्रहकर्ण । तब अनुपात से $\frac{\text{पृदृज्या. भूव्या}\frac{१}{२}}{\text{ग्रकर्ण}}$ = ज्या $<$ भूग्रपृ = दृग्लम्बनज्या । क्योंकि $<$ भूग्रपृ = $<$ यग्रर । नीलाम्बर गोल के केन्द्र जहां तहां मान सकते हैं, अतः ग्र बिन्दु में भी उसका केन्द्र हो सकता है, अतः $<$ यग्रर = यरचाप, लेकिन यरचाप = दृग्लम्बन ।

$\therefore$ $<$ भूग्रपृ = दृग्लम्बन । नति दृग्लम्बन के अधीन है । लम्बन और नति की उत्पति के कारण भूपृष्ठ बिन्दु ही है । सिद्धान्तशेखर में 'दृग्मण्डलार्धं यदिहोर्ध्ववर्त्ति' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोक से श्रीपति ने कहा है । भास्कराचार्य सिद्धान्तशिरोमणि में "कुपृष्ठगानां कुदलेन हीनं" इत्यादि विशेष कहते हैं इति ॥६४॥

इदानीं परमलम्बनावनती आह ।

क्षितिजे भूदललिप्ताः कक्षायां दृङ्नतिर्नभो मध्यात् ।
अवनतिलिप्ता याम्योत्तरा रविग्रहवदन्यत्र ॥६५॥

सु. भा.—नभोमध्यात् खस्वस्तिकात् कक्षायां ग्रहगोले दृग्मण्डले क्षितिजे

या भूदललिप्ताः कुच्छन्नलिप्ताः सा दृङ्नतिर्दृग्लम्बनं परममुच्यते । अवनतिलिप्ता तत्र दृग्मण्डले याम्योत्तरा लम्बरूपा भवति अन्यत्र ग्रहयोर्वा भग्रहयोर्युतावेवं दृग्लम्बननतिसंस्थानं विज्ञाय स्पष्टलम्बनादिकं रविग्रहवत् कार्यमिति । दिग्मात्रमिहाचार्येण प्रदर्शितं ग्रहयुत्यादौ च विशेषतः प्रतिपादितमिति ॥६५॥

वि. भा.—नभोमध्यात् (खस्वस्तिकात्) कक्षायां (ग्रहगोलीयदृग्मण्डले) क्षितिजे या भूदललिप्ताः (भूव्यासार्धकलाः-कुच्छन्नकला वा) सा दृङ्नतिः (परमं दृग्लम्बनं) कथ्यते, तत्र दृग्मण्डलेऽवनतिकला याम्योत्तरा (लम्बरूपा) भवति । अन्यत्र (ग्रहयुतौ-भग्रहयुतौ च) वं नतिदृग्लम्बनयोः संस्थानं ज्ञात्वा सूर्यग्रहणवत् स्पष्टलम्बनादिकं सर्वं कार्यमिति ॥६५॥

अत्रोपपत्तिः ।

पूर्वश्लोकोपपत्तौ प्रदर्शितं दृग्लम्बनज्या स्वरूपम् $= \frac{\text{पृदृग्ज्या. भूव्या } \frac{1}{2}}{\text{ग्रकर्ण}}$
एतत्स्वरूपा वलोकनेन स्फुटमवसोयते यत्पृष्ठीयदृग्ज्याया यत्र परमत्वं भवेत्तत्रैव दृग्लम्बनज्यायाः परमत्वं भवेद्यदि कर्णमानं स्थिरं भवेत् । पृष्ठक्षितिजदृग्मण्डलयोः सम्पातबिन्दौ स्थिते ग्रहे पृष्ठीयदृग्ज्या = त्रि, तदा तत्र परमा दृग्लम्बनज्या $= \frac{\text{त्रि. भूव्या} \frac{1}{2}}{\text{ग्रकर्ण}}$ अस्याश्चापं गर्भक्षितिजपृष्ठक्षितिजयोरन्तर्गतं दृग्मण्डलीयचापं कुच्छन्नकलामानम् = परम दृग्लम्बनम् । नतेः परमत्वं वित्रिभे ग्रहे भवति दृग्लम्बननत्योर्ज्ञानेन स्पष्टलम्बनज्ञानं भवेत्तद्वशतो ग्रहयुत्यादेर्ज्ञानं भवतीति ग्रहयुत्यधिकारावलोकनेन स्फुटं भवतीति ॥६५॥

अब परमलम्बन और नति को कहते हैं ।

हि. भा.—खस्वस्तिक से ग्रहगोलीय दृग्मण्डल और पृष्ठक्षितिज के योग बिन्दु में जो भूव्यासार्धकला (कुच्छन्नकला) होती है वह परम दृग्लम्बन कला है । उस दृग्मण्डल में नतिकला याम्योत्तर (लम्बरूप) होती है । अन्यत्र (ग्रहयुति–भग्रहयुति में) इस तरह नति और दृग्लम्बन की संस्थिति जानकर सूर्यग्रहणवत् स्पष्टलम्बनादिक सब कुछ साधन करना चाहिये । यहां आचार्य ने केवल संकेत मात्र दिखलाया हैं, ग्रहयुत्यादि में विशेषरूप से कहते हैं इति ॥६५॥

उपपत्ति ।

पूर्वश्लोक की उपपत्ति में दृग्लम्बनज्या का स्वरूप $= \frac{\text{पृदृज्या.भूव्या } \frac{1}{2}}{\text{ग्रहकर्ण}}$ इसको देखने से मालूम होता है कि यदि ग्रहकर्ण को स्थिर माना जाय तब पृष्ठीय दृग्ज्या का परमत्व

जहां होगा वहीं दृग्लम्बन का भी परमत्व होगा। परन्तु ज्या परम त्रिज्या के बराबर होती है, पृष्ठीय दृग्ज्या त्रिज्या के बराबर पृष्ठक्षितिज और दृग्मण्डल के सम्पात बिन्दु में ग्रह के रहने से होती हैं अतः वहीं (पृष्ठक्षितिज दृग्मण्डल के सम्पात बिन्दु) पर परम दृग्लम्बन (गर्भक्षितिजधरातल और पृष्ठक्षितिज धरातज के अन्तर्गत दृग्मण्डलीय चाप (कुच्छन्नकला) होता है। नति का परमत्व वित्रिभ स्थान में ग्रह के रहने से होता है। दृग्लम्बन और नति के ज्ञान से स्पष्ट लम्बन ज्ञान होता है उसके वश से ग्रह युत्यादि ज्ञान होता है यह ग्रहयुत्यधिकार देखने से स्पष्ट है इति ॥६५॥

इदानीं दृक्कर्माह ।

सत्रिगृहक्रान्तिरुदग्दक्षिणयोस्त्रिज्यया हृतं वलनम् ।
विक्षेपगुणमृणधनं ग्रहेऽन्यदृक्कर्मचरदलवत् ॥६६॥

सु. भा.—उदग्दक्षिणयोरुत्तरदक्षिणानयनयोः सत्रिग्रहक्रान्तिः सत्रिभग्रह-क्रान्तिज्या वलनमायनं वलनं भवति। तद्विक्षेपेण गुणं त्रिज्यया हृतं ग्रहे ऋणं वा धनमायनं दृक्कर्म भवति। अन्यद्दृक्कर्माक्षजं दृक्कर्म चरदलवत् चरसाधनवज्ज्ञे-यम् ।

अत्रोपपत्त्यर्थमुदयास्ताधिकारे ३–४ श्लोकयोरुपपत्तिर्विलोक्या। अत्रैव चतुर्वेदाचार्येण 'सत्रिग्रहोत्क्रमज्यया क्रान्तिः साध्ये' त्यन्यथा व्याख्यातमत एव भास्करः 'ब्रह्मगुप्तकृतिरत्र सुन्दरी सान्यथा तदनुगैर्विचार्यते'—इत्याद्युक्त-वान् ॥६६॥

वि. भा.—उत्तरदक्षिणायनयोः सत्रिभग्रहक्रान्तिज्याऽऽयनं वलनं भवति। तन्मध्यमशरेण गुणं त्रिज्यया भक्तं फलमृणं वा धनमायनं दृक्कर्म भवति। अन्य-दृक्कर्म (अक्षजं दृक्कर्म) चरदलवत् (चरसाधनवत्) बोध्यम् ॥६६॥

अत्रोपपत्तिः ।

ग्रहबिम्बकेन्द्रोपरिगतं कदम्बप्रोतवृत्तं क्रान्तिवृत्ते यत्र लगति तदेव ग्रहस्थानम्। स्थानोपरि ध्रुवप्रोतवृत्तं कार्यं बिम्बकेन्द्रोपर्यहोरात्रवृत्तं कार्यं तदा बिम्बकेन्द्रात्स्थानावधि मध्यमशर एको भुजः। बिम्बकेन्द्रात्स्थानोपरि ध्रुवप्रोतवृत्तो-परिलम्बो द्वितीयो भुजः। स्थानोपरि ध्रुवप्रोतवृत्ते तृतीयो भुजः। त्रिभुजेऽस्मिन् स्थानगतकदम्बप्रोतवृत्तध्रुवप्रोतवृत्तयोरुत्पन्नः कोण आयनवलनम्। लम्बवृत्त-स्थानगतध्रुवप्रोतवृत्तयोरुत्पन्नः कोणः=९०। तेनानुपातेन

$$\frac{\text{मध्यशरज्या} \times \text{आयनवलनज्या}}{\text{त्रि}} = \text{लम्बवृत्तीयचापज्या} = \text{बिम्बीयाहोरात्रवृत्तीय-}$$

चापज्या परन्तु सत्रिभग्रहक्रांज्या = द्युज्याग्रीयायनवज्या।

$\frac{\text{मध्यशज्या.सत्रिभक्रांज्या}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{मध्यशर. सत्रिभग्रक्रांज्या}}{\text{त्रि}}$ = बिम्बीयाहोरा-त्रवृचापज्या = बिम्बीयाहोरात्रवृत्तीयचापासवः, इति स्वल्पान्तरात् कलात्वेन स्वीकृता आचार्येण, एतस्य कलात्वेन ग्रहे संस्कारो नोचित इति मत्वापि स्वल्पा-न्तरमवगत्याऽऽचार्येण लल्लेन च तदेव फलं ग्रहे संस्कृतम् । भास्कराचार्येण $\frac{\text{मध्यश. सत्रिभग्रक्रांज्या}}{\text{त्रि}}$ तन्त्रिज्याग्रे परिणतं कृतं यथा

$$\frac{\text{मध्यश. सत्रिभग्रक्रांज्या} \times \text{त्रि}}{\text{त्रि} \times \text{बिम्बीयद्यु}} = \text{नाडीवृत्तीयायन दृक्कर्मासवः}$$

$$= \frac{\text{मध्यश. सत्रिभग्रक्रांज्या}}{\text{बिम्बीयद्यु}} = \frac{\text{मध्यश. सत्रिभग्रक्रांज्या}}{\text{द्यु.}},$$ स्वल्पान्तरात्

बिम्बीय द्यु = स्थानीयद्यु । स्थानीयद्यु = द्यु । तत एतस्य फलस्य ग्रहसंस्कारयोग्यत्वं 'यदि निरक्षोदयासुभी राशिकला १८०० लभ्यन्ते तदैभिरसुभिः किमिति' जाता आयन दृक्कर्मकलाः = $\frac{\text{मशर. सत्रिभक्रांज्या} \times १८००}{\text{द्यु. निरक्षोदयासु}}$ कृतम् । यद्यपि भास्करा-चार्येण साधितमायनदृक्कर्मकला प्रमाणं समीचीनं नास्ति, किन्तु आचार्योक्तापेक्षया किञ्चित् समीचीनमस्ति । भास्कराचार्येण आयनवलनज्यास्थाने सत्रिभग्रहक्रांन्ति-ज्या न स्वीकृता तदा तदुक्ताऽऽयनदृक्कर्मकला = $\frac{\text{मशर. आयनवलन } १८००}{\text{द्यु. निरक्षोदयासु}}$ एतेन "आयनं वलनमस्फुटेषुणा सङ्गुणं द्युगुणा भाजितं हतम् । पूर्ण पूर्णधृतिभिर्ग्रहा-श्रित व्यक्षभोदयहृदायनाः कलाः ।" भास्करोक्तमिदमुपपद्यते । सिद्धान्तशेखरे "विक्षेप सत्रिभखगोत्क्रमजाऽपमज्याघाते गृहत्रयगुणेन हृते कलास्ताः । शोध्या-स्तयोः समदिशोः खचरेषु देया भिन्नांशयोर्भवति दृग्विधिरेष पूर्वः ।" श्रीपतिनैवं कथ्यते । लल्लाचार्येण सत्रिभग्रहक्रान्तिज्या स्थाने सत्रिभग्रहक्रान्त्युत्क्रमज्या स्वीकृता, श्रीपतिरपि बहुधाऽऽचार्य (ब्रह्मगुप्त) मतानुसरणं कुर्वन्नपि कुत्रचित् स्थले लल्लोक्तमपि मतान्तरं स्वीचकार, तदत्रापि लल्लोक्तवत् सत्रिभग्रहक्रान्ति-ज्यास्थाने तदुत्क्रमज्यां स्वीकृतवान् । क्रान्तेर्वलनस्य च यद्येकैव दिक् यथा क्रान्तिः शरश्च यद्युत्तरदिक्कौ दक्षिणदिक्कौ वा भवतस्तदा शरेणोन्नामितो यावत् क्षितिजे नीयते तावत् क्रान्तिवृत्तग्रहस्थानात् पृष्ठतः क्रान्तिवृत्तं क्षितिजे लगति तत्तत्र फलमृणम् । भिन्नदिक्कयोर्वलनशरयोश्चैतद्विपरीतमतस्तत्र धनमिति ॥६६॥

अब दृक्कर्म को कहते हैं ।

हि॰ भा.—उत्तरायण और दक्षिणायन में सत्रिभग्रह क्रान्तिज्या आयनवलन होती है । उसको मध्यमशर से गुणाकर त्रिज्या से भाग देने से फल ऋण वा धन आयनदृक्कर्म होता है । अन्य दृक्कर्म (आक्षदृक्कर्म) चरखण्ड साधन की तरह समझना चाहिये इति ॥६६॥

उपपत्ति ।

ग्रहबिम्बकेन्द्रोपरिगत कदम्बप्रोतवृत्त क्रान्तिवृत्त में जहां लगता है वह ग्रह स्थान है। स्थानोपरिगत ध्रुवप्रोतवृत्त कर देना। बिम्ब केन्द्र के ऊपर अहोरात्र वृत्त कर देना तब बिम्बकेन्द्र से स्थानपर्यन्त मध्यमशर एक भुज बिम्बकेन्द्र से स्थानोपरिगत ध्रुवप्रोतवृत्त के ऊपर लम्बवृत्त करने से लम्बवृत्तीय चाप द्वितीय भुज। लम्बन से स्थान पर्यन्त तृतीय भुज इन तीनों भुजों से उत्पन्न त्रिभुज में स्थानगत कदम्बप्रोतवृत्त और ध्रुवप्रोतवृत्त से उत्पन्न कोण आयनवलन है। स्थानगतध्रुवप्रोतवृत्त और लम्बवृत्त से उत्पन्न कोण $= ९०$, तब अनुपात से $\frac{\text{मध्यमशरज्या. आयनवलनज्या}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{मध्यमशर. सत्रिभग्रहक्रान्ति}}{\text{त्रि}} =$ लम्बवृत्तीयचापज्या $=$ बिम्बीयाहोरात्रवृत्तीय चापज्या $=$ बिम्बीयाहोरात्रवृत्तीयचापासु $=$ बिम्बीयाहोरात्रवृत्तीय चापकला स्वल्पान्तर से आचार्य स्वीकार करते हैं। इसकी कलात्व से ग्रह में संस्कार करना उचित नहीं है इस बात को मान करके भी स्वल्पान्तर समझ कर आचार्य और लल्लाचार्य उसी फल का ग्रह में संस्कार किया है। भास्कराचार्य $\frac{\text{मध्यमशर.आयनवलन}}{\text{त्रि}}$ इसको त्रिज्याग्र में परिणत किया है जैसे $\frac{\text{मध्यशर. आयनवलन. त्रि}}{\text{त्रि. बिम्बीयद्यु}} =$ नाड़ीवृत्तीयायनदृक्कर्मासु $= \frac{\text{मध्यमशर. आयनवलन}}{\text{बिम्बीयद्यु}}$, यहां स्वल्पान्तर से बिम्बीयद्यु $=$ स्थानीयद्यु $=$ द्यु इस फल को ग्रह संस्कार योग्यत्व 'यदि गृहाश्रित राशि के निरक्षोदयासु में राशिकला १८०० पाते हैं तो इन असुओं में क्या इससे आयनदृक्कर्म कला आती है उसका स्वरूप $= \frac{\text{मध्यशर. आयनवलन} \times १८००}{\text{द्यु, निरक्षोदयासु}}$' किया है इससे भास्करोक्त 'आयनं वलनमस्फुटेषुणा सङ्गुणं' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित पद्य उपपन्न होता है। सिद्धान्तशेखर में 'विक्षेप सत्रिभ खगोत्क्रमज्याऽपमज्या' इत्यादि से श्रीपति प्रकार आचार्योक्त प्रकार से भिन्न है। लल्लाचार्य ने सत्रिभग्रह क्रान्तिज्या स्थान में उसकी उत्क्रमज्या ली है श्रीपति ने भी लल्लोक्तवत् सत्रिभग्रह क्रान्तिज्या स्थान में उसकी उत्क्रमज्या को स्वीकार किया है। बहुत स्थानों में आचार्यमत को अनुसरण करते हुए कहीं कहीं लल्लोक्त को भी श्रीपति ने स्वीकार किया है यहां भी लल्लोक्तवत् सत्रिभग्रहक्रान्तिज्यास्थान उसकी उत्क्रमज्या को स्वीकार किया है। यदि क्रान्ति और वलन की एक दिशा हो यथा क्रान्ति और शर यदि उत्तर दिशा का है वा दक्षिण दिशा का तब शर से उन्नामित ग्रह जब क्षितिज में आते हैं तावत् क्रान्तिवृत्त ग्रह स्थान से पृष्ठ ही क्रान्तिवृत्त क्षितिज में लगता है वहां फल ऋण होता है। शर और वलन की दिशा भिन्न रहने से विपरीत होता है अतः वहां फल धन होता है इति ॥६६॥

इदानीं ग्रहर्क्षगोलयोः स्थिरवृत्तान्याह ।

कक्षा मण्डलतुल्यं प्राच्यपरं दक्षिणोत्तरं क्षितिजम् ।
उन्मण्डलविषुवन्मण्डले स्थिराणि ग्रहर्क्षाणाम् ॥६७॥

सु. भा.—पूर्वापरम् । दक्षिणोत्तरम् । क्षितिजम् । उन्मण्डलम् । विषुवन्मण्डलम् । सर्वं कक्षामण्डलतुल्यं समानं महद्वृत्तं च ज्ञेयम् । ग्रहर्क्षाणां गोलयोरेतानि स्थिराणि वृत्तानि सन्तीति ॥६७॥

वि. भा.—प्राच्यपरं (पूर्वापरम्), दक्षिणोत्तरं (याम्योत्तरम्), क्षितिजम्, उन्मण्डलम्, विषुवन्मण्डलम् (नाड़ीवृत्तम्) सर्वं कक्षामण्डल (क्रान्तिवृत्त) तुल्यं महद्वृत्तं चेति, ग्रहाणां—नक्षत्राणां चैतानि पञ्चवृत्तानि स्थिराणि कथितानि ॥६७॥

अब ग्रहगोल और नक्षत्र गोल में स्थिर वृत्तों को कहते हैं।

हि. भा.—पूर्वापरवृत्त, याम्योत्तरवृत्त, क्षितिजवृत्त, उन्मण्डल, नाड़ीवृत्त ये सब (पांच) वृत्त कक्षावृत्त (क्रान्तिवृत्त के बराबर महद्वृत्त हैं) ग्रहों के और नक्षत्रों के ये पांच स्थिरवृत्त कथित हैं इति ॥६७॥

इदानीं ग्रहाणां चलवृत्तान्याह ।

मन्दोच्चानां सप्तोच्चनीचवृत्तानि पञ्चशीघ्राणाम् ।
प्रतिमण्डलानि चैवं प्रत्येकं भास्करादीनाम् ॥६८॥

दृग्मण्डलविक्षेपापममण्डलानि क्षपाकरादीनाम् ।
षट्कं विमण्डलानां चलवृत्तान्येकपञ्चाशत् ॥६९॥

सु. भा.—मन्दनीचोच्चवृत्तानि	=७
भौमादीनां शीघ्रनीचोच्चवृत्तानि	=५
मन्दप्रतिवृत्तानि	=७
शीघ्रप्रतिवृत्तानि	=५
दृग्मण्डलं दृक्क्षेपमण्डलं कक्षामण्डलं चेति सप्तानां ग्रहाणाम्	=२१
चन्द्रादीनां षड्विमण्डलानि	=६
	५१

एवं चलवृत्तान्येकपञ्चाशत् सन्तीति ॥६८-६९॥

वि. भा.—रव्यादिग्रहाणां मन्दोच्चनीचवृत्तानि = ७, भौमादिपञ्चकानामेव ग्रहाणां शीघ्रोच्चत्वात् शीघ्रनीचोच्चवृत्तानि पञ्च=५, ग्रहाणां मन्दप्रति-

वृत्तानि=७, शीघ्रप्रतिवृत्तानि=५, दृग्वृत्तं, दृक्क्षेपवृत्तं कक्षावृत्तं चेति रव्यादिग्रहाणामेकविंशतिः=२१, रविं विनैव चन्द्रादिग्रहाणां विमण्डलानि=६, सर्वेषां योग एकपञ्चाशत् ५१ संख्यकानि चलवृत्तानि सन्तीति । सिद्धान्तशेखरे "मन्दोच्चनीचवलयानि भवन्ति सप्त शैघ्र्याणि पञ्च च तथा प्रतिमण्डलानि । दृक्क्षेप दृष्टयपमजानि च खेचराणामर्कं विनैव खलु षट् च विमण्डलानि । पञ्चादशेकसहितानि च मण्डलानि पूर्वापरं वलयमुत्तरदक्षिणंच । क्ष्माजं तथा विषुवदुद्वलयाभिधाने पञ्चस्थिराणि कथितान्युडु खेचराणाम् ।" इत्यनेन श्रीपतिनाऽऽचार्योक्तानुरूपमेव कथितम् ॥६९॥

अब ग्रहों के चलवृत्तों को कहते हैं ।

हि. भा.—रव्यादि ग्रहों के मन्दोच्चनीच वृत्त सात ७ हैं, भौमादि पांच ग्रहों के शीघ्रनीचोच्चवृत्त=५, रव्यादि ग्रहों के मन्दप्रतिवृत्त=७, भौमादिग्रहों के शीघ्रप्रतिवृत्त=५, दृग्वृत्त, दृक्षेपवृत्त, और कक्षावृत्त ये सात ग्रहों के=२१, चन्द्रादिग्रहों के विमण्डल=६, सबों के योग=५१, एतत् संख्यक चलधृत्त है सिद्धान्तशेखर में 'मन्दोच्च नीचवलयानि भवन्ति सप्त' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से श्रीपति ने आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है इति ॥६८-६९॥

इदानीमध्यायोपसंहारमाह ।

यत् स्पष्टीकरणाद्यं गोलादुत्प्रेक्ष्य तत् कृतं सर्वम् ।
गोलाध्यायः सप्तत्यार्याणामेकविंशोऽयम् ॥७०॥

सु. भा.—इह मया यत्स्पष्टीकरणाद्यं सर्वं कृतं तद्गोलादुत्प्रेक्ष्यावगम्य कृतमतः सर्वं सयुक्तिकं ज्ञेयमिति । शेषं स्पष्टार्थम् ।

मधुसूदनसूनुनोदितो यस्तिलकः श्रीपृथुनेह जिष्णुजोक्ते ।
हृदि तं विनिधाय नूतनोऽयं रचितो गोलविधौ सुधाकरेण ।

इति श्रीकृपालुदत्तसूनुसुधाकरद्विवेदिविरचिते ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तनूतनतिलके गोलाध्यायो नामैकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

वि. भा.—मया स्पष्टीकरणाद्यं यत् सर्वं कृतं तद्गोलादवगम्य कृतम् । अयमार्याणां सप्तत्यैकविंशो गोलाध्यायोऽस्तीति ॥७०॥

इति ब्राह्मस्फुटसिद्धान्ते गोलाध्यायो नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥२१॥

अब अध्याय के उपसंहार को कहते हैं ।

हि. भा.—स्पष्टीकरण आदि जो कुछ हमने किया है वह सब गोल से समझ कर किया है, इसलिये इन सबों को युक्ति युक्त समझना चाहिये । सत्तर आर्याओं का यह इक्कीसवां गोलाध्याय है इति ॥७०॥

इति ब्राह्मस्फुटसिद्धांत में गोलाध्याय नामक इक्कीसवां अध्याय समाप्त ।

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

यन्त्राध्यायः

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

अथ यन्त्राध्यायः प्रारभ्यते ।

तत्र प्रथमं गोल प्रशंसामाह ।

मध्याद्यमिह यदुक्तं तत् प्रत्यक्षमिव दर्शयति यस्मात् ।
तस्मादाचार्यत्वं गोलविदो भवति नान्यस्य ॥ १ ॥

सु. भा.—यस्मादिह सिद्धान्ते यन्मध्याद्यं गणितमुक्तमस्ति तत् सर्वं गोलवित् प्रत्यक्षमिव दर्शयति तस्माद्गोलविद एवाचार्यत्वं भवति नान्यस्येति ॥१॥

वि. भा.—यस्मात् कारणादिह सिद्धान्तग्रन्थे ग्रहाणां मध्याद्यं गणितं यदुक्त (कथित) मस्ति तत्सर्वं गोलवित् प्रत्यक्षमिव दर्शयति, तस्मात्कारणाद् गोलविद आचार्यत्वं भवति, अन्यस्य नेति ॥ १ ॥

अब यन्त्राध्याय प्रारम्भ किया जाता है ।

उसमें पहले गोल प्रशंसा कहते हैं ।

हि. भा.—जिस कारण से इस सिद्धान्त ग्रन्थ में ग्रहों के मध्यादि गणित जो कथित है उन सबों को गोलवेता (गोल को जानने वाले) प्रत्यक्ष के तरह दिखलाते हैं, इस कारण से गोलवेत्ता ही को आचार्यत्व होता है, अन्य किसी को आचार्यत्व नहीं होता है अर्थात् गोल को जानने वाले ही आचार्य होते हैं दूसरे नहीं ॥ १ ॥

इदानीं स्वगोलग्रथने कारणं कथयति ।

आचार्येर्न ज्ञातः श्रीषेणार्यभटविष्णुचन्द्राद्यैः ।
गोलो यस्मात् तस्मात् ब्राह्मो गोलः कृतः स्पष्टः ॥ २ ॥

सु० भा०—यस्मात् श्रीषेणार्यभटविष्णुचन्द्राद्यैर्गोलो न ज्ञातस्तस्मान्मयाऽयं ब्राह्मो गोलः स्पष्ट कृत इति ॥ २ ॥

वि. भा.—यस्माद्धेतोः श्रीषेणार्यभटविष्णुचन्द्राद्यैराचार्यैर्गोलो न ज्ञातस्तस्मान्मयाऽयं ब्राह्मो गोलः स्पष्टः कृत इति ॥ २ ॥

अब अपनी गोल रचना के कारण कहते हैं ।

हि. भा.—क्योंकि श्रीषेण-आर्यभट-विष्णु-चन्द्र आदि आचार्य गोल को नहीं समझे इसलिये हमने इस ब्राह्म गोल को स्पष्ट किया है इति ॥ २ ॥

इदानीं गणित गोलयोः प्रशंसामाह ।

गणितज्ञो गोलज्ञो गोलज्ञो ग्रहगतिं विजानाति ।
यो गणितगोलबाह्यो जानाति ग्रहगतिं स कथम् ॥ ३ ॥

सु. भा.—यो गणितज्ञः स गोलज्ञो भवति (गोलस्य गणितक्षेत्रान्तर्गतत्वात्)। यो गोलज्ञः स एव ग्रहगतिं विशेषेण जानाति । तस्माद्यो गणितगोलबाह्योऽस्ति स कथं ग्रहगतिं जानाति । न जानातीत्यर्थः ॥ ३ ॥

वि. भा.—यो गणितज्ञः स गोलज्ञो भवति (गोलस्य गणितान्तर्गतत्वात्), यो गोलज्ञः स ग्रहगतिं विजानाति । सिद्धान्तशिरोमणेर्गोलाध्याये "दृष्टान्त एवावनिभग्रहाणां संस्थानमानं प्रतिपादनार्थम् । गोलः स्मृतः क्षेत्रविशेष एषः प्राज्ञैरतः स्याद् गणितेन गम्यः ॥" भास्कराचार्येणाप्येवमेव कथ्यते । यो गणितगोलबाह्योऽर्थाद् गणितं गोलं च न जानाति स ग्रहगतिं कथं जानाति । कथमपि न जानातीति ॥ ३ ॥

अब गणित और गोल की प्रशंसा करते हैं ।

हि. भा.—जो गणित जानते हैं वे गोल को भी जानते हैं क्योंकि गोल-गणितक्षेत्र परिधि के अन्तर्गत है; जो गोल जानते हैं वे ग्रहगति को जानते हैं; सिद्धान्त-शिरोमणि के गोलाध्याय में 'दृष्टान्त एवावनिभग्रहाणां" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक से भास्कराचार्य ने भी आचार्योक्त के अनुरूप ही कहा है, जो गणित और गोल नहीं जानते हैं वे ग्रहगति को कैसे जानेंगे अर्थात् किसी तरह भी नहीं जान सकते हैं इति ॥ ३ ॥

इदानीं यन्त्राध्यायारम्भप्रयोजनमाह ।

गोलस्य परिच्छेदः कर्तुं यन्त्रैर्विना यतोऽशक्यः ।
संक्षिप्तं स्पष्टार्थं यन्त्राध्यायं ततो वक्ष्ये ॥ ४ ॥

सु. भा.—यतो यन्त्रैर्विना गोलस्य परिच्छेदः सम्यग्विचारः कर्तुं गणकोऽ-

शक्यो भवति ततो गोलस्य स्पष्टार्थं संक्षिप्तं यन्त्राध्यायमहं वक्ष्य इत्याचार्योक्तिः ॥ ४ ॥

वि. भा.—यतो यन्त्रैर्विना ज्यौतिषिको गोलस्य परिच्छेदः (यथार्थरूपेण विचारः) कर्त्तुमसमर्थो भवति, तस्माद्धेतोर्गोलस्य स्पष्टार्थं संक्षिप्तं यन्त्राध्यायमहं वक्ष्ये ॥ सिद्धान्तशेखरे "शक्यः परिच्छेदविधिर्विधातुं यन्त्रैर्विना नो समयस्य तज्ज्ञैः । तेषां स्वयंवाहक पूर्वकाणामतः प्रवक्ष्ये खलु लक्षणानि ॥" श्रीपतिनैवं यन्त्राध्यायारम्भप्रयोजनं कथ्यते । सिद्धान्त शिरोमणेर्गोलाध्याये भास्कराचार्योऽपि श्रीपत्युक्तसदृशमेव कथयति—

"दिनगतकालावयवा ज्ञातुमशक्या यतो विना यन्त्रैः ।
वक्ष्ये यन्त्राणि ततः स्फुटानि संक्षेपतः कतिचित् ॥"
सर्वस्मिन् ज्यौतिषसिद्धान्तग्रन्थे यन्त्राध्यायो भवत्येवेति ॥ ४ ॥

अब यन्त्राध्याय आरम्भ करने के कारण कहते हैं ।

हि. भा.—यन्त्रों के बिना ज्यौतिषिक लोग गोल का विचार अच्छी तरह करने में असमर्थ होते हैं । इसलिए गोल की स्पष्टता के लिए संक्षेरूप से यन्त्राध्याय को मैं कहता हूं । सिद्धान्त शेखर में "शक्यः परिच्छेदविधिर्विधातु यन्त्रैर्विना नो समयस्य तज्ज्ञैः" इत्यादि विज्ञानभाष्य में लिखित श्लोकोक्त अनुसार यन्त्राध्याय आरम्भ करने के कारण कहते हैं । सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय में भास्कराचार्य भी श्रीपत्युक्त के सदृश ही कहते हैं । 'दिनगत कालावयवा ज्ञातुमशक्या यतो विना यन्त्रैः' इत्यादि । सब ज्यौतिष सिद्धान्त ग्रन्थों में यन्त्राध्याय होता ही है इति ॥ ४ ॥

इदानीं तन्त्राणि यन्त्रोपकरणानि चाह ।

**सप्तदश कालयन्त्राण्यतो धनुस्तुर्यंगोलकं चक्रम् ।
यष्टिः शङ्कुर्घटिका कपालकं कर्त्तरी पीठम् ॥५॥
सलिलं भ्रमोऽवलम्बः कर्णश्छाया दिनार्धमर्कोऽक्षः ।
नतकालज्ञानार्थं तेषां संसाधनान्यष्टौ ॥६॥**

सु. भा.—यतो धनुर्यन्त्रम् । तुर्यगोलं तुरीयम् । चक्रयन्त्रम् । यष्टिः । शङ्कुः । घटिका घटीयन्त्रम् । कपालयन्त्रम् । कर्त्तरी । पीठसंज्ञं यन्त्रम् । सलिलं जलम् । भ्रमः शाणः । अवलम्बोऽवलम्बसूत्रम् । कर्णश्छायाकर्णः । छाया शङ्कुच्छाया । दिनार्धं दिनार्धमानम् । अर्कः सूर्यः । अक्षः पलांशाः । अतो नतकालज्ञानार्थं सप्तदश कालयन्त्राणि सन्ति । तेषां यन्त्राणां मध्ये सलिलादीन्यष्टौ यन्त्रसंसाधनानि यन्त्ररचनामूलभूतानि सन्ति ॥५-६॥

वि. भा.—यतोधनुर्यन्त्रम्, तुर्यगोलकं (तुरीययन्त्रम्), चक्रं (चक्रयन्त्रम्), यष्टिः, शङ्कुः, घटिका (घटीयन्त्रम्), कपालकं (कपालयन्त्रम्), कर्त्तरी यन्त्रम्। पीठ संज्ञकं यन्त्रम्। सलिलं (जलम्), भ्रमः (शाणः), अवलम्बः (अवलम्बसूत्रम्), कर्णः (छायाकर्णः), छाया (शङ्कुछाया), दिनार्धं (दिनार्धमानम्), अर्कः (सूर्यः), अक्षः (अक्षांशाः), नतकालज्ञानार्थं सप्तदशकाल यन्त्राणि सन्ति, तेषां यन्त्राणां मध्ये सलिलं भ्रम इत्यादीनि-अष्टौ यन्त्रसंसाधनानि (यन्त्र निर्माणोपकरणानि) सन्तीति ॥५-६॥

अब यन्त्र और यन्त्रोपकरण कहते हैं।

हि. भा.—धनुर्यन्त्र, तुर्यगोलक (तुरीय) यन्त्र, चक्र (चक्र) संज्ञक यन्त्र, यष्टि, शङ्कु, घटिका (घटी) यन्त्र, कपाल यन्त्र, कर्त्तरीयन्त्र, पीठसंज्ञकयन्त्र, सलिल (जल), भ्रम (शाण), अवलम्ब (अवलम्ब सूत्र), छायाकर्ण, शङ्कुच्छाया, दिनार्धमान, सूर्य, अक्षांश, नतकालज्ञान के लिये सत्रह काल यन्त्र हैं, उन यन्त्रों में जल, भ्रम आदि आठ यन्त्ररचना-मूल भूत हैं इति ॥५-६॥

इदानीं सलिलादीनां किं प्रयोजनमित्याह।

सलिलेन समं साध्यं भ्रमेण वृत्तमवलम्बकेनोर्ध्वम्।
तिर्यक् कर्णेनान्यैः कथितैश्च नव प्रवक्ष्यामि ॥७॥

सु० भा०—सलिलेन समं साम्यं साध्यम्। भ्रमेण शाणेन वृत्तं साध्यम्। अवलम्बकेनोर्ध्वमूर्ध्वाधरत्वं साध्यम्। कर्णेनान्यैः कथितैश्छायादिभिश्च यन्त्रस्य तिर्यक् तिर्यक्त्वं साध्यम्। एवमवशिष्टानि नव यन्त्राणि प्रवक्ष्याम्यहमित्याचार्योक्तिः ॥७॥

वि. भा.—सलिलेन (जलेन), समं (भुवः साम्यं) साध्यम्। भ्रमेण (शाणेन), वृत्तं साध्यम्। अवलम्बकेन यन्त्रे उर्ध्वाधरत्वं साध्यम्। कर्णेन, अन्यैः कथितैश्छायादिभिश्च यन्त्रस्य तिर्यक्त्वं साध्यम्। एवमवशिष्टानि नव यन्त्राण्यहं प्रवक्ष्यामि। सिद्धान्तशेखरे—

"अद्भिः समाभूर्वलयं भ्रमात्तु त्र्यस्रं च कर्णाच्चतुरस्रयुक्तम्।
लम्बोऽध ऊर्ध्वार्जवसिद्धये स्यात् बीजानि तैलाम्बुरसाः ससूत्राः॥"

श्रीपतिनैवं कथ्यते । ससूत्राः तैलाम्बुरसा बीजानि भवन्ति, तत्र सूत्रं मुखविवराद्वालुकादिनिःसरणार्थं लोहतन्तुरूपम् । तैलं तथा अम्बु (जलं), रसाः (पारदाः), एतानि बीजानि आदि कारणानि सन्तीति । शिष्य धीवृद्धिद तन्त्रे लल्लश्च—

"इष्टं सुवृत्तवलयं लघुशुष्कदारु निर्मापितं विविध शिल्पवदाततक्ष्णा ।
गोलं समं सलिल तैलवृषाङ्कबीजैः कालानुसारिणममुं भ्रमयेत् स्वबुद्धचा
त्रिंशत्पलं तरति यद्रसतैलकेषु तत्सार्यते त्रिभिरिदं स्ववहस्य बीजम् ।
वृत्ते भ्रमात् त्रिचतुरस्रमुपैतिकर्णाल्लम्बाच्च सिद्धिमधऊर्ध्वमिला समाद्भिः

यान्युपकरणानि तद्वशेन यथैव स्वयंवहयन्त्रनिर्माणं च प्रतिपादयतस्तान्येवोपकरणानि तथैव स्वयंवहयन्त्रनिर्मणं च श्रीपतेरभिप्रेतमिति स्फुटं प्रतीयमानेऽपि तदुक्त्या न सर्वं स्फुटीभवतीति विवेचकैर्विवेचनीयम् ॥ ७ ॥

अब सलिला (जल) दि से क्या किया जाता है कहते हैं ।

हि. भा.—जल से पृथ्वी को बराबर करना चाहिये । शाण से वृत्त साधन करना चाहिए । अवलम्ब सूत्र से यन्त्र में ऊर्ध्वाधो भाव विदित होता है । कर्ण से और कथित छायादियों से यन्त्र का तिर्यक्त्व (तिरछापन) साधन करना चाहिये । एवं अवशिष्ट नौ यन्त्रों को मैं कहता हूं ॥

सिद्धान्त शेखर में 'अद्भिः समा भूर्वलयं भ्रमात्तु' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकोक्त के अनुसार श्रीपति ने कहा है । शिष्य धीवृद्धिदतन्त्र में लल्लाचार्य—'इष्टं सुवृत्तवलयं लघुशुष्कदारु निर्मापितं' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों के अनुसार कहा है इति ॥ ७ ॥

इदानीं धनुर्यन्त्रमाह ।

धार्यं धनुस्तथाऽन्यत् छाया साम्यं यथोन्नता भागाः ।
दिनगतशेषाः घटिकाः स्वलम्बभुक्ता धनुर्मध्या ॥ ८ ॥

सु. भा.—धनुर्यन्त्रं तथा धार्यं यथाऽन्यत् छायासाम्यं भवेत् । अत्रैतदुक्तं भवति । यस्मिन् दिने धनुर्यन्त्रेण कालज्ञानमभीष्टं तद्दिनसम्बन्धिक्रान्तिचरादिना प्रतिघटिकोन्नत कालवशेन धनुर्यन्त्रकेन्द्रस्थापितेष्टप्रमाणकीलस्य छायाः प्रसाध्य स्वस्वोन्नतकालसम्मुखेऽङ्कयाः । इष्टदिने तथा धनुर्धार्यं यथा कीलच्छायाधनुरग्रयोरन्तरे परिधौ कीलच्छायासंबंधि गणितागतशङ्कुभागसमा भागाः स्युस्तथा धृते वाऽवलम्बोऽपि दृक्सूत्राकारो लगति । अतो धनुर्मध्यात् स्वलम्बभुक्ता भागा रवे-

रुन्नता भागास्तथा तत्राङ्कित उन्नतकालश्च पूर्वापरकपालयोर्दिनगतशेषा घटिका: स्युः ।

अत्रोपपत्तिः । गोलयुक्त्यैव स्फुटा ॥८॥

वि. भा.—धनुर्यन्त्रं तथा धार्यं यथाऽन्यत् छायासाम्यं भवेदर्थात् क्रान्तिवशेन 'अक्षप्रभासंगुणितापमज्या तद्द्वादशांशो भवति ।क्षितिज्येत्यादिना चरज्या साध्या, तथेष्टशङ्कोरिष्टहृतेर्ज्ञानम्, इष्टहृतेरिष्टान्त्या, ततश्चरज्या संस्कारेण सूत्रज्ञानं तत उन्नतकालावबोध: सम्यग्भवत्येवं प्रतिघटिकोन्नतकालवशेन धनुर्यन्त्रकेन्द्रे स्थापितस्येष्टप्रमाणकीलस्य छाया: प्रसाध्य स्वस्वोन्नतकालसंमुखेऽङ्कनीया: । धनुर्यन्त्रमभीष्टदिने तथा धार्यं यथा कीलच्छाया धनुरग्रयोरन्तरे परिधौ कीलच्छायासम्बन्धिगणितागतशङ्कुभागसमा भागा: स्युस्तथा धृते सति—अवलम्बोऽपि दृक्सूत्राकारो लगति, धनुर्मध्यात् स्वलम्बभुक्ता भागा रवेरुन्नतभागास्तत्राङ्कित उन्नतकालश्च पूर्वापरकपालयोर्दिनगतशेषघटिका: स्युरिति ॥

सिद्धान्तशेखरे गोलयन्त्रेण दिनगतघटिका दिनशेषघटिकाश्च निम्नलिखित प्रकारेण श्रीपतिना आनीता:—

चक्रांशाङ्कं क्रान्तिवृत्तं विधेयं उर्वीवृत्तं याम्यवृत्तं च तद्वत् ।
नाड़ीवृत्तं षष्टिभागाङ्कितं हि याम्योदक्स्था यष्टिरुर्वीजमध्ये ॥

कार्यं खगोलस्य दृढ़स्य मध्ये भगोलमेतत् परितस्तथा च ।
यन्त्रांशके तिग्मकरो ऽपवृत्ते क्षिपेच्छलाकामिह तत्र भागे ॥

तान्नाड़िकावृत्तगतां विधाय समुद्गमात् सूर्यवशेन भूजात् ।
तदीयभा केन्द्रगता यथा स्यात् स खम्बुनाड्या भ्रमयेत्तथैव ॥

पातङ्गचिह्नक्षितिजान्तरस्था: समुद्गतांशा गणकैर्निरुक्ता: ।
नाड्य: शलाका कुजयोस्तु मध्ये समुन्नतास्ता नियतं भवन्तीति ॥

व्याख्या—षष्ट्यधिकशतत्रयांशै: समानैश्चिह्नितं क्रान्तिवृत्तं विधेयम् । तद्वत् समषष्ट्यधिकशतत्रयांशैश्चिह्नितमेव क्षितिजवृत्तं याम्योत्तरवृत्तं च विधेयम् । नाड़ीवृत्तं षष्टिभागाङ्कितं विधेयम् । क्षितिजवृत्तस्य केन्द्रे दक्षिणोत्तरबिन्द्वोर्गता यष्टि (सुसरलससारदारुनिर्मिता यष्टिका) धार्या, गोलकेन्द्ररूपे क्षितिजवृत्तकेन्द्रे दक्षिणोत्तरसमस्थानरूपयोर्गता च यष्टि: कार्येत्यर्थ: । दृढ़स्य (कठिनमाबद्धस्य) खगोलस्य (सममण्डल-याम्योत्तर मण्डलादिनिर्मितस्य गोलस्य) केन्द्रे तथा समन्तत: एतत् अनन्तरोक्त क्रान्तिवृत्त–क्षितिजवृत्त–याम्योत्तरवृत्त, नाड़ीवृत्तात्मकं भगोलं कार्यम् । इह भगोले क्रान्तिवृत्ते यत्रांशके (यस्मिन्नंशे) सूर्य-

स्तस्मिन्नंशे शलाकां (दारवीं लोहसंभवां वा) क्षिपेत् (दद्यात्)। तां शलाकां नाड़ीवृत्तसंलग्नां कृत्वा कथमित्याह। उदयक्षितिजात् सूर्यवशेन। तस्याः शलाकायाश्छाया यथा केन्द्रगतास्यात् तथा यन्त्रं भ्रमयेत्। पातङ्गं चिह्नं (शलाकयाक्षिप्तं रविचिह्नमिति तथा क्षितिजं च तयोरन्तरस्था अंशा गणकैः क्षितिजादुन्नतांशाः कथिताः। शलाकाक्षितिजयोर्मध्ये शलाकासंसक्तनाड़ीवृत्तस्य क्षितिजवृत्तस्य च मध्ये नाड्यो घटिकायास्ता समुन्नता नाड्यो भवन्ति। दिनगतघटिका दिनशेषा वा घटिका भवन्तीत्यर्थः।

श्रीपत्युक्तं गोलयन्त्रद्वारेण रवेरुन्नतांशज्ञानं-उन्नतघटिकाज्ञानं च लल्लोक्तस्य—

अथ लग्नकाल सिद्धयै पूर्वापर परिकरोत्तरैर्नवभिः।
निर्मापयेद् भगोलं प्राग्विधिना क्रान्तिवृत्तमिह॥

तस्य बहिश्च खगोलं समवृत्तक्षितिजदक्षिणोत्तरगैः।
उन्मण्डलेन च तथा ध्रुवयष्टया पूर्ववत् सभुवा॥

षष्टयाङ्कयेद् भगोलं प्रागपराणीतराणि चक्रांशैः।
कुर्याद् दृढं खगोलं श्लथं भगोलं च नलिकाभ्याम्॥

यस्मिन्नंशे सविता तत्र शलाकां क्षिपेदपमवृत्ते।
नाड़ीवृत्तस्थां तामुदयक्षितिजाद्रविवशेन॥

भ्रमयेच्छश्वत्तद्वत् यथा न केन्द्रं त्यजेच्छलाकाभा।
रविचिन्हक्षितिजान्तरमुदितांशास्तृणाकुजान्तरं घटिकाः॥

अस्य सर्वथैव समानार्थकमिति॥

गोलाध्यायन्त्राध्याये भास्कराचारेणाऽप्येवमेवेदं गोलयन्त्रमभिहितम्।

"अपवृत्तगरविचिन्हं क्षितिजे धृत्वा कुजेन संसक्ते।
नाड़ीवृत्ते बिन्दुं कृत्वा धृत्वाऽथ जलसमं क्षितिजम्॥

रविचिन्हस्य च्छाया पतति कुमध्ये यथा तथा विधृते।
उडुगोले कुजबिन्द्वोर्मध्ये नाड्यो द्युयाताः स्युः॥

यथोक्तविधिना खगोलान्तर्भगोलं बद्ध्वा तत्र क्रान्तिवृत्ते मेषादेरारभ्य रविभुक्तराशिभागाद्यं दत्त्वा तदग्रे यच्चिन्हं तदपवृत्तगरविचिन्हमुच्यते। भगोलं चालयित्वा रविचिन्हं क्षितिजे धार्यम्। तथा धृते सति क्षितिज प्राच्यां विषुवन्मण्डले यत्र लग्नं तत्र खटिकया बिन्दुः कार्यः। ततः क्षितिजवृत्तं जलसमं यथा भवति तथा गोलयन्त्रं स्थिरं कृत्वा भगोलस्तथा चाल्यो यथा रविचिन्हस्य छाया भूगर्भे पतति तथा कृते सति विषुवद्वृत्ते क्षितिजबिन्द्वोर्मध्ये यावत्यो घटिकास्तावत्यस्तस्मिन् काले दिनगता ज्ञेयाः इति॥८॥

अब धनुर्यन्त्र को कहते हैं ।

हि. भा—धनुर्यन्त्र को इस तरह धारण करना चाहिये जिससे अन्य छाया साम्य हो अर्थात् क्रान्तिवश से 'अक्षप्रभा सङ्गुणितापमज्या तद्द्वादशांशो भवति क्षितिज्या' इत्यादि से चरज्या साधन करना तथा इष्टशङ्कु से इष्टहृति का ज्ञान, उससे इष्टान्त्या का ज्ञान कर उसमें चरज्या संस्कार से सूत्रज्ञान कर उस से उन्नत काल का ज्ञान होता है। एवं प्रत्येक घटिकोन्नत काल वश से धनुर्यन्त्र केन्द्र में स्थापित इष्ट प्रमाण कील की छाया साधन कर अपने अपने उन्नत काल के संमुख अङ्कित करना। धनुर्यन्त्र को इष्ट दिन में ऐसे धारण करना जिससे कील की छाया धनुष के दोनों अग्र के अन्तर में कीलच्छाया सम्बन्धी गणितागतशङ्कुभाग के बराबर भाग (अंश) हो, ऐसे धरने से अवलम्ब भी दृक् सूत्राकार लगता है। धनुष के मध्य से अपने लम्बभुक्त भाग रवि के उन्नत भाग (उन्नतांश) होते हैं, वहां अङ्कित उन्नतकाल पूर्व कपाल और पश्चिम कपाल में दिनगत घटी-दिन शेष घटी होतीं है। सिद्धान्तशेखर में 'गोलयन्त्र से दिनगत घटी और दिन शेष घटी का ज्ञान अधोलिखित प्रकार से श्रीपति ने किया है जैसे 'चक्रांशाङ्कं क्रान्तिवृत्तं विधेयं विदध्याद्दुर्वीवृत्तं याम्यवृत्तं च तद्वत्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित पद्यों से, श्रीपत्युक्त पद्यों का अर्थ यह है क्रान्तिवृत्त क्षितिजवृत्त और याम्योत्तरवृत्त में तीन सौ साठ अंश अङ्कित करना चाहिये। नाड़ीवृत्त को साठ अंशों से अङ्कित करना। क्षितिजवृत्त के केन्द्र में गोलकेन्द्र में दक्षिण सम स्थान और उत्तर समस्थानगत यष्टि स्थापन करना; दृढ़ (मजबूती से बन्धा हुआ) खगोल (पूर्वापरवृत्त याम्योत्तर वृत्तादि से निर्मित गोल) के केन्द्र में तथा चारों तरफ क्रान्तिवृत्त-क्षितिजवृत्त याम्योत्तरवृत्त नाड़ीवृत्तात्मक भगोल को करना, इस भगोल में क्रान्तिवृत्त में जिस अंश में सूर्य है उस अंश में लकड़ी की वा लोहे की शलाका देनी चाहिये। उस शलाका को उदय क्षितिज से सूर्यवश से नाड़ीवृत्त से संलग्न कर शलाका की छाया जैसे केन्द्रगत हो वैसे यन्त्र को भ्रमण कराना चाहिये। शलाका से क्षिप्त रवि चिन्ह तथा क्षितिज के अन्तर में जो अंश है वह उन्नतांश कथित हैं। शलाका और क्षितिज के मध्य में शलाका संसक्त नाड़ीवृत्त और क्षितिजवृत्त के मध्य में उन्नत घटी होती है अर्थात् दिनगत घटी और दिनशेष घटी होती है। श्रीपति कथित गोलयन्त्र द्वारा रवि का उन्नतांश ज्ञान और उन्नत घटिका ज्ञान लल्लोक्त "अथ लग्नकाल सिद्धयै पूर्वापरपरिकरोत्तरैर्नवभिः" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित प्रकार के सर्वथा समानार्थक है, गोलाध्याय के यन्त्राध्याय में भास्कराचार्य ने भी 'अपवृत्तग रविचिन्हं क्षितिजे धृत्वा कुजेन संसक्ते' इत्यादि से इसी तरह कहा है इति ॥८॥

इदानीं प्रकारान्तरेण यन्त्रं सूर्याभिमुखे कथं समं धार्यमित्येतदर्थमाह ।

धार्यं समं तथा वा ज्या छाया मध्यगा यथा भवति ।
अग्रादिष्टा घटिका ज्यामध्यच्छायया भुक्ताः ॥९॥

सु. भा.—यथा ज्याछाया धनुषो ज्यायाः पूर्णज्यायाश्छाया मध्यगा धनुषो

मध्यगा भवति तथा वा यन्त्रं समं धार्यम् । दृग्मण्डलाकारं धार्यं यथा तत्पार्श्वयो रवेस्तुल्यं तेजो लगतीत्यर्थः । एवं ज्यामध्यच्छायया ज्याया धनुः पूर्णज्याया मध्येऽर्थात् केन्द्रे स्थापितो यः कीलस्तस्य छायया भुक्ता या अग्राद्धनुः कोटचग्रादङ्किता घटिकास्ता इष्टा घटिकाः स्युः ॥

गोलयुक्तिरेव वासनाऽत्र ज्ञेया ॥९॥

वि. भा.—यथा ज्याछाया (धनुषो ज्यायाः पूर्णज्यायाश्छायाः) धनुषो मध्यगा भवति तथा वा यन्त्रं समं धार्यम् । दृग्मण्डलाकारं धार्यं यथा तत्पार्श्वयो रवेस्तेजो तुल्यं लगतींत्यर्थः । एवं ज्यामध्यच्छायया (ज्याया धनुः पूर्णज्याया मध्येऽर्थात् केन्द्रे स्थापितो यः कींलस्तस्य छायया) भुक्ता अग्रात् (धनुः कोटचग्रादङ्किता) या घटिकास्ता इष्टा घटिकाः स्युः ॥९॥

अब प्रकारान्तर से सूर्याभिमुख यन्त्र को कैसे रखा जाता है इस के लिये कहते हैं ।

हि. भा.—जैसे धनुष की पूर्णज्या की छाया धनुष के मध्यगत होती है वैसे यन्त्र को समरूप से धारण करना । दृग्मण्डलाकार धारण करना जिससे उसकी दोनों बगल में रवि का तेज बराबर (तुल्य) लगता है । एवं धनुष की पूर्णज्या के मध्य में अर्थात् केन्द्र में स्थापित जो कील उसकी छाया से भुक्त जो धनुष के कोटचग्र से अङ्कित घटी है वह इष्टघटी है इति ॥९॥

इदानीं प्रकारान्तरेणेष्टघटिकां धनुः स्वरूपं चाह ।

घटिका स्वशङ्कुभागैः पृथग्गतैर्लम्बभूसमज्यार्धात् ।
साशीतिशतांशाङ्कं चक्रस्यार्धं धनुर्यन्त्रम् ॥१०॥

सु. भा.—पृथग्गतैः स्वशङ्कुभागैर्लम्बभूसमज्यार्धाद्वा घटिकाः साध्याः । अत्रैतदुक्तं भवति । यदि स्वाभीष्टदिनेष्टकाले शङ्कुभागा एव विदितास्तदा धनुःकोटचग्रात् तान् भागान् दत्त्वा तदग्राद्धनुर्ज्या या भूमिस्तस्या उपरि लम्ब एव यो ज्यार्धात् ज्याखण्डतो भवति स शङ्कुस्तस्मात् त्रिप्रश्नविधिनेष्टक्रान्तिचरादिनेष्टान्त्यामवगम्य घटिका ज्ञेया इति । चक्रस्य वृत्तस्यार्धं साशीतिशताङ्कं चक्रार्धांशाङ्कं धनुर्यन्त्रं भवति ॥ १० ॥

वि. भा.—पृथग्गतैः स्वशङ्कुभागैर्लम्बभूसमज्यार्धाद्वा घटिकाः साध्याः । अर्थाद्यदीष्टदिनेष्टकाले शङ्कुभागा एव विदितास्तदा धनुःकोटचग्रात् तान् भागान् दत्वा तदग्राद्धनुर्ज्या या भूमिस्तदुपरि लम्ब एव यो ज्याखण्डतो भवति स शङ्कुस्तस्मात् त्रिप्रश्नाधिकार विधिनेष्टान्त्यां ज्ञात्वा घटिका ज्ञेयाः । चक्र-

स्यार्धं (वृत्तार्धं) अशीत्यधिकशतांशैरङ्कितं धनुर्यन्त्रं भवतीति । पूर्वश्लोकोक्त-विषयस्यैतच्छ्लोकोक्तविषयस्य चानुरूप एव सिद्धान्तशिरोमणौ भास्कराचार्येणा-भिहितो यथा चक्रं चक्रांशाङ्कं परिधावित्यादि, फलकयन्त्रेणापि साहाय्यं नेयम् ।

"धार्यं तथा फलकयन्त्रमिदं यथैव तत्पार्श्वयोर्लगति तुल्यमिनस्य तेजः ।
छायाक्षजा स्पृशति तत्परिधौ यमंशं तत्रांशके मतिमता तरणिः प्रकल्प्यः ।
अक्षप्रोतां रविलवगतां पट्टिकां न्यस्य तस्मात्,
यष्टेरग्रादुपरि फलकेऽधश्च गोलक्रमेण ।
यत्नाद्देयश्चरदलगुणस्तत्र या ज्या तयात्र,
छिन्ने वृत्ते तलगघटिकाः स्युर्नता लम्बकान्ताः ।"

अस्यार्थः—यन्त्रमाधारेऽवलम्बमानं तथा धार्यं यथा यन्त्रोभयपार्श्वयोस्तुल्यकालमे-वार्कतेजो लगति । अर्काभिमुख नेमिकं दृग्मण्डलाकारमित्यर्थः । तथा धृते सुषिरे प्रोतस्याक्षस्य छाया वृत्तपरिधौ यस्मिन्नंशे लगति तत्रांशेऽर्कः कल्प्यः । अक्षप्रोतैव पट्टिका रविचिन्हे स्थाप्या तथा धृतायां पट्टिकायां यत्पूर्वं कृतं यष्टिचिन्हं तस्मादुपर्युत्तरगोले । दक्षिण गोले तु तदधश्चरज्यामितान्यङ्गुलानि फलके गणयित्वा तत्र चिन्हं कार्यम् । चिन्हस्थाने या ज्यारेखा सा वृत्ते यत्र लग्ना तस्मादधोवृत्ते लम्बरेखावधेर्यावत्यो घटिकास्तावत्यस्तत्काले नता ज्ञेयाः । एतद्वशे-नेष्टघटिकाज्ञानं सुलभमिति ॥१०॥

अब प्रकारान्तर से इष्टघटी तथा धनुः स्वरूप को कहते हैं ।

हि. भा.—यदि इष्टदिन में इष्टकाल में शङ्कुभाग ही विदित हो तब धनुःकोटयग्र से उन भागों (अंशों) को दान देकर उस के अग्र से धनुष की ज्या रूप भूमि के ऊपर लम्ब हीं शङ्कु हैं, उससे त्रिप्रश्नाधिकारोक्त विधि से इष्टान्त्या जानकर इष्टघटी का ज्ञान करना चाहिये, वृत्तार्ध में एक सौ अस्सी अंशों को अङ्कित करने से धनुर्यन्त्र होता हैं । पूर्वश्लोकोक्त विषय और इस श्लोकोक्त विषय के अनुरूप ही भास्कराचार्य ने 'चक्रं चक्रांशाङ्कं परिधौ' इत्यादि से कहा है, फलक यन्त्र से भीं काम लेना चाहिये इति ॥१०॥

इदानीं परोक्तघटयानयनं खण्डयति ।

मध्यदिवसोन्नतांशैर्दिनार्धनाडीर्वदन्ति तुल्या ये ।
ते मूर्खास्तच्छाया इष्टच्छाया समा न यतः ॥११॥

सु. भा.—ये मध्यदिवसोन्नतांशैर्दिनार्धनाडीस्तुल्या इष्टघटिकाः प्रकल्प्या-भीष्टोन्नतांशैरनुपातेनेष्टा घटिका वदन्ति ते मूर्खाः सन्ति । यत इष्टघटीतो यदि

दिनार्धे घटिकाभिर्मध्योन्नतांशास्तदेष्टघटिकाभिः किमित्यनुपातेन य इष्टोन्नतांशा आयान्ति तच्छाया वेधोपलब्धेष्टकालिकच्छाया समा न भवन्तीति तेषामानयनमसत् ॥ ११ ॥

वि. भा. — ये मध्यान्हकालिकोन्नतांशैर्दिनार्धनाड़ीतुल्या इष्टघटिकाः प्रकल्प्याभीष्टोन्नतांशैरनुपातेनेष्टा घटिका वदन्ति ते मूर्खाः सन्ति । यतो यदि दिनार्धघटीभिर्मध्योन्नतांशास्तदेष्टघटीभिः किमित्यनुपातेन य इष्टोन्नतांशा आयान्ति तच्छाया वेधोपलब्धेष्टकालिकच्छाया समा न भवत्यतस्तदानयनं न समीचीनमिति ॥ सिद्धान्तशिरोमणौ ।

चक्रं चक्रांशाङ्कं परिधौ श्लथश्टङ्खलादिकाधारम् ।
धात्री त्रिभ आधारात् कल्प्या भार्धेऽत्र खार्धं च ॥
तन्मध्ये सूक्ष्माक्षं क्षिप्त्वार्काभिमुखनेमिकं धार्यम् ।
भूमेरुन्नतभागास्तत्राक्षच्छायया भुक्ताः ।
तत्खार्धान्तिश्च नता उन्नतलवसंगुणीकृतं द्युदलम् ।
द्युदलोन्नतांशभक्तं नाड्यः स्थूलाः परैः प्रोक्ताः ॥

व्याख्या-धातुमयं दारुमयं वा समं चक्रं कृत्वा तन्नेम्यां शृङ्खलादिराधारः शिथिलः कार्यः । चक्रमध्ये सूक्ष्मं सुषिरमाधारात् सुषिरोपरिगामिनी लम्बवदूर्ध्वरेखा कार्या । तन्मत्स्यतोऽन्या तिर्यग्रेखा च कार्या । तच्चक्रं परिधौ भगणांशैरङ्कयित्वाधारात् त्रिभ इति नवतिभागान्तरे तिर्यग्रेखा तत्परिधिसम्पाते धात्री क्षितिः कल्प्या । भार्धेऽन्तर ऊर्ध्वरेखा नेमिसम्पाते खार्धं कल्प्यम् । सुषिरे सूक्ष्मा शलाका प्रदातव्या । सा चाक्षसंज्ञा तच्चक्रमर्काभिमुखनेमिकं च यथा भवति तथाधारे धार्यम् । तथा धृतेऽक्षस्य छाया परिधौ यत्र लगति तत्कुजचिन्ह्योरन्तरे येंऽशास्तेरवेरुन्नतांशाः । ये छायाखार्धयोरन्तरे ते नतांशा ज्ञेयाः । एवमत्र नतोन्नतांशज्ञानं भवति । अतोऽन्यैर्घटिका अप्यानीताः । तस्मिन् दिने गणितेन मध्यदिनोन्नतांशान् दिनार्धमानं च ज्ञात्वानुपातः कृतः । यदि मध्यदिनोन्नतांशैर्दिनार्धनाड्यो लभ्यन्ते तदैभिः किमित्येवं स्थूला घटिकाः स्युः ॥ अत्र परवाक्यम् ।

इष्टोन्नतांशा द्युदलेन निघ्ना मध्योन्नतांशैर्विहृताश्च नाड्यः ।
दिनस्य पूर्वापरभागयोश्च याताश्च शेषाः क्रमशो भवन्ति ॥

वस्तुत एतस्य खण्डनमाचार्येण भास्कराचार्येण च यत् क्रियते तत्समीचीनमेवेत्याचार्योक्तश्लोकव्याख्यायां द्रष्टव्यमिति ॥११॥

अब दूसरों के घट्यानयन का खण्डन करते हैं ।

हि. भा.—जो लोग मध्याह्नकालिक उन्नतांश से दिनार्ध घटी तुल्य इष्ट घटी

कल्पना कर अभीष्ट उन्नतांश से अनुपात द्वारा इष्ट घटी कहते हैं वे मूर्ख हैं। क्योंकि यदि दिनार्ध घटी में मध्योन्नतांश पाते हैं तो इष्ट घटी में क्या इस अनुपात से जो इष्ट उन्नतांश आते हैं उसकी छाया वेधोपलब्ध इष्ट कालिक छाया के बराबर नहीं होती है इस लिये उनका आनयन ठीक नहीं है इति ।। सिद्धान्त शिरोमणि में 'उन्नतलवसंगुणीकृतं द्युदलम् द्युदलोन्नताशभक्तं नाड्यः स्थूलाः परैः प्रोक्ताः' इससे भास्कराचार्य ने भी अन्यों के घटिका नयन का खण्डन किया है। अन्य के वाक्य इष्टोन्नतांशा द्युदलेन निघ्ना मध्योन्नतांशैर्विहृताश्च नाड्यः' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित के अनुसार है। वस्तुतः इसका खण्डन आचार्य और भास्कराचार्य भी जो करते है समीचीन है यह आचार्योक्त श्लोक के उपरिलिखित भाष्य से स्पष्ट है इति ।।११।।

इदानीं यन्त्रेण नतोन्नतकालज्ञानमाह।

जीवां स्वाहोरात्रे परिकल्प्याग्रान्नतोन्नतत्रिज्याः।
अनुपातात् कार्यास्तुर्यगोलके चक्रके चैवम् ।।१२।।

सु. भा.—स्वाहोरात्रे द्युज्यावृत्तेऽनुपाताद् द्वादश कोटचा पलकर्णस्तदा शङ्कुकोटचा किमित्यनुपातात् जीवामिष्टहृतिं प्रकल्प्य ततोऽग्राद्धनुः कोटचग्रान्नतत्रिज्याः कार्यास्त्रिज्यावशेन नतोन्नतकालौ कार्यौ। अत्रैतदुक्तं भवति। इष्टहृतिवशेन त्रिज्यानुपातेनेष्टान्त्याः कार्याः। तत्र चरसंस्कारेण सूत्रमुत्पाद्य तत्समां ज्यां धनुषि दत्त्वा धनुरग्राद्या घटिकास्ताश्चरसंस्कृतोन्नतकालघटिकाः। ज्याया धनुर्यन्त्राधरभागपर्यन्तं या घटिकास्ता नतकालघटिकाः। एवं गोलयुक्तिवशान्नतोन्नतकालौ तुर्यगोलके तुरीये चक्रे च भवत इति ।। १२ ।।

वि. भा–स्वाहोरात्रे (द्युज्यावृत्ते) अनुपातात् "द्वादशाङ्गुलशङ्कुना पलकर्णस्तदेष्टशंकुना कि" मित्यनुपातेन समागतां हृतिं जीवां परिकल्प्य ततोऽग्रात् (धनुःकोटचग्रात्)नतोन्नतत्रिज्याः कार्याः। त्रिज्यावशेन नतोन्नतकालौ कार्यौ, अर्थादिष्टहृतिवशेन त्रिज्यानुपातेने$\left(\frac{\text{इहृति.त्रि}}{\text{द्यु.}} = \text{इष्टान्त्या}\right)$ष्टान्त्याः कार्याः, तत्र चरज्या संस्कारेण सूत्रं 'इष्टाष्टा + चरज्या = सूत्रम्' भवति। तत्तुल्यां जीवां धनुषि दत्वा धनुरग्राद्या घटिकास्ताश्चर संस्कृतोन्नतकाल घटिका भवंति। जीवाया धनुः (चापं) यन्त्राधोभागपर्यन्तं या घटिकास्ता नतकालघटिकाः। एवं नतोन्नतकालौ तुर्यगोलके (तुरीय यन्त्रे) चक्रे (चक्रयन्त्रे) च भवत इति ।।१२।।

अब यन्त्र से नतकालज्ञान और उन्नतकालज्ञान को कहते हैं।

हि. भा.—द्युज्यावृत्त में अनुपात से 'द्वादश कोटि में यदि पलकर्ण-कर्ण पाते हैं तो

इष्टशङ्कुकोटि में क्या इससे इष्टहृति आती है, इष्टहृति को जीवा कल्पना कर तब धनुष के कोटयग्र से त्रिज्यावश से नतकाल और उन्नत काल साधन करना अर्थात् इष्टहृतिवश से त्रिज्यानुपात से $\frac{\text{'इहृति.त्रि}}{\text{द्यु}}$ =इष्टान्त्या' इष्टान्त्या लानी चाहिये, उसमें चरज्या संस्कार से इष्टान्त्या ± चरज्या =सूत्र, सूत्र होता है, एतत्तुल्यज्या को धनुष (चाप) में देकर धनुष के अग्र से जो घटी होगी वह चर संस्कृत उन्नतकाल घटी होती है, इससे उन्नत काल घटी का ज्ञान स्पष्ट ही है। ज्या के चाप यन्त्र के अधोभाग पर्यन्त जो घटी है वह नतकाल घटी है। इस तरह तुरीय यन्त्र में और चक्र यन्त्र में भी नतकाल और उन्नत काल विदित होते हैं इति ॥१२॥

इदानीं यन्त्रादेव नतोन्नतकालज्ञानमाह।

दिनघटिकाङ्कितयष्टेर्व्यस्त नतज्याग्रमुन्नतज्यां च।
दिङ्मध्ये च शलाका तच्छायाग्रान्नता नाडयः ॥१३॥

सु. भा.—दिनघटिकाङ्कितयष्टिर्द्युज्या तस्याः सकाशात् प्रतिघटिकं दिङ्-मध्यस्थापितशलाकाछाया प्रसाध्या सा रवितो व्यस्तदिक्का भवति। तत्र प्रति-घटिकोन्नतकालसम्बंधिच्छायाग्रे तात्कालिकं नतज्याग्रं नतज्यामुन्नतज्यां नतकाल-मुन्नतकालं चाङ्कयेत्। एवमेकस्मिन् फलके प्रतिद्युज्यासम्बन्धिनीं नतकालाद्यङ्कितां भाभ्रमरेखामुत्पादयेत्। इष्टदिनेष्टकाले समधरातले यथा दिक्के स्थापिते फलके दिङ्मध्यशलाकाछायाग्रं तद्दिनसम्बन्धि भाभ्रमरेखायां यत्र लग्नं तत्राङ्किता नाड्यो नता नाडयः स्युः। एवं तत्राङ्कितोन्नत कालादित उन्नतकालादिज्ञानं भवतीति गोलयुक्तितः स्फुटम् ॥ १३ ॥

वि. भा.—दिनघटिकाङ्कितयष्टिः (द्युज्या) तस्याः सकाशात् प्रत्येकघटिकायां दिङ्मध्यस्थापित शलाकायाश्छायाः साध्यास्ता रवितो व्यस्ता (विपरीतदिक्काः) भवन्ति। तत्र प्रतिघटिकोन्नतकालसम्बन्धिछायाग्रे न तज्याग्रं नतज्यामुन्नतज्यां नतकालमुन्नतकालं चाङ्कयेत्। एव मेकस्मिन् फलके प्रतिद्युज्यासम्बन्धिनीं नतकाला-ङ्कितां भाभ्रमरेखां रचयेत्। इष्टदिने इष्टकाले समधरातले यथादिक्के स्थापिते फलके दिङ्मध्यशलाका छायाग्रं तद्दिनसम्बन्धि भाभ्रमरेखायां यत्र लगति तत्राङ्किता नाडयो (घटिकाः) नता नाडयः (नतघटिका) भवन्ति एवमेव तत्राङ्कितोन्नतकालादित उन्नतकालादिज्ञानं भवतीति ॥१३॥

अब यन्त्र ही से नतकालज्ञान और उन्नत कालज्ञान को कहते हैं।

हि. भा.—दिन घटी से अङ्कित यष्टि (द्युज्या) से प्रत्येक घटी में दिङ्मध्य (वृत्त-

केन्द्र) स्थापित शलाका की छायाएँ साधन करनी चाहिये। वे रवि से विरुद्ध दिशा की होती हैं। वहां प्रत्येक घटी के उन्नतकाल सम्बन्धी छायाग्र में नतकाल और उन्नतकाल को अङ्कित करना। एवं एक फलक में प्रति द्युज्या सम्बन्धी नतकाल से अङ्कित (चिन्हित) भाभ्रम रेखा बनानी चाहिये। इष्टदिन में इष्टकाल में समधरातल में यथादिशा में स्थापित फलक में दिङ्मध्यशलाका का छायाग्र उस दिन सम्बन्धी भाभ्रमरेखा में जहां लगता है वहां अङ्कित नाड़ी (घटीं) नतनाड़ी (नतघटीं) होती है। इसी तरह उसमें अङ्कित उन्नतकालादि से उन्नत कालादि ज्ञान होता है इति ॥१३॥

इदानीं धनुर्यन्त्रे विशेषमाह।

धनुषः पृष्ठे द्रष्ट्रा वेध्या ज्यामध्य संस्थया दृष्टचा।
इष्टान्तरं नतज्या धनुषि चछायोन्नतज्यायाः ॥१४॥
ज्यार्धं दृष्टेर्दृग्ज्यां नतजीवांशं कुमुन्नतज्यां च।
धनुषि प्रकल्प्य योज्यं यद्युक्तं नाडिकाद्यं च ॥१५॥

सु. भा.—द्रष्ट्रा पुरुषेण धनुषः पृष्ठे ज्यामध्यसंस्थया पूर्णज्यो परिस्थापित-नलकरन्ध्रगतया दृष्टचा इष्टग्रहयोरन्तरम्। उन्नतज्यायाः सकाशात् धनुषि यन्त्रे नतज्या छाया चेत्यादि सर्वे पदार्था वेध्याः। एवं धनुषि धनुर्यन्त्रे दृष्टेर्ज्यार्धमेव दृग्ज्यां नतजीवांशं नतभागान्। कुं भूमिपर्यन्तमर्थात् यन्त्रे कल्पितक्षितिज पर्यन्त-मुन्नतज्यां च प्रकल्प्य यन्नाडिकाद्यमुपयुक्तमस्ति तत् सर्वं योज्यं गोलयुक्तितः। तथैव यन्त्रचिन्तामण्यादौ तुरीययन्त्रेऽङ्कितश्चोन्नतांशादयः प्रसिद्धाः सिद्धान्त-विदाम् ॥ १४–१५ ॥

वि. भा.—द्रष्ट्रा (दर्शकेन पुरुषेण) धनुषः पृष्ठे, ज्यामध्यसंस्थया (पूर्ण-ज्योपरिस्थापितनलकरन्ध्रगतया) दृष्टचा, इष्टान्तरम् (इष्टग्रयोरन्तरम्), उन्नतज्यायाः सकाशात् धनुषि (धनुर्यन्त्रे) नतज्या, छाया चेत्यादयः सर्वे पदार्था ज्ञातव्याः। एवं धनुर्यन्त्रे दृष्टेर्ज्यार्धमेव दृग्ज्यां-नतजीवांशं नतांशान् कुं (भूमिपर्यन्त-मर्थात् यन्त्रे कल्पितक्षितिजपर्यन्तं) उन्नतज्यां च प्रकल्प्य यन्नाड़िकाद्यमुपयुक्तं तत्सर्वं गोलयुत्तचा योज्यम्। तुरीययन्त्रे तथैवोन्नतांशादयोऽङ्किता यन्त्रचिन्ता-मण्यादि ग्रन्थे सन्तीति ॥ १४-१५ ॥

अब धनुर्यन्त्र में विशेष कहते हैं।

हि. भा.—दर्शक पुरुष को धनुष के पृष्ठ में पूर्णज्या के ऊपर स्थापित नलकरन्ध्रगत दृष्टि से इष्ट दो ग्रहों का अन्तर तथा धनुर्यन्त्र में उन्नतज्या से नतज्या-छाया इत्यादि सब पदार्थ जानने चाहियें। एवं धनुर्यन्त्र में दृष्टि से ज्यार्ध को दृग्ज्या नतांश को यन्त्र में

कल्पित क्षितिज पर्यन्त उन्नतज्या मानकर जो नाड़िकादि उपयुक्त हैं उन सबों को काम में लाना चाहिये। तुरीय यन्त्र में उसी तरह उन्नतांशादि अङ्कित है यन्त्र चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में स्फुट है इति ॥१४-१५॥

इदानीमन्यं विशेपमाह ।

अवलम्बनं शलाकाज्यार्धं यष्टिं प्रकल्प्य वा धनुषि ।
भूम्युच्छ्रायाल्लम्बो यष्ट्युक्तै रानयेत् करणैः ॥१६॥

सु. भा.—वा धनुषि धनुर्यन्त्रे केन्द्रगां शलाकामवलम्बनमवलम्बसूत्रं ज्यार्धं चापानां ज्यार्धानि शलाकाप्रोतां यष्टिं च प्रकल्प्य यष्ट्युक्तैर्यष्ट्यादिभिरुदितैः करणैः साधनैर्भूम्युच्छ्रायात् क्षितिजोच्छ्रायाल्लम्बः शङ्कुभागादीन् गणक आनयेत्। आचार्योक्तित एव तथैव भास्करेण फलकयन्त्रे सर्वं रचितमिति ॥ १६ ॥

वि. भा.—वा धनुर्यन्त्रे केन्द्रगतां शलाकामवलम्बसूत्रचापानां ज्यार्धानि शलाकां प्रोतां यष्टिं च प्रकल्प्य यष्ट्यादिभिः कथितैः साधनैः क्षितिजोच्छ्राया-ल्लम्बः शङ्कुभागादीन् गणक आनयेत्। सिद्धान्तशिरोमणौ 'कर्त्तव्यं चतुरस्रकं सुफलक' मित्यादि फलकयन्त्ररचनावैशद्यमाचार्योक्तमिदं संक्षिप्तमादर्शमादाय भास्कराचार्येण प्रतिपादितमिति ॥१६॥

अब अन्य विशेप कहते हैं ।

हि. भा.—अथवा धनुर्यन्त्र में केन्द्रगतशलाका को अवलम्बसूत्र, चाप के ज्यार्ध शलाका प्रोत (पहराई हुई) यष्टि मान कर यष्ट्यादि से कथित साधनों से क्षितिज के उच्छ्राय से उन्नतांशादि को गणक लावे, सिद्धान्तशिरोमणि में 'कर्त्तव्यं चतुरस्रकं सुफलकं' मित्यादि फलकयन्त्र रचना का स्पष्टीकरण भास्कराचार्य ने आचार्योक्त इस संक्षिप्त आदर्श को लेकर किया है इति ॥१६॥

इदानीं तुर्यगोलमाह ।

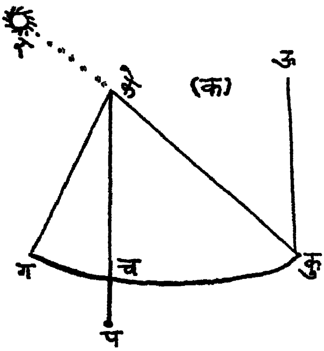
अङ्कितमंशनवत्या धनुषोऽर्धं तुर्यगोलकं यन्त्रम् ।
घटिकानतोन्नतांश ग्रहान्तराद्यं धनुर्वदिह ॥१७॥

सु. भा.—धनुषोऽर्धं कोदण्डखण्डमंशनवत्याङ्कितं तुर्यगोलकं यन्त्रं भवति। इहात्रापि धनुर्यन्त्रवद्घटिकानतोन्नतांशग्रहान्तराद्यं सिध्यति ॥ १७ ॥

वि. भा.—धनुषोऽर्धं (कोदण्डखण्डं) अंशनवत्याऽङ्कितं कार्यं तत्तुर्यगोलकं यन्त्रं भवति, अत्रापि धनुर्यन्त्रवत् घटिकानतोन्नतांशग्रहान्तराद्यं सिध्यतीति।

कथमेतेन यन्त्रेण नतोन्नतांश ज्ञानं भवतीति प्रतिपाद्यते ।।

नतोन्नतांशज्ञानार्थमुपपत्तिः ।।



केन्द्ररन्ध्रद्वारा कुजरन्ध्रं रविकिरणो यथा विशेत्तथा यन्त्रं धार्यम् ।

र = रविबिम्वम् । तत्तेजः 'के' बिन्दु द्वारा 'कु' दृष्टिबिन्दौ निर्गच्छति । तथा यन्त्रे स्थिरीकृते ग्रहे क्षितिजस्थे सति, यदि कु दृष्टिस्थानमपि क्षितिजस्थं भवेत्तदा केग ऊर्ध्वाधरसूत्रमवलम्बसूत्रम् । कुजादूर्ध्वस्थे ग्रहे तथोक्तवद्यन्त्रे स्थिरीकृते केग ऊर्ध्वाधररूपं न भवेदपि-ऊर्ध्वाधररूपं = केप, तत्समानान्तरम् = कुऊ सूत्रमप्यूर्ध्वाधररूपम् । ततः < उकुके = < कुकेच, परं < ऊकुके = नतांशाः, अतः < पकेग = उन्नतांशाः । सिद्धान्ततत्त्वविवेके—

"धातुजं दारुजं वा यत् यन्त्रं बुद्धिमता कृतम् ।
तस्य केन्द्रकुजोर्ध्वस्थे रन्ध्रे कार्ये समान्तरे ।।
कुजरन्ध्रस्थदृष्टयवै केन्द्ररन्ध्रगतं ग्रहम् ।
खस्थं विध्वाऽथ तद्यन्त्रं कार्यं दृग्वृत्तवद्बुधैः ।।"

व्याख्या—तस्य यन्त्रस्य केन्द्रकुजबिन्द्वोरुर्ध्वस्थे समान्तरे रन्ध्रे (छिद्रे) कार्ये, अर्थात् कुजरेखा तु नलिकारूपा कार्या, तथा कृते कुजरन्ध्रे दृष्टिं निवेश्य दृग्वृत्तधरातले तथैतद्यन्त्रं धार्यं, यथा सा नलिकारूपा कुजरेखा, ग्रहगर्भदृष्टिसूत्रं भवेत्तदैव आकाशस्थं ग्रहं केन्द्ररन्ध्रगतं पश्येदिति । अत्र यन्त्रमधोमुखं परिवर्त्य निवेशितम् ।।

अथवा केन्द्ररन्ध्रेण क्ष्माजरन्ध्रं विशेद्यथा ।
अर्कतेजस्तथा यन्त्रं धार्यमर्कमुखं सदा ।।
अर्कोदये भवेत् खस्थं लम्बसूत्रं यथा यथा ।।
वियत्यर्कः कुजस्थानादुन्नतश्च तथा तथा ।
यन्त्रे खतश्च तत्सूत्रं नेम्यंशैश्चलितं भवेत् ।।
अतः खादुन्नतांशाश्च ज्ञेया भूजान्नतांशकाः ।
तज्ज्यके शङ्कुदृग्ज्ये च यन्त्रे दृग्वृत्तवत् स्थिते ।।"

कमलाकरेणैवं यन्त्रद्वारोन्नतांशनतांशयोर्ज्ञानं प्रतिपादितम् ।

तथा यन्त्रचिन्तामणौ—

"केन्द्रोर्ध्वरन्ध्रेण यथाऽर्कतेजः क्ष्माजोर्ध्वरन्ध्रं प्रविशेत्तथैव ।
धार्यं तु केन्द्रादवलम्बभागज्या दृग्ज्यका स्यान्नतशिञ्जिनी वा ।"

कमलाकरोक्तसदृशमेवोक्तमस्तीति ।।१७।।

अब तुर्यगोल को कहते हैं ।

हि. भा.—धनुष (चक्रार्ध) के आधे भाग (कोदण्डखण्ड) को नव्वे अंश से अङ्कित करने से वह तुर्यगोलक नाम का यन्त्र होता है यहां भी धनुर्यन्त्र की तरह घटी, नतांश, उन्नतांश' ग्रहान्तरादि सिद्ध होता है । इस यन्त्र से नतांश और उन्नतांश ज्ञान कैसे होता है उसके लिये उपपत्ति ।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (क) क्षेत्र को देखिये । केन्द्र छिद्र द्वारा क्षितिजस्थ रन्ध्र (छिद्र) में रविकिरण जिस तरह प्रवेश करे उस तरह यन्त्र को धारण करना चाहिये । र=रवि बिम्ब । उनके तेज 'के' बिन्दु द्वारा 'कु' दृष्टि बिन्दु में निकलता है । यन्त्र को स्थिर करने से ग्रह के क्षितिजस्थ रहने पर यदि 'कु' दृष्टिस्थान भी क्षितिजस्थ हो तव केग ऊर्ध्वाधर सूत्र अवलम्ब सूत्र होगा । क्षितिज से ग्रह के ऊपर रहने से पूर्ववत् यन्त्र को स्थिर करने से केग ऊर्ध्वाधर रूप न हो तथापि ऊर्ध्वाधररूप=केप, उसके समानान्तर=कुऊ सूत्र भी ऊर्ध्वाधर रूप है तब $<$ऊकुके=$<$कुकेच, लेकिन ऊकुके=नतांश, अतः $<$पकेग=उन्नतांश । सिद्धान्त तत्त्व विवेक में "धातुजं दारुजं वा यत् यन्त्रं बुद्धिमता कृतम्" इत्यादि तथा "अथवा केन्द्ररन्ध्रेण क्ष्माजरन्ध्रं विशेद्यथा । अर्कतेजस्तथा यन्त्रं धार्यमर्कमुखं सदा" इत्यादि श्लोकों से कमलाकर ने उपर्युक्त उपपत्ति से यन्त्र द्वारा नतांश और उन्नतांश का ज्ञान कहा हैं । तथा यन्त्र चिन्तामणि में 'केन्द्रोर्ध्वरन्ध्रेण यथाऽर्कतेजः क्ष्माजोर्ध्वरन्त्रं प्रविशेत्तथैव' इत्यादि से कमलाकरोक्त के सदृश ही कहा गया है इति ।।१७।।

इदानीं चक्रयन्त्रमाह ।

परिधौ भगणांशाङ्कं मीनान्तं चक्रतो विद्ध्वा ।
चक्रकयन्त्रं मध्याल्लम्बोऽत्र फलं धनुस्तुल्यम् ।।१८।।

सु. भा.—चक्रकयन्त्रं परिधौ मीनान्तं द्वादशराश्यकं भगणांशाङ्कं च कार्यम् । अत्र परिधौ कल्पिताधारमध्याल्लम्बः कार्यः । अस्माच्चक्रतश्चक्रयन्त्राद्ग्रहादीन् विद्ध्वा फलं धनुस्तुल्यं धनुर्यन्त्रसमं भवति । विशेषार्थं भास्करचक्रयन्त्रं तदीयगोलयन्त्राध्याये चिन्त्यम् ।। १८ ।।

वि. भा.—चक्रकयन्त्रपरिधौ भगणांशाङ्कं मीनान्तं (द्वादशराश्यङ्कं) च कार्यम् । अत्र (चक्रकयन्त्र) परिधौ कल्पिताऽधारमध्याल्लम्बः कार्यः । अस्माच्चक्रतः (चक्रयन्त्रात्) ग्रहादीन् विद्ध्वा फलं धनुस्तुल्यं (धनुर्यन्त्र समं) भवतीति । सिद्धान्तशेखरे —

"कृत्वा सुवृत्तं फलकं हि षष्ट्या चक्रांशकैश्चाङ्कितमत्र मध्ये ।
लम्बस्तदग्रात् सुषिरेण यद्वत् केन्द्रेऽर्करश्मिः पततीति दध्यात् ।।

लम्बेन मुक्ता रविभागतोंऽशास्तत्रोदितास्ते घटिकास्तु याताः।
चक्राख्यमेतद्दलमस्य चापं ज्यामध्यरन्ध्र स्थित लम्बमेतत् ॥"

श्रीपतिनैवमुक्तम् । सुवृत्तं फलकं षष्ट्या चक्रांशैश्चाङ्कितं कृत्वा । अयमर्थः—सुसरलससारदारुजातं वर्त्तुलं पीठाकारं यन्त्रं निर्माय तत्र (यन्त्रे) घटिकाज्ञानार्थं षष्टिर्विभागाः । अंशादिज्ञानार्थं च षष्टयधिकशतत्रयं ३६०विभागाः कार्याः । अस्मिन् यन्त्रे मध्ये (केन्द्रबिन्दौ) अवलम्बयष्टिः—देयः । यद्वत् अवलम्ब-यष्टिमूलगतयन्त्रच्छिद्रेण, अर्करश्मिः (सूर्यबिम्बकेन्द्रतेजः) यन्त्रकेन्द्रे पतति इत्यनेन विधिना यन्त्रं स्थापयेत् । लम्बेन (अवलम्बयष्ट्या) मुक्ताः (त्यक्ता) ये भागास्ते सूर्याधिष्ठितांशात् उदिता भागाः स्युः । घटिकास्तु अवलम्बभुक्ता व्यतीता घटिकाः स्युः । अनेन प्रकारेण निर्मितं यन्त्रं चक्रयन्त्रं स्यात् अस्य चक्र-यन्त्रस्यार्धं चापसंज्ञकं यन्त्रं भवति । एतच्चापयंत्रं ज्यामध्यरन्ध्रस्थितलम्बं कार्यं चक्रयन्त्ररूप वृत्तस्यार्धभागकारिण्या व्यासरेखाया मध्ये रन्ध्रं तत्र लम्बश्च देयः ।

अत्रोपपत्तिः ।

वृत्ताकारकाष्ठयन्त्रं षष्टिघटीभिः षष्टयधिकशतत्रयां ३६० शैश्चाङ्कितं कृत्वा मध्ये स्वल्परन्ध्रं तद्गतावलम्बयष्टिकं च सूर्याभिमुखं तथा स्थापितं यथैतद्यन्त्रं वर्धितं सत् सूर्यबिम्बकेन्द्रगतं भवेत् । तत इदं दृग्वृत्तानुरूपं जातम् । एतत्केन्द्रे लम्बरूपाया यष्टेश्छाया तत्परिधौ यत्र लगति स बिन्दुः सूर्यकेन्द्रबिन्दोः षड्भान्तरे भवेत् । अत्र सूर्योदयकाले सूर्याधिष्ठितांशात् षड्भान्तरे पश्चिम बिन्दावेवावलम्बच्छाया यन्त्रपरिधौ लगति । ततोऽनन्तरं सूर्यो यथा यथोपरि गच्छति तथा तथा लम्बच्छाया पश्चिमबिन्दोरधो गच्छति, त एव लम्बमुक्ता अंशास्ते सूर्याधिष्ठितांशात् आरभ्योन्नतांशा एव । घटिकाभिश्चाङ्कितं यन्त्रमिति यन्त्रमुक्ता घटिकाः सूर्योदयाद् गतघटिका इति । एतच्चक्रयन्त्रस्यार्धं वृत्तार्धरूपं चापयन्त्रमिति । तत्रापि वृत्तार्धकारिण्या व्यासरेखाया मध्ये सूक्ष्मं छिद्रं चक्रयन्त्र-वल्लम्बश्च देयः । चक्रयन्त्रवदेवेहोन्नतांशानामुन्नतघटिकानां च ज्ञानं वृत्तार्धादेव क्रियते । अत्र लल्लोक्तम्—

"वृत्तं कृत्वा फलकं षड्वर्गाङ्कं तथा च षष्ट्यङ्कम् ।
मध्यस्थितावलम्बं मध्यस्थित्या प्रविष्टोष्णम् ॥

तदधो लम्बविमुक्तं गृहादि यत्तदुदितं दिनकरांशात् ।
नाड्यः पूर्वकपाले द्युगतास्ताः पश्चिमे द्युदलात् ॥

चक्राख्यं यन्त्रमिदं दलं धनुर्यन्त्रमाहुरस्यैव ।
ज्याकार्मुकभृच्छिद्रप्रविष्टदिनकरकरं धार्यम् ॥

मध्यस्थ लम्बमुक्ताः कोटेरारभ्य नाड़िका द्युगताः ।
उदिताश्च दिनकरांशादारभ्य भवन्ति गृहभागाः ॥"

इति श्रीपतिना छन्दोऽन्तरेणोक्तमिति स्फुटमेव गणकानाम् । भास्कराचार्येणापि—

"चक्रं चक्रांशाङ्कं परिधौ श्लथशृङ्खलादिकाधारम् ।
धात्रीत्रिभ आधारात् कल्प्या भार्धेऽत्र खार्धं च ॥
तन्मध्ये सूक्ष्माक्षं क्षिप्ताऽर्काभिमुखनेमिकं धार्यम् ।
भूमेरुन्नतभागास्तत्राक्षच्छायया भुक्ताः ॥
तत्खार्धान्तिश्च नता उन्नतलवसंगुणीकृतं द्युदलम् ।
द्युदलोन्नतांशभक्तं नाड्यः स्थूलाः परैः प्रोक्ताः ॥"

इत्युक्त्या चक्रयन्त्रं तथैव कथितं सिद्धान्तशिरोमणेर्वासनाभाष्यान्मिताक्षराच्छ्रीपतेराशयोऽपि विविच्य विज्ञैर्निरूपणीय इति ॥१८॥

अब चक्र यन्त्र को कहते हैं ।

हि. भा.—चक्रयन्त्र परिधि में भगणांश को अङ्कित करना चाहिये, और द्वादश राशि (बारहों राशि) को भी अङ्कित करना चहिये । इस चक्रयन्त्र परिधि में कल्पित आधार मध्य से लम्ब करना चाहिये । इस चक्रयन्त्र से ग्रहादियों को वेध कर फल धनुर्यन्त्र के बराबर होता है । सिद्धान्तशेखर में "कृत्वा सुवृत्तं फलकं हि पट्ट्या चक्रांशकैश्चाङ्कित—मत्र मध्ये" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों के अनुसार कहा है, श्लोकों का अर्थ यह है—सरल सार वाली लकड़ी के वर्त्तुलाकार यन्त्र बनाकर उस यन्त्र में घटी ज्ञान के लिये साठ विभाग और अंश ज्ञान के लिये तीन सौ साठ विभाग करना चाहिये । इस यन्त्र के केन्द्रबिन्दु में अवलम्ब यष्टि देनी चाहिये जैसे अवलम्बयष्टिमूलगत यन्त्रछिद्र से सूर्य बिम्ब के तेज यन्त्र केन्द्र में पतित हो इस तरह से यन्त्र को स्थापन करना चाहिये। अवलम्बयष्टि से त्यक्त जो भाग वे सूर्याधिष्ठित अंश (जिस अंश में सूर्य है) से उदित भाग होते हैं । और घटी व्यतीत (गत) घटी होती है । इस चक्रयन्त्र का आधा चाप संज्ञक यन्त्र होता है । चक्रयन्त्ररूप वृत्त को आधा करने वाली व्यास रेखा के मध्य में रन्ध्र (छिद्र) करना और उसमें लम्ब देना ।

उपपत्ति ।

वृत्ताकार काष्ठ के यन्त्र में साठ घटी को और तीन सौ साठ अंश को अङ्कित कर मध्य में छोटा छिद्र कर तद् गत अवलम्बयष्टि को सूर्याभिमुख इस तरह रखना चाहिये जिससे यन्त्र को बढ़ाने से सूर्यबिम्ब के केन्द्र में चला जाय । इसलिये वह दृग्मण्डलाकार

हुआ। इसके केन्द्र में लम्बरूपयष्टि की छाया उसकी परिधि में जहां लगती है वह बिन्दु सूर्यकेन्द्र बिन्दु से षड्भान्तर (छः राशि अन्तर) पर होता है। सूर्योदयकाल में सूर्याधिष्ठित अंश (जिस अंश में सूर्य है) से षड्भान्तर (छः राशि अन्तर) पर पश्चिम बिन्दु ही में अवलम्ब की छाया यन्त्र परिधि में लगती है, उसके बाद ज्यों-ज्यों सूर्य ऊपर जाते हैं त्यों त्यों लम्ब की छाया पश्चिम बिन्दु से नीचे जाती है। वही लम्ब से त्यक्त अंश है, वह सूर्याधिष्ठित अंश से लेकर (आरम्भकर) उन्नतांश ही है। यह यन्त्र घटिकाओं से अङ्कित है इसलिये यन्त्रमुक्त (यन्त्र से त्यक्त) घटी सूर्योदय से गत घटी है। इस चक्रयन्त्र का आधा वृत्तार्ध रूप चाप यन्त्र होता है। उस चाप यन्त्र में भी वृत्त की अर्धकारिणी व्यास रेखा के मध्य में सूक्ष्म छिद्र और तद्गत लम्ब चक्र यन्त्र ही की तरह देना चाहिये। चक्र यन्त्र के अनुसार ही इस चाप यन्त्र में भी वृत्तार्ध ही से उन्नतांश और उन्नतांश और उन्नत घटी का ज्ञान करते हैं। शिष्यधीवृद्धिद तन्त्र में वृत्तं कृत्वा फलकं षड्वर्गाङ्कं तथा च षष्ट्यङ्कम्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित, लल्लाचार्योक्त श्लोकों के आशय को श्रीपति ने श्लोकान्तर से कहा है। सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में 'चक्रं चक्रांशाङ्कं परिधौ श्लथशृङ्खला धिकाधारम्' इत्यादि श्लोकों से भास्कराचार्य ने भी चक्रयन्त्र उसी तरह कहा है इति ॥१८॥

इदानीं यष्ट्याशङ्क्वाद्याह।

यष्टिस्तिर्यग्धार्या नष्टच्छायावलम्बकः शङ्कुः।
दृग्ज्यान्तरमनुपातात् स्वाहोरात्रार्धमग्रा च ॥१९॥

सु. भा.—क्षितिजवृत्तकेन्द्रगता यष्टिस्तथा धार्या यथा सा नष्टच्छाया स्यात्। एवं यष्टिव्यासार्धभवगोले यष्ट्यग्रे रविकेन्द्रं भवति तस्मात् क्षितिजोपरि योऽवलम्बकः स शङ्कुर्भवति। यष्टिमूलाच्छङ्कुमूलपर्यन्तमन्तरं दृग्ज्या भवति। अनुपातात् यष्टेरनुपातात् स्वाहोरव्यासार्धं द्युज्या तथाऽग्रा च साध्या। उदयकाले रविकेन्द्रोपरि यष्ट्यनुपातेनार्थाद्यष्ट्यग्रप्रपातेन क्षितिजे तत्प्राग् बिन्द्वन्तरमग्रांशाः ततः पलकर्णेन द्वादशकोटिस्तदाऽग्रया किं जाता क्रान्तिज्या। तत्कोटिज्या द्युज्या प्रसिद्धैव। 'यष्ट्यग्राल्लम्बोना ज्ञेया दृग्ज्या नृकेन्द्रयोर्मध्ये' इति तथा उदयेऽस्ते यष्ट्यग्रप्राच्यपरा मध्यमग्रा स्यात्—इति च भास्करोक्तं चिन्त्यम् ॥ १९ ॥

वि.भा.—क्षितिजवृत्तकेन्द्रगता यष्टिस्तथा धार्या यथा सा नष्टद्युतिर्भवेत्। एवं यष्टिव्यासार्धोत्पन्नगोले यष्ट्यग्रे रविर्भवति, रविकेन्द्रात् क्षितिज धरातलोपरि योऽवलम्बकः सशङ्कुर्भवति। यष्टिमूलाच्छङ्कुमूल पर्यन्तं दृग्ज्या भवति। यष्टेरनुपातात् स्वाहोरात्रार्धं (द्युज्या) अग्रा च साध्या। यष्ट्यग्रपूर्वापर रेखयोरन्तरं त्रिज्यावृत्ते ज्यार्धवत् स्थितम्। साग्रा ज्ञेया। ततः पलकर्णेन द्वादशकोटिस्तदाऽग्रया किं जाता क्रान्तिज्या, ततः $\sqrt{\text{त्रि}^2 - \text{क्रांज्या}^2}$=द्युज्या, "यष्ट्याग्राल्ल-

म्बोना ज्ञेया दृग्ज्या नृकेंन्द्रयोर्मध्ये" तथा ,उदयेऽस्ते यष्टयग्रप्राच्यपरामध्यमग्रा स्यात्' इति भास्करोक्तं विविच्य ज्ञेयमिति ॥१९॥

अब यष्टि से शङ्कु आदि को कहते हैं।

हि. भा.—क्षितिजवृत्तकेन्द्रगत यष्टि को इस तरह रखना चाहिये जिससे छायारहित यष्टि हो। एवं यष्टिव्यासार्धोत्पन्न गोल में यष्टि के अग्र में रवि होते हैं। रवि केन्द्र से क्षितिज धरातल के ऊपर लम्ब शंकु है। यष्टि के मूल से शङ्कु मूलपर्यन्त अन्तर दृग्ज्या होती है। यष्टि के प्रपात (पतन) से स्वाहोरात्रार्ध (द्युज्या) तथा अग्रा साधन करना चाहिये अर्थात् उदयकाल में रविकेन्द्र के ऊपर यष्टयग्र के प्रपात से क्षितिज में उसका और पूर्व बिन्दु का अन्तर अग्रा है, तब पलकर्ण में यदि द्वादश कोटि पाते हैं तो अग्रा में क्या इस अनुपात से क्रान्तिज्या आती है, इसकी कोटिज्या $\sqrt{(\text{त्रि}^2 - \text{क्रांज्या}^2)}$ = द्युज्या. सिद्धान्त-शिरोमणि के गोलाध्याय में 'यष्टयग्राल्लम्बो ना ज्ञेया दृग्ज्या नृकेन्द्रयोर्मध्ये' तथा 'उदयेऽस्ते यष्टयग्रप्राच्यपरामध्यमग्रा स्यात्' यह भास्करोक्त के विचार करने से स्फुट है इति ॥१९॥

इदानीं यष्टियन्त्रमाह।

परिलिख्य वृत्तमवनौ यष्टिव्यासार्धमन्यदस्यान्तः।
स्वाहोरात्रार्धार्धं घटिका षष्टयङ्कितं परिधौ ॥२०॥
यष्टिव्यासार्धेऽग्रा यष्टयग्रान्तरसमज्यया धनुषि ।
घटिका द्वितीयवृत्ते याताः प्रागपरतः शेषाः ॥२१॥

सु. भा.—अवनौ समावनौ यष्टिव्यासार्धं वृत्तं परिलिख्यस्यान्तरेककेन्द्रकमन्यद् द्युज्यावृत्तं च स्वाहोरात्रार्धार्धं स्वाहोरात्रार्धं द्युज्या सैवार्धं व्यासदलं यस्य तच्च परिलिख्यास्य परिधौ घटिकाषष्टयङ्कितं कार्यम्। ततो यष्टिव्यासार्धे गोले यत्र यष्टिर्नष्टद्युतिर्जाता तत्र यष्टिः स्थिरा कार्या। क्षितिजेऽग्रायास्तद्यष्टयग्रस्य च यदन्तरं तत्समा या ज्या पूर्णज्या तया द्वितीयवृत्ते द्युज्यावृत्ते यद्धनुर्भवेत् तस्मिन् धनुषि या घटिकास्ताः प्राक् कपाले याता अपरतः पश्चिमकपाले शेषा दिनशेषा घटिकाः स्युः। 'त्रिज्याविष्कम्भार्धं वृत्तं कृत्वा दिगङ्कितं तत्र' इत्यादिभास्करोक्तमेतदनुरूपमेव। एकस्मिन् दिने यदि द्युज्या स्थिरा स्यात् तदैवानेन विधिना कालज्ञानमिति स्फुटं सिद्धान्तविदाम् ॥ २०-२१ ॥

वि. भा.—अवनौ (समपृथिव्यां) यष्टिव्यासार्धेन वृत्तं परिलिख्यास्यान्तः (मध्ये) स्वाहोरात्रार्धार्धं (स्वाहोरात्रार्ध) द्युज्या सैवार्धं व्यासार्धं यस्य तच्चैककेन्द्रकमन्यद् द्युज्यावृत्तं परिलिख्यास्य परिधौ घटिका षष्टयङ्कितं कार्यम्। ततो

यष्टिव्यासार्धगोले यत्र यष्टिर्नष्टद्युतिर्जाता तत्र यष्टिः स्थिरा कार्या। क्षितिजेऽग्रायास्त-द्यष्ट्यग्रस्य च यदन्तरं तत्समा या पूर्णज्या तया द्वितीयवृत्ते (द्युज्यावृत्ते) यद्धनु-(चापं) र्भवेत्तस्मिन् धनुषि (चापे) या घटिकास्ताः पूर्वकपाले गताः, अपरतः पश्चिमकपाले) शेषाः (दिनशेषाः) घटिकाः स्युः। यद्येकस्मिन् दिने द्युज्या स्थिरा भवेत्तदैवानेन विधिना कालज्ञानं भवितुमर्हतीति। सिद्धान्तशेखरे—

"संसाधिताशं कृतचक्रभागं विधाय वृत्तं समभूप्रदेशे।
त्रिज्याङ्गुलाङ्कां सुसमां च यष्टिं नष्टद्युतिं तज्जठरे निदध्यात्॥
तदग्रलम्बः खलु शङ्कुरुक्तस्तन्मूलकेन्द्रान्तरमत्र दृग्ज्या।
पूर्वापरात्तद्विवरं भुजः स्याच्छङ्कवग्रमस्तोदयसूत्रमध्यात्॥
शङ्कवग्रमर्कैर्गुणितं विभक्तं तल्लम्बकेन स्फुटमक्षभा स्यात्।
अग्राग्रभागान्नतकालमौर्वी कार्येह खल्वङ्गुलवृत्तजाता॥"

श्रीपतिनैवं कथ्यते; एतेषामयमर्थः—समपृथिव्यां पूर्वादिदिशां ज्ञापकैश्चिन्हैः सहितं षष्ट्यधिकशतत्रयमिताः समाना भागाः कृता यस्मिन् तत्—एतादृशं वृत्तं विधाय तज्जठरे (मध्ये—केन्द्रे वा) स्वेच्छानुसारं यावदङ्गुलतुल्या त्रिज्या कल्पिता भवेत्तावद्भिरङ्गुलचिन्हैश्चिन्हितां सर्वतोऽपि निम्नोन्नतभावरहितां छायाहीनाम-र्थात् सूर्याभिमुखं यष्टिस्तथा स्थापिता भवेद्यथा स्वमार्गे वर्धिता सती सूर्यबिम्ब-केन्द्रं गच्छेत्तादृशीं यष्टिं धारयेत्। यष्ट्यग्रात् भूपरि पात्यमानोलम्बः शङ्कुः। अस्मिन् वृत्ते शङ्कुमूलकेन्द्रान्तरं दृग्ज्या (नतांशज्या) भवति। पूर्वापरसूत्राच्छ-ङ्कुमूलस्यान्तरं भुजसंज्ञको भवति। उदयास्तसूत्राच्छङ्कुमूलं यावच्छङ्क्वग्र-संज्ञकम्। अस्य नाम भास्करेण शङ्कुतलं कथ्यते। शङ्कवग्रं (शङ्कुतलं) द्वादशभिर्गुणितं पूर्वकथितलम्बेन (शङ्कुना) विभक्तं तदा स्फुटा पलभा स्यात्। स्वदेशसम्बन्धिनी पलभा भवतीति। अग्राग्रबिन्दोरत्र अङ्गुलवृत्तजाता नतांशज्या कार्या। प्रथमं त्रिज्यारूपा यष्टिर्यावन्मिताङ्गुला रचिता तदङ्गुलव्यासार्धवृत्त-सम्बन्धिनी दृग्ज्या कर्त्तव्येति।

अत्रोपपत्तिः।

समायां भुवि कृतदिक्चिन्हं भगणांशाङ्कितं च यद्वृतं तत् क्षितिजवृत्तम्। त्रिज्याङ्गुला यष्टिस्त्रिज्यास्वरूपा। सा नष्टद्युतिर्यथा भवेत्तथा धार्या, येन यष्ट्यग्रं वर्धितं सद्रविबिम्बकेन्द्रं गच्छेत्। नष्टद्युतेर्यष्टेरग्रादधो यावान् लम्बस्तावांस्तस्मिन् समये शङ्कुः। त्रिज्यारूपाया यष्टेः शङ्कुरूपलम्बस्य च वर्गान्तरमूलं नतांशज्ये (दृग्ज्या) ति शङ्कुमूवृलत्तकेन्द्रयोरन्तररूपेति। शङ्कुमूलपूर्वापररेखयोरन्तरं भुजः। अग्राग्रयोः (पूर्वापर दिग्गतयोरुपरिगता रेखोदयास्तसूत्रम्) उदयास्तसूत्रस्य शङ्कुमूलस्य चान्तरं शङ्कवग्रं शङ्कुतलनाम्ना प्रसिद्धम्। तदा शंङ्कुना

यदिशङ्कुतलं भुजो लभ्यते तदा द्वादश शङ्कुना किमित्यनुपातेन समागच्छति पलभा। अग्राग्रबिन्दोरङ्गुलवृत्तजाता नतज्या उन्नतज्या वा कार्येत्यस्यायमाशयः। शङ्कुमूलयष्टिमूलयोरन्तरं दृग्ज्या तत्स्वरूपं प्रथममुक्तम्। अत्र तु नतांशज्या, अग्राग्रबिन्दोः यष्टयङ्गुलमानानुसारेणाङ्गुलात्मकप्रमाणवती आनेया। शङ्कुमूलयष्टिमूलयोरन्तरे एकां सरलशलाकां धृत्वा तामङ्गुलेन मापयित्वा तन्मानं ज्ञेयमिति।

अत्र लल्लोक्तम्—

दिङ्मध्यस्थितमूला यष्टिर्नष्टप्रभा त्रिगुणतुल्या।
धार्या तदीयलम्बककाष्ठांशा वोदिता भागाः॥

यष्टिस्त्रिज्याकर्णो लम्बोना कृतिविशेषपदमनयोः।
दृग्ज्या छाया प्राक्पर लम्बनिपातान्तरं बाहुः॥

प्रागपराग्रासक्तं सूत्रं शङ्क्वन्तरं हृतं सूर्यैः।
यष्टयवलम्बविभक्तं यष्टयवलम्बेन विषुवद् भा॥"

इति। भास्करोक्तं च—

"त्रिज्याविष्कम्भार्धं वृत्तं कृत्वा दिगङ्कितं तत्र।
दत्वाऽग्रां प्राक् पश्चाद् द्युज्यावृत्तं च तन्मध्ये॥

तत्परिधौ षष्टयङ्कं यष्टिर्नष्टद्युतिस्ततः केन्द्रे।
त्रिज्याङ्गुला निधेया यष्टयग्राग्रान्तरं यावत्।

तावत्या मौर्व्या यद् द्वितीयवृत्ते धनुर्भवेत्तत्र।
दिनगतशेषा नाड्यः प्राक् पश्चात् स्युः क्रमेणैवम्॥"

इति सर्वथा श्रीपत्युक्तसममेवेति॥२०-२१॥

अब यष्टियन्त्र को कहते हैं।

हि. भा.—समान पृथ्वी में यष्टि व्यासार्ध से वृत्त लिखकर इसके मध्य में द्युज्या व्यासार्ध से एक कैन्द्रिक अन्यद्युज्या वृत्त लिखकर इसकी परिधि में साठ घटी अङ्कित करनी चाहिये। अनन्तर यष्टिव्यासार्धगोले जहां यष्टि नष्टद्युति (छाया रहित) हुई है वहां यष्टी को स्थिर करना। क्षितिज में उस यष्टयग्र का और अग्रा का जो अन्तर है तत्तुल्य पूर्णज्या से द्वितीयवृत्त (द्युज्यावृत्त) में जो चाप हो उस चाप में जो घटी है वह पूर्वकपाल में दिनगत घटी होती है और पश्चिमकपाल में दिनशेषघटी होती है। यदि एक दिन में द्युज्या स्थिर मानीजाय अर्थात् एक दिन में रवि की क्रान्ति स्थिर हो तब ही इस विधि से कालज्ञान हो सकता है। सिद्धान्तशेखर में 'संसाधिताशं कुलचक्रभागं विधायवृत्तं समभूप्रदेशे। त्रिज्याङ्कुलाङ्कां' इत्यादि श्लोकोक्त के अनुसार कहते हैं। इन श्लोकों का अर्थ यह है कि समान

पृथिवी प्रदेश में वृत्त लिखकर उसमें पूर्वादि दिशाओं के सूचक चिन्ह अङ्कित करना तथा तीन सौ साठ समान भाग कर देना, उसके मध्य (केन्द्र) में अपनी इच्छा के अनुसार जितने अङ्गुल की त्रिज्या हो उतनी अङ्गुल संख्या से चिन्हित और सब तरह से समान छायाहीन अर्थात् सूर्याभिमुख यष्टि इस तरह रखी जाय जिससे स्वमार्ग में यष्टि को बढ़ाने से सूर्यबिम्ब केन्द्र में चली जाय। यष्ट्यग्र से भू (क्षितिज) के ऊपर लम्बशङ्कु होता है। इस वृत्त (पूर्व लिखितवृत्त) में शङ्कुमूल और केन्द्र के अन्तर दृग्ज्या (नतांशज्या) होती है शङ्कुमूल से उदयास्त सूत्रपर्यन्त लम्बरूप अन्तर भुज है। शंकुमूल से उदयास्त सूत्रपर्यन्त लम्बरूपरेखा शङ्क्वग्र संज्ञक है यही शङ्कुतल हैं। शङ्क्वग्र (शङ्कुतल) को बारह से गुणाकर पूर्वकथित लम्ब (शङ्कु) से भाग देने से स्फुट पलभा होती है। पहले त्रिज्यारूप यष्टि जितनी अङ्गुल की बनाई गई तदङ्गुल व्यासार्धवृत्त सम्बन्धिनी दृग्ज्या करनी चाहिये इति ॥

उपपत्ति।

समान पृथिवी में इष्ट त्रिज्या से वृत्त बनाकर उसमें दिशाओं के चिन्ह अङ्कित कर देना तथा भगणांश अङ्कित कर देना चाहिये वह क्षितिज वृत्त है। त्रिज्याङ्गुल यष्टि को इस तरह रखना चाहिये जिससे उसकी छाया नष्ट हो तथा उसको बढ़ाने से यष्ट्यग्र रवि बिम्बकेन्द्र में चला जाय। नष्टद्युति (छाया रहित) यष्ट्यग्र से नीचे जितना लम्ब है उतना उस समय में शङ्कु है। त्रिज्यारूप यष्टि और शङ्कुरूप लम्ब का वर्गान्तरमूल नतांशज्या (दृग्ज्या) शङ्कुमूल और वृत्तकेन्द्र का अन्तर रूप होता है। शङ्कुमूल से पूर्वापर रेखा के ऊपर लम्ब भुज है। अग्राग्रगत (पूर्व पश्चिम दिग्गत अग्राद्वयगत) रेखा उदयास्तसूत्र है। उदयास्तसूत्र और शङ्कुमूल का लम्बरूप अन्तर शङ्क्वग्र (शङ्कुतल) है। तब अनुपात करते हैं यदि शङ्कु में शङ्कुतल भुज पाते हैं तो द्वादशाङ्गुल शङ्कु में क्या इस अनुपात से स्फुट पलभा आती है। शङ्कुमूल और यष्टिमूल का अन्तर दृग्ज्या है इसका स्वरूप पहले कहा गया है। यहां नतज्या—अग्राग्र बिन्दु से यष्ट्यङ्गुल मान के अनुसार अङ्गुलात्मक प्रमाण वाली लानी है। शङ्कुमूल और यष्टिमूल के अन्तर में एक सरल शलाका रख कर उसको अङ्गुल से मापन कर उसका मान समझना चाहिये। यहां लल्लाचार्य "दिङ्मध्य-स्थित मूला यष्टिर्नष्टप्रभा त्रिगुणतुल्या" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों के अनुसार कहते हैं सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में" त्रिज्या विष्कम्भार्धं वृत्तं कृत्वा दिगङ्कितं तत्र" इत्यादि विज्ञानभाष्य में लिखित श्लोकों से भास्कराचार्य सर्वथा श्रीपत्युक्त के समान ही कहा है इति ॥२०-२१॥

इदानीं प्रकारान्तरेण घटिकानयनमाह।

यष्टेः स्वाहोरात्रार्धभाजिताऽन्तरदलाहता त्रिज्या।
फलचापांशा द्विगुणाः षड्भिर्वा भाजिता घटिकाः ॥२२॥

सु. भा.—पूर्वमग्रा यष्टयग्रयोरन्तरं मित्वा यद्गृहीतं तस्य दलं कार्यम् । तेनान्तरदलेन त्रिज्याऽऽहता यष्टेः स्वाहोरात्रार्धेन यष्टिव्यासार्धभवद्युज्यया भाजिता फलचापांशा द्विगुणाः षड्भिर्भाजिता वा घटिकाः स्युरिति ।

अत्रोपपत्तिः ।

अन्तरं घटयंशपूर्णज्याऽतस्तदर्धं तदर्धज्या द्युज्याव्यासार्धे ततोऽनुपातेन त्रिज्यावृत्ते परिणता कृता तस्याश्चापं द्विगुणमंशात्मकं तत् षड्भिर्विभज्य घटिकाः कृता इति स्फुटम् ॥ २२ ॥

वि. भा.—पूर्वमग्राग्रयष्ट्योरन्तरं मित्वा यद् गृहीतं तस्यार्धं कार्यम् । त्रिज्या तेनान्तरार्धेन गुणिता यष्टेः स्वाहोरात्रार्धेन (यष्टिव्यासार्धोत्पन्नद्युज्यया) भक्ता फलचापांशा द्विगुणाः षड्भिर्भक्ता वा घटिकाः स्युरिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

अन्तरं घटयंशपूर्णज्या, एतस्या अर्धं घटयंशार्धज्या द्युज्याव्यासार्धे, ततोऽनुपातेन 'द्युज्याव्यासार्धे यदीयं घटयंशार्धज्या लभ्यते तदा त्रिज्याव्यासार्धे किं समागच्छति त्रिज्याव्यासार्धे घटयंशार्धज्या तत्स्वरूपम् $= \frac{\text{ज्या } \frac{1}{2} \text{ घटयंश. त्रि}}{\text{द्यु}}$

अस्याश्चापं द्विगुणमंशात्मकं तत् षड्भिर्भक्तं तदा घटिकाः स्युरिति ॥

सिद्धान्तशेखरे

"न्यस्येदग्रां प्राक् प्रतीच्यग्रतोऽत्र याम्योदक्स्था मध्यदेशान्नतज्या ।
साध्यः शङ्कुस्तन्मितिभ्यां भ्रमस्तु देयस्तस्मिन् स्वोदयात् स्वाग्रकाग्रात् ॥
विरचित समयांशस्तन्मितंशङ्कुमस्मिन् तदुदरगतभाग्रं स्थापयेदग्रकाग्रात् ।
तदवधि विगतास्ते कालभागा भवेयुर्दिनगतघटिकाः स्युः कालभागारसाप्ताः ॥'

श्रीपतिनैवं कथ्यते । अस्यार्थः—अत्रास्मिन् पूर्वलिखितवृत्ते प्राक् प्रतीच्यग्रतः (पूर्वापरबिन्दुभ्यां) अग्रां न्यस्येत् । मध्यदेशात् (वृत्तकेन्द्रबिन्दोः) याम्योदक्स्था (दक्षिणदिक्स्था, उत्तर दिक्स्था वा) नतज्या देया । तन्मितिभ्यां (अग्रान्तज्ययोर्मानाभ्यां) शङ्कुः साध्यः । तस्मिन् वृत्ते भ्रमः—अहोरात्रवृत्तं—विरचितसमयांशः (विरचिताश्चिन्हिताः समयांशा यस्मिन्) षष्टिघटीभिरहोरात्रवृत्तं चिन्हितं (अङ्कित) भवति, अत्राहोरात्रवृत्तमंशात्मकमर्थात् षष्ट्यधिकशतत्रय भागात्मकं कार्यम् । तच्च स्वोदयात् (स्वोदयबिन्दोः) स्वाग्रकात् (अग्राग्रबिन्दोः) दातव्यः । अस्मिन् षष्ट्यधिकशतत्रयभागाङ्कितेऽहोरात्रवृत्ते तन्मितंशङ्कु (अग्रानत

ज्ययोर्मानानुसारेण मापितमङ्गुलात्मकं शङ्कुं तदुदरगतभाग्रं यथा स्यात्तथा स्थापयेत् । अग्रकाग्रात् तदवधि (अग्राग्रबिन्दोः) शङ्कुमूलपर्यन्तमहोरात्रवृत्ते येंऽशास्ते गता कालभागाः स्युः । ते कालभागाः षड्भिर्भक्ता सन्तो दिनगत घटिका भवेयुरिति ॥

अस्योपपत्तिः ।

समभूमौ वृत्तकरणं यष्टेः शङ्कोश्च स्वरूपादिकं कथितमेव । अत्र पूर्वापरबिन्दुभ्यामङ्गुलात्मिकाऽग्रा वृत्तकेन्द्रबिन्दोश्च नतज्या दत्ता, यष्ट्यग्रबिन्दोर्लम्बरूपोऽङ्गुलात्मकः शङ्कुस्तदनुसारिमानेन मापितश्चक्रभागाङ्कितेऽहोरात्रवृत्ते यष्टिसंलग्नस्तथा स्थापितो यथा छायाग्रं वृत्तकेन्द्रे पतेत् । एवमग्राग्रबिन्दोः शङ्कुमूलपर्यन्तमहोरात्रवृत्तीयमंशादिमानं कालभागाः स्युरिति । अत्र श्री भास्कराचार्येण "अग्राग्रउदितो रविर्यथा यथाऽहोरात्रवृत्त गत्योपरि गच्छति तथा तथा केन्द्रे निवेशितमूलाया यष्टेरग्रे भ्राम्यमाणे यष्टिनष्टद्युतिः स्यात् । यतो यष्ट्यग्रे रविः । अग्राग्रादर्कं यावदहोरात्रवृत्ते यावत्यो घटिकास्तावत्यो दिनगता भवन्ति । तत्राकाशे द्युज्यावृत्तं लेखितुं नायाति ।

अतोऽग्राग्र यष्ट्यग्रयोरन्तरं शलाकया मित्वा गृहीतम् । ततो भुवि लिखिते द्युज्यावृत्ते तया शलाकया ज्यारूपया धनुषि घटिकाज्ञानं युक्तियुक्तम् ॥"

इत्युच्यते, अनयोर्भावनया श्रीपत्युक्तं भास्करोक्तं च सर्वमुपपद्यते । अत्र कलांशाः षड्भक्ता घटिका भवन्त्यहोरात्रवृत्ते शष्ट्यधिकशतत्रयमंशा अङ्किताः सन्ति तेन षष्टिघटिकानुसारेण षड्भिरंशैरेका घटिका भवतीति । श्रीपत्युक्तमिदं यष्टियन्त्रेण समयज्ञानं भास्करोक्तं च लल्लोक्तस्य—

"अग्राग्राच्छङ्कुभ्रमवृत्ते कालांशकैर्लिखेद्राशिम् ।
दिङ्मध्यच्छायाग्रं कृत्वाऽत्र स्थापयेच्छङ्कुम् ॥
अग्राग्राच्छङ्कुतलान्तरस्थिता वा समुद्गता भागाः ।
कालांशाः षट्कहृता भवन्ति घटिका दिनस्य गताः ॥
इत्यस्यैवानुरूपमिति विज्ञैर्विवेच्यम् ॥२२॥

अब प्रकारान्तर से घटिकानयन को कहते हैं ।

हि॰ भा॰—पहले अग्राग्र और यष्ट्यग्र के अन्तर को मापन कर जो लिया गया है । उसके आधे को त्रिज्या से गुणाकर यष्टि व्यासार्धोत्पन्न द्युज्या से भाग देने से जो फल हो उसके चापांश को दो से गुणा कर छः से भागदेने से वा (प्रकारान्तर से) घटी होती है इति ॥

उपपत्ति ।

अग्राग्र और यष्ट्यग्र के अन्तर घटयंश की पूर्णज्या है । इसका आधा द्युज्याव्यासार्ध में घटयंशार्धज्या होती है । तब अनुपात करते हैं यदि द्युज्याव्यासार्ध में यह घटयंशार्धज्या पाते हैं तो त्रिज्या व्यासार्ध में क्या इस अनुपात से त्रिज्याव्यासार्ध में घटयंशार्धज्या आती है उसका स्वरूप $= \frac{\text{ज्या} \frac{1}{2} \text{घटयंश.त्रि}}{\text{द्यु}}$ इसके चाप को दो से गुणा करने से अंशात्मक होता है उसको छः से भाग देने से घटी होती है इति । सिद्धान्तशेखर में "न्यसेदग्रां प्राक् प्रतीच्यग्रतोऽत्र याम्योदक्स्था मध्यदेशान्नतज्या" यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोकों के अनुसार श्रीपति कहते हैं । इन श्लोकों का अर्थ यह है—इस पूर्वलिखित वृत्त में पूर्वबिन्दु और पश्चिम बिन्दु से अग्रा का न्यास करना चाहिये । वृत्त के केन्द्र बिन्दु से दक्षिण दिशा में वा उत्तर दिशा में नतज्या दान देना चाहिये अग्रा और नतज्या के मानों से शङ्कु साधन करना । उस वृत्त में अहोरात्रवृत्त साठ घटी से अङ्कित होता है यहां अहोरात्रवृत्त को अंशात्मक अर्थात् तीन सौ साठ अंशात्मक करना चाहिये । वह अग्राग्र बिन्दु से देना चाहिये अर्थात् अहोरात्रवृत्त में अंश बिभाग स्वोदयबिन्दु (अग्राग्रबिन्दु) से करना चाहिये । इस तीन सौ साठ अंश से अङ्कित अहोरात्रवृत्त में अग्रा और नतज्या के मानानुसार मापित शङ्कु को उसके मध्यगत छायाग्र में जैसे हो वैसे स्थापन करना चाहिये । अग्राग्र बिन्दु से शङ्कुमूल पर्यन्त अहोरात्रवृत्त में जो अंश है वे गतकलांश है, उन गतकलांश को छः से भाग देने से दिनगत घटी होती है इति ॥

इसकी उपपत्ति ।

समान पृथिवी में वृत्त रचना और यष्टि-शङ्कु के स्वरूपादि पूर्व में कथित ही है । इस वृत्त में पूर्व बिन्दु और पश्चिम बिन्दु से अग्रा दान देना तथा वृत्त केन्द्र बिन्दु से नतज्या देनी चाहिये । यष्टयग्र बिन्दु से लम्बरूप अङ्गुलात्मकशङ्कु को चक्रभाग (३६० अंश) से अङ्कित अहोरात्रवृत्त में यष्टि से संलग्न उस तरह स्थापना करना चाहिये जिससे छायाग्र वृत्तकेन्द्र में पतित हो । इस तरह अग्राग्र बिन्दु से शङ्कुमूल पर्यन्त अहोरात्रवृत्तीय अंशादिमान कालभाग होते हैं । यहां भास्कराचार्य संस्कृतोपपत्ति में लिखित 'अग्रागउदितो-रविः' यहां से लेकर घटिकाज्ञानं युक्ति युक्तं पर्यन्त' कहते हैं, इन दोनों का विचार करने से श्रीपत्युक्त और भास्करोक्त भी उपपन्न होता है । यहां कालांश को छः से भाग देने से घटी होती है । अहोरात्रवृत्त में तीन सौ साठ अंश अङ्कित है इसलिये साठ घटी के अनुसार छः अंश में एक घटी होती है । यह श्रीपत्युक्त यष्टियन्त्र से समय ज्ञान भास्करोक्त भी शिष्यधी-वृद्धिद तन्त्र में लल्लोक्त 'अग्राग्राच्छङ्कुभ्रमवृत्ते कालांशकैर्लिखेद्राशिम्' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित इन श्लोकों के अनुरूप ही इसको विवेचक लोग विचार कर देखें इति ॥२२॥

अथवा घटिकानयनमाह ।

यष्टिव्यासार्धे वा घटिका शङ्क्वङ्गुलादितो मूलात् ।
अवलम्ब सूत्र युक्त्या घटिका दिवसस्य गतशेषाः ॥२३॥

सु. भा.—वा यष्टिव्यासार्धे गोले शङ्क्वङ्गुलादितो मूलात् शङ्कुतलाच्च घटिकाः साध्याः । शङ्कुतलात् शङ्कोश्चेष्टहृतिमानीय ततो द्युज्यानुपातेनेष्टान्त्यां सूत्रं चानीय त्रिप्रश्नोक्त्या घटिका साध्या इत्यर्थः । अर्थाद् गोलरचनां विनैव नष्टद्युतेर्यष्टेरग्रादवलम्बकं कृत्वा शङ्कुं विज्ञाय १९ सूत्र युक्त्या द्युज्येष्टान्त्यादिना त्रिप्रश्नोक्त्या गतशेषा घटिका ज्ञेयाः ॥ २३ ॥

वि. भा.—वा यष्टिव्यासार्धे गोले शङ्क्वङ्गुलादितो मूलात् (शङ्कुतलाच्च) घटिकाः साध्याः । अर्थात् $\sqrt{\text{शङ्कु}^2+\text{शंतल}^2}$=इहृति ततो द्युज्ययेष्टहृतिर्लभ्यते तदा त्रिज्यया किं समागतीष्टान्त्या= $\frac{\text{इहृति.त्रि}}{\text{द्यु}}$ ततश्चरज्या संस्कारेण सूत्रज्ञानं ततः 'अथोन्नतादूनयुताच्चरेणेत्यादि' भास्करोक्तविधिनोन्नतकालाववोधः सम्यग्भवतीति । वा ऽवलम्वसूत्रयुक्त्या दिवसस्य गतशेषा घटिकाः साध्या अर्थाद्गोलरचनां विनैव नष्टद्युतेर्यष्टेरग्रादवलम्बकं कृत्वा शङ्कुं ज्ञात्वा १९ सूत्रयुक्त्या द्युज्यां तत इष्टान्त्यां ज्ञात्वोपर्युक्तरीत्या दिनस्य गतघटिकाः शेषघटिकाश्च विज्ञातव्या इति ॥२३॥

अव पुनः घटिकानयन को कहते हैं ।

हि. भा.—वा यष्टिव्यासार्धगोल में शङ्क्वङ्गुल और शङ्कुतल से घटी साधन करना चाहिये अर्थात् $\sqrt{\text{शङ्कु}^2+\text{शंतल}^2}$ = इहृति । तब अनुपात 'द्युज्या में इष्टहृति पाते हैं तो त्रिज्या में क्या' से इष्टान्त्या का ज्ञान होता है इसमें चरज्या संस्कार करने से सूत्र का ज्ञान होता हैं तब 'अथोन्नतादूनयुताच्चरेणेत्यादि' भास्करोक्त सूत्र से उन्नतकाल ज्ञान होता हैं । अथवा अवलम्बसूत्र युक्ति से दिनगतघटी और दिनशेष घटी साधन करना चाहिये अर्थात् बिना गोल रचना के नष्ट द्युति यष्टि के अग्र से अवलम्बसूत्र कर शङ्कु को जानकर १९ सूत्र युक्ति से द्युज्या ज्ञान से इष्टान्त्या जानकर त्रिप्रश्नोक्त विधि से दिनगतघटी और दिनशेष घटी का ज्ञान सुलभ ही है इति ॥२३॥

इदानीं यष्टियन्त्रेण वेधेन रविचन्द्रान्तरांशानाह ।

यष्टिव्यासार्धाद् भुवि वृत्तं भगणांशकं कृत्वा ।
यष्टिकीलप्रोते मूले पृथगग्रयोर्बद्धे ॥२४॥

ताभ्यां सूर्यशशाङ्कौ वेध्यावग्रस्थितेन सूत्रेण ।
सूत्रज्यययाऽन्तरांशा ये तेऽर्कविभाजिता स्तिथयः ॥२५॥

सु० भा०—यष्टिव्यासार्धात् समभुवि भगणांशकं चक्रांशाङ्कितं वृत्तं कृत्वा केन्द्रगतः कीलः कार्यः । कीलप्रोते द्वे यष्टी वृत्तव्यासार्धं प्रमाणे कार्ये । किंविशिष्टे यष्टी मूले पृथगग्रयोर्बद्धे । यत्र कीले यष्टिमूलाग्रे ते एकत्र मिलिते कार्ये इत्यर्थः । ताभ्यां मूलमिलिताभ्यां यष्टिभ्यां मूलस्थदृष्टया युगपदेकैकयष्ट्यग्रगतौ सूर्यशशाङ्कौ गणकेन यष्ट्यग्रयोर्गतं यत् सूत्रं तेन सूत्रेण वेध्यौ । तत् सूत्रं च रविचन्द्रान्तरांशपूर्णज्या गोलयुक्त्या भवति । अतस्तत्सूत्रज्यया पूर्णज्यया क्षितिजवृत्तं यद्धनुस्ते रविचन्द्रयोरन्तरांशा भवन्ति । एवं येऽन्तरांशास्तेऽर्कविभाजिता द्वादशभक्तास्तिथयः स्युरिति ॥ २४-२५ ॥

वि. भा.—समपृथिव्यां यष्टिव्यासार्धात् वृत्तं कार्यं तच्च चक्राशाङ्कितं कृत्वा तत्केन्द्रगतः कीलः कार्यः । कीलप्रोते वृत्तव्यासार्धं प्रमाणे द्वेयष्टी कार्ये । मूले पृथगग्रयोर्बद्धे (कीले यष्टिमूलाग्रे एकत्र मिलिते कार्ये) ताभ्यां मूलमिलिताभ्यां यष्टिभ्यां मूलस्य दृष्ट्या युगपदेकैक यष्ट्यग्रगतौ सूर्य चन्द्रौ यष्ट्यग्रयोर्गतेन सूत्रेण वेध्यौ । तद्यष्ट्यग्रगतं सूत्रं रवि चन्द्रान्तरांश पूर्णज्या भवति अतस्तत् सूत्रज्यया (पूर्णज्यया) क्षितिजवृत्ते यच्चापं ते रवि चन्द्रान्तरांशा भवति । तेऽन्तरांशा द्वादश भक्ता स्तदा तिथयो भवन्तीति । सिद्धान्तशेखरे

"वृत्ते चक्रकलाङ्कितेऽक्ष शकटाकारं शलाकाद्वयं कृत्वा तेन विवेधयेद्रविविधू लम्बस्य पातस्तयोः ।
यावन्तः परिधौ तदन्तरलवाः सूर्यैर्विभक्ता गताः शुक्ले स्युस्तिथयो भवन्ति बहुले पक्षे च भोग्याः स्फुटम् ॥

श्रीपतिनोक्तमाचार्योक्तानुरूपमेव । अस्य सूत्रस्यायमर्थः—भगणांशाङ्किते-ऽत्रवृत्ते शकटाकारं शलाकाद्वयं मूले दृढविद्धं यष्टिद्वयं विधाय तेन शलाकाद्वयेन सूर्यचन्द्रौ वेधयेदर्थात् यष्ट्योर्मूले एकत्र कृत्वा मूलमिलिताभ्यां तभ्यां यष्टिभ्यां मूलस्थ दृष्ट्या यष्ट्यग्रगतौ सूर्यचन्द्रौ वेधयेत् (तयोर्यष्ट्यग्रगतयो रविचन्द्रयो र्लम्बस्य पातः कार्योऽर्थाद्रविवेधकारि यष्ट्यग्रादेको लम्बश्चन्द्रवेधकारि यष्ट्यग्राच्चान्योलम्बः कार्यः । यावन्तः परिधौ तदन्तरलवा । अयमर्थः लम्बयोरन्तरं यत् तत्परिधौ तस्य येऽन्तरांशा अर्थाज्ज्यावत्सम्पादितस्य लम्बान्तरस्य परिधौ यावन्मिता अंशाः स्युस्ते द्वादशभिर्भाजिताः सन्तः शुक्लपक्षे गतास्तिथयः स्युः । बहुले पक्षे (कृष्णपक्षे) भोग्या अवशेषास्तिथयो भवन्तीति ।

अत्रोपपत्तिः ।

तत्र लम्बनिपाताभ्यां तयोरन्तरं ज्यावद्यद् भवति शकटाकारेण धृतं शला–

काद्वयं तथैव तस्मिन् वृत्ते स्थापितं सद्वा येंऽशास्ते रविचन्द्रयोरन्तरांशा एव भवन्ति। सूर्यचन्द्रयोरन्तरांशा द्वादशभक्तास्तिथयो भवन्तीति स्फुटमेव। केवलं गणितेन तिथ्यानयने सूर्योनचन्द्रांशाः क्रियन्ते ते द्वादशभक्तास्तदा शुक्लप्रतिपदादिकास्तिथयो भवन्ति। अत्र तु अन्तरांशा आयान्तीति चन्द्रोनसूर्यांशस्थले तदन्तरांशा द्वादशभक्ता इति चन्द्रतो रविपर्यन्तमर्थाद्रविचन्द्रयोः पुनर्योगात्मकामावास्यापर्यन्तं तिथयो भवन्ति ता एव भोग्यास्तिथय इति। अत्र लल्लश्च--

"शकटाकृतियष्टिभ्यां विद्ध्वा रविशीतगू तदवलम्बे।
भगणांशाङ्के वृत्ते मुक्त्वा संलक्षयेत् स्थाने॥
अन्तरमनयोर्भागा हि सूर्यशशिनोर्दिवाकरविभक्ताः।
तिथयः शुक्ले याताः कृष्णे शेषाः फलं भवति॥"

इत्येतदनुरूपमेव श्रीपत्युक्तमिति॥२४-२५॥

अब यष्टि यन्त्र द्वारा वेध से रवि और चन्द्र के अन्तरांशानयन को कहते हैं।

हि. भा.-- समान पृथिवी में यष्टि व्यासार्ध से वृत्त बनाकर चक्रांश से अङ्कित कर उसको केन्द्रगत कील करना चाहिये। कीलगत वृत्त के व्यासार्ध तुल्य दो यष्टि करना, कील में दोनों यष्टियों के मूल को मिलाकर रखना चाहिये। उन मूल मिलित यष्टिद्वय से मूलस्थ दृष्टि द्वारा एक ही समय में एक एक यष्ट्यग्रगत सूर्य और चन्द्र को यष्ट्यग्रगत सूत्र से वेध करना चाहिये। वह यष्ट्यग्रगत सूत्र रवि और चन्द्र की अन्तरांश पूर्णज्या होती है। अतएव उस पूर्णज्या से क्षितिज वृत्त में जो चाप होता है वह रवि और चन्द्र का अन्तरांश होता है। उस अन्तरांश को बारह से भाग देने से तिथि होती है। सिद्धान्तशेखर में "वृत्ते चक्रलवांङ्कितेऽत्र शकटाकारं शलाकाद्वयं" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक के अनुसार श्रीपति कहते हैं। इस श्लोक का अर्थ यह है भगणाङ्कित वृत्त में शकटाकार मूल में मिली हुई दो यष्टियों से सूर्य और चन्द्र को वेध करना अर्थात् दोनों यष्टियों के मूल मिलाकर मूलस्थ दृष्टि से यष्टिद्वय द्वारा यष्ट्यग्रगत सूर्य और चन्द्र को वेध करना चाहिये। यष्ट्यग्रगत रवि और चन्द्र से लम्ब गिराना चाहिये। परिधि में लम्बान्तर के जितने अंश हैं उनको बारह से भाग देने से शुक्लपक्ष में गत तिथि होती है। कृष्णपक्ष में भोग्य (अवशिष्ट) तिथि होती है इति।

उपपत्ति।

मूल में मिली हुई दो यष्टियों से सूर्य और चन्द्र को वेध करना चाहिये, वेध करने से यष्ट्यग्रगत सूर्य और चन्द्र से लम्ब गिराने से लिखित वृत्त में लम्बान्तर के जितने अंश हैं वे सूर्य और चन्द्र के अन्तरांश होते हैं। उनको बारह से भाग देने से तिथि होती हैं। केवल गणित से तिथि साधन में चन्द्र में सूर्य को घटाने से जो अन्तरांश होता है उस को बारह से

भाग देने से शुक्ल प्रतिपदादिक तिथि होती है। यहां तो अन्तरांश आते हैं इसलिये चन्द्र-रहित सूर्य (अन्तरांश) को बारह से भाग देने सेच न्द्र से रवि पर्यन्त अर्थात् रवि और चन्द्र की पुनः योगात्मक अमावास्या पर्यन्त तिथि होती है वे ही भोग्य तिथियां हैं। यहां लल्लाचार्य ने—"शकटाकृति यष्टिभ्यां विद्ध्वा रविशीत गूतदवलम्बे" इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित श्लोकों के अनुसार कहा है। लल्लोक्त के अनुरूप ही श्रीपत्युक्त है इति ॥२४-२५॥

इदानीं प्रकारान्तरेणान्तरांशानयनमाह ।

सूत्रार्धगुणा त्रिज्या यष्टिहृता फलधनुर्द्विगुणितं वा ।
रविचन्द्रान्तरमिष्टव्यासार्धोल्लिखितवृत्तस्य ॥२६॥

सु. भा.—पूर्वं यत् पूर्णज्यासमं सूत्रमागतं तस्यार्धेन त्रिज्या गुणा यष्टिहृता फलधनुर्द्विगुणितं वा रविचन्द्रान्तरं भवति । इष्टव्यासार्धोल्लिखितवृत्तस्याग्रे सम्बन्धः।

अत्रोपपत्तिः ।

सूत्रार्धं यष्टिव्यासार्धे रविचन्द्रान्तरार्धज्या सा त्रिज्या व्यासाध परिणता। तद्धनुर्द्विगुणमन्तरांशा भवन्ति ॥२६॥

वि. भा.—पूर्वश्लोकोपपत्तौ रविचन्द्रान्तरपूर्णज्यासमं यत्सूत्रं समागत तेन त्रिज्या गुणिता यष्ट्या भक्ता लब्धस्य चापं द्विगुणितं वा रविचन्द्रान्तरांशा भवन्तीति । इष्टव्यासार्धोल्लिखितवृत्तस्याग्रे सम्बन्धः ।

अत्रोपपत्तिः ।

अथ सूत्रम्=रविचन्द्रान्तरांश पूर्णज्या, अतः $\frac{\text{सूत्र}}{२}$=ज्या$\frac{१}{२}$ रविचन्द्रान्तरांश, इयं यष्टिव्यासार्धेऽस्ति, ततो ऽनुपातेनेष्ट त्रिज्या व्यासार्धे समानीयते, यदि यष्टिव्यासार्धे इयं रविचन्द्रान्तरार्धज्या लभ्यते तदा त्रिज्या व्यासार्धे किं समागच्छति त्रिज्या व्यासार्धे रविचन्द्रान्तरार्धज्या तत्स्वरूपम् $\frac{\frac{\text{सूत्र}}{२}\times\text{त्रि}}{\text{यष्टि}}$ अस्याश्चापं रविचन्द्रान्तरार्धम् । द्विगुणितं तदा रविचन्द्रान्तरांशा भवन्तीति ॥२६॥

अब प्रकारान्तर से अन्तरांशानयन कहते हैं ।

हि. भा.—पूर्वश्लोक में रविचन्द्रान्तरांश की पूर्णज्या तुल्य जो सूत्र आया है उससे त्रिज्या को गुणा कर यष्टि से भाग देने से जो लब्ध हो उसके चाप को द्विगुणित करने से रविचन्द्रान्तरांश होता है इति ।

उपपत्ति ।

सूत्र = रविचन्द्रान्तरांश पूर्णज्या, अतः $\frac{\text{सूत्र}}{२}$ = ज्या $\frac{१}{२}$ रविचन्द्रान्तरांश, यह यष्टि-व्यासार्धगोलीय है । इसको त्रिज्याव्यासार्ध में परिणत करते है । यदि यष्टि व्यासार्ध में यह रवि चन्द्रान्तरार्धज्या पाते हैं तो त्रिज्या व्यासार्ध में क्या इससे त्रिज्या व्यासार्ध में रवि चन्द्रान्तरार्धज्या आती है । इसके चाप को द्विगुणित करने से रविचन्द्रान्तरांश होता है इति ॥२६॥

इदानीं यष्टियन्त्रेण दिक्साधनमाह ।

मध्यधृताया यष्टेर्लम्बकशङ्कू प्रवेशनिर्गमने ।
क्रान्तिवशात् प्राच्यपरे मत्स्याद्याम्योत्तरे साध्ये ॥२७॥

सु. भा.—समावनाविष्टव्यासार्धेन लिखितस्य वृत्तस्य मध्ये स्थापितकीलस्य छाया पूर्वकपालस्थे रवौ यत्र प्रतीच्यां परिधौ लगति स प्रवेशबिन्दुः । यत्र च पश्चिमकपालस्थे रवौ प्राचि लगति स निर्गमनबिन्दुः । तत्र प्रवेशनिर्गमने समये मध्यधृताया यष्टेर्नष्टद्युतेरग्राल्लम्बं विधाय द्वौ समौ शंकू साध्यौ । ताभ्यां तत्तत्कालक्रान्तिवशात् त्रिप्रश्नोक्तया भुजान्तरं विधाय प्राच्यपरे साध्ये ताभ्यां मत्स्याद्याम्योत्तरे च साध्ये इति सर्वं त्रिप्रश्नाधिकारतः स्फुटम् ॥२७॥

वि. भा.—समपृथिव्यामिष्टव्यासार्धेन लिखितवृत्तस्य केन्द्रे स्थापितस्य कीलस्य छाया पूर्वकपालस्थे रवौ यत्र पश्चिमदिशि वृत्तपरिधौ लगति स छाया-प्रवेशबिन्दुः । पश्चिमकपालस्थे रवौ कीलच्छाया पूर्वदिशि वृत्तपरिधौ यत्र लगति स छायानिर्गमनबिन्दुः । तत्र प्रवेशनिर्गमनसमये केन्द्रस्थयष्टे (कीलस्य) र्नष्टद्युतेरग्राल्लम्बं विधाय द्वौ समौ शङ्कू साध्यौ, ताभ्यां (शङ्कुभ्यां) तत्तत्काल-क्रान्तिवशाद् भुजान्तरं कृत्वा पूर्वापरे साध्ये ताभ्यां मत्स्योत्पादनेन याम्योत्तरे साध्ये इति ।

अत्रोपपत्तिः ।

छायाप्रवेशनिर्गमनसमये केन्द्रस्थयष्टेरग्राल्लम्बं विधाय द्वौ समौ शंकू साध्यौ, तदा $\frac{\text{शङ्कुतल} \times १२}{\text{शङ्कु}}$ =पलभा । ततः $\sqrt{\text{पलभा}^{२} + १२^{२}}$ =पलकर्णः । क्रान्तिज्ञानं तु वर्त्तत एवातः- $\frac{\text{पलक.क्रांज्या}}{१२}$ =प्रवेश कालिकाग्रा=अग्रा । $\frac{\text{पक} \times \text{क्रांज्या}'}{१२}$ =निर्गमनकालिकाग्रा=अग्रा' । क्रांज्या=छायाप्रवेशकालिक क्रान्तिज्या । क्रांज्या' =छायानिर्गमनकालिक क्रान्तिज्या । शङ्कवोस्तुल्यत्वाच्छंतकुलमपि तुल्यमस्ति । अग्रा ± शंतल=भुजः प्रवेशकालिकः । अग्रा' ± शंतल=भुज' = निर्गमनकालिकः । अनयोरन्तरम् । अग्रान्तरम्=भुजान्तरम् । एतद्भुजान्तर वशेन वास्तवपूर्वापर रेखायाः समानान्तररेखाया ज्ञानं भवेत् । वृत्तकेन्द्रबिन्दुतस्तत्समानान्तरा रेखा वास्तव पूर्वापररेखा भवेत् । केन्द्रबिन्दुतस्तदुपरिलम्बरेखा दक्षिणोत्तरा रेखा भवेत् । प्राचीनै रेखोपरिलम्बकरणार्थं मत्स्योत्पादनं क्रियते स्म । एतावता दिग्ज्ञानं जातमिति ॥२७॥

अब यष्टियन्त्र से दिक्साधन को कहते हैं।

हि. भा.—समान पृथिवी में इष्टव्यासार्ध से लिखित वृत्त के केन्द्र में स्थापित कील की छाया पूर्वकपाल में रवि के रहने से पश्चिम दिशा में वृत्त परिधि में जहां लगती है वह बिन्दु छायाप्रवेश बिन्दु है । पश्चिम कपाल में रवि के रहने से कील की छाया पूर्वदिशा में वृत्तपरिधि में जहां लगती है वह छाया निर्गमबिन्दु है । छायाप्रवेश समय में और निर्गमन समय में नष्टद्युति यष्टि के अग्र से लम्ब करके दो समानशङ्कु का साधन करना । उन दोनों शङ्कुओं से तत्तत्कालिक (प्रवेशकालिक और निर्गमनकालिक) क्रान्तिवश से भुजान्तर लाकर पूर्वापर दिशा साधन करना, उन दोनों से मत्स्योत्पादन से दक्षिणदिशा और उत्तर दिशा साधन करना चाहिये इति ॥२७॥

उपपत्ति ।

छाया प्रवेश समय में और निर्गमन समय में केन्द्रस्थ यष्टि के अग्र से लम्ब करके दो समान शङ्कु का साधन करना चाहिये । तब $\frac{\text{शंतल} \times १२}{\text{शङ्कु}}$ =पलभा । $\sqrt{\text{पलभा}^{२} + १२^{२}}$

=पलकर्ण । क्रान्ति के ज्ञान से $\frac{\text{पलक.क्रांज्या}}{१२}$ =प्रवेशकालिक अग्रा = अग्रा । $\frac{\text{पलक.क्रांज्या}^{1}}{१२}$ =निर्गमनकालिक अग्रा = अग्रा^{1} । क्रांज्या = छायाप्रवेशकालिक क्रान्तिज्या । क्रांज्या^{1} = छाया निर्गमन कालिक क्रान्तिज्या । दोनों शङ्कुओं के बराबर रहने से शङ्कुतल भी बराबर है ।

∴ अग्रा ± शंतल = प्रवेशकालिक भुज । अग्रा^{1} ± शंतल = भुज^{1} = निर्गमनकालिक भुज दोनों के अन्तर करने से अग्रान्तर = भुजान्तर, इस भुजान्तर वश से वास्तव पूर्वापर रेखा की समानान्तर रेखा का ज्ञान होता है । वृत्त के केन्द्रबिन्दु से उसकी समानान्तरा रेखा वास्तव पूर्वापर रेखा होती है । केन्द्र बिन्दु से उसके ऊपर लम्बरेखा दक्षिणोत्तरा रेखा होती है । प्राचीनाचार्य रेखा के ऊपर लम्ब करने के लिये मत्स्योत्पादन करते थे । इससे दिक् साधन हो गया इति ॥२७॥

इदानीं भुजकोटिसाधनमाह ।

शङ्कुतलाग्रान्तरयुतिरन्यैकदिशोर्भुजो भुजस्य कृतिम् ।
दृग्ज्याकर्णकृतेः प्रोह्य पदं पूर्वापरा कोटिः ॥ २८॥

सु. *भा.*—स्पष्टार्थम् । त्रिप्रश्नाधिकारे सर्वं स्फुटमेव प्रतिपादितम् ॥२८॥

वि. भा.—अन्यदिशि शङ्कुतलस्याग्रायाश्चान्तरमेकदिशि तयोर्योगो भुजो भवति । दृग्ज्यारूपकर्णवर्गाद् भुजस्य कृतिं (वर्गं) प्रोह्य (हित्वा) पूर्वापरानुकारा कोटिर्भवेदिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

यष्ट्यग्रादवलम्बसूत्रं शङ्कुः । शङ्कुमूलात्पूर्वापरसूत्रोपरिलम्बो भुजसंज्ञकः । स्वोदयास्तसूत्रपूर्वापरसूत्रयोरन्तरमग्रा । शङ्कुमूलात्स्वोदयास्तसूत्रोपरिलम्बः शङ्कुतलम् । एतेषां भुजाग्राशङ्कुतलानां स्वरूपदर्शनेन स्फुटमस्ति यदग्राशङ्कुतलयोर्भिन्नदिक्कयोरन्तरमेकदिक्कयोर्योगो भुजो भवति । शङ्कुमूलाद्वृत्तकेन्द्रपर्यन्तं दृग्ज्याकर्णः । भुजाग्राद्वृत्तकेन्द्रपर्यन्तं पूर्वापरसूत्रखण्डं कोटिः । भुजसंज्ञको भुजः । एतैः कर्णकोटिभुजैरुत्पन्नत्रिभुजे $\sqrt{\text{दृग्ज्या}^{2} - \text{भुज}^{2}}$ = कोटिः । एतेनाचार्योक्तमुपपन्नम् ॥२८॥

अब भुज और कोटि के साधन को कहते हैं।

हि. भा.—अग्रा और शङ्कुतल की भिन्न दिशा रहने से दोनों का अन्तर भुज होता है। तथा दोनों की दिशा एक रहने से योग करने से भुज होता है। दृग्ज्यारूप कर्ण वर्ग में भुज वर्ग को घटाकर मूल लेने से पूर्वापरानुकार कोटिसंज्ञक होता है। इति ॥२८॥

उपपत्ति।

यष्टयग्र से अवलम्ब सूत्र शङ्कु है। शङ्कुमूल से पूर्वापर सूत्र के ऊपर लम्ब भुज संज्ञक है स्वोदयास्त सूत्र और पूर्वापर सूत्र का अन्तर अग्रा है। शङ्कुमूल से स्वोदयास्त सूत्र के ऊपर लम्ब शङ्कुतल है। इन भुज, अग्रा शङ्कुतल का स्वरूप देखने से स्पष्ट है कि भिन्न दिशा का शंकुतल और अग्रा का अन्तरभुज होता है, तथा एक दिशा का शंकुतल और अग्रा का योग करने से भुज होता हैं। शङ्कुमूल से वृतकेन्द्रपर्यन्त दृग्ज्याकर्ण, भुजसंज्ञक भुज, भुजाग्र से वृत्त केन्द्रपर्यन्त कोटि, इन कर्णभुज और कोटि से उत्पन्न जात्यत्रिभुज में $\sqrt{\text{दृग्ज्या}^2 - \text{भुज}^2}$ = कोटि। इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ इति ॥२८॥

इदानीं यष्टियन्त्रेण पलभाज्ञानमाह।

उदयास्तसूत्रशङ्क्वन्तरं हृतं शङ्कुनाऽर्कसङ्गुणितम्।
विषुवच्छायैवं वा विनोदयास्तमयसूत्रेण ॥२९॥

सु. भा.—उदयास्तसूत्रशंक्वन्तरं शंकुतलं तदर्कसंगुणितं शंकुना हृतं फलं विषुवच्छाया पलभा भवति। उदयास्तसूत्रेण विनाऽपि वा पलभाज्ञानमेवं वक्ष्यमाणेन विधिना भवतीत्यस्याग्रे सम्बन्धः।

अत्रोपपत्तिः। अक्षक्षेत्रानुपातेन स्फुटा ॥२९॥

वि. भा.—उदयास्तसूत्रशंक्वन्तरं (शंकुतलं) तद्द्वादशभिर्गुणितं शंकुना भक्तं लब्धं बिषुवच्छाया (पलभा) भवति उदयास्तसूत्रेण विनाऽपि वा पलभाज्ञान मेवमग्रिमश्लोकेन भवतीति।

अत्रोपपत्तिः।

पूर्वं समभुवि लिखितं वृत्तं क्षितिजवृत्तम्। त्रिज्याङ्गुला यष्टिः स्वत एव त्रिज्यारूपा। सा नष्टद्युतिर्यथा भवति तथा धार्या, येन यष्ट्यग्रं वर्धितं सद्रविबिम्ब-केन्द्रं गच्छेत्। यष्टयग्रादधो यावान् लम्बस्तावान् तस्मिन् काले शंकुः। अथ त्रिज्यारूपाया यष्टेः शङ्कुरूपलम्बस्य वर्गान्तरमूलं नतांशज्या (दृग्ज्या) शंकुमूल-वृत्तकेन्द्रयोरन्तररूपेति। शंकमूलपूर्वापररेखयोरन्तरं भुजः। पूर्वापरदिग्गतयोर-

आग्रयोरुपरि गता रेखोदयास्तसूत्रम् । उदयास्तसूत्रस्य शंकुमूलस्यान्तरं शंकुतलम् । तदाऽक्षक्षेत्रानुपातेन यदि शंकुना शंकुतलं लभ्यते तदा द्वादशशंकुना किमिति समागच्छति पलभा तत्स्वरूपम् $= \frac{\text{शंतल} \times १२}{\text{शंकु}}$ एतावताऽऽचार्योक्तमुपपन्नम् ।।२९।।

अब यष्टियन्त्र से पलभाज्ञान कहते हैं ।

हि. भा.—उदयास्तसूत्र और शङ्कुमूल के अन्तर (शङ्कुतल) को बारह से गुणा कर शङ्कु से भाग देने से पलभा होती है । बिना उदयास्तसूत्र के भी पलभा ज्ञान आगे कहते हैं इति ।।२९।।

उपपत्ति ।

पूर्व में समान पृथिवी में लिखित वृत्त क्षितिजवृत्त है । यष्टि त्रिज्या के बराबर है । यष्टि को इस तरह धारण करना चाहिये जिससे यष्ट्यग्र को बढ़ाने से रवि बिम्बकेन्द्र में जाय, यष्ट्यग्र से नीचे जो लम्ब होगा वह शङ्कु है । त्रिज्यारूपयष्टि और शङ्कुरूप लम्ब का वर्गान्तरमूल नतांशज्या (दृग्ज्या) शङ्कुमूल और वृत्तकेन्द्र का अन्तररूप है । शङ्कुमूल से पूर्वापरसूत्र पर्यन्त लम्बरूपभुज है । शङ्कुमूल से उदयास्तसूत्रपर्यन्त लम्बरूप शङ्कुतल है । तब अनुपात करते है यदि शङ्कु में शङ्कुतल पाते हैं तो द्वादशा (बारह अङ्गुल) ङ्गुल शङ्कु में क्या इस अनुपात से पलभा आती है, इसका स्वरूप $= \frac{\text{शंतल} \times १२}{\text{शङ्कु}} =$ पलभा । इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ इति ।।२९।।

इदानीं भुजद्वयतः पलभाज्ञानमाह ।

प्राच्यपराशङ्कुतलान्तरद्वयान्तरयुतिः समान्यदिशोः ।
द्वादशगुणिता विषुवच्छाया शङ्क्वन्तर विभक्ता ।।३०।।

सु. भा.—शंकुमूलप्राच्यपरान्तरं भुजः । एवमेकस्मिन् दिने भुजद्वयं ज्ञेयम् तयोः समान्यदिशोरन्तरयुतिः कार्या सा द्वादशगुणिता शंक्वन्तरविभक्ता विषुवच्छाया भवति । 'भुजयोरेकान्यदिशोरन्तरमैक्यं रविक्षुण्णमि—त्यादिभास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ।

अत्रोपपत्तिः ।

भास्करविधिना स्फुटा सजातीयक्षेत्रयोर्भुजयोः कोट्योः कर्णयोरन्तरतो योगाद्वा तथैव सजातीयक्षेत्रोत्पन्नत्वात् ।।३०।।

वि. भा.—शङ्कुतलम् (शङ्कुमूलम्), प्राच्यपरा (पूर्वापररेखा)। शङ्कुमूल पूर्वापररेखयोरन्तरं भुजः। एकस्मिन् दिने भुजद्वयं ज्ञेयम्। तयोर्भुजयोरेकदिशायां वियुतिः (अन्तरं) भिन्न दिशायां युतिः कार्या, सा द्वादशगुणिता शंक्वन्तरेण विभक्ता तदा विषुवच्छाया (पलभा) भवतीति ॥

अत्रोपपत्तिः।

अग्राशङ्कुतलयोः संस्कारेण भुजः = अग्रा ± शंतल। तथा अग्रा ± शंतल' = भुजः', अनयोरन्तरम् = शङ्कुतलान्तरम् = भुजान्तरम्। तदा शङ्कुतलान्तरं भुजः। शङ्क्वन्तरं कोटिः। हृत्यन्तरं कर्णः, इति भुजत्रयैरुत्पन्नत्रिभुजमप्यक्षेत्रसजातीयमतोऽनुपातः $\frac{\text{शङ्कुतलान्तर} \times १२}{\text{शंक्वन्तर}} = \frac{\text{भुजान्तर} \times १२}{\text{शंक्वन्तर}}$ = पलभा। सिद्धान्तशिरोमणेर्गोलाध्याये भास्करोक्त 'भुजयोरेकान्यदिशोरन्तरमैक्यं रविक्षुण्ण' मित्याचार्योक्तानुरूपमेवास्तीति ॥३०॥

अब भुजद्वय से पलभाज्ञान को कहते हैं।

हि. भा.—शङ्कुमूल और पूर्वापररेखा का अन्तरभुज है। एक दिन में दो भुजों को जानना चाहिये। एक दिशा में दोनों भुजों के अन्तर को और भिन्न दिशा में दोनों भुजों के योग को बारह से गुणाकर शंक्वन्तर से भाग देने से पलभा होती है इति ॥३०॥

उपपत्ति।

अग्रा और शङ्कुतल के संस्कार से भुज होता है। अग्रा ± शंतल = भुज। तथा अग्रा + शंतल' = भुज' दोनों का अन्तर करने से शंकुतलान्तर = भुजान्तर। शंकुतलान्तरभुज, शंक्वन्तरकोटि, हृत्यन्तर कर्ण इन तीनों अवयवों से उत्पन्न त्रिभुज अक्ष क्षेत्र के सजातीय हैं, इसलिये अनुपात करते हैं। $\frac{\text{शंतलान्तर} \times १२}{\text{शंक्वन्तर}} = \frac{\text{भुजान्तर} \times १२}{\text{शङ्क्वन्तर}}$ पलभा, इससे आचार्योक्त उपपन्न होता है। सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में 'भुजयोरेकान्यदिशोरन्तरमैक्यम्' इत्यादि भास्करोक्त आचार्योक्त के अनुरूप ही है इति ॥३०॥

इदानीं रविज्ञानमाह।

शङ्कुप्राच्यपरान्तर शङ्क्वग्रैक्यमुदगन्तरं याम्ये।
लम्बगुणं यष्टिहृतं क्रान्तिज्याऽतो रविः साध्यः ॥३१॥

सु. भा.—शंकुप्राच्यपरान्तरंभुजः । शंक्वग्रं शंकुतलम् । उदग्भुजेऽनयोरैक्यं याम्ये भुजेऽन्तरमग्रा भवति । एवमैक्यान्तरं लम्बगुणं लम्बज्यया गुणं यष्टिहृतं त्रिज्याहृतं फलं क्रान्तिज्या भवति । अतः प्राग्वत् त्रिप्रश्नोक्तिवद्रविः साध्यः ।

अत्रोपपत्तिः ।

त्रिज्याकर्णेन लम्बज्या कोटिस्तदाऽग्राकर्णेन किं जाता क्रान्तिज्या । शेष वासना स्फुटा ॥३१॥

वि. भा.–शङ्कुप्राच्यपरान्तरं भुजः । शंक्वग्रं शङ्कुतलम् । उत्तरे भुजेऽनयो (शङ्कुतल भुजयोः) योगः, दक्षिणे भुजेऽन्तरं कार्यं तदाऽग्रा भवति । तद्योगान्तरं लम्ब (लम्बज्यया) गुणं यष्टि (त्रिज्या) भक्तं तदा क्रान्तिज्या भवति । अतः पूर्ववत् (त्रिप्रश्नोक्तवत्) रविः साध्य इति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

अग्राशङ्कुतलयोः संस्कारेण भुजो भवत्यत एतद्विलोमेन शङ्कुतलभुजयोः संस्कारेणाग्रा भवेत् । ततोऽनुपातो यदि त्रिज्यया लम्बज्या लभ्यते तदाऽग्रया किं समागच्छति क्रान्तिज्या तत्स्वरूपम् $=\frac{\text{लंज्या.अग्रा}}{\text{त्रि}}$ $=$क्रांज्या, ततः $\frac{\text{त्रि.क्रांज्या}}{\text{त्रिज्या}}$ $=$रविभुजज्या अस्याश्चापं रविभुजांशाः स्युरिति ॥३१॥

अब यष्टियन्त्र से रविज्ञान कहते हैं ।

हि. भा.—शङ्कुमूल और पूर्वापर सूत्र का अन्तरभुज है । शङ्क्वग्र (शङ्कुतल), उत्तरभुज में शङ्कुतल और भुज का योग अग्रा होती है । दक्षिणभुज में शङ्कुतल और भुज का योग अग्रा होती है । उस योगान्तर (अग्रा) को लम्बज्या से गुणाकर यष्टि (त्रिज्या) से भाग देने से क्रान्तिज्या होती है । इससे पूर्ववत् (त्रिप्रश्नाधिकारोक्त विधि से) रवि का साधन करना चाहिये ॥३१॥

उपपत्ति ।

अग्रा और शङ्कुतल के संस्कार से भुज होता है, इसके विलोम से शङ्कुतल और भुज के संस्कार से अग्रा होती है । तब अनुपात करते हैं, यदि त्रिज्या में लम्बज्या पाते हैं तो अग्रा में क्या इस अनुपात से क्रान्तिज्या आती है उसका स्वरूप $=\frac{\text{लंज्या.अग्रा}}{\text{त्रि}}$ $=$क्रांज्या ।

अतः $\frac{\text{त्रि.क्रांज्या}}{\text{जिज्या}}$ $=$भुजज्या इसके चाप करने से भुजांश होता है इति ॥३१॥

इदानीं यष्टचा गृहाद्यौच्च्यानयनमाह ।

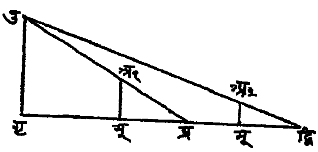
अपसृतिरन्यशलाका गुणा शलाकान्तरेण भक्ता भूः ।
भूः स्वशलाकागुणिता यष्टि विभक्ता गृहाद्यौच्च्यम् ॥३२॥

सु. भा.—इष्टप्रमाणैका यष्टिर्धार्या । तस्या एकस्मिन्नग्रे लम्बरूपाऽङ्गुलादिभिरङ्किता विपुलैका शलाका बद्ध्वा दृढीकार्या यथा यष्टिशलाकाभ्यां कोणः समकोणो भवेत् । यष्टचन्याग्रसंस्थदृष्टचा समधरातलस्थगृहादौच्च्यमन्यया चलयष्टचा विध्येत् । इयमन्या यष्टिर्यत्र शलाकायां लग्ना तस्माच्छलाकामूलपर्यन्तं सङ्ख्या वेधसम्बन्धिनी शलाका ज्ञेया । एवं प्रथमस्थानतो वेधं कृत्वा शलाकाप्रमाणं विज्ञाय प्रथमस्थानतस्तस्यामेव सरलरेखायामपसृत्य द्वितीयस्थानतो गृहादौच्च्यं विध्वा तत्रापि शलाकाप्रमाणं जानीयात् । वेधस्थानयोरन्तरं चापसृतिरुच्यते । अपसृतिरन्यशलाकागुणा शलाकान्तरेण भक्ता तदा भूः स्वभूर्वेधस्थानगृहान्तरं भवति । भूश्च स्वशलाकागुणा यष्टिविभक्ता गृहादौच्च्यं स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः ।

गृउ=गृहौच्च्यम् । प्रमू=यष्टिः=द्विमू । प्र=प्रथमवेधस्थानम् । द्वि=द्वितीयवेधस्थानम् । $मूअ_1$—प्रथमवेधे शलाका=$श_1$ मू $अ_1$ द्वितीयवेधे शलाका =$श_2$ प्रद्वि=अपसृतिः=आगृप्र=$भू_1$ । गृद्वि=$भू_2$=$भू_1$+अ ।

सजातीयक्षेत्रतः



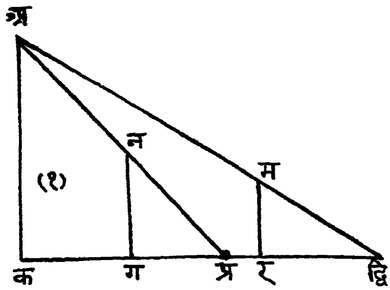
$$गृउ\ \frac{भू.श_1}{य}=\frac{(भू_1+अ)\ श_2}{य}$$

$\therefore भू.श_1=भू_1.श_2+अ.श_2$ । ततः $भू_1\ (श_1-श_2)=अ.श_2$ ।

$\therefore \frac{अ.श_2}{श_1-श_2}=भू_1$ । एवं $भू_2=\frac{अ.श_1}{श_1-श_2}$ । शेषोपपत्तिः स्फुटा ॥३२॥

वि. भा.—एकेष्टा यष्टिर्ग्रहीतव्या तस्या एकस्मिन्नग्रे तदुपरि लम्बरूपाऽङ्गुलादिभिश्चिन्हिता विपुलैका शलाका तथा बन्धनीया यथा दृढा भवेत् । यष्टचन्याग्रस्थितदृष्टचा समपृथिव्यां स्थितं गृहाद्यौच्च्यं विध्येत् । शलाकाप्रमाणं च ज्ञात्वा प्रथमवेधस्थानात्तस्यामेव सरलरेखायामपसृत्य (किञ्चिद्गत्वा) द्वितीयस्थानतोऽपि गृहाद्यौच्च्यं विध्येत् । तत्रापि शलाकाप्रमाणं ज्ञेयम् । वेधस्थान योरन्तरमपसृतिः कथ्यते । अपसृतिरन्यशलाकया गुणा शलाकान्तरेण भक्ता तदा भूः (वेधस्थानस्य गृहस्य चान्तरं) भवति । भूः स्वशलाकया गुणिता यष्ट्या भक्ता तदा गृहाद्यौच्च्यं भवेदिति ॥

अत्रोपपत्तिः ।



प्रग=यष्टिः=द्विर ।
प्र=प्रथमवेधस्थानम् ।
द्वि=द्वितीयवेधस्थानम् प्रथमवेध-
स्थानेशलाका=गन=श ।
द्वितीयवेध स्थाने शलाका
=रम=श' प्रद्वि=अपसृतिः ।
कप्र=भूः । कद्वि=भू'=भू+अपसृति ।

तदा अकप्र, नगप्र त्रिभुजयो सजातीयत्वादनुपातः $\frac{\text{श.भू}}{\text{यष्टि}}$ =अक=गृहाद्यौच्च्यम् । तथा अकद्वि, मरद्वि त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातेन $\frac{\text{श}'.\text{भू}'}{\text{यष्टि}}=$

$= \frac{\text{श}'\,(\text{भू}+\text{अपसृति})}{\text{यष्टि}}$ =गृहाद्यौच्च्यम् । अतः $\frac{\text{श.भू}}{\text{यष्टि}}=\frac{\text{श}'\,(\text{भू}+\text{अपसृति})}{\text{यष्टि}}$

पक्षौ 'यष्टि' गुणितौ तदा श.भू=श' (भू+अपसृति) =श'.भू+श'.अपसृति,
समशोधनेन श.भू—श'.भू=भू (श—श')=श' अपसृति पक्षौ श—श' भक्तौ तदा
$\frac{\text{श}'.\text{अपसृति}}{\text{श}-\text{श}'}$ =भू । एवं $\frac{\text{श.अपसृति}}{\text{श}-\text{श}'}$ =भू', एतेनोपपन्नमाचार्योक्तमिति ।।३२।।

अब यष्टि से गृहादि की ऊंचाई का आनयन कहते हैं ।

हि. भा.—एक इष्ट प्रमाण की यष्टि ग्रहण कर उसके एक अग्र में उस के ऊपर लम्बरूप अङ्गुलादि से अङ्कित एक विपुल (मोटी) शलाका खूब दृढ़ता से बाँधनी चाहिये। यष्टि के अन्य अग्र स्थित दृष्टि से समधरातलस्थित गृहादि की ऊँचाई को वेध करना शलाका प्रमाण को भी जान कर प्रथमवेधस्थान से उसी सरल रेखा में कुछ दूर जाकर द्वितीय स्थान से भी गृहादि की ऊँचाई को वेध करना चाहिये । वहां भी शलाका प्रमाण जान लेना चाहिये । दोनों वेध स्थानों का अन्तर अपसृति कहलाती है । अपसृति को अन्यशलाका से गुणाकर शलाकान्तर से भाग देने से भू (वेध स्थान और गृहादि का अन्तर) प्रमाण होता है । भू को अपनी शलाका से गुणाकर यष्टि से भाग देने से गृहादि की ऊँचाई होती है इति ।।३२।।

उपपत्ति ।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (१) क्षेत्र को देखिये । प्रग = यष्टि = द्विर । प्र = प्रथम वेधस्थान । द्वि = द्वितीय वेधस्थान । प्रथम वेधस्थान में शलाका = गन = श । द्वितीय वेध स्थान में शलाका = रम = श′ । प्रद्वि = अपसृति । कप्र = भू । कद्वि = भू′ = भू + अपसृति, तब अकप्र, नगप्र दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं $\frac{\text{श.भू}}{\text{यष्टि}}$ = अक = गृहादि की ऊंचाई, तथा अकद्वि, मरद्वि दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व के द्वारा अनुपात करने से $\frac{\text{श′.भू′}}{\text{यष्टि}}$

$= \frac{\text{श′ (भू + अपसृति)}}{\text{यष्टि}}$ = गृहादि की ऊंचाई, अतः समीकरण से $\frac{\text{श.भू}}{\text{यष्टि}}$ =

$= \frac{\text{श′ (भू + अपसृति)}}{\text{यष्टि}}$ दोनों पक्षों को 'यष्टि' से गुणा करने से श.भू = श′ (भू + अपसृति), = श′.भू + श′.अपसृति, समशोधन करने से श.भू — श′.भू = भू(श — श′) = श′ अपसृति, दोनों पक्षों को श — श′ इससे भाग देने से $\frac{\text{श′.अपसृति}}{\text{श — श′}}$ = भू । एवं $\frac{\text{श.अपसृति}}{\text{श — श′}}$ = भू′, इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ ।।३२।।

इदानीं प्रकारान्तरेण गृहाद्यौच्च्यानयनमाह ।

दृष्ट्या गुणिताऽपसृतिर्दृष्टि विशेषेण भाजिता भूमिः ।
भूमिः स्वदृष्टिभक्ता शलाकया सङ्गुणोच्छ्रायः ।।३३।।

सु. भा.—समधरातले यष्टिरूर्ध्वा धरा लम्बरूपा धार्या । धरातले दृष्टिस्तथा चालनीया यथा दृष्टिर्यष्टेरग्रं गृहाद्यग्रं चैकसरलरेखायां स्युः । एवं कृते दृष्टियष्टिमूलयोरन्तरं यत् तदेवेह दृष्टिरित्युच्यते । अथ पुनः सैव यष्टिस्तस्यामेव सरलरेखायां तयैवोर्ध्वाधरा स्थाप्या । तद्वशतो द्वितीयवेधेऽपि दृष्टिस्थानं निश्चेयं तथा दृष्टियष्टिमूलान्तरं द्वितीयदृष्टिश्च ज्ञातव्या । द्वयोर्दृष्टिस्थानयोरन्तरं चात्रापसृतिरुच्यते । अपसृतिर्दृष्टया स्वदृष्टया गुणिता दृष्टयोर्विशेषेणान्तरेण भाजिता स्वभूमिः स्यात् । सा भूमिशलाकया यष्टया संगुणा स्वदृष्टिभक्ता गृहाद्युच्छ्रायः स्यादिति ।

अत्रोपपत्तिः ।

{ क्षेत्रं १४५७ तमे पृष्ठे द्रष्टव्यम् । }

गृउ=गृहौच्च्यम् । मूअ$_1$=मूअ$_2$=यष्टिः । मूप्र=प्रथमदृष्टिः=दृ$_1$ । मूद्वि=द्वितीय दृष्टिः =दृ$_2$ । प्रद्वि=अपसृतिः=अ । प्रगृ=प्रथमभूमिः =भू$_1$ । द्विगृ=द्वितीयभूमिः=भू$_2$=भू$_1$+अ ।

ततः सजातीयक्षेत्रतः ।

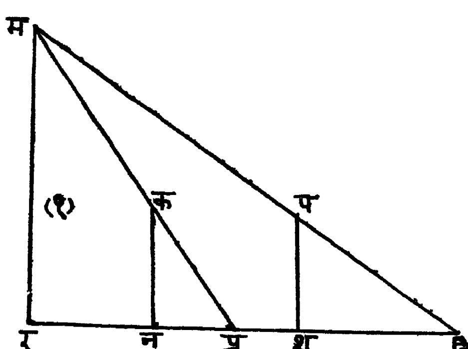
$$\text{गृउ} = \frac{\text{य.भू}_1}{\text{दृ}_1} = \frac{(\text{भू}_1+\text{अ}).\text{य}}{\text{दृ}_2} \text{ ततः भू}_1.\text{दृ}_2 = \text{भू}_1.\text{दृ}_1 + \text{दृ.अ}$$

$\therefore \text{भू}_1 = \frac{\text{दृ.अ}}{\text{दृ}_2 - \text{दृ}_1}$ । एवं $\text{भू}_2 = \frac{\text{दृ}_2.\text{अ}}{\text{दृ}_2 - \text{दृ}_1}$ । ततोऽनुपातेनोच्छ्रित्यानयनं सुगममिति ॥३३॥

वि. भा.—समधरातले ऊर्ध्वाधरा लम्बरूपा च यष्टिः स्थाप्या, समधरातले दृष्टिस्तथा स्थाप्या यथा दृष्टिर्यष्टेरग्रं गृहाद्यग्रं चैकस्यां सरलरेखायां भवेयुः । एवं करणेन दृष्टियष्टिमूलयोरन्तरं यत्तद्दृष्टिः कथ्यते । पुनः सैव यष्टिस्तस्यामेव सरलरेखायां पूर्ववदेवोर्ध्वाधरा-लम्बरूपा च स्थाप्या, तद्वशेन द्वितीय वेधेऽपि पूर्ववदेव दृष्टिस्थानस्य निश्चयः कार्यः । तथा दृष्टियष्टिमूलान्तरं ज्ञातव्यं द्वितीयदृष्टिश्च ज्ञेया । दृष्टिस्थानयोरन्तरमपसृतिः कथ्यते । अपसृति स्वदृष्टचा गुणिता दृष्टचोरन्तरेण भक्ता तदा स्वभूमिर्भवेत् । सा भूमिः शलाकया (यष्टचा) संगुणितां स्वदृष्टिभक्ता तदोच्छ्रायः (गृहादेरुच्छ्रायः) भवतीति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

कन = पश = यष्टिः ।
नप्र =प्रथमदृष्टिः=दृ ।
शद्वि=द्वितीय दृष्टिः=दृ ।
मर=गृहाद्यौच्च्यम् ।
प्रद्वि=अपसृतिः ।
प्रर=प्रथम भूमिः=भू ।
द्विर=द्वितीयभूमिः=भू
=भू+अपसृतिः ।



तदा कनप्र, मरप त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातेन $\frac{\text{य}\times\text{भू}}{\text{दृ}}$ = गृहाद्यौच्च्यम्

तथा पशद्वि, मरद्वि त्रिभुजयोः सजातीयत्वादनुपातः $\frac{\text{य}\times\text{भू}'}{\text{दृ}'}$

$= \frac{\text{य}\,(\text{भू}+\text{अपसृति})}{\text{दृ}'}$ = गृहाद्यौच्च्यम् । अतः $\frac{\text{य}\times\text{भू}}{\text{दृ}} = \frac{\text{य}\,(\text{भू}+\text{अपसृति})}{\text{दृ}'}$

पक्षौ (य) भक्तौ तदा $\frac{\text{भू}}{\text{दृ}} = \frac{\text{भू}+\text{अपसृति}}{\text{दृ}'}$ छेदगमेन $\text{भू}\times\text{दृ}' = \text{दृ}(\text{भू}+\text{अपसृति})$

$= \text{दृ}.\text{भू}+\text{दृ}.\text{अपसृति}$, समशोधनेन $\text{भू}.\text{दृ}' - \text{दृ}.\text{भू} = \text{भू}\,(\text{दृ}'-\text{दृ}) = \text{दृ}.\text{अपसृति}$ पक्षौ

$\text{दृ}'-\text{दृ}$ भक्तौ तदा $\frac{\text{दृ}.\text{अपसृति}}{\text{दृ}'-\text{दृ}} = \text{भू}$ एवमेव $\frac{\text{दृ}'.\text{अपसृति}}{\text{दृ}'-\text{दृ}} = \text{भू}'$, एतेनोपपन्नं सूत्रमिति ॥३३॥

अब प्रकारान्तर से गृहादि की ऊंचाई का आनयन कहते हैं।

हि. भा.—सम धरातल में ऊर्ध्वाधर लम्बरूप यष्टि स्थापन पर करना, समधरातल में दृष्टि को उस तरह रखना चाहिये जिस से दृष्टि, यष्टि का अग्र और गृहादि का अग्र एक ही सरल रेखा में हो। इस तरह करने से दृष्टि और यष्टि के मूल का अन्तर यहां दृष्टि कहलाती है। पुनः उसी यष्टि को उसी सरल रेखा में पूर्ववत् ऊर्ध्वाधर-लम्बरूप स्थापन करना। उसके वश से द्वितीय वेध में भी पूर्ववत् ही दृष्टिस्थान निश्चित करना चाहिये। तथा दृष्टि और यष्टि मूल का अन्तर जानना चाहिये। द्वितीय दृष्टि भी ज्ञातव्य है, दोनों दृष्टि स्थानों का अन्तर यहां अपसृति कथित है अपसृति को अपनी दृष्टि से गुणाकर दोनों दृष्टि के अन्तर से भाग देने से अपनी भू (भूमि) होती है। भूमि को शलाका (यष्टि) से गुणाकर अपनी दृष्टि से भाग देने से गृहादि की ऊंचाई होती है इति ॥३३॥

उपपत्ति।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (१) क्षेत्र को देखिये। कन=पश=यष्टि। नप्र =प्रथमदृष्टि=दृ। शद्वि=द्वितीयदृष्टि=$\text{दृ}'$। मर=गृहादि की ऊंचाई। प्रद्वि=अपसृति। प्रर=प्रथम भूमि=भू। द्विर=द्वितीयभूमि=$\text{भू}'$=भू+अपसृति। तब कनप्र, मरप दोनों

त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करने से $\frac{\text{य.भू}}{\text{द}}$ = गृहादि की ऊंचाई । एवं पशद्वि, मरद्वि दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करने से $\frac{\text{य.भू}'}{\text{द}'} = \frac{\text{य (भू+अपसृति)}}{\text{द}'}$ = गृहादि की ऊंचाई, अतः समीकरण करने से $\frac{\text{य.भू}}{\text{द}} = \frac{\text{य (भू+अपसृति)}}{\text{द}'}$ दोनों पक्षों को (य) भाग देने से $\frac{\text{भू}}{\text{द}} = \frac{\text{भू+अपसृति}}{\text{द}'}$ छेदगम से $\text{भू.द}' = \text{द (भू+अपसृति)}$ $= \text{द.भू} + \text{द.अपसृति}$, समशोधन करने से $\text{भू.द}' - \text{द.भू} = \text{भू} (\text{द}' - \text{द}) = \text{द.अपसृति}$ दोनों पक्षों को $\text{द}' - \text{द}$ इससे भाग देने से $\text{भू} = \frac{\text{द.अपसृति}}{\text{द}' - \text{द}}$; एवं $\frac{\text{द}'\text{.अपसृति}}{\text{द}' - \text{द}} = \text{भू}'$, इस से आचार्योक्त सूत्र उपपन्न हुआ ॥३३॥

इदानीं गृहादिमूलवेधेन भूमिज्ञानमाह ।

लम्बनिपातान्तरकं लम्बौच्च्यान्तरविभक्तमधिकगुणम् ।
भूर्लम्बान्तरगुणिता लम्बनिपातान्तरविभक्ता ॥३४॥

सु.भा.—इष्टप्रमाणा या यष्टेर्मूलस्य दृष्टचा यष्टचग्रगं गृहादिमूलं विध्येत् । यष्टिमूलाग्राभ्यां द्वौ लम्बौ कार्यौ तयोर्लम्बनिपातयोरन्तरकं लम्बौच्च्ययोरन्तरेण विभक्तमधिकेन लम्बमानेन गुणभूः स्यात् । लम्बान्तरगुणितेत्यादेरग्रे सम्बन्धः ।

अत्रोपपत्तिः ।

यष्टिमूलादगृहादिमूलपर्यन्तं रेखाकर्णः । यष्टिमूलादधिको लम्बः कोटिः । अधिकलम्बगृहादिमूलयोरन्तरभूमिर्भुजः । इदमेकं त्रिभुजम् । लम्बौच्च्यान्तरं कोटिः । यष्टिः कर्णः । लम्वनिपातान्तरभूमिर्भुजः । इदं द्वितीयं त्रिभुजं प्रथमसजातीयमतोऽनुपातेन भूम्यानयनं सुगममिति ॥३४॥

वि. भा.—इष्टयष्टेर्मूलस्थदृष्टचा यष्टचग्रगं गृहादिमूलं विध्येत् । यष्टिमूलाग्राभ्यां लम्बौ कार्यौ, तयोर्लम्वयोर्मूलान्तरं अधिकेन लम्बेन गुणं लम्बौच्च्ययोरन्तरेण विभक्तं तदा भूर्भवेत् । लम्बान्तर गुणितेत्यादेरग्रे सम्बन्ध इति ॥

अत्रोपपत्तिः ।

यष्टिमूलादधिको लम्बः कोटिः । अधिकलम्बगृहादिमूलयोरन्तरं भुजः । यष्टिमूलाद्गृहादिमूलपर्यन्तं कर्णः । एतैः कोटिभुजकर्णैरुत्पन्नमेकं त्रिभुजम् । लम्बौच्च्यान्तरं कोटिः । लम्बमूलयोरन्तरं भुजः । यष्टिः कर्णः । एतैः कोटिभुजकर्णैरुत्पन्नं द्वितीयं त्रिभुजम । त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातो यदि लम्बौच्च्यान्तरकोटौ लम्बमूलान्तरं भुजो लभ्यते तदा ऽधिकलम्बकोटौ किं समागच्छति, अधिकलम्ब-गृहादिमूलयोरन्तरभूमिस्तत्स्वरूपम् $= \frac{\text{लम्बमूलान्तर} \times \text{अधिकलम्ब}}{\text{लम्बौच्च्यान्तर}}$ एतेनोपपन्न माचार्योक्तमिति ॥३४॥

अब गृहादि मूलवेध से भूमिज्ञान कहते हैं ।

हि. भा.—इष्टयष्टि की मूलस्थ दृष्टि से यष्ट्यग्रगत गृहादि के मूल को वेध करना । यष्टि के मूल और अग्र से लम्ब करना, इन दोनों लम्बमूलान्तर को अधिक लम्ब से गुणाकर लम्बौच्च्यान्तर से भाग देने से भूमि होती है ॥३४॥

उपपत्ति ।

यष्टि के मूल से अधिक लम्बकोटि । अधिकलम्ब गृहादि मूल के अन्तरभुज । यष्टि के मूल से गृहादिमूलपर्यन्त कर्ण इन कोटि भुज कर्णों से उत्पन्न एक त्रिभुज । तथा लम्बौच्च्यान्तर कोटि, लम्बमूलान्तरभुज । यष्टि कर्ण इन कोटिभुज कर्णों से उत्पन्न द्वितीय त्रिभुज इन दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं यदि लम्बौच्च्यान्तर कोटि में लम्बमूलान्तर भुज पाते हैं तो अधिक लम्बकोटि में क्या इस अनुपात से अधिकलम्ब गृहादि मूल का अन्तर भूमि प्रमाण आता है उसका स्वरूप $= \frac{\text{लम्बमूलान्तर. अधिकलम्ब}}{\text{लम्बौच्यान्तर}}$ इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ इति ॥३४॥

इदानीं भूमिज्ञाने वंशौच्च्यज्ञानमाह ।

लब्धोनो दृग्लम्बो दृग्लम्बादग्रलम्बके हीने ।
अधिकेऽधिको गृहौच्च्यं तलाग्रके विद्धया दृष्टया ॥३५॥

सु० भा०—इष्टप्रमाणयष्टेर्मूलस्थदृष्ट्या गृहाद्यग्रं विध्येत् । यष्टिमूलाग्राभ्यां भुवि लम्बौ कार्यौ । मूलाल्लम्बो दृग्लम्ब इत्युच्यते । भूर्लम्बौच्च्ययोरन्तरेण गुणिता लम्बनिपातयोरन्तरेण भक्ता लब्धेन दृग्लम्बो हीनः कार्यो दृग्लम्बादग्र-

लम्बके हीने सति । अधिके चाधिकः कार्यस्तदा गृहाद्यौच्च्यं भवेत् । एवं तलाग्रके ये तयोर्विद्धया दृष्टया भूम्यौच्च्ये भवतः । भूमिज्ञानं तलवेधेनौच्च्यज्ञानं चाग्रवेधेन भवतीत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः ।

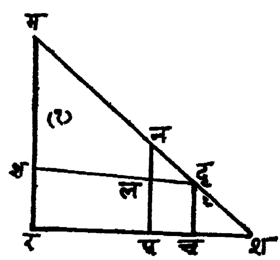
लम्बनिपातान्तरेण लम्बौच्च्ययोरन्तरं तदा ऽऽत्मगृहाद्यन्तरभूम्यां किं लब्धेन हीनो युतश्च दृग्लन्बो दृग्लम्बादग्रलम्बे हीनाधिके गृहाद्यौच्च्यं भवतीत्यत्र स्थितिद्वये क्षेत्रे विरचय्य सर्वं स्फुटं निरीक्षणीयम् ।।३५।।

वि. भा.—इष्टयष्टेर्मूलस्थदृष्ट्या गृहाद्यग्रं विध्येत् । यष्टिमूलाग्राभ्यां भुवि लम्बौ कार्यौ, मूलाल्लम्बो दृग्लम्बः कथ्यते । भूर्लम्बौच्च्ययोरन्तरेण गुणिता लम्बनिपातयोरन्तरे भक्ता लब्धेन दृग्लम्बो हीनः कार्यो यदि दृग्लम्बादग्रलम्बो हीनो भवेत् । अग्रलम्बाद् दृग्लम्बो हीनश्चेत्तदाऽधिकः (युक्तः) कार्यस्तदा गृहाद्यौच्च्यं भवेत् । एवं तलाग्रके ये तयोर्विद्धया दृष्ट्या भूम्यौच्च्ये भवतोऽर्थात्तलवेधेन भूमिज्ञानमग्रवेधेन चौच्च्यज्ञानं भवतीति ।।

अत्रोपपत्तिः ।

दृन=यष्टिः । दृ = दृष्टिस्थानम् । रम = गृहाद्यौच्च्यम् । दृच = दृष्टच्छायः = दृग्लम्बः । नप = यष्ट्यग्राल्लम्बः । नल= लम्बान्तरम् । पच = लम्बनिपातान्तरम्=दृल । ततः मशदृ, नलदृ त्रिभुजयोः साजात्यात्

$$\frac{\text{लम्बान्तर} \times \text{भू}}{\text{लम्बनिपातान्तर}} = \text{मश}$$ ।



∴ मश+शर=मश+दृग्लम्ब=मर=गृहाद्यौच्च्यम् । दृश=आत्मगृहान्तरभूमिः=भू । अत्र दृग्लम्बादग्रलम्बो ऽधिकोस्ति । दृग्लम्बादग्रलम्बेहीनेऽप्येवमेवोपपत्तिरिति ।।३५।।

अब भूमिज्ञान से वंशौच्च्यज्ञान को कहते हैं ।

हि. भा.—इष्ट यष्टि की मूलस्थ दृष्टि से गृहादि के अग्र को वेध करना । यष्टि के मूल और अग्र से भूमि के ऊपर लम्ब करना । यष्टि के मूल से जो लम्ब होता है वह

दृग्लम्ब कहलाता है। भू को लम्बौच्च्य के अन्तर से गुणा कर लम्ब निपातान्तर से भाग देने से जो लब्ध हो उसको दृग्लम्ब में से हीन करना यदि दृग्लम्ब से अग्रलम्ब हीन हो तब। अग्रलम्ब से दृग्लम्ब हीन हो तब जोड़ने से गृहादि का औच्च्य (ऊंचाई) प्रमाण होता है। एवं तल वेध से भूमिज्ञान और अग्रवेध से औच्च्यज्ञान होता है ॥३५॥

उपपत्ति।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित(१)क्षेत्र को देखिये। दृन=यष्टि। दृ=दृष्टिस्थान। रम=गृहाद्यौच्च्य। दृच=दृष्टयुच्छ्राय=दृग्लम्ब। नप=यष्टयग्र से लम्ब। नल =लम्ब-मूलान्तर। पच=लम्बनिपातान्तरभू=दृल तव मशदृ, नलदृ दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं $\frac{\text{लम्बान्त} \times \text{भूर}}{\text{लम्बनिपातान्तर}}$ =मश। अतः श+शर=मश +दृग्लम्ब=मर=गृहाद्यौच्च्य। दृश=आत्मगृहान्तर भूमि=भू। यहां दृग्लम्ब से अग्र लम्ब अधिक है। दृग्लम्ब से अग्रलम्ब के हीन रहने पर भी इसी तरह उपपत्ति समझनी चाहिये इति ॥३५॥

इदानीं प्रकारान्तरेण भूम्यौच्च्यानयनमाह।

दृष्टिर्दृग्लम्बगुणा विभाजिताऽधः शलाकया भूमिः।
सकलशलाका गुणिता भूमिर्दृष्टया हृतोच्छ्रायः ॥३६॥

सु. भा.—यस्मिन् धरातले गृहाद्यौच्च्यं वस्तु वर्त्तते तस्मिन् धरातले ऊर्ध्वाधरा लम्बरूपैकेष्टप्रमाणा शलाका स्थाप्या। ततो दृष्टिस्तथा चाल्या यथा दृष्टि शलाकाग्रं गृहादिमूलं चैकरेखायां स्युः। एवं तत्र दृगौच्च्यं दृग्लम्बः। दृगौच्च्य-शलाकामूलयोरन्तरं भूमिदृष्टिरित्युच्यते। सा शलाका चाधः शलाका ज्ञेया। दृष्टिर्दृग्लम्बगुणाऽधः शलाकया विभाजिता भूमिः स्यात्। एवं तस्मिन्नेव धरातले तथा दृष्टिर्नियोज्या यथा दृष्टिः शलाकाग्रं गृहाद्यग्रं चैकरेखायां स्युः। अत्र शलाका सकलशलाका। दृष्टिशलाकामूलयोरन्तरं दृष्टिरित्युच्यते। भूमिः सकलशलाकागुणा दृष्टया हृतोच्छ्रायो भवति।

अत्रोपपत्तिः। सजातीयक्षेत्रानुपातेन स्फुटा ॥३६॥

वि. भा.—यत्र भूमौ गृहाद्यौच्च्यं वस्तु वर्त्तते तत्रैव धरातले ऊर्ध्वाधरा लम्बरूपैका शलाका स्थाप्या। ततो दृष्टिस्तथा चालनीया यथा दृष्टिः शलाकाग्रं गृहादिमूलं चैकस्यां रेखायां भवेयुः। तत्र दृगौच्च्यं दृग्लम्बः दृगौच्च्यशलाका-मूलयोरन्तरं भूमिदृष्टिः कथ्यते। सा शलाकाऽधः शलाका बोध्या। दृष्टिर्दृग्लम्ब-

गुणाऽधःशलाकया विभाजिता तदा भूमिः स्यात्। एवं तत्रैव धरातले तथा दृष्टिः स्थाप्या यथा दृष्टिः शलाकाग्रं गृहाद्यग्रं चैकस्यां रेखायां भवेयुः। अत्र शलाका सकल शलाका ज्ञेया। दृष्टिशलाकामूलयोरन्तरं दृष्टिः कथ्यते। भूमिः सकलशलाका गुणा दृष्ट्या भक्तोच्छ्रायो भवतीति ॥

अत्रोपपत्तिः।

क्षेत्ररचनयाऽनुपातेन च स्फुटेति ॥३६॥

अब प्रकारान्तर से भूमि और औच्च्य (ऊंचाई) के आनयन को कहते हैं।

हि. भा.—जिस धरातल में गृहादि उच्च वस्तु है उसी धरातल में ऊर्ध्वाधर लम्बरूप एक यष्टि स्थापन करना। दृष्टि को उस तरह चलाना जिससे दृष्टि, शलाका का अग्र, और गृहादि का मूल एक ही रेखा में हो। वहां दृगौच्च्य दृग्लम्ब है। दृगौच्च्यमूल और शलाका मूल का अन्तर भूमि दृष्टि संज्ञक है। उस शलाका को अधः शलाका समझना चाहिये। दृष्टि को दृग्लम्ब से गुणा कर अधः शलाका से भाग देने से भूमि होती है। एवं उसी धरातल में दृष्टि को उस तरह चलाना जिससे दृष्टि, शलाका का अग्र और गृहादि का अग्र एक ही रेखा में हो। यहां शलाका सकल (सम्पूर्ण) शलाका समझनी चाहिये। दृष्टि शलाका मूल की अन्तर दृष्टि संज्ञक है। भूमि को सकल शलाका से गुणा कर दृष्टि से भाग देने से गृहादि का उच्छ्राय होता है।

उपपत्ति।

क्षेत्ररचना से अनुपात द्वारा स्फुट है इति ॥३६॥

इदानीं प्रकारान्तरेण गृहौच्च्यानयनमाह।

मित्वा गृहैकदेशं विद्ध्वेष्टशलाकया गृहं सर्वम्।
प्रथमशलाकाभक्तं मितं द्वितीयागुणितमौच्च्यम् ॥३७॥

सु. भा.—यस्मिन् धरातले लम्बरूपं गृहादि वर्तते तस्मिन् धरातले लम्बरूपोर्ध्वाधरांगुलादिभिरङ्किताङ्का शलाका स्थाप्या। ततो दृष्टिं तस्मिन्नेव धरातले कुत्रापि संस्थाप्य नलिकया वा ऽन्ययष्ट्या ज्ञातौच्च्यं गृहैकदेशं विध्येत्। नलिका वाऽन्ययष्टिर्यत्र शलाकायां लग्ना तस्मात् शलाकामूलपर्यन्तं प्रथमा शलाका शलाकामूलदृष्टिस्थानान्तरं च दृष्टिर्ज्ञातव्या। पुनस्तत्रस्थयैव दृष्ट्या गृहाग्रं चैकयष्ट्या विध्येत्। इयं यष्टिर्यत्र पूर्वशलाकायां लग्ना तस्मात् शलाकामूलपर्यन्तं द्वितीया शलाका ज्ञेया। अथ व्याख्या। गृहैकदेशं प्रथमशलाकावशेन मित्वा गणयित्वा धार्यम्। इष्टशलाकया च सर्वं गृहौच्च्यं विद्ध्वा द्वितीया शलाका

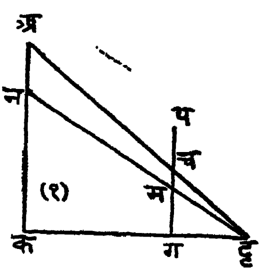
ज्ञातव्या । ततो गृहैकदेशौच्च्यं मितं गणितं द्वितीयशलाकया गुणितं प्रथमशलाकया भक्तं गृहौच्च्यं स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः ।

प्रथमशलाकया दृष्टितुल्यो भुजस्तदा ज्ञातौच्च्येन किं जाता भूमिः $= \frac{\text{ज्ञाऔ.दृ}}{\text{प्रश}}$ । ततो दृष्टया द्वितीयशलाका तदा भूम्या किं जातं गृहौच्च्यं $= \frac{\text{द्विश.ज्ञाऔ.दृ}}{\text{प्रश.दृ}} = \frac{\text{द्विश.गृऔ}}{\text{प्रश}}$ । अत उपपन्नम् ॥३७॥

वि. भा.—यस्मिन् धरातले लम्बरूपं गृहादि वर्त्तते तस्मिन् धरातले लम्बरूपोर्ध्वाधराङ्गुलादिभिरङ्कितैका शलाका स्थाप्या । ततो दृष्टिं तस्मिन्नेव धरातले कुत्रापि संस्थाप्य नलिकयाऽन्ययष्टया वा ज्ञातौच्च्यं गृहैकदेशं विध्येत् । नलिकाऽन्ययष्टिर्वा शलाकायां यत्र लग्ना तस्माच्छलाकामूलपर्यन्तं प्रथमा शलाका, शलाकामूलदृष्टिस्थानान्तरं च दृष्टिर्ज्ञातव्या । पुनस्तत्रस्थयैव दृष्टया गृहाग्रं चैकयष्टया विध्येत् । इयं यष्टिर्यत्र पूर्वशलाकायां लग्ना तस्माच्छलाकामूलपर्यन्तं द्वितीया शलाका ज्ञेया ।

गृहैकदेशं प्रथमशलाकावशेन गणयित्वा धार्यम् । इष्टशलाकया च सर्वं गृहौच्च्यं विद्ध्वा द्वितीया शलाका ज्ञेया, ततो गृहैकदेशौच्च्यं द्वितीयशलाकया गुणितं प्रथमशलाकया भक्तं गृहौच्च्यं भवेत् ।



अत्रोपपत्तिः ।

अक=गृहाद्यौच्च्यम् । गप=शलाका । दृ==दृष्टिस्थानम् । कन=ज्ञातौच्च्यम् । कदृ=भूमिः । मग=प्रथम शलाका । चग=द्वितीय शलाका । गदृ=दृष्टि संज्ञकः=दृ तदा कनदृ, गमदृ त्रिभुजयोः सजातीयत्वादनुपातेन

$\frac{\text{ज्ञातौच्च्य} \times \text{दृ}}{\text{प्रथमशलाका}}$ =भूमिः । ततः अकदृ, चगदृ त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः

$\frac{\text{द्वितीयशलाका. भूमि}}{\text{दृ}}$ =गृहाद्यौच्च्म्= $\frac{\text{द्विशलाका.ज्ञातौच्च्य.दृ}}{\text{प्रथमशलाका.दृ}}$

$= \frac{\text{द्वितीयशलाका.ज्ञातौच्च्य}}{\text{प्रथमशलाका}}$ एतेनोपपन्नमाचार्योक्तमिति ॥३७॥

अब प्रकारान्तर से गृहौच्च्यानयन को कहते है।

हि. भा.—जिस धरातल में लम्बरूप गृहादि है उस धरातल में ऊर्ध्वाधराकार अंगुलादि से अङ्कित एक शलाका स्थापन करना। दृष्टि को उसी धरातल में कहीं पर रखकर नलिका से या अन्य यष्टि से गृहादि का एक प्रदेश (जिसकी ऊंचाई विदित है) को वेध करना। नलिका वा अन्ययष्टि शलाका में जहां लगती है वहां से शलाका मूलपर्यन्त प्रथम शलाका संज्ञक है। शलाका मूल दृष्टि स्थान का अन्तर दृष्टि समझनी चाहिये। पुनः उसी स्थान स्थित दृष्टि से गृहाग्र को एक यष्टि से वेध करना। यह यष्टि पूर्व शलाका में जहां लगती है वहां से शलाकामूल पर्यन्त द्वितीय शलाका संज्ञक है। गृहादि के एक प्रदेश को प्रथम शलाकावश से गणना कर धारण करना। इष्टशलाका से गृहौच्च्य को वेध कर द्वितीयशलाका समझनी चाहिये। तब गृह के प्रदेश के औच्च्यको द्वितीय शलाका से गुणा कर प्रथम शलाका से भाग देने से गृहौच्च्य होता है इति ॥३७॥

उपपत्ति।

यहां संस्कृतोपपत्ति में लिखित (१) क्षेत्र को देखिये। अक = गृहादि का औच्च्य (ऊंचाई), गप = शलाका। द = दृष्टिस्थान। कन = ज्ञातौच्च्य = (विदित ऊंचाई)। कद = भूमि = भू। मग = प्रथमशलाका। चग = द्वितीयशलाका। गद = दृष्टि संज्ञक = द। तब कनद, गमद दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं। $\frac{\text{ज्ञातौच्च्य.द}}{\text{प्रथमशलाका}}$ = भूमि = भू। ∴ अकद, चगद दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं। $\frac{\text{द्वितीयशलाका.द}}{\text{भूम}}$

$$= \text{गृहाद्यौच्च्य} = \frac{\text{द्वितीयशलाका. ज्ञातौच्च्य.द}}{\text{प्रथमशलाका.द}} = \frac{\text{द्वितीयशलाका.ज्ञातौच्च्य}}{\text{प्रथमशलाका.द}}$$ इससे

आचार्योक्त उपपन्न हुआ इति ॥३७॥

इदानीं परमतं खण्डयति

यष्टचा हृताच्छलाका त्रिज्याघाताद्धनुर्गृहान्तरकम्।
यैरुक्तं मूर्खास्ते यतो न दृष्टान्तरं दृज्ज्या ॥३८॥

सु. भा.—पूर्वश्लोकोक्तविधिना गृहाग्रवेधे ऽन्ययष्टिर्यत्र शलाकायां लग्ना तस्माद् दृष्टिस्थानपर्यन्तं कर्ण एव यष्टिः। द्वितीयशलाका कोटिः। दृष्टिर्भुजः। शलाका त्रिज्यागुणा यष्टिहृता फलस्य धनुर्दृष्टिस्थानाद्गृह मूलाग्ररेखयोरन्तरगः कोणो गृहान्तरांशाभिधस्त्रिकोणमित्या वास्तव एव सिध्यति। गृहाग्ररूपग्रह-

स्य दृष्टान्तरं दृष्टिसंज्ञसमं दृग्ज्या भवेद्वा न। अतो 'यैराचार्यैः पूर्वफलचापसमं गृहान्तरकमुक्तं ते मूर्खाः सन्ति यतो दृष्टान्तरं दृग्ज्या नास्तीति वाग्बलमेतद्दूषण-मिति सुधीभिश्चिन्त्यम् ॥३८॥

वि. भा.—शलाका त्रिज्यागुणा यष्टिहृता फलस्य धनुः (चापं) गृहान्तरकं यैराचार्यैरुक्तं ते मूर्खाः सन्ति। यतो दृष्टान्तरं दृग्ज्या नास्तीति॥

अत्रोपपत्तिः।

पूर्वश्लोकोक्तविधिना गृहाग्रवेधेऽन्ययष्टिर्यन्त्रशलाकायां लग्ना तस्माद्दृष्टि-स्थानपर्यन्तं यष्टिः कर्णः। द्वितीयशलाका कोटिः। दृष्टिर्भुजः। पूर्वोक्तश्लोको-पपत्तौ लिखितं क्षेत्रं द्रष्टव्यम्। दृच=यष्टिः कर्णः। चग=शलाका कोटिः। गदृ=दृष्टिर्भुजः। अत्र त्रिभुजे कोणानुपातः क्रियते यदि यष्टया तत्संमुख-कोणज्या त्रिज्या लभ्यते तदा शलाकया किं समागच्छति दृष्टिस्थानाद्गृहाग्रमूलयो र्गतरेखयोरुत्पन्नकोणज्या तत्स्वरूपम्= $\frac{\text{त्रि} \times \text{शलाका}}{\text{यष्टि}}$ =ज्या<गदृच, अस्या-श्चापम्=<गदृच=गृहान्तरांशा वास्तवाः। गृहाग्ररूपग्रहस्य दृष्टान्तरं दृष्टिसंज्ञ-समं दृग्ज्या भवेदेव। आचार्येण व्यर्थमेव खण्डनं क्रियते इति ॥३८॥

अब अन्यों के मत का खण्डन करते हैं।

हि. भा—शलाका को त्रिज्या से गुणाकर यष्टि से भाग देने से जो फल प्राप्त हो उसके चाप को जो आचार्य गृहान्तर कहते हैं वे मूर्ख हैं, क्योंकि दृष्टान्तर दृग्ज्या नहीं है इति ॥३८॥

उपपत्ति।

पूर्वश्लोकोक्त विधि से गृहाग्रवेध करने से अन्य यष्टि शलाका में जहां लगती है, वहां से दृष्टि स्थान पर्यन्त यष्टिकर्ण, द्वितीयशलाका कोटि, दृष्टिभुज, पूर्वोक्तश्लोकोपपत्ति में लिखित क्षेत्र को देखना चाहिये। दृच=यष्टिकर्ण, चग=शलाका कोटि, गदृ=दृष्टिभुज, इस त्रिभुज में कोणानुपात करते हैं, यदि यष्टि में तत्संमुख कोणज्या त्रिज्या पाते हैं तो शलाका में क्या इस अनुपात से दृष्टि स्थान से गृह के अग्र और मूलगत रेखाद्वय से उत्पन्न कोणज्या आती है उसका स्वरूप= $\frac{\text{त्रि.शलाका}}{\text{यष्टि}}$ =ज्या>गदृच, इसका चाप=<गदृच

=वास्तव गृहान्तरांश, गृहाग्ररूपग्रह का दृष्टान्तर (दृष्टि संज्ञतुल्य) दृग्ज्या होती है, आचार्य का यह खण्डन ठीक नहीं है इति ।३८।।

इदानीं शंकुमाह ।

मूले द्वयङ्गुल विपुलः सूच्यग्रो द्वादशाङ्गुलोच्छ्रायः ।
शंकुस्तलाग्रविद्धोऽग्रवेधलम्बादृजुर्ज्ञेयः ।।३९।।

सु. भा—(शंकुस्तलाग्रविद्धोऽग्रवेधलम्बादृजुर्ज्ञेयः ।।३९।।
अग्रवेधलम्बादग्ररन्ध्रगतावलम्बादृजुर्लम्बाकारो ज्ञेयः ।
तलादाधारवृत्तकेन्द्रादग्रपर्यन्तं विद्धः सरन्ध्र इत्यर्थः ।
शेषं स्पष्टार्थम् ।।३९।।

वि. भा.—मूले (तले) द्वयङ्गुलपिण्डः, अग्रे सूच्याकारः । द्वादशाङ्गुल-मुच्छ्रितिः । अग्रवेधलम्बात् (अग्ररन्ध्रगतावलम्बात्) ऋजुः (सरलाकारो लम्बा-कारो वा), तलाग्रविद्धः (आधारवृत्तकेन्द्रादग्रपर्यन्तं विद्धः सरन्ध्र इतिः) शंकुर्ज्ञेयः । सिद्धान्त शेखरे । "भ्रमविरचितवृत्तस्तुल्यमूलाग्रभागो द्विरदरदन-जन्मा सारदारूद्भवो वा । गुरु ऋजुरवलम्बादव्रणः षट्कवृत्तः समतल इह शस्तः शंकुरर्काङ्गुलः स्यात् ।।" अस्यार्थ :—भ्रमेण (शाणेन) विरचितं कृतं वृत्तं यस्मिन् सः । अत एव तुल्यमूलाग्रभागः (समानो मूलभागोऽग्रभागश्च यस्य सः) घर्षण शिलया तथा धृष्टो यथा सर्वत्रैव कृतानां वृत्तानां परिधयस्तुल्या भवेयुः । गजदन्तसम्भवः । वा सारवत्काष्ठेन निर्मितः । गुरुः (अलघुतौल्यः) । अवलम्ब-सूत्रतः सरलाकारः । व्रणरहितः । षड्वृत्तसहितः । समतलः (समीकृतस्तल-भागो यस्य), द्वादशाङ्गुलप्रमाणः । इह यत्रोपयोगे एतादृशः शंकुः प्रशस्तः स्यात् । ज्यौतिषसिद्धान्ते दिग्देशकालज्ञानार्थं सर्वत्रैव शंकुरुपयोगित्वेन प्रसिद्धोऽस्ति । परं स कीदृशो निर्मापयितव्यस्तदेवानेन श्लोकेन श्रीपतिना कथ्यते, अतः कथित लक्षणयुक्तः शंकुरेव प्रशस्तस्तद्भिन्नश्चाशोभन इति ।

अत्र लल्लोक्तम्—

"भ्रमसिद्धः सममूलाग्रपरिधिरतिसुगुरुसारदारुमयः ।
रज्जुव्रणराजिलाञ्छनस्तथा च समतलः शंकुः ।।"

इति लल्लोक्तमेव श्रीपतिना छन्दोऽन्तरेणोक्तमिति स्फुटमेव विदुषाम् । भास्कराचार्योऽपि—

"समतलमस्तकपरिधिर्भ्रमसिद्धो दन्तिदन्तजः शंकुः ।
तच्छायातः प्रोक्तं ज्ञानं दिग्देशकालानाम् ।।"

इत्यनेन लल्लोक्तं श्रीपत्युक्तं च विविच्य स्पष्टाशयं शंकुयन्त्रं कथयतीति।

सूर्य सिद्धान्ते "नरयन्त्रं तथा साधु दिवा च विमले रवौ।
छायासंसाधनैः प्रोक्तं कालसाधनमुत्तमम्॥"

एवं कथ्यते॥ इति ३९॥

अब शंकु को कहते हैं।

हि. भा.—मूल (नीचे) में दो अंगुल मोटा, अग्र में सूची (सुई) के आकार का, बारह अंगुल ऊंचा, अग्र में जो रन्ध्र (छिद्र) तद्गत अवलम्ब से ऋजु (लम्बाकार), आधारवृत्त केन्द्र से अग्रपर्यन्त रन्ध्र में मिला हुआ शंकु समझना चाहिये इति॥ सिद्धान्त शेखर में 'भ्रम विरचितवृत्तस्तुल्यमूलाग्र भागो। द्विरदरदनजन्मा सारदारूद्भवो वा' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक से श्रीपति कहते हैं कि शाण से विरचित है वृत्त जिसमें अत एव समान है मूल भाग और अग्र भाग, अर्थात् घिसने वाले पत्थर से इस तरह घिसा गया है जिससे सब जगह किये हुये वृत्तों की परिधि तुल्य है। हाथी दांत के या सार वाले काष्ठ का बना हुआ, गुरु (भारी), सरलाकार, व्रण (आवड़ खूवड़) से रहित, तत्व भाग जिसका समान है, ऐसे बारह अंगुल के शंकु प्रशस्त है। ज्यौतिष सिद्धान्त ग्रन्थों में दिशा-देश और काल के ज्ञान के लिये सब स्थानों में शंकु उपयोगिता के कारण प्रसिद्ध है अर्थात् हर जगह शंकु की जरूरत होने से शंकु प्रसिद्ध है लेकिन वह शंकु कैसा होना चाहिये वही बात श्रीपति ने उपर्युक्त श्लोक से कही है, उपर्युक्त लक्षणों से युक्त शंकु से भिन्न शंकु प्रशस्त (शोभन) नहीं है। यहां लल्लाचार्य ने "भ्रम सिद्धः सममूलाग्रपरिधिरतिसुगुरु सारदारुमयः" इत्यादि विज्ञानभाष्य में लिखित श्लोक के अनुसार कहा है, लल्लोक्त का ही ने श्रीपति अनुवाद किया है। सिद्धान्त शिरोमणि के गोलाध्याय में "समतल मस्तक परिधिर्भ्रमसिद्धो दन्तिदन्तजः शंकुः" इत्यादि से भास्कराचार्य भी लल्लोक्त और श्रीपत्युक्त को ही सोच विचार कर स्पष्ट रूप से शंकु यन्त्र को कहते हैं। सूर्य सिद्धान्त में 'नरयन्त्रं तथा साधु दिवा च विमले रवौ। छाया संसाधनैः' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक के अनुसार कहा गया है, शंकुच्छाया से कालज्ञान होता है जैसे छाया ज्ञान से $\sqrt{\text{छाया}^2+\text{शंकु}}=\sqrt{\text{छाया}^2+१२^2}$ $=$छायाकर्ण। तब $\frac{\text{छायाक}\times\text{शंकु}}{१२}=$इहृति। इष्टहृति से $\frac{\text{इष्टहृति.त्रि}}{\text{द्यु}}=$इष्टान्त्या। इस में चरज्या संस्कार करने से सूत्र ज्ञान होता है, इससे उन्नत काल का ज्ञान सुलभता ही से होता है, सिद्धान्त शिरोमणि आदि देखने से स्फुट है इति॥३९॥

इदानीं शंकुयन्त्रेण कालज्ञानमाह।

छायां दृग्ज्यां दृष्टिं छायाकर्णमवलम्बकं शंकुम्।
परिकल्प्य शंकुयन्त्रे योज्यं घटिकादि यष्टयुक्तम्॥४०॥

सु. भा.—शंकुयन्त्रे छायां दृग्ज्यां दृष्टिं छायाग्रशंक्वग्रसूत्रं छायाकर्णं शंकुमवलम्बकं प्रकल्प्य यष्टियुक्तं यष्टियन्त्रोक्तं घटिकादिसर्वं योज्यम् । यष्टि-यन्त्रात् सर्वं यथा साधितं तथाऽस्मादपि साधनीयमित्यर्थः ॥४०॥

वि. भा.—शंकुयन्त्रे छायां दृग्ज्यां दृष्टिं छायाग्रशंक्वग्रगतं सूत्रं छायाकर्णं शंकुमवलम्बकं प्रकल्प्य यष्टियन्त्रोक्तं घटिकादिसर्वं योज्यमर्थाद्यष्टियन्त्राद्यथा सर्वं साधितं तथाऽस्मादपि साधनीयमिति ॥४०॥

अब शंकुयन्त्र से कालज्ञान को कहते हैं ।

हि. भा.—शंकुयन्त्र में छाया को दृग्ज्या, दृष्टि (छायाग्रशंक्वग्रगतसूत्र) को छाया-कर्ण, शंकु को अवलम्बसूत्र कल्पना कर यष्टि यन्त्र में कथित घटिकादि सब साधन करना चाहिये अर्थात् यष्टि यन्त्र से जैसे सब कुछ साधन किया गया है वैसे इससे भी साधन करना चाहिये इति ॥४०॥

इदानीं घटीयन्त्रमाह ।

घटिका कलशार्धाकृति ताम्रम् पात्रं तलेऽपृथुच्छिद्रम् ।
मध्ये तज्जलमज्जनषष्टया द्युनिशं यथा भवति ॥४१॥

सु. भा.—ताम्रं ताम्रभवं पात्रं कलसार्धाकृतिघटार्धप्रतिमं घटिका घटीयन्त्रं भवति । अस्य पात्रस्य तले मध्ये तथाऽपृथुच्छिद्रं कार्यं यथा यज्जलमज्जनषष्टया द्युनिशमहोरात्रमानं भवति । एवमेकनिमज्जनेनैका घटी भवतीति सर्वं स्फुटम् ॥४१॥

वि. भा.—ताम्रभवं पात्रं घटार्धानुकारं घटिका (घटी यन्त्रं) भवति । अस्य ताम्रपात्रस्य तले तथा ऽपृथु (लघु) च्छिद्रं कार्यं तथा तज्जलमज्जनषष्टया-ऽहोरात्रमानं भवति-अर्थादेकनिमज्जनेनैका घटी भवतीति ॥ सिद्धान्तशेखरे—

शुल्बस्य दिग्भिर्विहितं पलैर्यत् षडङ्गुलोच्चं द्विगुणायतास्यम् ।
तदम्भसा षष्टिपलैः प्रपूर्यं पात्रं घटार्धप्रमितं घटी स्यात् ॥
सत्र्यंशमाषत्रय निर्मिता या हेम्नः शलाका चतुरङ्गुला स्यात् ।
विद्धं तया प्राक्तनमत्र पात्रं प्रपूर्यते नाड़िकयाऽम्बुना तत् ॥"

श्रीपतिनैवमुच्यते । अस्यायमर्थः—शुल्बस्य (ताम्रस्य) दिग्भिः (दशभिः) पलैः—"कर्षैश्चतुर्भिश्चपलं तुलाज्ञा" इति भास्करोक्त्या चत्वारिंशद्भिः कर्षैः । विहितं (निर्मित)षड़ङ्गुलोच्छ्रायम्, (द्वादशाङ्गुलदीर्घमुखम्), घटार्धप्रमितं (कलशार्धरूपम्) अम्भसा (जलेन) षष्टिपलैः पूर्णं यत्पात्रमर्थाज्जलपात्रे निक्षिप्तं सत्—एकघटया

जलपूर्णं भूत्वा यत्पात्रं निमज्जति तत् घटीसंज्ञकं यन्त्रं स्यात् ॥ अथानया रीत्या निर्मितं घटीयन्त्रं यथा जलपात्रे षष्टिपलैर्निमज्जेत्तदर्थं तस्य तले छिद्रकरणरीतिं कथयति । सत्र्यंशमाषत्रयनिर्मितेत्यनेन, तुल्या यवाभ्यां कथिताऽत्र गुञ्जा, दशार्धगुञ्जं प्रवदन्ति माषम्" इत्युक्तलक्षणेन सत्र्यंशमाषत्रयेण निर्मिता चतुरङ्गुला सुवर्णशलाका या स्यात्तयाविद्धं (भेदितं) पूर्वकथितं घटीयन्त्ररूपं पात्रमेकेन दण्डेन जलेन पूर्णं भवतीति ॥ अत्र लल्लाचार्योक्तम्—

"दशभिः शुल्बस्य पलैः पात्रं कलशार्धसन्निभं घटितम् ।
हस्तार्धमुखव्यासं समघटवृत्तं दलोच्छ्रायम् ॥
सत्र्यंशमाषकत्रयनलया समसवृत्तया हेम्नः ।
चतुरंगुलया विद्धं मज्जति विमले जले नाड्याः ॥"

इत्येवानूदितं श्रीपतिना, अत्र भास्कराचार्येण ।
"घटदलरूपा घटिता घटिका ताम्री तलेऽपृथुच्छिद्रा ।
द्युनिशनिमज्जनमित्या भक्तं द्युनिशं घटीमानम् ॥"

दशभिः शुल्बस्य पलैरित्यादि यद् घटीलक्षणं कैश्चित् कृतं तद्युक्तिशून्यं दुर्घटं चेत्येतदुपेक्षितम् । इष्टप्रमाणाकारसुषिरं पात्रं घटीसंज्ञमङ्गीकृतम् । यदि द्युनिशनिमज्जनसंख्यया षट्त्रिंशच्छता ३६०० नि पलानि लभ्यन्ते तदैकेन निमज्जनेन किमिति रीत्या घटीयन्त्रप्रमाणनिरूपणं लल्लश्रीपत्याद्युक्तया षष्टिपलप्रपूर्यघटीयन्त्रनिर्माणस्य युक्तिशून्यत्वं च यत्कथ्यते तत्समीचीनमेवेति (क) ॥४१॥

अब घटीयन्त्र को कहते हैं ।

हि.भा.—आधा घट (घड़ा) के सदृश ताम्र (तांबा) का पात्र घटीयन्त्र होता है । इसके तल के मध्य में छोटा छिद्र (सूराख) ऐसा करना चाहिये जिससे जलपात्रस्थ जल में साठ बार उसके डूबने से अहोरात्रमान हो अर्थात् एक बार डूबने से एक घटी हो इति । सिद्धान्तशेखर में 'शुल्वस्य दिग्भिर्विहितं पलैर्यत्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से श्रीपति कहते हैं कि दशपल अर्थात् 'कर्षैश्चतुर्भिश्च पलं' इस भास्करोक्त सूत्र के अनुसार चालीस कर्ष ताम्र (तांबा) से बनाया हुआ छः अंगुल ऊंचाई, बारह अंगुल चौड़े मुख की लम्बाई, आधे घट (घड़े) के सदृश साठ पल में जल से पूर्ण जलपात्र में देने से एक घटी में जल से पूर्ण हो कर जो पात्र डूबता है वह घटी नाम का यन्त्र (घटीयन्त्र) है । इस तरह निर्मित घटी यन्त्र जैसे साठ पल में जलपात्र में डूबे, उसके लिये उसके तल के मध्य में

(क) सूर्यसिद्धान्ते 'ताम्रपात्रमधश्छिद्रं न्यस्तं कुण्डेऽमलाम्भसि । षष्टिर्मज्यत्यहोरात्रे स्फुटं यन्त्रं कपालकम्' इत्यनेन घटी यन्त्रमेव कपालयन्त्रं कथ्यते

छिद्र करने के प्रकार कहते हैं। 'तुल्या यवाभ्यां कथिताऽत्र गुञ्जा, दशार्धं गुञ्जं प्रवदन्ति माषम्" इस लक्षण से तृतीयांश सहित तीन माषा से निर्मित चार अंगुल सुवर्ण शलाका से विद्ध (भेदित) पूर्वकथित घटी यन्त्र रूप पात्र जल से एक दण्ड में पूर्ण होता है। यहां लल्लाचार्योक्त है "दशभिः शुल्बस्य पलैः पात्रं कलशार्धसन्निभं घटितम्" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों का अनुवाद श्रीपति ने 'शुल्बस्य दिग्भिर्विहितं' इत्यादि से किया है। भास्कराचार्य के गोलाध्याय में "घटदलरूपा घटिता घटिका ताम्री तलेऽपृथुच्छिद्रा" इत्यादि–दशभिः शुल्बस्य पलैः इत्यादि घटी लक्षण जो किसी ने किया है वह युक्ति शून्य और दुर्घट है इसलिये वह उपेक्षा के योग्य है। इष्ट प्रमाण आकार छिद्र वाला पात्र घटी संज्ञक स्वीकार किया गया है। यदि द्यु निश (अहोरात्र) निमज्जन संख्या में छत्तीस सौ ३६०० पल पाते हैं तो एक निमज्जन में क्या इस रीति से घटी यन्त्र प्रमाण निरूपण किया है। लल्ल और श्रीपति आदि आचार्योक्ति से साठ पल में जल से भरने योग्य घटीयन्त्र के निर्माण को युक्ति शून्य और दुर्घट जो कहते हैं सो समीचान ही है' इति ॥४१॥

इदानीं कपालमन्त्रमाह।

मध्याद्य स्वनतांशैः कपालकं दिक्स्थ सूत्रमध्याग्रात्।
व्यस्तोन्नतांश विवरे सूत्रैक्यापाततो नाड्यः ॥४२॥

सु. भा.—मध्याद्यस्वनतांशैः कपालकं कपालयन्त्रं भवति। क्षितिजानुकारं दिगङ्कितं फलके वृत्तं विरचय्य इष्टदिने द्युज्याचरज्यादिना प्रत्यंशं नतांशं प्रकल्प्योन्नतघटिका मध्यनतांशावधि प्रसाध्य व्यस्तकपाले ता घटिकाः स्वस्वनतांशाग्रे वृत्तपालावंक्याः। एवं कपालयन्त्रं भवति। इष्टकाले दृग्मण्डलाकारे धृते कपालयन्त्रे केन्द्रस्थकीलच्छायानुसारि केन्द्रगतं सूत्रं यत्र परिधौ लगति तत्राङ्किता नाड्य इष्टघटिका भवन्ति। एवं दिक्स्थसूत्रमध्याग्रात् सूत्रैक्यापाततः सूत्रभयोर्यदैक्यं तस्यापाततो वृत्तपरिधौ संयोगतो व्यस्तोन्नतांशविवरे व्यस्तकपालस्थोन्नतांशान्तरे नाड्यो भवन्ति गोलयुक्तितः ॥४२॥

वि. भा.—मध्याद्यस्वनतांशैः कपालयन्त्रं भवति। फलके दिगङ्कितं क्षितिजानुकारं वृत्तं कृत्वाऽभीष्टदिने द्युज्या चरज्यादिना प्रत्यंशं प्रकल्प्योन्नतघटिका मध्यनतांशावधि साधयित्वा ता घटिका व्यस्तकपाले स्वस्वनतांशाग्रे वृत्तपालावङ्क्याः एवं कपालयन्त्रं भवति। इष्टकाले कपालयन्त्रे दृग्मण्डलाकारे धृते केन्द्रस्थकीलछायानुसारि केन्द्रगतं सूत्रं वृत्तपरिधौ यत्र लगति तत्राङ्किता नाड्य

(१) सूर्यसिद्धान्त में 'ताम्रपात्रमधश्छिद्र" इत्यादि से पूर्व कथित घटी यन्त्र को ही कपाल यन्त्र कहते हैं।

इष्टघटिका भवन्ति । एवं दिक्स्थसूत्रमध्याग्रात् सूत्रैक्यापाततः सूत्रयोर्यदैक्यं तस्यापाततो वृत्तपरिधौ संयोगतो व्यस्तोन्नतांशविवरे (व्यस्तकपालयस्थोन्नतांशान्तरे) घट्यो भवन्ति । सिद्धान्तशेखरे ।

"इदं भवेदूर्ध्वशलाकमुर्व्यां स्थितं कपालं द्युतिदिक् च चापम् ।
मध्यस्थकीलप्रभया विमुक्ताः प्रत्यग्गतास्ता घटिकानिरुक्ताः ॥"

श्रीपतिनैवं कथ्यते—अस्यार्थः—इदं चापयन्त्रमूर्ध्वशलाकं (ऊर्ध्वगलम्बं वा) द्युतिदिक् उर्व्यां स्थितं (छायादिशि समभूमौ स्थितं) कपालयन्त्रं भवेत् । कपालयन्त्रे व्याससूत्रमध्यबिन्दौ स्थापितस्य कीलस्य छायया विमुक्तास्त्यक्ता घटिका प्रत्यग्गता भवन्तीति । आचार्योक्तसूत्रोपपत्तिरपि भाष्यरूपैवास्तीति । श्रीपत्युक्त-

सूत्रार्थमुपपत्तिः ।

वृत्तार्धस्वरूपं चापयन्त्रं यस्यां दिशि ऊर्ध्वगशलाकायाश्छाया पतति तस्यां दिशि चापं स्थितमर्थात् याम्योत्तरसूत्रधरातले यन्त्रस्य व्याससूत्रं छायादिशि च तद्वृत्तार्धमिति रीत्या स्थापितं तद्वशतोऽपि तथैव भुक्ता लम्बच्छायया या घटिकास्ताः प्रत्यग्गता दिनघटिका इति ॥ शिष्यधीवृद्धिदतन्त्रे लल्लोक्तम्—

इदमेवोर्ध्वशलाकं भुवि स्थितं स्यात् कपालकं यन्त्रम् ।
अनयोः कीलच्छायामुक्ता घटिका भवन्ति वारुण्याः॥

इत्येव श्रीपतेर्मूलम् । सिद्धान्तशेखरे शिष्यधीवृद्धिदे चैकत्रैव कपालयन्त्रपीठयन्त्रयोरुल्लेखोऽस्ति । यथा सिद्धान्तशेखरे—

इदं भवेदूर्ध्वशलाकमुर्व्यां स्थितं कपालं द्युतिदिक् च चापम् ।
संसाधितांशं खलु चक्रयन्त्रं पीठं भवत्यूर्ध्वशलाकमेव ॥
मध्यस्थकीलप्रभया विमुक्ताः प्रत्यग्गतास्ता घटिका निरुक्ताः ।
पीठे तु सूर्योदयबिम्बवेधाद् भुक्तांशजीवा स्फुटमग्रका स्यात् ॥

शिष्यधीवृद्धिदे च

इदमेवोर्ध्वशलाकं भुवि स्थितं स्यात् कपालकं यन्त्रम् ।
चक्रं चोर्ध्वशलाकं वदन्ति पीठं सुसिद्धांशम् ॥
अनयोः कीलच्छायामुक्ता घटिका वदन्ति वारुण्याः ।
पीठार्कोदयवेधादग्राश्चापांशकाश्चापि ॥४२॥

अब कपालयन्त्र को कहते हैं ।

हि. भा.—मध्यादि अपने नतांश से कपालयन्त्र होता है । फलक में दिशा से अङ्कित क्षितिजानुकार वृत्त बनाकर अभीष्ट दिन में द्युज्या–चरज्या आदि से प्रत्येक अंश को कल्पनाकर मध्य नतांश पर्यन्त उन्नतघटी साधन कर उस घटी को व्यस्त कपाल में अपने अपने नतांशाग्र में वृत्तपाली में अङ्कित करना चाहिये, इस तरह से कपाल यन्त्र होता है । इष्टकाल में कपाल यन्त्र को दृग्मण्डलाकार रखने से केन्द्रस्थ कीलच्छायानुसार केन्द्रगत सूत्र वृत्तपरिधि में जहां लगती है वहां अङ्कित नाड़ी इष्टघटी होती है । एवं दिक्स्थसूत्र मध्याग्र से सूत्रों का जो ऐक्य (योग) है उसके आपात से अर्थात् वृत्तपरिधि के साथ संयोग से व्यस्त (उल्टा) कपालस्थ उन्नतांशान्तर में घटी होती है । सिद्धान्तशेखर में "इदं भवेदूर्ध्वशलाकमुर्व्यां स्थितं कपालं द्युतिदिक् च चापम्" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों के अनुसार श्रीपति कहते हैं इस श्लोक का अर्थ यह है ऊर्ध्वगत है शलाका वा लम्ब जिसमें ऐसा यह चाप यन्त्र समान पृथिवी में छाया दिशा में स्थित कपाल यन्त्र होता है । कपाल यन्त्र में व्यास सूत्र के मध्य बिन्दु में स्थापित कील की छाया से त्यक्तघटी पश्चिम दिशा में होती है इति ।।४२।।

आचार्योक्त सूत्र की उपपत्ति व्याख्यारूप ही है । श्रीपत्युक्त सूत्रोपपत्ति के लिये शिष्यधीवृद्धिद तन्त्र में "इदमेवोर्ध्वशलाकं भुवि स्थितं स्यात् कपालकं यन्त्रम्" इत्यादि लल्लोक्त ही श्रीपत्युक्त का मूल है, सिद्धान्तशेखर में और शिष्यधीवृद्धिद में भी कपालयन्त्र और पीठ यन्त्र का उल्लेख साथ साथ है । जैसे सिद्धान्त शेखर में

इदं भवेदूर्ध्वशलाकमुर्व्यां स्थितं कपालं द्युतिदिक् च चापम् ।
संसाधितांशं खलु चक्रयन्त्रं पीठं भवत्यूर्ध्वशलाकमेव ।।
मध्यस्थ कीलप्रभया विमुक्ताः प्रत्यग्गतास्ता घटिका निरुक्ताः ।
पीठे तु सूर्योदय बिम्बवेधाद् भुक्तांशजीवा स्फुटमग्रका स्यात् ।।

शिष्यधीवृद्धिद तन्त्र में ।

इदमेवोर्ध्वशलाकं भुवि स्थितं स्यात् कपालकं यन्त्रम् ।
चक्रं चोर्ध्वशलाकं वदन्ति पीठं सुसिद्धाशम् ।।
अनयोः कीलच्छायामुक्ता घटिका वदन्ति वारुण्याः ।
पीठार्कोदयवेधादग्राश्चापांशकाश्चापि ।।

इदानीं विशेषमाह ।

अथवा कपालके नाड़िकादि सर्वं यथा धनुष्युक्तम् ।
कर्त्तरि यन्त्रं स्थूलं कृतं यतोऽन्यैर्वदामि ततः ।।४३।।

सु. भा.—अथवा यथा धनुषि धनुर्यन्त्रे सर्वं नाडिकादि यथोक्तं तथैव कपालकेऽपि ज्ञेयम्। अथान्यैर्यतः कर्त्तरियन्त्रं स्थूलं कृतं ततस्तस्मादहं सूक्ष्मं वदामीति ॥४३॥

वि. भा.—अथवा धनुर्यन्त्रे सर्वं नाड़िकादियथोक्तं कपालके यन्त्रेऽपि तथैव ज्ञेयम्। यतोऽन्यैराचार्यैः कर्त्तरि यन्त्रं स्थूलं कृतं तस्मात्कारणादहं सूक्ष्मं वदामीति ॥४३॥

अब विशेष कहते हैं।

हि. भा.—अथवा धनुर्यन्त्र में सब नाड़िकादि बातें जैसी कही गयी है वैसी ही कपालयन्त्र में समझनी चाहिये। क्यों कि अन्य आचार्य लोगों ने कर्त्तरी यन्त्र को स्थूलरूप से वर्णन किया है इस कारण से मैं सूक्ष्म कहता हूं इति ॥४३॥

इदानीं कर्त्तरी यन्त्रमाह।

द्विक्स्थितफलकद्वियुतिस्तले तदग्रस्थसूत्रयोर्मध्ये।
कीलस्तच्छायाग्रात् कर्त्तर्यां नाड़िकाः स्थूलाः ॥४४॥

सु. भा.—अर्धवृत्तानुकारं फलकद्वयं कार्यम्। एकमधोऽर्धनाडीवलयानुकारमन्यदधोऽर्धयाम्योत्तरवृत्तानुकारम्। ततस्तले यथादिक्स्थितयोर्द्वयोः फलकयोर्युतिः कार्या यथैकं नाडीमण्डलधरातलेऽन्यत् स्वयाम्योत्तरमण्डलधरातले स्यात्। तदग्रस्थे ये पूर्वापरदक्षिणोत्तरानुकारे सूत्रे तयोर्मध्येऽर्थाद्वृत्तयोः केन्द्रे कीलः स्थाप्यो यथाऽयं कीलो ध्रुवयष्टिरेव भवेत्। एवमिदं कर्त्तरीयन्त्रं भवेत्। अस्यां कर्त्तर्यां तच्छायाग्रात् कीलच्छायाग्रात् स्थूला नाडिका इष्टघट्यो भवन्ति। इदमेव भास्करेण 'भूस्थं ध्रुवयष्टिस्थं चक्रम्'—इत्यादिना नाडीवलयाख्यं यन्त्रमुदितं। भास्करविधिना यदि रविक्रान्तिरेकस्मिन् दिने स्थिरा तदैवोन्नतघटिका वास्तवा गोल युक्तया भवन्ति परन्तु रवेः क्रान्तेः प्रतिक्षणं चलत्वान्नाडिकाः स्थूला भवन्तीत्याचार्योक्तं गोलयुक्तियुतं बुद्धिमद्भिश्चिन्त्यम्। अनेन यन्त्रेण नतकाल-ज्ञानं सूक्ष्मं भवतीति सिद्धान्तविदां स्फुटम् ॥४४॥

वि. भा.—अर्धवृत्तानुकारं फलकद्वयं कार्यम्। एकमधोऽर्धनाड़ीवृत्ताकारमन्यदधोऽर्धं याम्योत्तरवृत्तानुकारम्। ततस्तत्तले यथादिक् स्थितयोर्द्वयोः फलकयोर्युतिः कार्या यथैकं नाड़ीवृत्तधरातलेऽन्यत् स्वयाम्योत्तरवृत्तधरातले स्यात्। तदग्रस्थे ये पूर्वापर दक्षिणोत्तरानुकारे सूत्रे तयोर्मध्येऽर्थाद्वृत्तयोः केन्द्रे कीलः स्थाप्यो यथाऽयं कीलो ध्रुवयष्टिरेव भवेत्। एवमिदं कर्त्तरीयन्त्रं भवेत् अस्यां कर्त्तर्यां कीलच्छायाग्रात् स्थूला इष्ट नाड़िका भवंति। सिद्धान्तशेखरे—

"ज्यामध्यतिर्यक्स्थितकीलमेतत् पूर्वापरस्थं स्थिरकर्त्तरी स्यात् ।
प्रत्यग् धनुः कोटिमुखात् द्युनाड्यः समुज्झिताः कीलरुचा भवन्ति ॥"

श्रीपतिनैवं कथ्यते अस्यार्थः—एतच्चक्रयन्त्रं ज्यामध्यतिर्यक् स्थितकीलकं व्यासरेखाया मध्यबिन्दौ तिर्यगाकारेण निवेशितलौहादिकीलं पूर्वापरस्थं (पूर्वपश्चिमानुरूपेण स्थापितं) स्थिरकर्त्तरीति कर्त्तर्याख्यं यन्त्रं स्यात् । प्रत्यग्धनुः कोटिमुखात् पश्चिमबिन्दौ यद्धनुः या च कोटिः (धनुषः प्रान्तः) तदारभ्य कीलरुचा (ज्यामध्यस्थापित कीलच्छायया) समुज्झिताः (मुक्ताः) नाड्यः द्युनाड्यः (दिनगत घटिका) भवन्ति ।

अत्रोपपत्तिः ।

चक्रयन्त्रस्यैव भेदान्तरं कर्त्तरीयन्त्रम् । चक्रयन्त्रे नाड़ीवृत्तानुसारेण स्थापिते पूर्ववदेव पश्चिमबिन्दोः कीलच्छायावधिका घटिकाः सूर्योदयतो दिनगता घटिकाः स्थूला भवन्ति । पूर्वबिन्दोः सूर्यो यथायथोपरि याति तथा तथा पश्चिमबिन्दोः कीलच्छायाऽधो यातीति । अत्र लल्लोक्तम्—

"समपूर्वापरमेतत् स्थिरं स्थितं भवति कर्त्तरीयन्त्रम् ।
ज्यामध्यस्थित तिर्यक्कीलच्छायोज्झिता घटिकाः ॥"

इति श्रीपत्युक्तसदृशमेव । सिद्धान्तशिरोमणेर्गोलाध्याये इदमेव 'भूस्थं ध्रुवयष्टिस्थम्' इत्यादिना भास्करेण नाड़ीवलयाख्यं यन्त्रं कथितम् । भास्करोक्तया यद्येकस्मिन् दिने रविक्रान्तिः स्थिरा भवेत्तदैवोन्नतघटिका वास्तवा भवितुर्महन्ति परन्तु रवेः क्रान्तेः प्रतिक्षणं वैलक्षण्यान्नाड़िकाः स्थूलाभवन्तीत्याचार्योक्तं युक्तियुक्तम् । अनेन यन्त्रेण नतकालज्ञानं सूक्ष्मं भवतीति विज्ञैर्ज्ञेयम् ॥४४॥

अब कर्त्तरी यन्त्र को कहते हैं ।

हि. भा.—एक नीचे में अर्ध नाड़ीवृत्ताकार, दूसरा नीचे में अर्धयाम्योत्तरवृत्ताकार, इस तरह के अर्धवृत्तानुकार दो फलक करना चाहिये । उसके बाद उनके तल में दोनों फलकों को इस तरह योग करा देना जिस से एक नाड़ीवृत्त धरातल में हो और दूसरा याम्योत्तरवृत्त धरातल में हो जाय । उन के अग्र में जो पूर्वापरानुकार और दक्षिणोत्तरानुकार सूत्र हो उन दोनों के मध्य में अर्थात् वृत्तद्वय के केन्द्र में कील को स्थापन करना जिससे यह कील ध्रुवयष्टि हो, इस तरह यह कर्त्तरी यन्त्र होता है । इस कर्त्तरीयन्त्र में कीलच्छायाग्र से स्थूल इष्टघटी होती है । सिद्धान्तशेखर में 'ज्यामध्यतिर्यक्स्थितकीलमेतत्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक के अनुसार श्रीपति कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि यह चक्र यन्त्र व्यास रेखा के मध्य बिन्दु में तिर्यक् आकार से निवेशित लोह आदि कील

को पूर्वापर रूप से स्थापन करने से कर्त्तरी संज्ञक यन्त्र होता है । पश्चिम बिन्दु में जो धनुष और उसका जो प्रान्त उससे आरम्भ कर ज्यामध्य स्थापित कीलच्छाया से मुक्त (त्यक्त) नाड़ी --द्युनाडी (दिनगत घटी) होती है । इति ॥४४॥

उपपत्ति ।

चक्रयन्त्र ही का भेदान्तर कर्त्तरी यन्त्र है । नाड़ीवृत्तानुसार चक्रयन्त्र को स्थापन करने से पूर्ववत् ही पश्चिम बिन्दु से कीलच्छायापर्यन्त घटी सूर्योदय से दिनगत स्थूल घटी होती है, पूर्व बिन्दु से ज्यों-ज्यों ऊपर जाते हैं त्यों त्यों पश्चिमबिन्दु से कीलच्छाया नीचे जाती है । यहां 'समपूर्वापरमेतत् स्थिरं स्थितं भवति कर्त्तरी यन्त्रम्' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिखित लल्लाचार्योक्त श्रीपत्युक्त के सदृश ही है । सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में 'भूस्थं ध्रुवयष्टिस्थम्' इत्यादि से श्रीभास्कराचार्य ने इसी को नाड़ीवलय संज्ञक यन्त्र कहा है । यदि एक दिन में रवि की क्रान्ति स्थिर मानी जाय तब ही भास्कराचार्योक्ति से उन्नत घटी वास्तव हो सकती है परन्तु रवि की क्रान्ति प्रतिक्षण विलक्षण होती है इसलिये 'नाड़िकाः स्थूला भवन्ति' यह आचार्योक्त युक्तियुक्त है । इस यन्त्र से नतकाल ज्ञान सूक्ष्म होता है इति ॥४४॥

इदानीं पीठयन्त्रमाह ।

दृष्ट्यौच्च्यं समपीठं यष्टिव्यासार्धमन्तिकं परिधौ ।
दिग्भगणांशैर्मूर्धन्यग्रा घटिकादिभिश्चाङ्क्यम् ॥४५॥

सु. भा.—एकं दृग्यौच्च्यं दृग्यौच्च्यसमे प्रदेशे खे गतं यष्टि व्यासार्धमन्तिक समपीठं समं चाक्राकारं फलकं कार्यम् । परिधौ दिग्भिर्भगणांशैस्तथा मूर्धनि परिध्यग्रभागेऽग्राघटिकादिभिरग्रोन्नतघटयादिभिश्चाङ्क्य पीठसंज्ञं यन्त्रं चक्रयन्त्राकारं भवतीत्यर्थः ॥४५॥

तथा च लल्लः— चक्रं चोर्ध्वशलाकं वदन्ति पीठं सुसिद्धाशम् ।
(शिष्यधीवृ० यन्त्राध्याय, श्लोक २५)

वि. भा.—दृष्टयौच्च्यसमे प्रदेशे खे गतं यष्टिव्यासार्धमन्तिकं समपीठं (समं चक्राकारं फलकं कार्यम्) परिधौ दिग्भिर्भगणांशैः, मूर्धनि (परिध्यग्रभागे) अग्राघटिकादिभिः (अग्रोन्नत घटिकादिभिः) अङ्क्य पीठयन्त्रं चक्राकारं भवतीति । सिद्धान्तशेखरे—

"संसाधिताशं खलु चक्रयन्त्रं पीठं भवत्यूर्ध्वशलाकमेव ।
पीठे तु सूर्योदय बिम्बवेधाद् भुक्तांशजीवा स्फुटमग्रका स्यात् ॥"

श्रीपतिनैवं कथ्यते । अस्यार्थः—संसाधिताशं चक्रयन्त्रं (कृतदिक् साधनं पूर्वकथितंचक्रयन्त्रं) ऊर्ध्वशलाकमेव (उपरिगतलम्बमेव) पीठं (पीठ संज्ञकं) यन्त्रं भवेत् । पीठे यन्त्रे सूर्योदयबिम्बवेधात् (सूर्योदयसमये रविबिम्बवेधेन) भुक्तांशजीवा (भुक्तानामंशानां जीवा) ऽग्रका स्यात् । स्फुट (प्रत्यक्षमेव दृश्यते) मिति ।

अत्रोपपत्तिः ।

कृतदिक् साधनं वृताकारं पीठयन्त्रं सूर्योदये सूर्याभिमुखं स्थापितं तेन पश्चिमबिन्दोर्यदन्तरेण छाया पतिता तदन्तरमग्रा चापांशास्तज्ज्याऽग्रा भवतीति यन्त्रस्थितिदर्शनेनैव स्फुटम् । शिष्यधीवृद्धिद तन्त्रे—

'चक्रं चोर्ध्वंशलाकं वदन्ति पीठं सुसिद्धाशम् ।
पीठार्कोदयवेधादग्राश्चापांशकाश्चापी ॥'

ति लल्लोक्तमेव श्रीपत्युक्तस्य मूलमिति विज्ञैर्विवेचनीयम् ॥४५॥

अब पीठ यन्त्र को कहते हैं ।

हि. भा.—दृष्टि की ऊंचाई के तुल्य प्रदेश में आकाशस्थ यष्टि व्यासार्धजनित चक्राकार फलक करना चाहिये । परिधि में दिशा और भगणांश को अङ्कित करना चाहिये तथा परिधि के अग्रभाग में अग्राघटी को अङ्कित करना अर्थात् पीठ यन्त्र चक्राकार होता है । सिद्धान्तशेखर में "संसाधिताशं खलु चक्रयन्त्रं" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक के अनुसार कहते हैं, इसका अर्थ यह है—पूर्वकथित चक्रयन्त्र जिसमें दिक्साधन किया हुआ है उपरिगत लम्ब ही पीठ संज्ञक यन्त्र होता है, पीठ यन्त्र में सूर्योदयकाल में रविबिम्ब वेध से भुक्त अंशों की जीवा (ज्या) अग्रा है इति ॥४५॥

उपपत्ति ।

जिस में दिक्साधन किया हुआ है ऐसे वृत्ताकार पीठ यन्त्र को सूर्योदयकाल में सूर्याभिमुख स्थापन करने से पश्चिम बिन्दु से जितने अन्तर पर छाया पतित होती है वह अग्राचापांश है उसकी ज्या अग्रा होती है, यह यन्त्रस्थिति की भावना ही से स्फुट है । शिष्यधीवृद्धिदतन्त्र में 'चक्रं चोर्ध्वशलाकं वदन्ति पीठं' इत्यादि लल्लोक्त ही श्रीपत्युक्ति का मूल है इसको विज्ञलोग विचार कर देखें इति ॥४५॥

इदानीं यन्त्रान्तरमाह ।

नलको मूले विद्धस्तत्त्र्युतिघटिकोद्धृतः समुच्छ्रायः ।
लब्धाङ्गुलैस्तु तैर्नाड़िका क्रिया यन्त्रसिद्धिरतः॥४६॥

सु० भा०—एक इष्टप्रमाणो नलको मूले विद्धः कार्यः। स च जलैः पूर्णः कार्यः। अधोरन्ध्रेण यावतीभिर्घटीभिर्जलस्रुतिः स्यात् ताः स्रुतिघटिका ज्ञातव्याः। नलकस्य समुच्छ्रायस्तत्स्रुतिघटिकोद्धृतस्तैर्लब्धाङ्गु, लैर्नलके चैकैको विभागोऽङ्कनीयः: । अत एभ्यो विभागेभ्यो नाडिका क्रिया यन्त्रा सिद्धिर्भवति। नाडिकाक्रियया यन्त्रसिद्धिर्भवतीत्यर्थः। एकविभागपर्यन्तं जलस्रुत्यैका घटी द्वितीयभागपर्यंतं जलस्रुत्या घटीद्वयम्। एवमत्र कालज्ञानं भवति।

अत्रोपपत्तिः। यदि स्रुतिघटिकाभिर्नलकोच्छ्रितिसमा जलस्रुतिस्तदैकया घटया किं जातैकघटी समकालजलस्रुतावुच्छ्रितिरिति ॥४६॥

वि. भा.—एक इष्टप्रमाणो नलको ग्राह्यस्तन्मूले विद्धः कार्यः। स जलैः पूर्णः कार्यः। अधोरन्ध्रेण यावतीभिर्घटीभिर्जलस्रुतिः स्यात् ताः स्रुतिघटिका बोद्धव्याः। तत्स्रुतिघटिकया नलकोच्छ्रायोभक्त लब्धांगुलैर्नलके एकैको विभागश्चिन्हितः कार्यः। अत एभ्यो विभागेभ्यो नाड़िकाक्रियया यन्त्रसिद्धिर्भवत्यर्थादिकचिन्हपर्यन्तं जलस्रुत्येका घटिका, द्वितीयचिन्हपर्यन्तं जलस्रुत्या घटिकाद्वयम्। एवमग्रेऽपि, अनया रीत्यात्र कालज्ञानं भवतीति।

अत्रोपपत्तिः।

यदि जलस्रुतिघटिकाभिर्नलकोच्छ्रितितुल्या जलस्रुतिर्लभ्यते तदैकया घटया किं जातैकघटीतुल्यकालजनितस्रुतानुच्छ्रितिरिति। सिद्धान्तशेखरे श्रीपतिनैतद्भिन्नमेव यन्त्रान्तरं कालज्ञानार्थं कथ्यते यथा—

"नीरस्रुत्या चिन्हिते नाड़िकाद्यैर्मूलच्छिद्रे वारिपूर्णे च पात्रे।
गोलं तुम्बं पारताढयं गुणेन बद्धे केन प्रक्षिपेत्तत्र युक्ते॥
यथा यथाऽम्बु स्रवति क्रमेण तथा तथाऽधो व्रजदत्र तुम्बम्।
गोलं परिभ्रामयति स्वयं तत् सूर्यांशभुजान्तरगास्तु नाडयः॥"

अस्यार्थः—मूलच्छिद्रे (अधोरन्ध्रवति) वारिपूर्णे पात्रे (जलपूर्णे कांस्यादिभाजने) नीरस्रुत्या (जलप्रस्रवणेन) नाड़िकाद्यैः (घटीपलविपलाद्यैः) चिन्हिते पारतसहितं गोलं तुम्बं (वर्तुलाकारमलावु) तत्र जलपूर्णपात्रे गुणेन (रश्मिभिः) बद्धे, केन (जलेन) युक्ते प्रक्षिपेत्। अम्बु (तद्भाजनजलं) यथा यथा स्रवति (प्रस्रवितं भवति) तथा तथा अत्र अधो व्रजत् तुम्बं स्वयं (अनन्यसापेक्षं) गोलं परिभ्रामयति। तत्र सूर्यांशभुजान्तरगाः—क्रान्तिवृत्ते यस्मिन्नंशे सूर्यो वर्त्तते तस्य क्षितिजवृत्तस्य चान्तरे गता नाडयो भवन्ति। अत्र लल्लोक्तम्—

जलकुण्डेऽधश्छिद्रे घटिकाकालाङ्किते जलस्रुत्या।
गोले वेष्टनसूत्राग्रबद्धतुम्बं क्षिपेत् सरसम्॥

स्रवति च यथा यथाऽम्भस्तथा तथाऽलाबु गच्छमानमधः ।
भ्रमयति गोलकमंभो भुक्ताङ्का नाड़िका ज्ञेयाः ।

इदमेव श्रीपत्युक्तस्य मूलम् । सूत्रानुसारेण गोलनिर्माणं अधश्छिद्रजल-कुण्डे मूलच्छिद्रे जलपूर्णपात्रे वा सपारदतुम्बप्रक्षेपेण नीचतो गच्छत् तत्तुम्बं स्वयं गोलं भ्रामयतीति कारुकार्यनिपुणा एव तादृशं तुम्बयन्त्रमिदं निर्मातुमर्हन्ति । नाड़ीवृत्ते क्षितिजसूर्याभ्यन्तरगा अवयवाः सावनघटिका भवन्तीति ।।४६।।

अब यन्त्रान्तर को कहते हैं।

हि. भा.--एक इष्ट प्रमाण नलक लेकर उसके मूल में छेद करना चाहिये। नलक को जल से भर देना चाहिये, नीचे के छेद से जितनी घटी में जलस्रुति (जल का बहना) होती है, उसको जलस्रुतिघटी समझनी चाहिये। उस जलस्रुति घटी से नलक के उच्छ्राय (ऊंचाई) में भाग देने से जो लब्ध अंगुल हो उससे नलक में एक एक विभाग अङ्कित करना, इन विभागों से नाड़िका क्रिया द्वारा यन्त्र सिद्धि होती है अर्थात् एक विभाग पर्यन्त जलस्रुति से एक घटी, द्वितीय विभाग पर्यन्त जलस्रुति से दो घटी, आगे भी इसी तरह, एवं काल ज्ञान होता है ।।४६।।

उपपत्ति।

यदि स्रुति घटी में नलक की उच्छ्रुति तुल्य जलस्रुति पाते हैं तो एक घटी में क्या इससे एक घटी तुल्य काल जलस्रुति में उच्छ्रुति आती है इति ।।४६।।

इदानीं पुनर्यन्त्रान्तरमाह ।

घटिकाङ्गुलान्तरस्थैश्चीरिर्गुटकैर्घटीधृतैरङ्क्या ।
उपरिनरोऽधः सुषिरस्तिर्यक् कीलोऽस्य मुखमध्ये ।। ४७ ।।[२]

कीलोपरिगामिन्यां चीर्यां धृतपारमलाबु तस्मिन् ।
स्रवति जले क्षिपति नरो गुटिकां कूर्मादयश्चैवम् ।। ४८ ।।[१]

सु. भा.—अल्पविस्तारं विपुलदैर्घ्यं वस्त्रखण्डं चीरिरित्युच्यते । एकस्यां घट्यां मनुष्यमुखाद्यावद्वस्त्रखण्डं तदग्रबद्धसपारदालाबुना जलस्रावाघातेन बर्हिनिः

२, घटिकाङ्गुलान्तरस्थैश्चीरिर्गुटकैर्घटीधृतैरङ्क्या ।
उपरिनरोऽधःसुषिरस्तिर्यक् कीलोऽस्य मुखमध्ये ।। ।।४७।।

१. कीलोपरिगामिन्यां चीर्यां धृतपारदमलाबु तस्मिन् ।

सरति तद्घटिकाङ्गुल मुच्यते। चीरिर्घटिकाङ्गुलान्तरस्थैर्गुटकैर्घटीधृतै रज्ज्वा। घटिकाङ्गुलान्तरस्थै रेकद्वित्र्यादिघटिकाङ्कितगुटिकास्तत्र योज्या इत्यर्थः।

इयं चीरिर्नराकारस्य यन्त्रस्याधो रन्ध्रस्य मध्ये स्थाप्या तदुपरि च नरः स्थाप्यो यथा चीरिर्नराधो रन्ध्रतः प्रविष्टा नरमुखस्थतिर्यक्कीलोपरिगा भवेत्। नरमुखाग्रे कीलोपरि यच्चीरिखण्डं तदग्रे पारदपूर्णमलाबुतुम्बं बध्नीयात्। तस्मिन् तथा जलधारा नलकादिना देया यथाधो गच्छताऽलाबुना घटिकया नर-मुखादेकां गुटिकां बहिर्गच्छेत्। एवं जले स्रवति नरो नराकारयन्त्रं घटिकयैकां गुटिकां मुखाद् बहिः क्षिपति। एवं नराकार यन्त्रस्थाने कूर्मादयः कूर्मादीनामाकारा बुद्धिमता कार्या इत्यर्थः ॥४७–४८॥

वि. भा.—अल्पविस्तारं विपुलदैर्घ्यं वस्त्र खण्डम्-चीरिरित्युच्यते। एकस्यां घट्यां मनुष्यमुखाद्यावद्वस्त्रखण्डं तदग्रबद्धसपार-दालावुना जलस्रावाघातेन बहिर्निःसरति तद्घटिकाङ्गुलमुच्यते। चीरिर्घटिकाङ्गुलान्तरस्थैर्गुटकैर्घटीवृतै-रज्ज्वा, अर्थात् घटिकाङ्गुलान्तरस्थैरेकद्वित्र्यादिघटिकाङ्कितगुटिकास्तत्र देयाः। इयं चीरिर्नराकारस्याधोरन्ध्रस्य यन्त्रस्य मध्ये स्थाप्या यथा चीरिर्नराधोरन्ध्रतः प्रविष्टा नरमुखस्थ·तिर्यक् कीलोपरिगता भवेत्। नरमुखाग्रे कीलोपरि यच्चीरिखण्डं तदग्रे पारदपूर्णमलाबुतुम्बं बध्नीयात् तस्मिन् तथा जलधारा नलकादिना देया यथाऽधो गच्छताऽलाबुना घटिका बहिर्गच्छेत्। एवं जले स्रवति नराकारयन्त्रं घटिकां गुटिकां मुखाद्बहिःक्षिपति। एवं नराकारयन्त्रस्थाने कूर्मादीनामाकारा विज्ञैः कार्येति॥ सिद्धान्त शेखरे—

"चीरीं प्रकुर्याद् घटिकाङ्गुलाङ्कामेतेन मुक्त्वा वदनेन धार्या।
तां निक्षिपेत् काष्ठनरोदरे तु तदाऽस्य तिर्यक्स्थितकीललग्नम्॥
चीरीसूत्रं क्रोड़काधोगतं स्यात् तस्मिंस्तुम्बं पूर्ववद्बद्धमुच्चैः।
पात्रेऽधोऽधस्तद्व्रजेत् कर्णयन्त्रान्नाड़ीभुक्तामुन्सृजत्येष नाड्याः॥"

श्रीपत्युक्तमस्ति। लल्लोक्तं च—

"घटिकाङ्काङ्गुल संख्यां बद्ध्वा चीर्यां निवेशयेद् घटिकाः।
मदनेन ता निरुध्यादुदरे नतवदनमनुजस्य॥
चीर्यंत बद्धसूत्रे तिर्यक्स्थितवदनकीलकनलेन।
नीत्वा जठरच्छिद्रेण केनचित्तद्बहिः कुर्यात्॥
तत्र निबद्धमलावु प्राग्वत् सलिलेन नीयमानमधः।
चीरीमाकृष्यान्यां जपत्यमुं नाड़िकां गुटिकाम्॥

इति, आचार्योक्तं लल्लोक्तं च श्रीपत्युक्तेर्मूलमिति प्रतीयते । लल्लोक्त-मार्यात्रयं बहुत्रैवाशुद्धमिव प्रतिभाति न चास्य किमपि व्याख्यानं सम्यक्-दृश्यते । एतयो (आचार्य लल्लयोः) रनुरूपरचनस्य श्रीपत्युक्तस्य नितरामेवाशयोऽशुद्ध-त्वान्नावगम्यते ।। इति. ४७–४८ ।।

अब पुनः यन्त्रान्तर कहते हैं ।

हि. भा.—अल्प विस्तार और ज्यादा दैर्घ्य (लम्बाई) वाला वस्त्र खण्ड (कपड़े का टुकड़ा) चीरी कहलाता है । एक घटी में मनुष्य के मुख (मुंह) से जितना बड़ा वस्त्र खण्ड जलस्राव (जल का निकलना) के आघात (धक्का) से बाहर निकलता है वह घटिकां-गुल कहलाता है । घटिकांगुलान्तरस्थित एक, दो-तीन आदि घटी से अङ्कित (चिन्हित) गुटिका (गोली) चीरी में देनी चाहिये । इस चीरी को नरा (मनुष्य) कार यन्त्र के नीचे के छिद्र में रखना चाहिये, जिससे चीरी नर के नीचे छिद्र से प्रविष्ट होकर नर मुख में स्थित तिर्यक्रूप कील के उपरिगत हो जाय । नर मुखाग्र में कील के ऊपर जो चीरी का खण्ड है उसके अग्र में पारे से भरे हुए तुम्ब (तुम्बी) को बांध कर, उसमें नलक आदि से जलधारा देनी चाहिये जिस से नीचे जाती हुई तुम्बी से घटिका में नरमुख से एक गुटिका (गोली) बाहर चली जाय । एवं जलस्राव से नराकार यन्त्र घटिका से एक गुटिका को मुख से बाहर फेंकता (निकालता) है । इस तरह नराकार यन्त्र की जगह कूर्म (कछुआ) आदि आकार का यन्त्र भी समझना चाहिये । सिद्धान्तशेखर में "चीरीं प्रकुर्याद् घटिकांगुलाङ्का-मेतेन मुक्त्वा वदनेन धार्या" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकानुसार श्रीपति कहते हैं । "घटिकाङ्कांगुल संख्यां बद्ध्वा चीर्यां" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित लल्लोक्त श्लोक और आचार्योक्त ही श्रीपत्युक्ति का मूल है । लल्लोक्त तीनों श्लोक बहुत जगह अशुद्ध मालूम होते है । इनकी सम्यक् व्याख्या कहीं पर कुछ भी देखने में नही आती है । आचार्योक्त और लल्लोक्त के अनुरूप श्रीपत्युक्त का आशय अशुद्धता के कारण समझ में नहीं आता है इति ।।४७–४८।।

इदानीं विशेषमाह ।

जलपूर्णकृत घटीभिः स्तनास्यकर्णादिभिर्जलं क्षिपति ।
पुरुषोऽन्यस्यासक्त वक्त्र पुरुषस्य कृतमुपरि ।।४९।।[1]

सु. भा.—पुरुषो (नराकारयन्त्रम्) रचनीयः । जलपूर्णकृता घटी घटीयन्त्र-मस्य स्तने मुखे कर्णादौ वाऽन्तस्था योज्या यथाऽयं पुरुषः स्तनास्यकर्णादिभि-रन्यस्य प्रतिपुरुषस्य तदासक्ते वक्त्रे मुखे घटीमितेन कालेन जलं क्षिपति । एवमप्युपरि पूर्वश्लोके प्रतिपादितं यन्त्रं प्रकारान्तरेण कृतं भवेदित्यर्थः ।।४९।।

१: पुरुषोऽन्यस्याऽसक्ते वक्त्रं पुरुषस्य कृतमुपरि ।।४९।।

वि. भा.—पुरुषो (नराकार यन्त्रं) निर्मातव्यः। जलपूर्णकृतघटी (घटी-यन्त्रं) अस्य स्तने-आस्ये (मुखे) कर्णादौ वाऽन्तस्तथा प्रयोक्तव्या यथाऽयं पुरुषः स्तनास्यकर्णादिभिरन्यस्य पुरुषस्य तदासक्ते वक्त्रे (मुखे) घटीतुल्यकालेन जलं क्षिपति। एवमुपरि कथितं यन्त्रं प्रकारान्तरेण कृतं भवेदिति ॥४९॥

अब विशेष कहते हैं।

हि. भा.—नराकार यन्त्र बनाना चाहिये। जल से भरे हुए घटीयन्त्र को इसके स्तन-मुख (मुंह) कर्ण (कान) आदि में भीतर इस तरह प्रयोग करना चाहिये जिस से यह पुरुष स्तन-मुख-कर्ण आदिओं से अन्य पुरुष के उससे आसक्त मुख (मुंह) में एक घटी तुल्यकाल में जल को निकाले। इस तरह पूर्वकथित यन्त्र प्रकारान्तर से किया हुआ होता हैं इति ॥४९॥

इदानीं पुनर्विशेषमाह।

एवं वधूवरं नाडिकांगुलैः संयुता वरे योज्या।
युद्धानि मल्लगजमहिषमेव विविधायुधभृतां च ॥५०॥
निगिरति गिरति घटिकांगुलाङ्कितैः खण्डकैर्मयूरोऽहिम्।
चीर्यामेवं गुटिकोपरिस्थितैर्ब्रह्मचार्याद्यैः ॥५१॥[1]

सु. भा.—एवं वधूवर मुखस्थतिर्यक् कीलोपरिगचीरिगतनाडिकाङ्गुलैस्तथैव वरे वधूर्योज्या यथा वध्वधोरन्ध्रग्रचीर्यग्रबद्धालाबुनाऽधोगच्छता घटीमितेन कालेनैका गुटिका वरमुखाद्बहिर्निर्गत्य वधूमुखे प्रविशेत्। एवमनेनैव बीजेन घटीमितेन कालेन मल्लगजमहिषमेषविविधायुधभृतां च युद्धानि स्युः। मयूरो घटिकाङ्गुलाङ्कितैः खण्डकैरहिं सर्पं च निगिरति वा गिरति। एवं चीर्यां गुटिकोपरि स्थापितैर्ब्रह्मचार्याद्याकारैः कीलोत्क्षेपाभिहतः पटहो वा घण्टाशब्दं करोति। एवमत्र यन्त्र-सहस्राणि भवन्ति ॥५०-५२॥

वि. भा.—एवं वधूवरमुखस्थतिर्यक्कीलोपरिगतचीरिगतनाडिकांगुलैस्तथैव वरे वधूर्योज्या यथा वध्वधोरन्ध्रगचीर्यग्रवद्धालाबुनाऽधो गच्छता घटीमितेन कालेनैका गुटिका वरमुखाद्बहिर्निर्गत्य वधूमुखे प्रविशेत्। एवमनेनैव बीजेन घटीमितेन कालेन मल्ल-गज-महिष-मेषविविधायुधभृतां च युद्धानि स्युः। मयूरो घटिकांगुलाङ्कितैः खण्डकैरहिं (सर्पं) च निगिरति वा गिरति। एवं चीर्यां गुटिकोपरि स्थापितैर्ब्रह्मचार्याकारैः कीलोत्क्षेपाभिहतः पटहो घण्टा वा शब्दं

---

१. चीर्यामेवं गुटिकोपरिस्थितैर्ब्रह्मचार्याद्यैः ॥५१॥

करोति । एवमत्र यन्त्रसहस्राणि भवन्तीति । सिद्धान्तशेखरे—

"इत्थं स्वबुद्धया गणकः प्रकुर्यान्मेषादियुद्धं गजयन्त्रमत्र।
यत्र स्वयंवाहकनाभिमध्यात् बीजं दशाङ्केन हि कर्मणा यः ॥"

श्रीपतिनैवं कथ्यते । अस्यार्थः— इत्थममुना विधिना मेषादियुद्धं यन्त्रं तथा गजयन्त्रं चात्र गणकः प्रकुर्यात् । अत्र श्लोकोत्तरार्द्धमप्रासङ्गिकमर्थरहितं च प्रतिभाति । अत्र लल्लोक्तं च—

"कुर्यादियोऽपि चैवं घटिका जन्हुर्यथेष्टकालेन ।
मेषादीनां युद्धं सूत्रे सक्ते भवेदुभयोः ॥
परिकल्पित कालाध्वनि युत्तया योगो भवेद्वधूवरयोः ।
घटिकांगुलाङ्कितं वा ग्रसति मयूरः क्रमादुरगम् ॥
हन्ति मनुष्यः पटहं छादयति छादकस्तथा छाद्यम् ।
एवं विधानि यन्त्राण्यैवमनेकानि सिध्यन्ति ॥"

इति श्रीपतेर्मूलम् । आचार्यादीनां समये ईदृशानि यन्त्राणि साधारणजनानामाश्चर्यं कराण्यासन्नित्यनुमीयते । श्रीपतिना त्वल्पान्येव यन्त्राणि सुगमोपायेनोप योगवन्ति तत एवादाय लिखितानीति ॥५०–५२॥

अब पुनः विशेष कहते हैं ।

हि. भा.—एवं वधू-वर मुखस्थ तिर्यक्-कीलोपरिगत चीरिगत नाड़िकांगुल से उसी तरह वर में वधू को जोड़ना (मिलाना) चाहिये जिससे वधू के नीचे रन्ध्र (छिद्र) गत चीरी के अग्र में बंधा हुआ नीचे जाते हुये अलावु (तुम्बी) से एक घटीकाल में एक गुटिका वर के मुख (मुंह) से बाहर निकल कर वधू के मुख में प्रवेश करे । एवं इसी बीज (मूल) से एक घटीमितकाल में मल्ल (पहलवान) गज (हाथी) महिष (भैंसा) मेष (भेंड़ा) और अनेक तरह के हथियार रखने वालों के युद्ध होते हैं । मयूर घटिकांगुल से अङ्कित खण्डों से सर्प को निगलता है । एवं चीरी में गुटिका के ऊपर स्थापित (रखे हुए) ब्रह्मचारी आदि आकार से कील के उत्क्षेपण के आघात से घण्टा शब्द करती है । इस तरह यहां हजारों यन्त्र होते है । सिद्धान्तशेखर में 'इत्थं स्वबुद्धया गणकः प्रकुर्यात्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक के अनुसार श्रीपति कहते हैं । इसका अर्थ यह है—इस विधि से मेषा (भेंड़ा) दि युद्धयन्त्र तथा गजयन्त्र की रचना गणक (ज्योतिषी) करें । इस श्लोक का उत्तरार्ध बिना प्रसङ्ग का और बिना अर्थ का है । यहां "कुर्यादियोऽपि चैवं घटिका जन्हुर्यथेष्टकालेन" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित लल्लोक्त ही श्रीपत्युक्ति का मूल है । आचार्य (ब्रह्मगुप्त) आदि के समय में इस तरह के यन्त्र साधारण जनों के आश्चर्य कारक थे ऐसा

मालूम होता है। श्रीपति ने सुगम उपाय से उपयोग के लायक थोड़े ही यन्त्रों को (आचार्योक्त और लल्लोक्त से) लेकर लिखा है इति ॥५०-५२॥

इदानीं स्वयंवहयन्त्रमाह।

लघुदारुमयं चक्रं समसुषिरारान्तर पृथगराणाम्।
अर्धेन रसेन पूर्णं परिधौ संश्लिष्टकृतसन्धिः ॥५३॥
तिर्यक्कीलोमध्ये द्व्याधारस्थोऽस्य पारदो भ्रमति।
छिद्राण्यूर्ध्वमधोऽतश्चक्रमजस्रं स्वयं भ्रमति ॥५४॥[1]

सु. भा.—अराणामाराणाम्। संश्लिष्टकृतसन्धिः संश्लिष्टो मुद्रितः कृतः सन्धिश्छिद्रम् यस्य चक्रस्य तत्। अस्य यन्त्रस्य मध्ये तिर्यक्कीलो मध्ये स्थाप्यश्चक्रश्चायस्कारशाणवद्द्वयाधारस्थः कार्यः। अस्य चक्रस्य पारदो रस आराणां छिद्राणि प्रति ऊर्ध्वमधश्च यतो भ्रमति अतस्तदाकृष्टं चक्रं स्वयमेवाजस्रं भ्रमति। 'लघुदारुजसम चक्रे समसुषिराराः समान्तरा नेम्याम्'—इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ॥५३--५४॥

वि. भा.—पृथक् आराणां समच्छिद्रं समान्तरं लघुकाष्ठमयं चक्रं विधेयम्। अर्धेन रसेन (पारदेन) पूर्णे परिधौ संश्लिष्टकृतसन्धिः (संश्लिष्टो मुद्रितः कृतः सन्धिश्छिद्रं यस्य चक्रस्य तत्), अस्य यन्त्रस्य मध्ये तिर्यक्कीलः स्थाप्यः, चक्रश्चायस्कारशाणवद्द्वयाधारस्थः कार्यः। अस्य चक्रस्य पारदो (रसः), आराणां छिद्राणि प्रति ऊर्ध्वमधश्च यतो भ्रमति, अतस्तदाकृष्टं चक्रं स्वयमेवाजस्रं (सततं) भ्रमति। यन्त्रपालिगता अंकुशाकृतयो रसप्रक्षेपार्थं धातुजाः काष्ठजा वा रूपविशेषा आराः। आरादिषु कियत्पारादिदानेन तद्यन्त्रं स्वयं भ्रमेदित्यस्य ज्ञानं दुर्घटं देशकालयन्त्रपरिमाणाधीनमीश्वरैकगम्यमिति। सिद्धान्तशिरोमणौ—

"लघुदारुजसमचक्रे समसुषिराराः समान्तरा नेम्याम्।
किञ्चिद्वक्रा योज्या सुषिरस्यार्धे पृथक् तासाम्॥

रसपूर्णे तच्चक्रं द्व्याधाराक्षस्थितं स्वयंभ्रमतो" ति भास्करोक्तमाचार्योक्तानुरूपमेवास्ति॥ अस्यार्थः—ग्रन्थि कीलरहिते लघुदारुमये भ्रमसिद्धे चक्र आराः किं विशिष्टाः—समप्रमाणाः समसुषिराः समतौल्याः समान्तरा नेम्यां योज्याः। ताश्च नद्यावर्त्तवदेकत एव सर्वाः किञ्चिद्वक्रा योज्याः। ततस्तासामाराणां सुषिरेषु पारदस्तथा क्षेप्यो यथा सुषिरार्धमेव पूर्णं भवति, ततो मुद्रिताराग्रं तच्चक्रमयस्कारशाणवद् द्व्याधारस्थं स्वयं भ्रमति। अत्र युक्तिः—यन्त्रैकभागे रसोद्धारामूलं

---

१. छिद्राण्यूर्ध्वमधोऽतश्चक्रमजस्रं स्वयं भ्रमति ॥५४॥

प्रविशति। अन्यभागे त्वाराग्रं धावति। तेनाकृष्टं तत् स्वयं भ्रमतीति ॥५३-५४॥

अब स्वयंवहयन्त्र को कहते हैं।

हि. भा.—लघुकाष्ठमय चक्र यन्त्र बनाना चाहिये, जिसके आराओं में समान छिद्र हो तथा समान्तर हो, जिस चक्र यन्त्र के संश्लिष्ट (मुद्रित) छिद्र है। तथा आधे पारे से पूर्ण (भराहुआ) परिधि है। इस यन्त्र के मध्य में तिर्यक् रूप में कील स्थापन करना। चक्र को शाण चढ़ाने वाले चक्र की तरह दो आधार पर रखना चाहिये। क्यों कि आराओं के छिद्र में पारा ऊपर और नीचे से घूमता है इसलिये उससे आकृष्ट (खींचाहुआ) चक्र बराबर स्वयं(अपने ही आप) भ्रमण करता है। यन्त्र की पालीगत अंकुश की आकृति(आकार स्वरूप की तरह पारे के प्रक्षेपण के लिये पारा ढालने के लिये धातु की वा काष्ट (लकड़ी) की बनी हुई चीज आरा शब्द से व्यवहृत है। सिद्धान्तशिरोमणि में 'लघुदारुज समचक्रे समसुषिराराः समान्तरा नेम्याम्'—इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित भास्करोक्त प्रकार आचार्योक्त के अनुरूप ही है। भास्करोक्त श्लोक का तात्पर्य यह है। ग्रन्थि (गेठी–गिरह) लाघु दारु (लकड़ी) मय भ्रमसिद्ध (खरादा हुआ) चक्र में समप्रमाण के समछिद्र के समतौल्य (सम वजन) के समान्तर पर आराओं को नेमी (परिधि) में जोड़ देना, वे नदी के हिलोड़ (पानी बहने के घुमाव) की तरह एक ही तरफ सबों को जोड़ना चाहिये। तब उन आराओं के छिद्रो में पाराओं को उस तरह देना चाहिये जिससे छिद्र का आधा ही पूर्ण (पूरा) हो, तब मुद्रित आरा के अग्र वाला वह चक्र शान चढ़ाने के चक्र के सदृश दो आधार पर स्थित होकर स्वयं घूमता है। यहां युक्ति यह है—पारा जहां एक भाग में आरा के मूल में प्रवेश करता है और अन्य भाग में आरा के अग्र में दौड़ता है, उससे आकृष्ट वह चक्र स्वयं भ्रमण करता है इति ॥५३-५४॥

इदानीं विशेषमाह।

छिद्रे स्वधिया क्षिप्ता समं यथा पारदं भ्रमति।
कालसममिष्टमानैश्चक्रसमुत्तानमूर्ध्वं वा ॥५५॥

सु. भा.—छिद्रे स्वबुद्ध्या समं पारदं क्षिप्त्वा तथा चक्रं स्थाप्यं यथा कालसमं कालानुसारि समुत्तानं क्षितिजानुकारं वोर्ध्वमूर्ध्वाधरं जलयन्त्रवदिष्टमानैर्भ्रमति। एकभ्रमणेन यथेष्टमानसमं कालमुत्पादयेत् तथा ऋतुविशेषे लघुगुरुकाष्ठमयं चक्रम् स्वल्पाधिकपारदसहितारं विरचयेदिति ॥५५॥

वि. भा.—छिद्रे स्वधिया (स्वबुद्धया), समं पारदं क्षिप्त्वा चक्रं तथा स्थाप्यं यथा कालसमं (कालानुसारि) समुत्तानं क्षितिजानुकारं वोर्ध्वं (ऊर्ध्वाधरं जलयन्त्रवत्) इष्टमानैर्भ्रमति। एकभ्रमणेन यथेष्टमानसमं कालमुत्पादयेत्तथा

ऋतुविशेषे लघुगुरुकाष्ठमयं चक्रं स्वल्पाधिकपारदसहितारं विरचयेत्। भास्कराचार्येण—

"उत्कीर्य नेमिमथवा परितो मदनेन संलग्नम्।
तदुपरि तालदलाद्यं कृत्वा सुषिरे रसं क्षिपेत् तावत्॥
यावद्रसैकपार्श्वे क्षिप्तजलं नान्यतो याति।
पिहितच्छिद्रं तदतश्चक्रं भ्रमति स्वयं जलाकृष्टम्॥"

सिद्धान्तशिरोमणौ स्वयंवहयन्त्रसम्बन्धे एवमभिहितम्। अस्य व्याख्या यन्त्रनेमिं भ्रमयन्त्रेण समन्तादुत्कीर्य द्व्यगुलमात्रं सुषिरस्य वेधो विस्तारश्च यथा भवति ततस्तस्य सुषिरस्योपरि तालपत्रादिकं मदनादिना संलग्नं कार्यम्। तदपि चक्रं द्व्याधाराक्षस्थितं कृत्वोपरि नेम्यां तालदलं विद्ध्वा सुषिरे रसस्तावत् क्षेप्यो यावत् सुषिरस्याधोभागो रसेन मुद्रितः। पुनरेकपार्श्वे जलं प्रक्षिपेत्। तेन जलेन द्रवोऽपि रसो गुरुत्वात् परतः सारयितुं न शक्यते। अतो मुद्रितच्छिद्रं तच्चक्रं जलेनाकृष्टं स्वयं भ्रमतीति॥५५॥

अब विशेष कहते हैं।

हि. भा.—छिद्र में अपनी बुद्धि से पारा देकर चक्र को इस तरह स्थापन करना चाहिये जिससे कालानुसारी क्षितिजानुकार वा ऊर्ध्वाधर जलयन्त्रवत् इष्टमान से भ्रमण करता है। एक भ्रमण से जैसे इष्टमान के तुल्यकाल को उत्पादन करे वेसे ऋतु विशेष में लघु-गुरु काष्ठमय चक्र को जिसमें स्वल्प—अधिक पारे वाला आरा हो बनाना चाहिये। सिद्धान्तशिरोमणि में 'उत्कीर्य नेमिमथवा परितो मदनेन संलग्नम्। तदुपरितालदलाद्यं कृत्वा सुषिरे रसं क्षिपेत् तावत्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकानुसार भास्कराचार्य स्वयं इस यन्त्र के विषय में कहते हैं। इसका अर्थ यह है—यन्त्र की परिधि को चारों तरफ भ्रम-यन्त्र (खरादने के यन्त्र) से इस प्रकार ठीक करना चाहिये कि छिद्र की ऊंचाई और विस्तार दो अंगुल रह जाय। अनन्तर उस छिद्र के ऊपर तालपत्रादि को चिपका देना चाहिये चक्र को दो आधाराक्ष (आधार धुरी) स्थित करके ऊपर नेमि (परिधि) में ताल पत्र को वेध कर छिद्र में पारे को तब तक ढारना चाहिये जब तक छिद्र का अधोभाग पारे से मुद्रित (छिप जाय) हो। फिर एक पार्श्व (बगल) में जल देना—उस जल से द्रव (तरल) भी पारा गुरुत्व (भारीपन) के कारण चारों तरफ निकल नहीं सकता है, अतः वह चक्र जिसमें छिद्र मुद्रित है जल से आकृष्ट (खींचा गया) हो कर स्वयं भ्रमण करता है इति

इदानीं पुनर्विशेषमाह।

कीलस्योपरिगामिनि तत्पर्यंयसूत्रके घृतमलाबु।
प्रग्वन्नलके प्रक्षिप्य नाड़िका स्रवति पानीये॥५६॥

सु. भा.—येन तिर्यक्कीलेन सह चक्रमयस्कारशाणवद्धृतं तस्मिन् सूत्रस्यैकमग्रं बद्ध्वा विपुलदैर्घ्यं सूत्रं वेष्टयेत्। तत् सूत्रं च पर्यसूत्रकमुच्यते। तस्मिन् कीलस्योपरिगामिनि तत्पर्ययसूत्रकस्य द्वितीयाग्रेऽलाबुतुम्बं धृतं बद्धं कार्यम्। ततः प्राग्वन्नलकेऽधोरन्ध्रे जलं प्रक्षिप्य तथा जलाधारा प्रयोज्या यथा तदाघातेनाधोगच्छताऽलाबुना नाडिकया चक्रस्यैकं भ्रमणं भवेत्। एवं पानीये जले स्रवति नाडिकोत्पद्यते इत्याचार्याभिप्रायः ॥५६॥

वि. भा.—येन तिर्यक् कीलकेन सह चक्रमयस्कारशाणवद्धृतं तस्मिन् सूत्रस्यैकमग्रं बद्ध्वा विपुलदैर्घ्यं सूत्रं वेष्टयेत् तत्सूत्रं पर्ययसूत्रकं कथ्यते। तस्मिन् कीलस्योपरिगामिनि तत्पर्ययसूत्रद्वितीयाग्रेऽलाबु (तुम्बं) बद्धं कार्यम् ततः पूर्ववन्नलकेऽधोरन्ध्रे जलं प्रक्षिप्य जलाधारा तथा प्रयोक्तव्या यथा तदाघातेनाधो गच्छताऽलाबुना नाड़िकया चक्रस्यैकं भ्रमणं भवेत्। एवं पानीये (जले) स्रवति नाड़िकोत्पद्यते इत्यार्याभिप्राय इति। शिद्धान्तशिरोमणौ—

"ताम्रादिमयस्यांकुशरूपनलस्याम्बुपूर्णस्य ।
एकं कुण्डजलान्तर्द्वितीयमग्रं त्वधोमुखं च बहिः ॥
युगपन्मुक्तं चेत् कं नलेन कुण्डाद् बहिः पतति ।
नेम्यां बद्ध्वा घटिकाश्चक्रं जलयन्त्रवत्तथा धार्यम् ॥
नलकप्रच्युतसलिलं पतति यथा तद्घटीमध्ये ।
भ्रमति ततस्तत् सततं पूर्णघटीभिः समाकृष्टम् ॥
चक्रच्युतं तदुदकं कुण्डे याति प्रणालिकया ॥"

भास्कराचार्येणैवं स्वयंवहयन्त्र विषये कथ्यते ।

अस्य व्याख्या—ताम्रादिधातुमयस्यांकुशरूपस्य वक्रीकृतस्य नलस्य जलपूर्णस्यैकमग्रं जलभाण्डेऽन्यदग्रं बहिरधोमुखं चैकहेलया यदि विमुच्यते तदा सकलमपि भाण्डजलं नलेन बहिः क्षरति। तद्यथा। छिन्नकमलस्य कमलिनी नलस्य जलभृद्भाण्डे क्षिप्तस्य जलपूर्णसुषिरस्यैकमग्रं भाण्डाद्बहिरधोमुखं द्रुतं यदि ध्रियते तदा सकलमपि भाण्डजलं नलेन बहिर्याति। अथ चक्रनेम्यां घटीर्बद्ध्वा जलयन्त्रवत् द्व्याधाराक्षसंस्थितं तथा निवेशयेद्यथा नलकप्रच्युतजलं तस्य घटीमुखे पतति। एवं पूर्णघटीभिराकृष्टं तद्भ्रमत् केन निवार्यते। चक्रच्युतस्य जलस्याधः प्रणालिकया कुण्डगमने कृते कुण्डे पुनर्जलप्रक्षेपणैरपेक्ष्यमिति ॥५६॥

अब पुनः विशेष कहते हैं।

हि. भा.—जिस तिर्यक् रूप कील के साथ चक्र शाण देने के यन्त्र की तरह रक्खा

गया है उसमें सूत्र के एक अग्र को बांध कर बहुत लम्बे सूत्र को वेष्टित (लपटाना) करना वह सूत्र पर्यय सूत्र कहलाता है। उसमें कील के ऊपर गया हुआ उस पर्ययसूत्र के द्वितीयाग्र में अलाबु (तुम्ब) को बाँध देना। तब पूर्ववत् नलक के नीचे छेद में जल देकर जल धारा का उस तरह प्रयोग करना चहिए जिससे उसके आघात से नीचे जाने वाले तुम्ब से एक नाड़ी में चक्र का एक भ्रमण हो। एवं जलस्राव से नाड़िका उत्पन्न होती है यह आचार्य का अभिप्राय है। सिद्धान्तशिरोमणि में "ताम्रादिमयस्यांकुशरूपनलस्याम्बुपूर्णस्य। एकं कुण्डजलान्तद्वितीयमग्रं त्वधो मुखो च बहिः" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से भास्कराचार्य ने स्वयं वह यन्त्र के सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है॥ इसका अर्थ—ताम्बा आदि धातुमय अंकुशरूप टेढ़ा किये हुए जलसे भरे हुए नल के एक सिरे को जल—भाण्ड (वर्तन) में और दूसरे सिरे को बाहर यदि एक ही समय में खोल देते हैं तब सम्पूर्ण में भाण्ड(बर्तन) स्थित जल नल के द्वारा बाहर गिर जाता है। जैसे कमल के नल को जलकुण्ड में छोड़ने से जलपूर्णछिद्र के एक अग्र को अधोमुख भाण्ड से बाहर यदि शीघ्र धरते हैं तो सम्पूर्ण भाण्डस्थित जल नल के द्वारा बाहर चला जाता है। चक्र नेमी (परिधि) में घटी को बांध कर जलयन्त्रवत् दो आधाराक्ष संस्थित उस तरह रखना चाहिये जिससे नलक से गिरा हुआ जल उस के घटी मुख में पतित हो। एवं पूर्णघटी से आकृष्ट उसके भ्रमण को कौन रोक सकता है॥५६॥

इदानीं पुनर्विशेषमध्यायोपसंहारं चाह।

करणैर्ज्याक्षिप्रचलनमेवं शरमोक्षणं खशब्दाश्च।
अध्यायो द्वाविंशो यन्त्रेष्वार्यास्त्रिपञ्चाशत्॥५७॥

सु. भा.—एवं करणैर्जलधारा प्रवाहसाधनैर्धनुर्ज्यायाः क्षिप्रचलनं शीघ्रचलनं भवति येन शीघ्रं शरमोक्षणं शरप्रक्षेपणं च भवति। जलधाराप्रवाहविकारेणैव खशब्दा मेघगर्जनानि भवन्तीति। शेषं स्पष्टार्थम्॥५७॥

मधुसूदनसूनुनोदितो यस्तिलकः श्रीपृथुनेह जिष्णुजोक्ते।
हृदि तं विनिधाय नूतनोऽयं रचितो यन्त्रविधौ सुधाकरेण॥

इति श्रीकृपालुदत्त सूनुसुधाकरद्विवेदिविरचिते ब्राह्मस्फुटसिद्धांतनूतनतिलके यन्त्राध्यायो द्वाविंशः॥२२॥

वि. भा.—एवं करणैः (जलधाराप्रवाहसाधनैः) धनुर्ज्यायाः शीघ्रं चलनं भवति येन शरमोक्षणं (शरप्रक्षेपणं) च भवति। जलधाराप्रवाहविकारेणैव खशब्दाः (मेघगर्जनानि) भवन्ति। यन्त्राध्याये त्रिपञ्चाशदार्याः सन्ति। अयं

(यन्त्राध्यायः) द्वाविंशोऽध्यायः समाप्तिमगादिति ॥५७॥

इति ब्राह्मस्फुटसिद्धान्ते यन्त्राध्यायो नाम द्वाविंशोध्यायः समाप्तः ॥२२॥

अब पुनः विशेष और अध्याय के उपसंहार को कहते हैं ।

हि. भा.—एवं करण (जलधारा प्रवाहसाधन) से धनुष की ज्या (डोरी) का शीघ्रचलन होता है जिससे शर प्रक्षेपण (शरका छोड़ा जाना) होता है । जलधारा प्रवाह विकार ही से खशब्द (आकाश में शब्द—मेघ गर्जन) होता है । यन्त्राध्याय में तिरपन आर्याएँ हैं । यह बाईसवां अध्याय (यन्त्राध्याय) समाप्त हुआ इति ॥५७॥

इति ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में यन्त्राध्याय नामक बाईसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥२२॥

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

मानाध्यायः

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

अथ मानाध्यायः प्रारभ्यते

तत्र केन केन मानेन के के पदार्था गृह्यन्त इत्याह ।

सौरेणाब्दा मासास्तिथयश्चान्द्रेण सावनैर्दिवसाः ।
दिनमासाब्दपमध्या न तद्विनाऽर्केन्दुमानाभ्याम् ॥१॥

सु० भा०—सौरेणाब्दाः । चान्द्रेण मासास्तिथयश्च । सावनैर्दिवसा दिनमासाब्दपा मध्या ग्रहाश्च गृह्यन्ते । तत् सावनमानं चार्केन्दुमानाभ्यां विना न भवति । सौरचान्द्राभ्यां विनाऽहर्गणसाधनं न भवतीत्यर्थः ॥१॥

वि.भा.—सौरेण मानेनाब्दा अर्थादहर्गणानयने सौरमानेन वर्षाणि गृह्यन्ते । तेषां (सौरवर्षाणां) द्वादश गुणनानन्तरं यदा मासा युज्यन्ते तदा चान्द्रमासा गृह्यन्ते । ततस्त्रिंशद् गुणनानन्तरं चान्द्रमानादेव तिथयोऽपि ग्राह्या भवन्ति । पुनरानीतेऽहर्गणे सावनमानाद्दिनानि गृह्यन्ते । सावनैरेव वर्षपतिमासपतिज्ञानम् । तथा चोक्तम्—

अहर्गणात् कल्पगतादवाप्तं खषड्गुणै ३६० र्लब्धमथ त्रि३ निघ्नम् ।
रूपाधिकं भूधर ७ भक्तशेषं रवेर्भवेत् सावनहायनेशः ॥
एवं वर्षाधिपतिज्ञानम् ।

तथा—

अहर्गणात् खाग्नि ३० हृतादवाप्तं द्विघ्नं सरूपं नगभक्तशेषम् ।
वदन्ति तं सावनमासनाथं क्रमेण सूर्यादिह वर्त्तमानम् ॥

एवं मासाधिपतिज्ञानम् । मध्यमग्रहाश्च सावनमानैरेव गृह्यन्ते । तत् सावनमानं च सौरचान्द्रमानाभ्यां विना न भवत्यर्थात् सौरचान्द्राभ्यां विनाऽहर्गणसाधनं न भवतीति । सिद्धान्तशेखरे "वर्षाणि सौरात् प्रवदन्ति

चान्द्रात् मानात्तिथिं सावनतो दिनानि। सौरैन्दवाभ्यां तु विना न तत्स्यात्" इति श्रीपत्युक्तमाचार्योक्तानुरूपमेव। एकराशिं हित्वा यावता कालेन रवी राश्यन्तरं याति स सौरोमासस्तत्त्रिंशद्भागः सौरं दिनं भवतीति सौरमानम्। त्रिंशत्तिथिभिश्चान्द्रो मासो भवति। रविचन्द्रयोर्युतिरमावस्यान्ते भवति ततो यावता कालेन पुनस्तद्युतिर्भवति स एव चान्द्रमासः। एकस्मिन् चान्द्रे मासे त्रिंशत् तिथयस्तदा रविचन्द्रयोरन्तरं च चक्रांशा ३६० अतोऽनुपातेनैकस्यां तिथौ रविचन्द्रयोरन्तरं द्वादशभागाः, इति चान्द्रमानम्। सूर्योदयद्वयान्तं रविसावनदिनं तेषां त्रिंशता सावनमासो मासो भवतीति सावनमानम्। नाड़ीनां षष्ट्या नाक्षत्रमहोरात्रं भवति। एकनक्षत्रस्योदयानन्तरं यावता कालेन तस्य पुनरुदयः स नाक्षत्राहोरात्रकालः। तेषामहोरात्राणां त्रिंशता नाक्षत्रमासो भवतीति नाक्षत्रमानम्। सूर्यसिद्धान्ते—

नाड़ीषष्ट्या तु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्त्तितम्।
तत्त्रिंशता भवेन्मासः सावनोऽर्कोदयैस्तथा।
ऐन्दवस्तिथिभिस्तद्वत् संक्रान्त्या सौर उच्यते।
मासैर्द्वादशभिर्वर्षमिति" एवं प्रतिपादितमस्ति। सिद्धान्त शेखरे—
"दर्शावधिं मासमुशन्ति चान्द्रं सौरं तथा भास्करराशिभोगम्।

त्रिंशद्दिनं सावनसंज्ञमार्या नाक्षत्रमिन्दोर्भगणभ्रमश्च" शुक्लप्रतिपदादिर्दर्शान्तश्चान्द्रो मासः। रवेः स्फुटगत्या त्रिंशद्भागभोगः सौरमासः। त्रिंशद्दिनं सावनमासः। चन्द्रस्य द्वादश राशिभोगो नाक्षत्रमास इति ॥१॥

अब मानाध्याय प्रारम्भ किया जाता है।

उसमें पहले 'किस किस मान से कौन कौन पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं' कहते हैं।

हि. भा.—सौर मान से (अहर्गणानयन में सौरमान से) वर्ष ग्रहण किये जाते हैं। उन सौर वर्षों को बारह से गुणा करने के बाद जब मास जोड़ते हैं तो चान्द्रमास ग्रहण करते हैं। उसको तीस से गुणा करने के बाद तिथि जोड़ने के समय चान्द्रमान ही से तिथि ग्रहण करते हैं। पुनः साधित अहर्गण में सावन मान से दिन ग्रहण करते हैं। सावनमान ही से वर्षपति और मासपति का ज्ञान होता है। जैसे 'अहर्गणात् कल्पगतादवाप्त' मित्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक से वर्षाधिपति ज्ञान सावनमान ही से है तथा 'अहर्गणात् खाग्नि ३० हृतादवाप्त' मित्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक से मासाधिपतिज्ञान भी सावनमान ही से है। मध्यम ग्रहसाधन सावनमान ही से होने से मध्यम ग्रह सावनमान ही से ग्रहण किये जाते हैं। वह सावनमान सौरमान और चान्द्रमान के बिना महीं होता है। अर्थात् सौर और चान्द्र के बिना अहर्गण साधन नहीं होता है। सिद्धान्तशेखर में "वर्षाणि सौरात् प्रवदन्ति चान्द्रात्" इत्यादि विज्ञानभाष्य में लिखित श्लोक से श्रीपति ने आचार्योक्त

के अनुरूप ही कहा है। एक राशि को छोड़ कर जितने काल में रवि राश्यन्तर(दूसरी राशि) में जाते हैं वह सौर मास है, उसका तीसवां अंश एक सौर दिन होता है, बारह सौर मासों का एक सौर वर्ष होता है, यह सौरमान है। तीस तिथि का एक चान्द्रमास होता है। रवि और चन्द्र का योग अमावस्यान्त में होता है, उसके बाद जितने काल में पुनः (फिर) उन दोनों का योग होगा वह चान्द्र मास है, एक चान्द्रमास में तीस तिथियां होती हैं तब रवि और चान्द्र का अन्तरांश चक्रांश ३६० के बराबर होता है इस से अनुपात द्वारा एक तिथि में रवि और चन्द्र का अन्तरांश बारह अंश होता है, यह चान्द्रमान है, दो सूर्योदय का अन्तरकाल एक रवि सावन दिन होता है, तीस सावन दिनों का एक सावन मास होता हैं, यह सावन मान है, साठ नाड़ी (दण्ड) का एक नाक्षत्र अहोरात्र होता है, एक नक्षत्र के उदय के बाद पुनः जितने काल में उसका उदय होता है वह नाक्षत्राहोरात्र काल है। तीस नाक्षात्राहोरात्र का एक नाक्षत्र मास होता है, यह नाक्षत्र मान है। सूर्य सिद्धान्त में 'नाड़ीषष्ट्या तु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्त्तितम्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से सौरादि मान वर्णित है। सिद्धान्तशेखर में 'दर्शावधि मासमुशन्ति चान्द्रं सौरं तथा भास्कर‌राशिभोगम्' इत्यादि से श्रीपति ने भी सूर्य सिद्धान्तोक्त के अनुरूप ही कहा है इति ॥१॥

इदानीं मानान्याह।

मानानि सौरचान्द्रार्क्षसावनानि ग्रहानयनमेभिः।
मानैः पृथक् चतुर्भिः संव्यवहारोऽत्र लोकस्य ॥२॥

सु. भा.—सौरं चान्द्रमार्क्षं सावनमिति मानानि सन्ति। एभिर्मानैर्ग्रहानयनमेभिश्चतुर्भिः पृथक् पृथगत्र भुवि लोकस्य प्राणिनो व्यवहारो भवति। 'ज्ञेयं विमिश्रं तु मनुष्यमानम्'—इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ॥२॥

वि. भा.—सौरं चान्द्रं नाक्षत्रं सावनमिति मानानि सन्ति। एभिर्मानैर्ग्रहानयनं भवति, तथैभिश्चतुर्भिः पृथक् पृथक् अत्र पृथिव्यां लोकस्य व्यवहारो भवति। सिद्धान्तशेखरे—

सौर चान्द्रमससावनमानैः सौड़वैर्ग्रहगतेरवबोधः।
एभिरत्र मनुजव्यवहारो दृश्यते च पृथगेव चतुर्भिः।

उडूनि नक्षत्राणि तत्सम्बन्धीन्यौड़वानि तैः सह वर्त्तन्त इति सौड़वानि तैरित्यर्थः ' न केवलं शास्त्रव्यवहारसिद्धत्वं किन्तु लोक व्यवहारसिद्धत्वमप्यस्त्येभिः। श्रीपत्युक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेव। सिद्धान्तशिरोमणौ 'ज्ञेयं विमिश्रं तु मनुष्यमानम्' भास्करोक्तमपीदमाचार्योक्तानुरूपमेवेति ॥२॥

अब मानों को कहते हैं।

हि. भा.—सौर-चान्द्र-नक्षत्र-सावन ये मान हैं, इन मानों से ग्रहानयन होता है,

तथा इन चारों से पृथक् पृथक् इस पृथिवी में लोगों का व्यवहार होता है, सिद्धान्तशेखर में 'सौर चान्द्रमससावनमानैः सौड़वैर्ग्रहगतेरवबोधः' इत्यादि श्रीपत्युक्त आचार्योक्त के अनुरूप ही है। सिद्धान्तशिरोमणि में 'ज्ञेयं विमिश्रं तु मनुष्यमानम्' यह भास्कराचार्योक्त भी आचार्योक्त के अनुरूप ही है इति ॥२॥

इदानीं विशेषमाह।

युगवर्षं विषुवदयनर्त्त्वहर्निशोवृंद्धिहानयः सौरात्।
तिथिकरणाधिकमासोनरात्रपर्वक्रियाश्चान्द्रात् ॥३॥

यज्ञसवनप्रमाणग्रहगत्युपवाससूतकचिकित्साः।
सावनमानाज् ज्ञेयाः प्रायश्चित्तक्रियाश्चात्र ॥४॥

सु. भा.—पर्वक्रिया पूर्णान्तदर्शान्तक्रिया दर्शयागादि। सवनं पुंसवनादि। प्रमाणं द्रव्यदानादौ प्रमाणदिनादि। शेषं स्पष्टम्। 'वर्षायनर्त्तुयुगपूर्वकम्' इत्यादि भास्करोक्तमेतदनुरूपमेव ॥३-४॥

वि. भा.—युगानि कृतादीनि तेषां या वर्षसंख्या सौरेण मानेन ग्राह्या, तथा वर्षाश्रितमपि यत् कार्यं तदपि सौरेण मानेन। विषुवदपि सौरेणैव तत्र यदा रवेर्मेषादिप्रवेशस्तदोत्तरं विषुवत्, यदा तुलादिप्रवेशस्तदा दक्षिणं विषुवत्। अयनमप्युत्तरं दक्षिणं च सूर्यस्य मकरसंक्रान्तेः सकाशात् सौराः षण्मासा उत्तरायणं भवति, तथैव कर्किसंक्रान्त्यादेः सौराः षण्मासा दक्षिणायनं भवति, ऋतवोऽपि सौरेण मासद्वयेन भवन्त्यर्थान्मकरसंक्रान्तेर्द्वयोर्द्वयो राश्योरेकैक-ऋतुनाथः स्यात् मकरकुम्भयोः शिशिरः। मीनमेषयोर्वसन्तः। वृषमिथुनयोर्ग्रीष्मः। कर्कसिंहयोर्वर्षाः। कन्यातुलयोः शरत्, वृश्चिकधन्वोर्हेमन्तः। तथा श्रीपतिना सिद्धान्तशेखरे लिखितम्। मृगादि राशिद्वयभानुभोगात् षट् चर्त्तवः स्युः शिशिरो वसन्तः। ग्रीष्मश्च वर्षाश्च शरच्च तद्वद्धेमन्तनामा कथितोऽत्र षष्ठः। दिनरात्र्योरपि वृद्धिहानी सौरादेव ज्ञेये। तिथिः, करणं, बवादिः, अधिकमासाः, ऊनरात्राण्यमदिनानि, पर्वक्रिया पूर्णान्त दर्शान्त क्रियादर्श यागादि, एतत्सर्वं चान्द्रमानादेव ज्ञेयम्। सवनं (पुंसवनादि) प्रमाणं (द्रव्यदानादौ प्रमाणदिनानि) ग्रहाणां वक्रानुवक्राद्या गतयः, उपवासाः सूतकं शावाद्युत्पन्नमाशौचं, चिकित्सा रोगप्रतीकाराः द्वादशदिनानि निर्वर्त्यं चरकसुश्रुताद्युक्तं प्रायश्चित्तं (कृच्छ्र—चान्द्रायणादि)। तथा चोक्तम्—

त्र्यहं नक्तस्त्र्यहं प्रातस्त्र्यहमद्यादयाचितम्।
त्र्यहं चोपवसेदेवं प्राजापत्यं चरन् द्विजः॥

चान्द्रायणं त्रिंशद्रात्रनिर्वर्त्यम्। एते सावनमानाज् ज्ञेयाः। सिद्धान्तशेखरे—

"युगायनर्त्तुप्रभृतीनि सौरान्मानाद् द्युरात्र्योरपि वृद्धिहानी।
पर्वाधिमासोनदिनानि चान्द्रात् तथा तिथेरर्धमपि प्रदिष्टम्।

प्रायश्चित्तं सूतकाद्याश्चिकित्ता यत्स्यादन्यत् सावन तच्च कर्म ।
शास्त्रे चास्मिन् खेचराणां च राशिर्विज्ञातव्याः सावनाद् भास्करीयात् ।"
श्रीपत्युक्तमिदमाचार्योक्तानुरूपमेवास्ति, सिद्धान्तशिरोमणौ—
"वर्षायनर्त्तुयुगपूर्वकमत्र सौरान्मासास्तथा च तिथयस्तुहिनांशुमानात् ।
यत् कृच्छ्रसूतक चिकित्सितवासराद्यं तत्सावनाच्चे"
ति भास्करोक्तमप्याचार्योक्तानुरूपमेव । सूर्यसिद्धान्ते—

"सौरेण द्युनिशोर्मानं षड़शीतिमुखानिच ।
अयनं विषुवच्चैव संक्रान्तेः पुण्यकालता ।"

अहोरात्र्योर्मानं षड़शीतिमुखानि, अयनं दक्षिणमुत्तरं वा, विषुवत् सायनमेषतुलादिमानं, संक्रान्तेः पुण्यकालता चैतत्सर्वं सौरेण प्रत्यहं सूर्यगतिभोगेनोत्पद्यते । रविकेन्द्रं यस्मिन् समये राश्यादौ याति स संक्रान्तेर्मध्यकाल उच्यते । अथ यावद्रविबिम्बार्धकलातुल्यमन्तरं केन्द्रात् प्रागनन्तरं च स्यात् तावद्बिम्बैक देशस्य राश्यादौ संचारात् संक्रान्तेः कालो भवति । तत्कालानयनार्थमनुपातः । यदि रविगतिकलाभिः षष्टिघटिकास्तदा रविबिम्बमानकलाभिः किं जाताः संक्रान्तिनाड्यः केन्द्राभिप्रायेण संक्रान्तेः प्राक् तथा परे च यास्तत्र स्नानदानादौ पुण्यं भवतीति ।

तिथिः करणमुद्वाहः क्षौरं सर्वक्रियास्तथा ।
व्रतोपवासयात्राणां क्रिया चान्द्रेण गृह्यते ॥

तिथिः । करणं बवादि । उद्वाहो विवाहः । क्षौरं क्षुरकर्म, व्रतवन्धादिकाः सर्वक्रियाः । व्रतोपवासयात्राणां मध्ये या क्रिया तत्सर्वं चान्द्रेण मानेन गृह्यते ।

उदयादुदयं भानोः सावनं तत्प्रकीर्त्तितम् ।
सावनानि स्युरेतेन यज्ञकालविधिस्तु तैः ॥
सूतकादि परिच्छेदो दिनमासाब्दपास्तथा ।
मध्यमा ग्रहभुक्तिस्तु सावनेनैव गृह्यते ॥

सूर्यस्योदयद्वयान्तरकालेनैकं सावनदिनमितिगणनया पूर्वं मध्यमाधिकारे युगसावनानि कथितानि, । अत्र भानोरुदयेन नाड़ीवृत्तस्थकल्पितभानोरुदयो ग्राह्योऽन्यथा विलक्षणसावनदिनमानानि पाठायोग्यान्यहर्गणादावनुपयुक्तानि च भवन्तीति । तैः सावनदिनैर्यज्ञकालविधिः कार्यः । तथा सूतकादीनां जननमरण सम्बन्धि सूतकानामादिशब्देन चिकित्साचान्द्रायणादीनां च परिच्छेदः (निर्णयः)

तथा दिनमासवर्षपतयश्च ग्रहाणां मध्यमा गतिश्च सावनेनैव दिनेन गृह्यते इति सूर्यसिद्धान्तकारेण कथ्यते ॥३-४॥

अब विशेष कहते हैं ।

हि.भा.—कृतादि(सत्ययुगादि)युगों की वर्ष संख्या सौरमान से ग्रहण करनी चाहिये । तथा वर्षाश्रित कार्यो को भी सौर मान ही से लेना चाहिये । विषुवत् (जब रवि का मेषादि में प्रवेश होता है तब उत्तर विषुवत्,तुलादि में प्रवेश होने से दक्षिण विषुवत्) सौर मान ही से समझना चाहिये । अयन भी (उत्तर और दक्षिण) (सूर्य की मकर संक्रान्ति से सौर छः महीना उत्तरायण होता है, कर्क संक्रान्ति से सौर छः महीना दक्षिणायन होता है) सौर मान ही से ग्रहण करना चाहिये । ऋतु भी दो दो सौर महीनों से होता है अर्थात् मकर संक्रान्ति से दो दो राशियों का एक एक ऋतुनाथ होता है मकर और कुम्भ का शिशिर, मीन और मेष का वसन्त, वृष और मिथुन का ग्रीष्म, कर्क और सिंह की वर्षा, कन्या और तुला का शरत्, वृश्चिक और धनु का हेमन्त, सिद्धान्तशेखर में 'मृगादि राशिद्वयभानुभोगात् षट् चर्त्तवः' इत्यादि से श्रीपति ने कहा है । दिन और रात्रि की वृद्धि और ह्रास (बढ़ना घटना) सौर ही से समझना चाहिये । तिथि करण (बवादि), अधिकमास (मलमास), अवमदिन, पर्वक्रिया (पूर्णान्तक्रिया—दर्शान्त क्रिया) ये सब चान्द्रमान से ग्रहण करना चाहिये । यज्ञ, पुंसवनादि, प्रमाण (द्रव्यदानादि में प्रमाण दिनादि), ग्रहों की वक्र अनुवक्र आदि गतियां, व्रत-उपवास, सूतक (जन्म—मरण सम्बन्धी अशौच), चिकित्सा (रोग प्रतीकार के लिये औषधि सेवन), प्रायश्चित्त (कृच्छ्र-चान्द्रायणादि), ये सब सावनमान सै समझता चाहिये । सिद्धान्तशेखर में 'युगायनर्त्तु प्रभृतीनि सौरान्मानाद्द्युरात्र्योरपि वृद्धिहानी' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्रीपत्युक्त आचार्योक्त के अनुरूप ही है । सिद्धान्तशिरोमणि में "वर्षायनर्त्तु-युगपूर्वकमत्र सौरात्" इत्यादि भास्करोक्त आचार्योक्त के अनुरूप ही है । सूर्यसिद्धान्त में 'सौरेण द्युनिशोर्मानं षड़शीति मुखानि च । अयनं विषुवच्चैव संक्रान्तेः पुण्यकालता' ये सब प्रत्येक दिन सूर्यगतिभोग (सौर) से उत्पन्न होते हैं । रवि केन्द्र जिस समय राश्यादि में जाता है । वह संक्रान्ति का मध्य काल कहलाता है । केन्द्र से पहले और पीछे जब तक रविबिम्ब कलातुल्य अन्तर होता है तबतक बिम्ब के एक प्रदेश के राश्यादि में संचार से संक्रान्ति काल होता है, उस काल के आनयन के लिये अनुपात करते हैं । यदि रवि गतिकला में साठ घटी पाते हैं । तो रवि बिम्बमानकला में क्या इस अनुपात से केन्द्राभिप्रायिकसंक्रांति से पहले और पीछे संक्रांतिघटी आती है । इस संक्रान्ति कालमें स्नान दानादि करने से अतिशय पुण्य होता है । 'तिथिः करणमुद्वाहः क्षौरं सर्वक्रियास्तथा । व्रतोपवासयात्राणां क्रिया चान्द्रेण गृह्यते ।" तिथि करण (बव-बालव आदि) उद्वाह (विवाह), क्षौर (क्षुरकर्म), सर्वक्रिया (व्रतबन्धादिक), व्रत उपवास यात्रा सम्बन्धी क्रिया, ये सब चान्द्रमान से ग्रहण करनी चाहिये । "उदयादुदयं भानोः सावनं तत्प्रकीर्त्तितम् । सावनानि स्युरेतेन यज्ञ काल विधिस्तु तैः" इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों का अर्थ यह है कि सावन दिनों से यज्ञकाल विधि करनी

चाहिये, तथा जन्म-मरण सम्बन्धी अशौच, चिकित्सा-चान्द्रायणादि का निर्णय, मासपति और वर्षपति का ज्ञान, ग्रहों की मध्यमा गति ये सब सावनमान से ग्रहण करनी चाहिये, यह सूर्यसिद्धान्तकार कहता है इति ॥३-४॥

इदानीं नक्षत्रसावनप्रशंसामाह ।

नक्षत्रसावनदिनात् सूर्यादीनां स्वसावनदिनानि ।
यस्मात् तस्मादार्क्षं दुरधिगमं मन्दबुद्धीनाम् ॥५॥

सु. भा.—यस्मात् सूर्यादीनां स्वस्वसावनदिनानि नक्षत्रसावनदिनादेव सिद्धानि भवन्ति('भभ्रमास्तु भगणैर्विवर्जिता यस्य तस्य कुदिनानि तानि वा'–इति भास्करोक्त्या स्फुटम्) । तस्मान्मन्दबुद्धीनां मध्ये ह्यार्क्षं मानं दुरधिगममतीव कठिनमित्यर्थः । तदेव सूक्ष्मं विवेचनीयमन्यथा ग्रहासावनानि न भवन्तीत्याचार्याशयः ॥५॥

वि. भा.—यस्मात् कारणात् सूर्यादीनां ग्रहाणां स्वस्वसावनदिनानि नक्षत्रसावनदिनादेव सिध्यन्ति, तस्मात् कारणान्मन्दबुद्धीनां मध्ये हि आर्क्षं (नाक्षत्रं) मानं दुरधिगमम् (अति कठिनं) । तदेव सूक्ष्मं विचारणीयमन्यथा ग्रहसावनानि समीचीनानि न भवन्तीति । ग्रहाणां सावनदिनानि नक्षत्रसावनदिनादेव सिध्यन्ति, सूर्यसिद्धान्ते 'भोदया भगणैः स्वैः स्वैरूनाः स्वस्वोदया युगे" इत्युक्तेः । सिद्धान्तशेखरे—

"यस्य यस्य भगणैर्विवर्जिता ज्योतिषां भगणसंहतिः स्फुटम् ।
तस्य तस्य दिवसांस्तु सावनान् विद्धि तामरसजन्मनो दिने ।"

इत्यनेन श्रीपतिना ग्रहसावनदिनानयनमुक्त्वा पुनरग्रे 'भभ्रमोष्णकरमण्डलान्तरं सावनानि कुदिनानि तानि वा' ऽस्य प्रतिपादनं कृतमित्यनेन नक्षत्रसावनेन बहूनि प्रयोजनानि सन्तीति सूच्यते । तेनैव हेतुनाऽऽचार्येणाप्य 'तस्मादार्क्षं दुरधिगमं मन्दबुद्धीनाम्' नेन नक्षत्रसावनसम्बन्धे तस्यातीवोपयोगित्वं प्रतिपादितम् । सिद्धान्तशेखरे 'नाक्षत्रमानाद्घटिकादिकालः' इत्यनेन श्रीपतिना नाक्षत्रेण प्रयोजनं कथितमर्थात्–अनेन ग्रहेणास्मिन्नक्षत्रे इयत्यो घटिका भुक्ता इति ज्ञानं नाक्षत्रमानेनैव सिध्यति । सूर्य सिद्धान्ते—

"भचक्रभ्रमणं नित्यं नाक्षत्रं दिनमुच्यते ।
नक्षत्रनाम्ना मासास्तु ज्ञेयाः पर्वान्तयोगतः ।
कार्तिक्यादिषु संयोगे कृत्तिकादिद्वयं द्वयम् ।
अन्त्योपान्त्यौ पञ्चमश्च त्रिधा मासत्रयं स्मृत" ॥

मित्युक्तम् । अस्यार्थ :—

नित्यं प्रवहवायुना भचक्रस्यैकं भ्रमणं यद् भवति तदेव नाक्षत्रं दिनमुच्यते

प्राचीनैरिति । पर्वान्तः पूर्णिमान्तस्तत्र नक्षत्रयोगेन चान्द्रमासानां संज्ञा यथा कृत्तिका सम्बन्धात् कार्त्तिकः। मृगशीर्षसम्बन्धान्मार्गशीर्षः । पुष्य-सम्बन्धात् पौषः । मघासम्बन्धान्माघः। फाल्गुनी सम्बन्धात् फाल्गुनः । चित्रासम्बन्धाच्चैत्रः। विशाखासम्बन्धाद्वैशाखः । जेष्ठासम्बन्धाज्ज्यैष्ठः। आषाढ़ासम्बन्धादाषाढ़ः । श्रवणसम्बन्धाच्छ्रावणः । भाद्रपदसम्बन्धाद् भाद्रपदः। अश्विनीसम्बन्धादाश्विन इति। ननु पूर्णिमान्ते तत्तन्नक्षत्राभावे कथं तत्संज्ञा मासानामुचितेत्यत आह । कार्त्तिक्यादिषु-कार्त्तिकमासादीनां पौर्णमासीषु कृत्तिकादि द्वयं द्वयं नक्षत्रं कथितम् । यथा कृत्तिकारोहिणीभ्यां कार्त्तिकः। मृगार्द्राभ्यां मार्गशीर्षः । पुनर्वसुपुष्याभ्यां पौषः । आश्लेषामघाभ्यां माघः। चित्रास्वातीभ्यां चैत्रः । विशाखानुराधाभ्यां वैशाखः । ज्येष्ठमूलाभ्यां ज्यैष्ठः। पूर्वोत्तराषाढ़ाभ्यामाषाढ़ः। श्रवणधनिष्ठाभ्यां श्रावणः। इति फलितार्थः। अवशिष्टमासार्थं कथ्यते । अन्त्योपान्त्याविति। कार्त्तिक्यादित्वेन ग्रहणादन्त्य आश्विनः। उपान्त्यो भाद्रपदः । पञ्चमश्च फाल्गुनः । इति मासत्रयं त्रिधा नक्षत्रत्रयवशतः स्मृतम् । रेवत्यश्विनीभरणीभिराश्विनः । शततारापूर्वोत्तराभाद्र-पदैर्भाद्रपदः। पूर्वोत्तराफाल्गुनीहस्तैः फाल्गुन इति। एवं निरयणमानागतनक्षत्रै-र्मासानां संज्ञा लिखिता, अथर्ववेदेऽपि तथैव मासानां संज्ञा । सायनमानवशेन तत्तन्नक्षत्राणां सम्बन्धाभावात् संज्ञास्वनर्थापत्तिरतो निरयणमानेनैव व्यवहारः समुचित इत्येव प्राचीनानां वैदिकानां सम्मतिरिति ॥५॥

अब नक्षत्र सावन की प्रशंसा को कहते हैं।

हि. भा.—क्यों कि सूर्यादि ग्रहों का अपना अपना सावन दिन नक्षत्र सावन दिन ही से सिद्ध होता है। इसलिये मन्दबुद्धियों के लिये नाक्षत्रमान अत्यन्त कठिन है। उसी को सूक्ष्मरीति से विचार करना चाहिये। नहीं तो ग्रह सावन समीचीन नहीं होते हैं । ग्रहों का सावनदिन नक्षत्र सावन दिन ही से सिद्ध होता है जैसे सूर्यसिद्धान्त में 'भोदया भगणैः स्वैः स्वैरूनाः स्व स्वोदयायुगे' कहा है। सिद्धान्तशेखर में 'यस्य यस्य भगणैर्विवर्जिता ज्योतिषां भगणसंहतिः स्फुटम्' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोक से श्रीपति ने ग्रह सावन दिनानयन कहकर फिर आगे 'भभ्रमोष्णकरमण्डलान्तरं' इत्यादि कहा है, इससे सूचित होता है कि नक्षत्र सावन से बहुत प्रयोजन सिद्ध होते हैं, इसीलिये आचार्य भी 'तस्मादार्क्षं दुरधिगमं मन्दबुद्धीनाम्' इससे नक्षत्र सावन का अतिशय उपयोगित्व कहा है । सिद्धान्त शेखर में 'नाक्षत्रमानाद् घटिकादिकालः' इससे श्रीपति ने नाक्षत्र के प्रयोजन कहे हैं। अर्थात् अमुक ग्रह ने अमुक नक्षत्र में इतनी घटी भोग की हैं इसका ज्ञान नाक्षत्रमान ही से सिद्ध होता है। सूर्य सिद्धान्त में 'भचक्र भ्रमणं नित्यं नाक्षत्रं दिनमुच्यते' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्लोकों से नाक्षत्र दिन की परिभाषा और नक्षत्रों के सम्बन्ध से कार्त्तिकादि मासों की संज्ञा कही है। उन श्लोकों का अर्थ यह है—नित्य प्रवह वायु के द्वारा भचक्र का एक

भ्रमण जो होता है उसी को प्राचीन लोग नाक्षत्र दिन कहते हैं और पूर्णिमान्त में नक्षत्र योग से चान्द्रमासों की संज्ञा कहते हैं जैसे कृत्तिका के सम्बन्ध से कार्त्तिक । मृगशीर्ष के सम्बन्ध से मार्गशीर्ष (अग्रहण) । पुष्य के सम्बन्ध से पौष । मघा के सम्बन्ध से माघ । फाल्गुनी के सम्बन्ध से फाल्गुन । चित्रा के सम्बन्ध से चैत्र । विशाखा के सम्बन्ध से वैशाख । ज्येष्ठा के सम्बन्ध से ज्यैष्ठ । आषाढ़ा के सम्बन्ध से आषाढ़ । श्रवण के सम्बन्ध से श्रावण । भाद्रपद के सम्बन्ध से भाद्रपद (भादों) । अश्विनी के सम्बन्ध से आश्विन । यदि पूर्णिमान्त में उपर्युक्त नक्षत्र न हो तब मासों की संज्ञा कैसे उचित होगी इस के लिये कहते हैं । कार्त्तिकादि मासों की पौर्णमासी में कृतिकादि दो दो नक्षत्र लेना चाहिये । जैसे कृत्तिका-रोहिणी के सम्बन्ध से कार्त्तिक । मृगशीर्ष और आर्द्रा के सम्बन्ध से मार्गशीर्ष । पुनर्वसु और पुष्य के सम्बन्ध से पौष । आश्लेषा और मघा के सम्बन्ध से माघ । चित्रा और स्वाती के सम्बन्ध से चैत्र । विशाखा और अनुराधा के सम्बन्ध से वैशाख । ज्येष्ठा और मूल के सम्बन्ध से ज्यैष्ठ पूर्वाषाढ़ और उत्तराषाढ़ के सम्बन्ध से आषाढ़ । श्रवण और धनिष्ठा के सम्बन्ध से श्रावण । अवशिष्ट मासों के लिये कहते हैं, आश्विन-भाद्रपद और फाल्गुन के तीनों मास तीन नक्षत्र वश से होते हैं जैसे रेवती- अश्विनी-भरणी के सम्बन्ध से आश्विन । शतभिष-पूर्वभाद्र-उत्तर भाद्र के सम्बन्ध से भाद्रपद । पूर्वफल्गुनी-उत्तरफल्गुनी–हस्त नक्षत्रों के सम्बन्ध से फाल्गुन । इस तरह निरयण नक्षत्रमानों से मासों की संज्ञा कही गई है। अथर्व वेद में भी ऐसी ही मासों की संज्ञा है । सायनमान वश से पूर्वकथित नक्षत्रों के सम्बन्धाभाव से मासों की संज्ञाओं में आपत्ति होती है इसलिये निरयणमान ही से व्यवहार उचित है यही प्राचीन वैदिकों की सम्मति है इति ॥५॥

इदानीं नवमानान्याह ।

मानुष्यदिव्यपित्र्यब्राह्माण्यष्टावमूर्त्तकालस्य ।
उक्तानि ज्ञानार्थं बार्हस्पत्यं नवममन्यत् ॥६॥

सु. भा.—अमूर्त्तकालस्याव्यक्तात्मककालस्य ज्ञानार्थं मानुष्यं मानचतुष्टयम् । दिव्यं दैवं पित्र्यं ब्राह्ममन्यच्च बार्हस्पत्यमिति नवमानान्युक्तानीति ॥६॥

वि. भा.—'लोकानामन्तकृत् कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः। स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्त्तश्चामूर्त्त उच्यते' इति सूर्यसिद्धान्तोक्तेरिह ज्यौतिषसिद्धान्ते गणनात्मक काल एवामूर्त्तसंज्ञकः, एतस्यामूर्त्तसंज्ञकस्याव्यक्तात्मककालस्य ज्ञानार्थं मानुष्यं मान (सौरमानम् । चान्द्रमानम् । सावनमानम् । नाक्षत्रमानम्) चतुष्टयम् । दिव्यं मानं दैवं (प्राजापत्यं), पित्र्यं, ब्राह्मं, अन्यद्बार्हस्पत्यमिति नव मानानि कथितानि सन्तीति । सूर्य सिद्धान्ते—

"ब्राह्मं दिव्यं तथा पित्र्यं प्राजापत्यं गुरोस्तथा ।
सौरं च सावनं चान्द्रमार्क्षं मानानि वै नवेति"
नवमानानि तथा सिद्धान्तशेखरे—

'पैतामहं दिव्यमथासुरं च पित्र्यं तथा मानुषमानमन्यत् ।
सौरार्क्षहैमांशवसावनानि जैवं तथैवं नव कीर्त्तितानि'
श्रीपत्युक्तानि नव मानानि । सिद्धान्तशिरोमणौ—

'एवं पृथग् मानवदैवजैवपैत्रार्क्षसौरैन्दवसावनानि ।
ब्राह्मं च काले नवमं प्रमाणं ग्रहास्तु साध्या मनुजैः स्वमानात्'
भास्करोक्तनवमानानि चाचार्योक्तसदृशान्येवेति विज्ञैर्ज्ञेयानीति ।।६।।

अब नव मानों को कहते हैं ।

हि. भा.—'लोकानामन्तकृत् कालः' इत्यादि सूर्य सिद्धान्तोक्त मूर्त्त और अमूर्त्त कालों में ज्यौतिष सिद्धान्तीय गणनात्मक काल ही अमूर्त्त संज्ञक है । इस अमूर्त्त संज्ञक अव्यक्तात्मक काल के ज्ञान के लिये मानुष्य मान (सौरमान, चान्द्रमान, सावनमान, नाक्षत्रमान) । दिव्य-मान, दैव (प्राजापत्य) मान, पित्र्य (पितृ सम्बन्धी) मान, ब्राह्म (ब्रह्म सम्बन्धी) मान अन्य बार्हस्पत्य (बृहस्पति सम्बन्धी) मान ये नव मान कथित हैं । सूर्य सिद्धान्त में 'ब्राह्मं दिव्यं तथा पित्र्यं प्राजापत्यं' इत्यादि मानाध्यायोक्त नौ मान तथा सिद्धान्तशेखर में 'पैतामहं दिव्यमथासुरं च पित्र्यं तथा मानुषमानमन्यत् 'इत्यादि श्रीपत्युक्त नौ मान तथा सिद्धान्तशिरो-मणि में 'एवं पृथग् मानव दैव जैव पैत्रार्क्ष सौरैन्दव सावनानि' इत्यादि भास्करोक्त नौ मान ये सब मान आचार्योक्त नौ मानों के सदृश ही हैं इति ।।६।।

इदानीमृतूनाह ।

द्वौ द्वौ राशी मकरादृतवः षट् सूर्यगतिवशाद् भाज्यः ।
शिशिरवसन्तग्रीष्मा वर्षाशरदः सहेमन्ताः ।।७।।

सु. भा.—मकराद् द्वौ द्वौ राशी षट्ऋतवः सूर्यगतिवशाद्भाज्या विभाज-नीया इति शेषं स्पष्टार्थम् । 'मृगादिराशिद्वयभानुभोगात् षट् चर्तवः स्युः' इत्यादि श्रीपत्युक्तमेतदनुरूपमेव ।।७।।

वि. भा.—मकराद् द्वौ द्वौ राशी षट् ऋतवः सूर्यगतिवशाद्विभाजनीयाः । ते च ऋतवो हेमन्तसहिताः शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद् इति नामका भवन्ती-ति । सिद्धान्तशेखरे 'मृगादिराशिद्वय भानुभोगात् षट् चर्त्तवः स्युरिति' श्रीपत्युक्त-माचार्योक्तानुरूपमेवेति ।।७।।

अब ऋतुओं को कहते हैं।

हि. भा.—मकर संक्रान्ति से दो दो राशि छः ऋतु सूर्यगति वश से विभाग करने के योग्य है। वे छः ऋतुएँ शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, इन नामों की हैं। सिद्धान्तशेखर में 'मृगादि राशिद्वय भानु भोगात्' इत्यादि श्रीपत्युक्त आचार्योक्त के अनुरूप ही है इति ॥७॥

इदानीं भूभादैर्घ्यं भूभामानं चाह।

भूव्यासगुणो भक्तः कुवर्कव्यासान्तरेण रविकर्णः।
भूमध्याद्भूछाया दीर्घत्वं चन्द्रकर्णोनम् ॥८॥
शेषं भूव्यासगुणं दीर्घत्वहृतं शशाङ्ककक्षायाम्।
तमसो व्यासः शशिकर्णहृतस्त्रिज्यागुणो लिप्ताः ॥९॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम्। उपपत्तिश्च भूभासाधनक्षेत्रानुपातेन स्फुटा ॥८-९॥

वि. भा.—रविकर्णो भूव्यासेन गुणो भूव्यासरविव्यासयोरन्तरेण भक्तस्तदा भूकेन्द्रात् भूछायाया दीर्घत्वं भवति। तद्दीर्घत्वं चन्द्रकर्णेन हीनं शेषं यत्तद् भूव्यासेन गुणितं दीर्घत्वेन भक्तं तदा चन्द्रकक्षायां तमसो (भूभायाः) व्यासो भवति। स च त्रिज्यया गुणश्चन्द्रकर्णभक्तस्तदा भूभामानकला भवन्तीति।

अत्रोपपत्तिः।

रविबिम्बभूबिम्बयोः क्रमस्पर्शरेखावर्धितरविकर्णेन साकमेकस्मिन्नेव बिन्दौ चन्द्रकक्षात उपरि मिलन्ति। स च बिन्दुः=यो, भूकेन्द्रात् स्पर्शरेखायाः समानान्तरा रेखा कार्या तदा रविकर्ण एको भुजः भूव्यासार्धोनरविव्यासार्धं द्वितीयो भुजः। भूकेन्द्रात्समानान्तरेखारविव्यासार्धयोर्योगबिन्दुं यावत्तृतीयो भुजः। इति कर्णभुजकोटिभिरेकं त्रिभुजम्। तथा भूकेद्रात् यो बिन्दुं यावद्भूछायादैर्घ्यमेको भुजः। भूव्यासार्धं द्वितीयो भुजः। भूबिम्बस्पर्शबिन्दुतो यो बिन्दुं यावत्तृतीयो भुजः। इति कर्णभुज कोटिभिर्द्वितीयं त्रिभुजम्। अनयोस्त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातेन $\dfrac{\dfrac{\text{रविकर्ण} \times \text{भूव्या}}{२}}{\dfrac{\text{रव्या}}{२} - \dfrac{\text{भूव्या}}{२}} = \dfrac{\text{रविकर्ण} \times \text{भूव्या}}{\text{रव्या} - \text{भूव्या}} = \text{भूयो} = \text{भूछाया दैर्घ्यम्}$

वर्धितरविकर्णचन्द्रकक्षयोर्योगबिन्दुः=च, भू=भूकेन्द्रम्। भूच=चन्द्रकर्णः। भूयो—भूच=भूछाया दैर्घ्य—चन्द्रकर्ण=चयो। च बिन्दुतः स्पर्शरेखोपरिलम्बः=

चल=भूभा—व्यासार्धम् । भूबिम्बस्पर्श बिन्दुः=स्प, भूस्प=भूव्यासार्धम् । तदा भूस्पयो, चलयो त्रिभुजयोः साजात्यादनुपातः । $\frac{\text{भूस्प} \times \text{चयो}}{\text{भूयो}}$ = चल

$= \frac{\text{भूव्या}\frac{1}{2} \times (\text{भूछायादैर्घ्य} - \text{चन्द्रकर्ण})}{\text{भूछायादैर्घ्य}}$ = भूभाव्यासार्धम् । द्विगुणीकरणेन

$\frac{\text{भूव्या} (\text{भूछायादैर्घ्य} - \text{चन्द्रकर्ण})}{\text{भूछायादैर्घ्य}}$ = भूभाव्यासः । परमयं भूभाव्यासश्चन्द्रकक्षायां नहि भवति । किन्तु चन्द्रकक्षात उपरि भवतीति भूभासाधनक्षेत्रदर्शनेन स्फुटम् । ततः 'सूर्येन्दुभूभातनुयोजनानी' त्यादिना $\frac{\text{भूभाव्यास} \times \text{त्रि}}{\text{चन्द्रक}}$ =आचार्योक्त भूभामानकलाः, एतेनाचार्योक्तमुपपन्नमिति । भूभामानकलासाधने या स्थूलता सा पूर्वमेव तत्साधनोपपत्तौ प्रदर्शितास्ति । सा तत्रैव द्रष्टव्येति ॥

अब भूभादैर्घ्य और भूभामान को कहते हैं ।

हि. भा.— रविकर्ण को भूव्यास से गुणाकर भूव्यासोन रविव्यास से भाग देने से भूकेन्द्र से भूछाया का दीर्घत्व (लम्बाई) होता है । उस दीर्घत्व में से चन्द्रकर्ण को घटाकर जो शेष रहता है उसको भूव्यास से गुणाकर दीर्घत्व से भाग देने से चन्द्रकक्षा में भूभाव्यास होता है । उसको त्रिज्या से गुणाकर चन्द्रकर्ण से भाग देने से भूभामान कला होती है इति ॥८-९॥

उपपत्ति ।

रविबिम्व और भूबिम्ब की क्रमस्पर्श रेखाएँ वर्धित रविकर्ण के साथ चन्द्रकक्षा से ऊपर एक ही बिन्दु में मिलती है, वह बिन्दु=यो, है । भूकेन्द्र से स्पर्श रेखा की समानान्तर रेखा रवि व्यासार्ध में जहां लगती है वहां से रविकेन्द्र तक रेखा=रविव्या$\frac{1}{2}$—भूव्या$\frac{1}{2}$ अब दो त्रिभुज बनते हैं जैसे रविकर्ण कर्ण एकभुजः । भूव्यासार्धोन रविव्यासार्ध भुज द्वितीयभुज, भूकेन्द्र से समानान्तर रेखा और रविव्यासार्ध के योग बिन्दु पर्यन्त कोटि तृतीय भुज, इन कर्ण–भुज कोटि से उत्पन्न एक त्रिभुज, तथा भूकेन्द्र से बिन्दु पर्यन्त भूछायादैर्घ्य कर्ण एकभुज, भूव्यासार्ध भुज द्वितीयभुज भूबिम्ब स्पर्श बिन्दु से यो बिन्दु पर्यन्त कोटि तृतीयभुज, इन कर्णभुजकोटि से उत्पन्न द्वितीय त्रिभुज; इन दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं यदि भूव्यासार्धोन रवि व्यासार्धभुज में रविकर्ण-कर्ण पाते हैं तो भूव्यासार्ध भुज में क्या इस अनुपात से भूछाया दीर्घत्व आता है इसका स्वरूप= $\frac{\text{रविकर्ण} . \text{भूव्या}\frac{1}{2}}{\text{रव्या}\frac{1}{2} - \text{भूव्या}\frac{1}{2}}$

$= \frac{\text{रविकर्ण. भूव्या}}{\text{रव्या—भूव्या}}$ = भूछाया दीर्घत्व = भूयो । वर्धित रविकर्ण और चन्द्रकक्षा का योग-बिन्दु = च । भू = भूकेन्द्र । भूच = चन्द्रकर्ण भूयो — भूच = चयो = भूछायादीर्घत्व—चन्द्रकर्ण; च बिन्दु से स्पर्श रेखा के ऊपर लम्ब = चल = भूभाव्यासार्ध भूबिम्ब स्पर्श बिन्दु = स्प, भूस्प = भूव्यासार्ध, तब भूस्पयो, चलयो दोनों त्रिभुजों के सजातीयत्व से अनुपात करते हैं $\frac{\text{भूस्प. चयो}}{\text{भूयो}}$

$= \text{चल} = \frac{\text{भूव्या}\frac{1}{2}\text{ (भूछायादीर्घत्व—चन्द्रकर्ण)}}{\text{भूछायादीर्घत्व}}$ = भूभाव्यासार्ध, द्विगुणित करने से भूभाव्यास

$= \frac{\text{भूव्यास (भूछायादीर्घत्व—चन्द्रकर्ण)}}{\text{भूछायादीर्घत्व}}$, लेकिन यह भूभाव्यास चन्द्र कक्षान्तर्गत नहीं आता है किन्तु चन्द्रकक्षा से ऊपर आता है यह भूभासाधन क्षेत्र देखने से स्फुट है । तब अनुपात करते है यदि चन्द्रकर्ण में त्रिज्या पाते हैं तो भूभाविम्ब व्यासार्ध में क्या इस अनुपात से भूभाबिम्बार्ध कलाज्या आती है इसको द्विगुणित करने से आचार्योक्त भूभामान कला होती है उसका स्वरूप $= \frac{\text{त्रि. भूभाबिम्बव्या}}{\text{चन्द्रकर्ण}}$, इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ । लेकिन भूभामानकला साधन में जो स्थूलता है उसको साधनोपपत्ति में देखना चाहिये । इति ॥८—९॥

पुनः प्रकारान्तरेण तत्साधनमाह ।

रविकर्णहृता त्रिज्या क्ववर्कव्यासान्तराहता शोध्या ।
त्रिज्या भूव्यासवधात् शशिकर्णहृतात् तमो व्यासः ॥१०॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् ॥

अत्रोपपत्तिः । योजनात्मकभूभाव्यासः = भूव्या $- \frac{\text{चक (रव्या— भूव्या)}}{\text{रक}}$

इयं त्रिज्यागुणा चन्द्रकर्णहृता जाता भूभाबिम्बकलाः $= \frac{\text{त्रि.भूव्या}}{\text{चक}}$

$- \frac{\text{त्रि (रव्या—भूव्या)}}{\text{रक}}$ । अत उपपन्नं यथोक्तम् ॥१०॥

वि. भा.—त्रिज्या भूव्यासोन रविव्यासेन गुणिता रविकर्णेन भक्ता लब्धिः त्रिज्या भूव्यासघातात् चन्द्रकर्णभक्तात् शोध्या तदा भूभाव्यासो भवतीति ॥१०॥

अत्रोपपत्तिः ।

भूव्यासहीनं रविबिम्बमिन्दुकर्णाहतमित्यादि भास्करोक्त्या भूव्या $- \frac{\text{चंक (रव्या—भूव्या)}.}{\text{रक}}$ = भूभाव्यासः । ततः पूर्वप्रदर्शितोपपत्त्या भूभाबिम्बकलाः = $\frac{\text{भूव्या. त्रि}}{\text{चंक}} - \frac{\text{चंक (रव्या—भूव्या). त्रि}}{\text{चंक.रक}} = \frac{\text{भूव्या. त्रि}}{\text{चंक}}$ $- \frac{\text{(रव्या—भूव्या). त्रि}}{\text{रक}}$, एतेनोपपन्नमाचार्योक्तमिति । भूव्या = भूव्यासः । चंक = चन्द्रकर्णः । रव्या = रविव्यासः । रक = रविकर्णः इति ॥१०॥

अब प्रकारान्तर से भूभाबिम्बकला साधन को कहते हैं ।

हि. भा.—त्रिज्या को भूव्यासोन रविव्यास से गुणा कर रविकर्ण से भाग देने से जो फल हो उसको त्रिज्या और भूव्यास घात में चन्द्रकर्ण से भाग देकर जो लब्धि हो उसमें से घटाने से भूभाव्यास होता है इति ॥१०॥

उपपत्ति ।

भूव्या = भूव्यास । चंक = चन्द्रकर्ण । रक = रविकर्ण । रव्या = रविव्यास, तब 'भूव्यासहीनं रविबिम्बमिन्दुकर्णाहतं' इत्यादि भास्करोक्त प्रकार से भूव्या— $- \frac{\text{चंक (रव्या—भूव्या). त्रि}}{\text{रक}}$ = भू भाव्यास, इसको त्रिज्या से गुणाकर चन्द्रकर्ण से भाग देने से भूभाबिम्बकला = $\frac{\text{भूव्या. त्रि}}{\text{चंक}} - \frac{\text{चंक. (रव्या—भूव्या).त्रि}}{\text{चंक.रक}} = \frac{\text{भूव्या.त्रि}}{\text{चंक}}$ $- \frac{\text{त्रि (रव्या – भूव्या)}}{\text{रक}}$ इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ इति ॥१०॥

इदानीं प्रकारान्तरेण भूभामानमाह ।

भूव्यासेन्दुगतिवधात् क्वर्कव्यासान्तरार्कभुक्तिवधम् ।
प्रोह्येन्दुमध्यभुक्त्या तिथिगुणयाऽऽप्तं तमो व्यासः ॥११॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् ।

अत्रोपपत्तिः । पूर्वश्लोकेन भूभाबिम्बकलाः = $\frac{\text{त्रि.भूव्या}}{\text{चक}}$

$- \frac{\text{त्रि (रव्या—भूव्या)}}{\text{रक}}$ =२ चान्द्र परलंवनकलाः

$- \frac{\text{त्रि.भूव्या (रव्या—भूव्या)}}{\text{रक.भूव्या}} = \frac{\text{२ चग}}{\text{१५}} - \frac{\text{२ रग (रव्या—भूव्या)}}{\text{१५ भूव्या}}$

$= \frac{\text{२ चग.भूव्या—२ रग (रव्या—भूव्या)}}{\text{१५ भूव्या}}$

$= \frac{\text{चग. भूव्या—रग (रव्या—भूव्या)}}{\text{१५ भूव्याद}}$ आचार्यमते भूव्यासदलं स्वल्पान्तराच्च-न्द्रमध्यगतिकलासममत उपपन्नं यथोक्तम् ॥११॥

वि. भा.— भूव्यासचन्द्रगतिघातात् भूव्यासरविव्यासयोरन्तरगुणित-रविगतिं विशोध्य पञ्चदशगुणितचन्द्रमध्यगत्या भक्तं तदा भूभा व्यासो-भवेदिति ॥११॥

अत्रोपपत्तिः ।

पूर्वश्लोकेन भूभाविम्बकला = $\frac{\text{त्रि.भूव्या}}{\text{चंक}} - \frac{\text{त्रि (रव्या—भूव्या)}}{\text{रक}}$

$= \frac{\text{त्रि भूव्या}\frac{1}{2}\times 2}{\text{चंक}} - \frac{\text{त्रि (रव्या—भूव्या)}}{\text{रक}}$ २ चन्द्र परमलम्बनकला

$- \frac{\text{त्रि (रव्या—भूव्या)}}{\text{रक}}$ द्वितीय खण्डे हरभाज्यौ भूव्यागुणितौ तदा २ चन्द्र परमलम्बन कला — $\frac{\text{त्रि. भूव्या (रव्या—भूव्या)}}{\text{रक.भूव्या}}$ यतः $\frac{\text{चंग}}{\text{१५}}$ = चन्द्रपरमल-म्बनकला । अतः $\frac{\text{२ चंग}}{\text{१५}} - \frac{\text{त्रि. भूव्या (रव्या—भूव्या)}}{\text{रक. भूव्या}} = \frac{\text{२ चंग}}{\text{१५}}$

$- \frac{\text{त्रि.भूव्या}\frac{1}{2}\times\text{२ (रव्या—भूव्या)}}{\text{रक.भूव्या}} = \frac{\text{२ चंग}}{\text{१५}}$

$- \frac{\text{२ रविपरमलम्बन (रव्या—भूव्या)}}{\text{भूव्या}} = \frac{\text{२ चंग}}{\text{१५}} - \frac{\text{२ रग (रव्या—भूव्या)}}{\text{१५}\times\text{भूव्या}}$

समच्छेदेन $\frac{\text{२ चंग. भूव्या—२ रग (रव्या—भूव्या)}}{\text{१५}\times\text{भूव्या}}$ = भूभाबिम्बकला

$= \frac{\text{चंग. भूव्या—रग (रव्या—भूव्या)}}{\text{१५}\times\text{भूव्या}\frac{1}{2}}$ अत्राचार्येण स्वल्पान्तरात् भूव्यासार्धं

चन्द्रमध्यमगतिसमं स्वीकृतं तदा $\frac{\text{चंग. भूव्या} - \text{रग (रव्या} - \text{भूव्या)}}{\text{१५ चंग}}$ = भूभा-

बिम्बकला, अत आचार्योक्तमुपपन्नमिति ॥११॥

अब प्रकारान्तर से भू भामान को कहते हैं।

हि. भा.—भूव्यास और चन्द्रगति के घात में भूव्यास और रविव्यास के अन्तर से गुणित रविगति को घटाकर पन्द्रह से गुणित चन्द्रमध्यम गति से भाग देने से लब्ध भूभाव्यास होता है इति ॥११॥

उपपत्ति।

पूर्वश्लोक से भूभाबिम्बकला = $\frac{\text{त्रि भूव्या}}{\text{चंक}} - \frac{\text{त्रि (रव्या} - \text{भूव्या)}}{\text{रक}}$

$= \frac{\text{त्रि. भूव्या}\frac{1}{2} \times 2}{\text{चंक}} - \frac{\text{त्रि (रव्या} - \text{भूव्या)}}{\text{रक}}$ = २ चन्द्रपरमलम्बनकला

$= \frac{\text{त्रि.भूव्या (रव्या} - \text{भूव्या)}}{\text{रक.भूव्या}}$ ∴ $\frac{\text{चंग}}{\text{१५}}$ = चन्द्रपरमलम्बनकला, अतः, $\frac{\text{२ चंग}}{\text{१५}}$

$- \frac{\text{त्रि.भूव्या (रव्या} - \text{भूव्या)}}{\text{रक.भूव्या}} = \frac{\text{२ चंग}}{\text{१५}} - \frac{\text{त्रि.भूव्या}\frac{1}{2} \times 2 \text{ (रव्या} - \text{भूव्या)}}{\text{रक.भूव्या}}$

$= \frac{\text{२ चंग}}{\text{१५}} - \frac{\text{२ रविपरमलम्बन (रव्या} - \text{भूव्या)}}{\text{भूव्या}} = \frac{\text{२ चंग}}{\text{१५}}$

$- \frac{\text{२ रग (रव्या} - \text{भूव्या)}}{\text{१५} \times \text{भूव्या}}$ समच्छेद से $\frac{\text{२ चंग. भूव्या} - \text{२रग (रव्या} - \text{भूव्या)}}{\text{१५} \times \text{भूव्या}}$ भूभा-

बिम्बकला = $\frac{\text{चंग. भूव्या} - \text{रग (रव्या} - \text{भूव्या)}}{\text{१५} \times \text{भूव्या}\frac{1}{2}}$ यहां आचार्य ने स्वल्पान्तर से चन्द्रमध्यमगति के बराबर भूव्यासार्ध को स्वीकार किया है। तब

$\frac{\text{चंग.भूव्या} - \text{रग (रव्या} - \text{भूव्या)}}{\text{१५ चंग}}$ = भूभाबिम्बकला, इससे आचार्योक्त उपपन्न हुआ इति ॥११॥

इदानीमध्यायोपसंहारमाह।

योऽधिकमासावमरात्रसम्भवज्ञः स वेत्ति मानानि।
आर्याद्वादशभिरयं मानाध्यायस्त्रयोविंशः ॥१२॥

सु. भा.—यो गणकोऽधिकमासावमरात्रसम्भवज्ञः स एव सौरादिमानानि वेत्ति यतः सौरचान्द्रमानाभ्यां सम्यग्ज्ञाताभ्यामधिमासज्ञानं चान्द्रसावनमानाभ्यां च क्षयाहज्ञानं भवति । शेषं स्पष्टम् ॥१२॥

मधुसूदनसूनुनोदितो यस्तिलकः श्रीपृथुनेह जिष्णुजोक्ते ।
हृदि तं विनिधाय नूतनोऽयं रचितो मानविधौ सुधाकरेण ॥

इति श्रीकृपालुदत्तसूनुसुधाकरद्विवेदिविरचिते ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तनूतनतिलके मानाध्यायस्त्रयोविंशः ॥१२॥

वि. भा.—योऽधिमाससम्भवमवमसम्भवं च जानाति स मानानि (सौरचान्द्रमानादि) जानाति, यतो ज्ञाताभ्यां सौरचान्द्रमानाभ्यामधिमासज्ञानं भवति तथा चान्द्रसावनमानाभ्यां चावमदिनज्ञानं भवति । अयमार्याद्वादशभिस्त्रयोविंशो मानाध्यायोऽस्तीति ॥१२॥

इति ब्राह्मस्फुटसिद्धान्ते मानाध्यायस्त्रयोविंशः

अब अध्याय के उपसंहार को कहते हैं।

हि. भा.—जो गणक अधिमास सम्भव को जानते हैं और अवम सम्भव को जानते हैं वे मान (सौर चान्द्रमानादि) को जानते हैं क्योंकि अच्छी तरह विदित सौरमान और चान्द्रमान से अधिमास ज्ञान होता है, तथा चान्द्रमान और सावनमान से क्षयाह ज्ञान होता है इति ॥१२॥

इति ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में तेईसवां मानाध्याय समाप्त हुआ।

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

संज्ञाध्यायः

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

अथ संज्ञाध्यायः प्रारभ्यते ।

तत्रादौ तदारम्भ प्रयोजनमाह ।

यस्मात्संप्रतिपत्तिर्न संज्ञया संज्ञितो विना तस्मात् ।
लोके प्रसिद्धसंज्ञा रूपादीनां शशाङ्काद्याः ॥ १ ॥

सु. भा.—यस्मात् संज्ञया विना यः संज्ञितः पदार्थस्तस्य संप्रतिपत्तिः प्राप्तिः परिचयो वा न भवति, तस्मात् लोके रूपादीनां रूपवतां पदार्थानां शशाङ्काद्याः प्रसिद्धसंज्ञाः सन्ति ये ये रूपवन्तस्ते ते संज्ञावन्तः । संज्ञा विना परिचयो न भवतीत्यर्थः ॥१॥

वि. भा.—यस्मात् कारणात् यः संज्ञितः (संज्ञायुक्तो नामयुक्तोवा) पदार्थस्तस्य संप्रतिपत्तिः (परिचयः सम्यक् ज्ञानं वा) संज्ञया विना न भवति तस्मात् कारणात् लोके रूपादीनां (स्वरूपवतां पदार्थानां) शशाङ्काद्याः (चन्द्रादयः) प्रसिद्ध संज्ञाः सन्ति । अर्थाद्ये ये रूपवन्तः पदार्थास्तेते संज्ञावन्तः, संज्ञा (नाम) विना तेषां परिचयो न भवतीति ॥ १ ॥

अब संज्ञाध्याय प्रारम्भ किया जाता है । उसमें पहले आरम्भ
करने का प्रयोजन कहते हैं ।

हि. भा.—क्योंकि जो संज्ञायुक्त (नाम वाले) पदार्थ हैं उनका परिचय वा अच्छी तरह से ज्ञान विना संज्ञा (नाम) के नहीं होता है; इसलिये लोक में रूपवान् पदार्थों की शशाङ्क (चन्द्र) आदि प्रसिद्ध संज्ञा है । अर्थात् रूपवान् जितने पदार्थ है वे सब संज्ञावान् है । संज्ञा (नाम) के बिना उनका परिचय नहीं होता है इति ॥ १ ॥

इदानीं सिद्धान्त एक एवेत्याह ।

युगपद्युगादिरुदयाद्याम्यायां भास्करस्य वारुण्याम् ।
रात्र्यर्धात् सौम्यायामस्तमयाद्दिनदलादैन्द्र्याम् ॥ २ ॥
अयमेव कृतः सूर्येन्दु पुलिश रोमक वशिष्ठ यवनाद्यैः ।
यस्मात्तस्मादेकः सिद्धान्तो विरचितो नान्यः ॥ ३ ॥

सु. भा.—कस्यचिन्मते भास्करस्य याम्यायां लङ्कायामुदयाद्युगपद्युगादिः । अन्यमते तदैव वारुण्यां रोमकपत्तने रात्र्यर्धाद्युगादिः । अन्यमते तदैव सौम्यायां सिद्धपुरेऽस्तमयाद्युगादिः । अन्यमते च तदैवैन्द्र्यां यमकोट्यां दिनदलाद्युगादिः । एवं देशविशेषेणोदयास्तादिकालः सूर्यस्य जातो वस्तुत आकाशे सूर्यस्य स्थितिश्च मेषादावेवातो ग्रहगणनायामेव सर्वत्र एक एवायं सिद्धान्तः सूर्येन्दुपुलिशरोमक-वसिष्ठयवनाद्यैः कृतः । यस्माद्देशविशेषस्य भिन्न-भिन्नकालग्रहणेन ग्रहगणनायां भेदो न भवति तस्मात् सूर्याद्यैर्वस्तुत एक एव सिद्धान्तो विरचितो नान्य इति सिद्धान्तविदां सर्वं स्फुटम् ॥२–३॥

वि. भा—भास्करस्य (सूर्यस्य) याम्यायां (लङ्कायां) उदयादेकदैव युगादेः प्रवृत्तिर्बभूवेति कस्यचिन्मतम् । तदैव (लङ्कार्कोदयकाल एव) वारुण्यां (रोमक-पत्तने) रात्र्यर्धात् (अर्धरात्रिकालात्) युगादिप्रवृत्तिः । तदैव सौम्यायां (सिद्धपुरे) अस्तमयकालाद्युगादि प्रवृत्तिरिति कस्यचिन्मतम् । तदैवैन्द्र्याम् (यमकोटि पुर्यां) दिनार्धकालाद्युगादेः प्रवृत्तिरित्यन्यस्य मतम् । सिद्धान्त शिरोमणौ—

"लङ्का कुमध्ये यमकोटिरस्याः प्राक् पश्चिमे रोमकपत्तनं च ।
अधस्ततः सिद्धपुरं सुमेरुः सौम्ये च याम्ये वडवानलश्च ॥
कुवृत्त पादान्तरितानि तानि स्थानानि षड्गोलविदो वदन्ती"
तिभास्करोक्तपुरनिवेशस्थित्या गोलस्थितिदर्शनेन चाऽग्रे ।
"लङ्कापुरेऽर्कस्य यदोदयः स्यात्तदा दिनार्धं यमकोटिपुर्याम् ।
अधस्तदा सिद्धपुरेऽस्तकालः स्याद्रोमके रात्रिदलं तदैव ॥"

इति भास्करोक्तमस्ति, यदा लङ्कायां सूर्योदयस्तदैव यमकोटिनगरे दिनार्धमधःसिद्धपुरेऽस्तकालः । रोमकपत्तने रात्र्यर्धं भवति, तेन लङ्कासूर्योदय-काले-यमकोटिदिनार्धकाले, अधः सिद्धपुरेऽस्तकाले, रोमकपत्तनस्य रात्र्यर्धकाले एकदैव युगादि प्रवृत्तिर्बभूवेति कथने न कोऽपि दोषोऽस्ति । तथापि सिद्धान्तशेखरे-

"मधुसित प्रतिपद्दिवसादितो रविदिने दिनमासयुगादयः ।
दश शिरः पुरि सूर्यसमुद्गमात् सममभी भवसृष्टिमुखेऽभवन्'

इत्यनेन श्री पतिना, सिद्धान्तशिरोमणौ

"लङ्कानगर्यामुदयाच्च भानोस्तस्यैव वारे प्रथमं बभूव ।
मधोः सितादेर्दिनमासवर्ष युगादिकानां युगपत्प्रवृत्तिः ॥"

इत्यनेन भास्कराचार्येण, अन्येनाप्यनेकाऽऽचार्येण लङ्कायाः प्रधानत्वाल्लङ्कासूर्योदयकालत एव युगाद्यारम्भः कथ्यते, यमकोटि-सिद्धपुर-रोमकपत्तननगराण्यप्रसिद्धानि सन्ति, बहुभिस्तेषां नामान्यपि न श्रुतानि, तस्मादेव कारणात्—बहुभिरेवाचार्यैर्लङ्कासूर्योदयकालत एव युगादिप्रवृत्तिः स्वीक्रियते। वस्तुतस्तु—आकाशे मेषादावेव सूर्यस्य स्थितिरतो ग्रहगणिते सर्वत्रैक एवायं सिद्धान्तः सूर्य-चन्द्र-पुलिश-रोमक-वशिष्ट यवनाद्यैः कृतः। यस्मात्कारणात् देशविशेषाणां भिन्नभिन्नकालग्रहगणिते कोऽपि भेदो न भवत्यतः पूर्वोक्तैराचार्यैरेक एव सिद्धान्तो विरचितोऽन्यो नेति ॥ २-३ ॥

अब सिद्धान्त एक ही है कहते हैं।

हि. भा.— लङ्का सूर्योदय काल से एक ही समय में युगादियों की प्रवृत्ति हुई यह किसी का मत है। उसी समय में (लङ्कोदयकाल ही में) रोमक पत्तन में अर्ध रात्रिकाल से युगाद्यारम्भ हुआ यह अन्य आचार्य का मत है। उसी समय में सिद्धपुर में सूर्यास्त काल से युगादियों की प्रवृत्ति हुई यह किसी दूसरे आचार्य का मत है। उसी समय में यमकोटि पुरी में दिनार्ध काल से युगादियों की प्रवृत्ति हुई यह किसी अन्य आचार्य का मत है। सिद्धान्तशिरोमणि में 'लङ्का कुमध्ये यमकोटिरस्याः प्राक्पश्चिमे रोमक पत्तनं च' इत्यादि भास्कराचार्य कथित पुरों के निवेश की स्थिति से और गोल स्थिति देखने से आगे 'लङ्कापुरेऽर्कस्य यदोदयः स्यात्तदा दिनार्धं यमकोटि पुर्याम्' इत्यादि भास्करोक्त है अर्थात् जब लङ्का में सूर्योदय हुआ उसी समय यमकोटि पुरी में दिनार्ध होता है, सिद्धपुर में अस्तकाल होता है, और रोमकपत्तन में रात्र्यर्ध होता है, इसलिये लङ्कासूर्योदय काल में-यम कोटि दिनार्ध काल में सिद्धपुर के अस्तकाल में रोमक पत्तन में अर्धरात्रि काल में एक ही समय में युगादि प्रवृत्ति हुई इस कथन में कोई भी दोष नहीं है।

तथापि सिद्धान्त शेखर में 'मधुसित प्रतिपद् दिवसादितो रविदिने दिनमासयुगादयः' इत्यादि विज्ञान भाष्य में लिखित श्रीपत्युक्ति से सिद्धान्त शिरोमणि में 'लङ्कानगर्यामुदयाच्च भानोस्तस्यैव वारे प्रथमं बभूव' इत्यादि भास्करोक्ति से और अनेक आचार्यों के कथन के अनुसार प्रधाननगरी लङ्का के सूर्योदय काल ही से युगाद्यारम्भ माना जाता है। यमकोटि-सिद्धपुर-रोमकपत्तन नगर अप्रसिद्ध है, बहुत लोग उनके नाम भी नहीं जानते हैं लंका को आबाल वृद्ध सब जाते हैं, इसीलिये बहुत से आचार्यों ने लङ्का में सूर्योदय काल ही से युगादि प्रवृत्ति को स्वीकार किया है।

वस्तुतः आकाश में मेषादि ही में सूर्य की स्थिति थी इसलिये ग्रहगणना में सर्वत्र एक ही यह सिद्धान्त को सूर्य-चन्द्र-पुलिश-रोमक-वशिष्ठ-यवनादि आचार्यों ने स्वीकार किया है। क्योंकि देश विशेषों के भिन्न-भिन्न काल ग्रहण करने से ग्रहगणना में कोई भी भेद नहीं होता है अतः पूर्वोक्त आचार्यों ने एक हीं सिद्धान्त बनाया, अन्य नहीं इति ।। २-३ ।।

इदानीं कस्मिन्नंशे सूर्यसिद्धान्तादयो भिन्ना इति कथ्यते ।

यदि भिन्नाः सिद्धान्ताः भास्कर संक्रान्तयो विभेदसमाः ।

स स्पष्टः पूर्वस्यां विषुवत्यर्कोदयो यस्य ।। ४ ।।

सु० भा०—यदि सौरादयः सिद्धान्ताः भिन्नास्तर्हि विभेदसमा भास्कर-सङ्क्रान्तयः सन्ति । रविसंक्रान्तिसमय एक एव तेषां सौरादीनां गणनया नायाति तेन हेतुना सिद्धान्ता भिन्नाः । तेषां कतमः स्फुट इत्याह स स्पष्ट इति । यस्य गणनया विषुवति मेषतुलादौ पूर्वस्यां दिश्येव प्राक् स्वस्तिकविन्दावर्कोदयो वेधेनो-पलभ्यते स एव स्पष्टः स्फुटो ज्ञेय इति । यद्युदयकाल एव रविर्मेषतुलादिगस्तदै-वैवं भवत्यन्यथा तारतम्येन रव्युदयेन सिद्धान्तगणना परीक्षणीयेति ।।४।।

वि. भा.—यदि सूर्यसिद्धान्तादयः सिद्धान्ता भिन्नास्तर्हि रविसंक्रातिसमय एक एव तेषां (सौरादीनां) गणनया नायात्यतः सिद्धान्ता भिन्ना सन्ति । तेषु सिद्धातेषु कतमःस्फुट इति कथ्यते । यस्य गणनया विषुवति (मेषादौ तुलादौ च) पूर्वस्यां दिश्येव (पूर्वस्वस्तिकविन्दावेव) रव्युदयो वेधेनोपलभ्यते स एव स्फुटः सिद्धान्तो बोद्धव्यः । यदि रविरुदय काल एव मेषतुलादिगतस्तदैवैवं भवितुमर्हति । अन्यथा रव्युदयेन सिद्धान्तगणनायास्तारतम्येन परीक्षणं कार्यमिति ।। ४ ।।

अब किस अंश में सूर्य सिद्धान्तादि भिन्न हैं सो कहते हैं ।

हि. भा.—यदि सौरादि सिद्धान्त भिन्न है तो रवि संक्रान्ति काल उन सबों की गणना एक ही से नहीं आता है अतः सिद्धान्त भिन्न हैं । उन सिद्धान्तों में कौन सिद्धान्त स्फुट है सो कहते हैं । जिसकी गणना से मेषादि और तुलादि में पूर्वस्वस्तिक बिन्दु ही में वेध से रवि का उदय उपलब्ध हो उसी को स्फुट सिद्धान्त समझना चाहिये । यदि उदयकाल ही में रवि मेषादि-तुलादि गत हो तब ही ऐसा हो सकता है अन्यथा तारतम्य से रवि के उदय से सिद्धान्तगणना की परीक्षा करनीं चाहिये इति ।। ४ ।।

इदानीं स्व सिद्धान्तस्योत्तरार्धे क्रमिकाध्यायसंख्यामाह ।

तन्त्र परीक्षा गणितं मध्यमगत्युत्तरादयः पञ्च ।

कुट्टाकारो छेद्यश्छन्दश्चित्युत्तरं गोलः ।। ५ ।।

यन्त्राणि मानसंज्ञा ख्याताध्यायाश्चतुर्दश ब्राह्मे ।
अध्यायचतुर्विंशतिराद्यैर्दशभिर्युताध्यायैः ।। ६ ।।

सु. भा.—उत्तरार्धे तन्त्रपरीक्षाध्यायः । गणितं गणिताध्यायः । पञ्च मध्यमगत्युत्तरादयोऽधिकाराः सन्ति । मध्यगत्युत्तराध्यायः । स्पष्टगत्युत्तराध्यायः । त्रिप्रश्नोत्तराध्यायः । छेद्यकाध्यायः । शृङ्गोन्नत्युत्तराध्यायः । कुट्टाकाराध्यायः । छन्दश्चित्युत्तराध्यायः । गोलो गोलाध्यायः । यन्त्राणि,यन्त्राध्यायः । मानसंज्ञाध्यायः । ख्याताध्यायः संज्ञाध्यायोऽयमेव । एवमुत्तरार्धे ब्राह्मे सिद्धान्ते चतुर्दशाध्यायाः सन्ति । एत आद्यैर्दशभिरध्यायैर्युता अध्यायचतुर्विंशतिरत्र ग्रन्थे ज्ञेयेति ।।५-६।।

वि. भा.—ब्राह्मे सिद्धान्ते (ब्राह्मस्फुट सिद्धान्ते) उत्तरार्धे (१) तन्त्रपरीक्षाध्यायः, (२) गणिताध्यायः, मध्यमगत्युत्तरादयः पञ्चाध्यायाः (३) मध्यगत्युत्तराध्यायः, (४) स्फुटगत्युत्तराध्यायः, (५) त्रिप्रश्नोत्तराध्यायः, (६) ग्रहणोत्तराध्यायः, (७) शृङ्गोन्नत्युत्तराध्यायः, (८) कुट्टाकाराध्यायः, (९) छेद्यकाध्यायः, (१०) छन्दश्चित्युत्तराध्यायः, (११) गोलाध्यायः (१२) यन्त्राध्यायः, (१३) मानसंज्ञाध्यायः, (१४) ख्याताध्यायः (संज्ञाध्यायोऽयमेव) इतिचतुर्दशाध्यायाः सन्ति । एते चतुर्दशाध्याया आद्यैर्दशभिरध्यायैर्युताश्चतुर्विंशति संख्यका अध्याया अत्र ग्रन्थे ज्ञेया इति ।। ५-६ ।।

अब अपने सिद्धान्त के उत्तरार्ध में क्रमिक अध्याय संख्या कहते हैं ।

हि. भा.—इस ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के उत्तरार्ध में (१) तन्त्रपरीक्षाध्याय, (२) गणिताध्याय, (३) मध्यगत्युत्तराध्याय, (४) स्फुटगत्युत्तराध्याय, (५) त्रिप्रश्नोत्तराध्याय, (६) ग्रहणोत्तराध्याय, (७) शृङ्गोन्नत्युत्तराध्याय, (८) कुट्टाकाराध्याय, (९) छेद्यकाध्याय, (१०) छन्दश्चित्युत्तराध्याय, (११) गोलाध्याय, (१२) यन्त्राध्याय, (१३) मानसंज्ञाध्याय, (१४) संज्ञाध्याय, ये चौदह अध्याय है । इनमें पहले (पूर्वार्ध) के दश अध्याय जोड़ने से इस ग्रन्थ में चौबीस अध्याय समझने चाहिये इति ।। ५-६ ।।

इदानीं ग्रन्थग्रथनकालमाह ।

श्री चापवंशतिलके श्रीव्याघ्रमुखे नृपे शकनृपाणाम् ।
पञ्चाशत्संयुक्तैर्वर्षशतैः पञ्चभिरतीतैः ।। ७ ।।
ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः सज्जनगणितगोलवित्प्रीत्यै ।
त्रिंशद्वर्षेण कृतो जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन ।। ८ ।।

सु. भा.—श्रीव्याघ्रमुखे नृपे पृथ्वीं शासति । किंविशिष्टे नृपे श्रीचापवंश-

तिलके । शकनृपाणां पञ्चाशत्संयुक्तैः पञ्चभिर्वर्षशतैरतीतैरर्थात् पञ्चाशदधिक-पञ्चशतशके शेषं स्पष्टम् ।।७–८।।

वि. भा.—श्रीचापवंशस्य तिलके (टीकारूपे) श्रीव्याघ्रमुखे (एतन्नामके) महीपाले पृथ्वीं शासति, शकनृपाणां पञ्चाशत्संयुक्तैः पञ्चभिर्वर्षशतैरर्थात् पञ्चाशदधिकपञ्चशतवर्षैः, अतीतैः (गतैः) अर्थात् पञ्चाशदधिकपञ्चशत-शकाब्दे सज्जनगणितगोलविदां विनोदाय त्रिंशद्वर्षवयस्केन जिष्णोस्तनयेन ब्रह्मगुप्तेन ब्राह्मः स्फुटसिद्धान्तः कृत इति ।। ७-८ ।।

अब ग्रन्थ रचना काल कहते हैं ।

हि. भा.—श्रीचापवंश में तिलक (टीका) रूप श्री व्याघ्रमुख नामक राजा के शासन में पांच सौ पचास शक (शाके ५५०) में सज्जन (दौष्ट्यादि दोष रहित) गणित और गोल के पण्डितों के हर्ष के लिये तीस वर्ष अवस्था के जिष्णुपुत्र ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त नामक इस ग्रन्थ को रचा अर्थात् ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त को बनाया इति ।। ७–८ ।।

इदानीमस्मिन् सिद्धान्ते गणितलाघवेन करणग्रन्थवत् फलसाधनं
कथं न कृतमिति कथयति

गणितेन फले सिद्धिर्ब्राह्मे ध्यानग्रहे यतोऽध्याये ।
ध्यानग्रहो द्विसप्ततिरार्याणां न लिखितोऽत्र मया ।। ९ ।।

सु. भा.—यातो ब्राह्मे ब्रह्मकृते ध्यानग्रहे ध्यानग्रहनाम्न्यध्याये गणितेन फले मान्दादिफलसाधने लाघवेन सिद्धिः कृताऽतोऽत्रार्याणां द्विसप्ततिर्ध्यानग्रहोऽध्यायः पुनरुक्तिदोषभयान्मया न लिखित इति ।।९।।

वि.भा.—यतो ब्राह्मे (ब्रह्मगुप्तकृते) ध्यानग्रहेऽध्याये (ध्यानग्रहोपदेशाध्याये) मान्दादि फलसाधने गणितलाघवेन फलसिद्धिः कृता मयाऽतोऽत्रार्याणां द्विसप्तति र्ध्यानग्रहोऽध्यायः पुनरुक्तिदोषभयान्न लिखित इति ।। ९ ।।

अब इस सिद्धान्त में गणितलाघव से करण ग्रन्थ की तरह फलसाधन
क्यों नहीं किया गया कहते हैं ।

हि. भा.—क्योंकि ब्रह्मगुप्तकृत ध्यान ग्रह नामक अध्याय में गणित से मान्दादि फल साधन में लाघव द्वारा सिद्धि की गयी है इसलिये यहां बहत्तर आर्याओं का ध्यान ग्रहाध्याय पुनरुक्तिदोष के डर से नहीं लिखा गया इति ।। ९ ।।

इदानीं ग्रन्थ संख्यां कथयति ।

भटब्रह्माचार्येण जिष्णोस्तनयेन गणितगोलविदा ।
आर्याष्टसहस्रेण स्फुटसिद्धान्तः कृतो ब्राह्मः ।। १० ।।

सु. भा.—आर्याणामष्टाधिकैक सहस्रेण शेषं स्पष्टार्थम् ।।१०।।

वि भा.—गणितगोलज्ञेन जिष्णुपुत्रेण भटब्रह्माचार्येण मया, आर्याणामष्टाधिकैकसहस्रेण ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः कृत इति ।।

अब ग्रन्थ संख्या (ग्रन्थ में श्लोक संख्या) कहते हैं ।

हि. भा.—गणित और गोल के पण्डित जिष्णु के पुत्र भटब्रह्माचार्य ने एक हजार आठ आर्याओं के इस ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त ग्रन्थ को बनाया इति ।। १० ।।

इदानीं सूर्यग्रहणे चन्द्रशङ्कुः कथं न कृत एतदर्थमाह ।

भग्रहयुतिवच्छङ्कुर्वित्रिभलग्नाद्रविग्रहोक्तिसमः ।
शशिनः कर्मबहुत्वात् न कृतोऽतो भास्करग्रहणे ।। ११ ।।

सु. भा.—भग्रहयुतिवद्रविग्रहोक्तिसमः शशिनो वित्रिभलग्नाच्छंकुः कर्मवहुत्वात् महताऽऽयासेन भवति। अतो मया भास्करग्रहणे शशिशङ्कुर्न कृतः प्रयोजनाभावात् इयमार्या निष्प्रयोजना ।।११।।

वि. भा.—भग्रहयुतिवत् सूर्यग्रहणोक्तस्थितिरस्ति-अर्थात् भग्रह योगे यथा स्थिति रस्ति तथैव सूर्यग्रहणेऽपि विद्यते । वित्रिभलग्नाच्छङ्कुश्चन्द्रस्य क्रिया गौरवान्महता प्रयासेन भवत्यतो मया सूर्यग्रहणे चन्द्रशङ्कुर्न कृत इति ।।११।।

हि. भा.—भग्रह (नक्षत्र और ग्रह) योग की तरह सूर्यग्रहण में कथित स्थिति है अर्थात् भग्रह योग स्थिति के तुल्य ही सूर्यग्रहणोक्त स्थिति है, वित्रिभलग्न से चन्द्रशङ्कु क्रिया की अधिकता (कर्मबाहुल्य) से वहुत प्रयास द्वारा होता है इसलिये मैंने सूर्यग्रहण में चन्द्रशङ्कु नहीं किया इति ।। ११ ।।

इदानीं प्रश्न विशेषमाह ।

आग्नेये नैर्ऋत्येवेष्टदिने संस्थितस्य योऽर्कस्य ।
शङ्कुच्छाये कथयति वर्षादपि वेत्ति सूर्यं सः ।। १२ ।।

सु. भा.—इष्टदिने आग्नेये वा नैर्ऋत्ये कोणवृत्ते संस्थितस्यार्कस्य वा यो

वर्षादपि वर्षपर्यन्तकालेनापि शङ्कुच्छाये कथयति स एव सूर्यं वेत्तीति ।

अस्योत्तरं कोणशङ्कोरानयनेन स्फुटम् ॥१२॥

वि. भा.—यो गणक इष्टदिने आग्नेये वा नैर्ऋत्ये कोणवृत्ते संस्थितस्यार्कस्य (रवेः) शङ्कुच्छाये वर्षपर्यन्तकालेनापि कथयति स सूर्यं वेत्ति (जानाति), इति ॥ १२ ॥

अस्योत्तरार्थमुपपत्तिः सूर्यसिद्धांते ।

"त्रिज्यावर्गार्धतोऽग्राज्या वर्गोनाद् द्वादशाहतात् ।
पुनर्द्वादश विघ्नाच्च लभ्यते यत् फलं बुधैः ॥
शङ्कुवर्गार्धसंयुक्तविषुवद्वर्गभाजितात् ।
तदेव करणी नाम तां पृथक् स्थापयेद् बुधः ॥
अर्कघ्नी विषुवच्छायाऽग्राज्यया गुणिता तथा ।
भक्ता फलाख्यं तद्वर्गसंयुक्तकरणीपदम् ॥
फलेन हीनसंयुक्तं दक्षिणोत्तर गोलयोः ।
याम्ययोर्विदिशोः शङ्कुरेवम्"
इति कोणशङ्कोरानयनमस्ति ।

एतद्व्याख्या—त्रिज्यावर्गार्धात् अग्राज्यावर्गहीनात् । शेषाद् द्वादशगुणात् पुनर्द्वादशगुणात् । द्वादशवर्गार्धसंयुक्त पलभावर्गेण भाजिताद्य त्फलं तदेव करणी नाम भवति । तां करणीं पृथगेकत्र स्थापयेत्, द्वादशगुणा पलभाऽग्रया गुणा तेनैव हरेण (द्वादशवर्गार्धसंयुक्त पलभावर्गेण) भक्ता लब्धं फलसंज्ञकम् । फलाख्यस्य वर्गेण संयुक्ता या करणी तत्पदं (वर्गमूलं) दक्षिणोत्तरगोलयोःक्रमेण फलाख्येन हीन संयुक्तं कार्यम् । दक्षिणगोले फलेन हींनमुत्तरगोले युक्तमित्यर्थः । एवं याम्ययोरग्निनैर्ऋत्य-कोणयोः शङ्कुः स्यादिति । एतदुपपत्तिदर्शनेन प्रश्नोत्तरं स्फुटमस्तीति ॥ १२ ॥

अब प्रश्न विशेष को कहते हैं ।

हि. भा.—जो गणक इष्टदिन में आग्नेय वा नैर्ऋत्य कोणवृत्त स्थित रवि के शङ्कु और छाया को एक वर्ष पर्यन्त समय में भी कहते हैं वे सूर्य को जानते हैं; इति ॥ १२ ॥

इसकी उपपत्ति ।

सूर्य सिद्धान्त में 'त्रिज्यावर्गार्धतोऽग्राज्यावर्गोनाद्द्वादशाहतात् । पुनर्द्वादशनिघ्नाच्च लभ्यते यत्फलं बुधैः' इत्यादि संस्कृतोपपत्ति में लिलित श्लोकों में 'फलेन हीन संयुक्तं

दक्षिणोत्तर गोलयोः । याम्ययोर्विदिशोः शङ्कुः' इसमें उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। उपर्युक्त सूर्य सिद्धान्तीय श्लोकों की उपपत्ति देखने से स्फुट है इति ॥ १२। ।

इदानीमध्यायोपसंहारमाह ।

अत्र मया यन्नोक्तं गोलादुत्प्रेक्ष्य धीमता बोह्यम् ।

आर्यात्रयोदशोऽयं संज्ञाध्यायश्चतुर्विशः ॥ १३ ॥

सु. भा.—अत्र मया यत् किञ्चिन्नोक्तं तत्सर्वं धीमता गणकेन गोलादुत्प्रेक्षां कृत्वोह्यम् । गोलबोधे हीदमेव फलं यदनुक्तमपि बुद्धिमता ज्ञायते । शेषं स्पष्टम् ॥१३॥

मधुसूदनसूनुनोदितो यस्तिलकः श्रीपृथुनेह जिष्णुजोक्ते ।

हृदि तं विनिधाय नूतनोऽयंरचितो नामविधौ सुधाकरेण ॥

इति श्रीकृपालुदत्तसूनुसुधाकरद्विवेदिरचिते ब्राह्मफुटसिद्धान्तनूतनतिलके संज्ञाध्यायश्चतुर्विंशतितमः सम्पूर्णतामगमत् ॥

वि. भा.— अत्र मया यत्किञ्चित् न कथितं तत्सर्वं बुद्धिमता गणकेन गोलादुत्प्रेक्षां कृत्वा ज्ञेयम् । गोलज्ञानस्येदमेव फलं यदकथितमपि बुद्धिमद्भिर्ज्ञायत इति ॥ १३ ॥

इति ब्राह्मस्फुट सिद्धान्ते संज्ञाध्यायश्चतुर्विंशतितमः समाप्तिमगमत् ॥ २४ ॥

अब अध्याय के उपसंहार को कहते हैं।

***हि. भा.*—इसमें हमने जो कुछ नहीं कहा है उन सबों को बुद्धिमान् गणक (ज्योतिषिक) गोल ज्ञान से समझें क्योंकि गोलबोध का यही फल है कि जो विषय नहीं कहे हैं उनको समझे इति ॥ १३ ॥**

इति ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में संज्ञाध्याय नाम का चौवीसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

ब्रह्मगुप्त कृतो

ध्यानग्रहोपदेशाध्यायः

ब्रह्मगुप्त कृतो

ध्यानग्रहोपदेशाध्यायः

तत्रादौ चैत्रादौ मासगणानयनमाह—

पञ्चाशत्संयुक्तैर्वर्षशतैः पंचभिर्विना शाकः
त्रिष्ठोऽर्कैर्वसुवेदैर्नवचन्द्रैस्ताडितः क्रमशः ।। १ ।।
पंचाब्धियुतोऽधः षष्टिभाजितो लब्धियुक् सरसवेदः ।
मध्यमराशिर्विश्वैर्विभाजितोऽभ्यधिकमासाः स्युः ।। २ ।।
तैरुपरितनो युक्तो मासगणोऽभ्यधिकशेषकः शुद्धः ।
घटिकादिको भचक्राद्रविरविशेषो भवेद्धादिः ।। ३ ।।

सु. *भा.*—शाकः खपञ्चपञ्चोनस्त्रिधा स्थाप्यः । एको रविभिर्गुणः । द्वितीयो वसुवेदैस्तृतीयो नवचन्द्रैश्च गुणः । अधोराशिः पञ्चाब्धि ४५ युतः षष्टिभाजितः फलं मध्यराशौ क्षेप्यम् । तत्रैव रसवेदाश्च ४६ क्षेप्याः । एवं संस्कृतो मध्यो मध्यमराशिः शशाङ्कविश्वै विभाजितोऽधिमासाः स्युः । तैरधिमासैरुपरितनो राशिर्युक्तो मासगणश्चान्द्रो भवति ।

अत्रोपपत्तिः ।

$$\text{एकस्मिन् वर्षेऽधिमासः}=\frac{१५९३३००००००}{४३२००००००००}$$

$$=\frac{५३११\times ३००००००}{१४४००\times ३००००००}=\frac{५३११}{१४४००}=\frac{५३११\times १३१}{१३१\times १४४००}=\frac{\frac{५३११\times १३१}{१४४००}}{१३१}=\frac{४८\frac{१९}{६०}}{१३१}$$

स्वल्पान्तरात् ।

अयमिष्टैः सौरवर्षैर्गुणोऽधिमासाः स्युः । शेषोपपत्तिः स्फुटा । ४५।४६ अस्य क्षेपस्योपपत्तिर्ग्रन्थान्ते द्रष्टव्या ।

सौरवर्षचैत्राद्योर्मध्येऽधिमासशेषो मासात्मकश्चान्द्रस्तच्चालनं कल्पचान्द्रमासैः कल्पसौरमासास्तदाऽधिशेषेण किं लब्धं राश्यादि चालनमृणम् $=\frac{५१८४००००००००}{५३४३३३००००००}$ $\times\frac{\text{अधिशे}}{१३१}=\frac{१७२८०० \times ३०००००}{१७८१११ \times ३०००००}\times\frac{\text{अधिशे}}{१३१}=\frac{१७२८००}{१७८१११}\times\frac{\text{अधिशे}}{१३१}$ ।

इदं नवगुणं चतुर्भक्तं लब्धं नक्षत्रात्मकं चालनं षष्टिगुणं जातं घट्यात्मकम् ।

$$=\frac{१७२८०० \times ९ \times \text{अधिशे} \times ६०}{१७८१११ \times ४ \times १३१}=\frac{१७२८०० \times १३५ \times \text{अधिशे}}{१७८११८ \times १३१}$$

$$=\frac{२३३२८००० \times \text{अधिशे}}{२३३३२५४१}=\text{अधिशे}$$ । स्वल्पांतरात् ।

सौरवर्षादौ रविर्भचक्रेण नक्षत्रसप्तविंशत्या समोऽतो भचक्रादधिशेषघटीसमचालनं विशोध्य चैत्रादौ भादी रविर्ज्ञेय इति स्फुटम् ॥१-३॥

हि. भा—शाके में से ५५० घटाकर शेष को तीन जगह रखो, एक को बारह (१२) से, दूसरे को अड़तालीस (४८) से तथा तीसरे को १९ से गुणा करो ।

तीसरी राशि में ४५ जोड़कर ६० से भाग दो । लब्धि को दूसरी राशि में जोड़ दो, और उसी में रसवेद (४६) जोड़ दो । इस तरह करने पर मध्यमराशि होगी । उसको शशाङ्कविश्व (१३१) से भाग देने पर अधिमास होता है । अधिमास और उपरितन राशि का योग चान्द्रमास होता है ।

उपपत्ति ।

$$\text{एक वर्ष में अधिमास}=\frac{१५९३३००००००}{४३२००००००००}$$

$$=\frac{५३११ \times ३०००००}{१४४०० \times ३०००००}=\frac{५३११}{१४४००}=\frac{५३११ \times १३१}{१३१ \times १४४००}$$

$$=\frac{\frac{५३११ \times १३१}{१४४००}}{१३१}=\frac{४८+\frac{१९}{६०}}{१३१}$$

स्वल्पान्तर से । इसको इष्ट सौर वर्ष से गुणने पर अधिमास होता है, शेष की उपपत्ति स्पष्ट ही है । ४५ और ४६ के क्षेपक की उपपत्ति ग्रन्थ के अन्त में देखें ।

चैत्रादि सौर वर्ष में अधिमास शेष मासात्मक चान्द्र होता है उसका चालन लाने की युक्ति यथा—

कल्प चान्द्रमास में कल्प सौरमास पाते हैं तो अधिशेष में क्या इस तरह लब्धि

राश्यादिक ऋण चालन $= \frac{५१८४००००००}{५३४३३३००००००} \times \frac{\text{अधिशे}}{१३१}$

$= \frac{१७२८०० \times ३०००००}{१७८१११ \times ३०००००} \times \frac{\text{अधिशे}}{१३१}$

$= \frac{१७२८००}{१७८१११} \times \frac{\text{अधिशे}}{१३१}$ । इसको ६ से गुणा कर ४ से भाग

दें तो लब्धि न क्षत्रात्मक चालन होगा, उसको ६० से गुणा करने पर घटयात्मक चालन होगा, यथा—

$= \frac{१७२८०० \times ९ \times \text{अशे} \times ६०}{१७८१११ \times ४ \times १३१} = \frac{१७२८०० \times १३५ \times \text{अधिशे}}{१७८१११ \times १३१}$

$= \frac{२३३२८००० \times \text{अधिशे}}{२३३३३२५४१}$ = अधिशेष । स्वल्पान्तर से सौर वर्षादि में

रविका भचक्र २७ नक्षत्र के बराबर होता है इसलिए भचक्र में से अधिक शेष घटी के तुल्य चालन को घटाने पर चैत्रादि में राश्यादि रवि होता है, यह स्पष्ट है ।१-३।

इदानीं चैत्रादौ दिनादिकं तिथिध्रुवसाधनमाह ।

रूपेण रूपरामैः खसायकैस्ताडितो गणो युक्तः ।
षड्भिर्वेदैधृत्या वासरघटिकाविघटिकाः स्युः ॥ ४ ॥
खखरसलब्धं च गणाद् घटिकासु नियोजयेत् तिथिध्रुवकाः ।
रव्यादिकस्तदुदये चैत्रादावर्कचन्द्रौ च ॥ ५ ॥

सु. भा.--गणो मासगणो रूपेण १ दिनेन रूपरामै—३१ घटीभिः खसायकैर्विघटीभिस्ताडितो दिनादिस्थाने क्रमेण षड्भि ६ र्वेदै —४ धृत्या १८ युक्तः । गणान्मासगणात् खखरसै ६०० र्यल्लब्धं घटयात्मकं फलं तद्घटिकासु नियोजयेत् तदा वासरघटिकाविघटिकाश्चैत्रादौ तिथिध्रुवकाः स्युः । वासरश्च रव्यादिको ज्ञेयस्तदुदये च चैत्रादावर्कचन्द्रौ मध्यमौ भवतः । नक्षत्रात्मको रविश्च पूर्वं साधितो दर्शान्ते चैत्रादौ तावानेव चन्द्रश्चेति ।

अत्रोपपत्तिः ।

एकस्मिन् चान्द्रमासे सावनदिनादि २९ । ३१ । ५० । ६ सप्ततष्टं जातम् =१ । ३१ । ५० । ६=१।३१+$\frac{३०}{६००}$।५० । अनेन मासगणो गुणितो ग्रन्थारम्भ-क्षेपयुक्तोऽभीष्टे चैत्रादौ तिथिध्रुवो भवेदिति स्पष्टम् । क्षेपोपपत्तिर्ग्रन्थान्ते द्रष्टव्या ॥४-५॥

हि. भा.—मास समूह को १ दिन, ३१ घटी, ५० विघटी से गुणा करो। दिन स्थान में क्रम से ६, ४, १८ जोड़दो। मास समूह को ६०० से भाग देकर जो लब्धि होगी उसको घटी में जोड़दो। तब दिन, घटी, विघटी, चैत्रादि में तिथि का ध्रुवा होता है। रवि आदि दिन जानना चाहिये, उसके उदयकाल अर्थात् चैत्रादि में सूर्य तथा चन्द्रमा मध्यम होता है, नक्षत्रात्मक सूर्य को पहले साधन कर चुके हैं, अमावस्या के अन्त में चैत्रादि में उतना ही चन्द्रमा होता है।

उपपत्ति।

एक चान्द्रमास में सावन दिन=२९।३१।५०।६ इसको ७ से भाग देने पर शेष=१।३१।५०।६=१।३१+$\frac{१}{६००}$।५०। इससे मास समूह को गुणाकर उसमें ग्रन्थारम्भ काल का क्षेप जोड़ दें तो चैत्रादि में अभीष्ट तिथि ध्रुवा होगी, क्षेपक की उपपत्ति ग्रन्थान्त में देखें।

इदानीं चन्द्रकेन्द्रसाधनमाह

मासगणो यमगुणितः पृथक् कुतत्त्वोद्धृतः फलसमेतः।
सार्धाष्टयुतो वसुयमविभक्तशेषो विधोः केन्द्रम्॥ ६॥

सु. भा.—यम-२ गुणितो मासगणः पृथक् स्थाप्यः कुतत्त्व २५१ भक्तः पृथक्स्थः फलेन सहितः कार्यस्ततः सार्धाष्टयुतः। योगो वसुयमै-२८ विभक्तः शेषश्चन्द्रस्य केन्द्रं भवति।

अत्रोपपत्तिः।

एकस्मिन् चन्द्रकेन्द्रभगणे वसुयमा २८ विभागाः कृताः। तद्विभागजातीयमेव केन्द्रमत्र साध्यते।

कल्पे चन्द्रभगणाः=५७७५३३००००००

चन्द्रोच्चभगणाः=४८८१०५८५८

केन्द्रभगणाः=५७२६५१९४१४२

एते कल्पचान्द्रमासभक्ता जातमेकस्मिन् चान्द्रमासे भगणात्मकं केन्द्रम्=

$$=\frac{५७२६५१९४१४२}{५३४३३३००००००}=१+\frac{३८३१८९४१४२}{५३४३३३००००००}।$$

अत्र प्रयोजनाभावाद्भगणं त्यक्त्वा भगणशेषं वसुयमैः संगुण्य हरेण विभज्यलब्धमभीष्टभागात्मकं केन्द्रमेकस्मिन् चान्द्रमासे=२+$\frac{१०६६०८९९४\times४}{१३३५८३२५०००\times४}$२+ $\frac{२}{२५१}$

स्वल्पान्तरात्। सार्धाष्टसंख्या ग्रन्थारम्भे क्षेपमानं तदुपपत्तिश्च ग्रन्थान्ते द्रष्टव्या अत उपपन्नं केन्द्रानयनम् ॥६॥

हि. भा.—दो से गुणित मास समूह को दो स्थान में रखो, एक स्थान में २५१ से भाग दो, लब्धि को दूसरे स्थान में जोड़ दो, फिर उसमें ८+½ जोड़ दो, उस योग में २८ से भाग दो, जो शेष होगा वह चन्द्रमा का केन्द्र होता है।

उपपत्ति।

एक चन्द्रभगण को २८ से विभाग करने से तत् विभागजातीय केन्द्र यहां साधन करते हैं।

कल्प में चन्द्रभगण=५७७५३३००००० ।

चन्द्रोच्च भगण =४८८१०५८५८ ।

दोनों का अन्तर =५७२६५१९४१४२=केन्द्र भगण ।

इसमें चान्द्रमास से भाग देने पर, एक चान्द्रमास में भगणात्मक केन्द्र

$$=\frac{५७२६५१९४१४२}{५३४३३३०००००}=१+\frac{३८३१८९४१४२}{५३४३३३०००००} ।$$

यहां प्रयोजन नहीं है इसलिये भगण को छोड़कर भगण शेष को २८ से गुणाकर हार से भाग देकर लब्धि जो होगी वही अभीष्ट भागात्मक केन्द्र होगा, एक चान्द्र मास में

$$=२+\frac{१०९६०८९९४\times४}{१३३५८३२५०००\times४}\quad २+\frac{२}{२५१}$$ स्वल्पान्तर से। ग्रन्थारम्भ काल में ८+½ क्षेप मान की उपपत्ति ग्रन्थ के अन्त में देखें। इससे केन्द्रानयन उपपन्न हुआ।

इदानीमिष्टमासादौ रव्यानयनमाह।

चैत्रादिमासगुणिते द्वे नक्षत्रे क्षिपेत् सहस्रांशौ।
घटिकैकादशयुक्ते सार्धेन फलेन सहिते च ॥ ७ ॥

सु. भा.—द्वे नक्षत्रे घटिकैकादशयुक्ते सार्धेनैकेन पलेन रहिते च चैत्रादितो ये गतचान्द्रमासास्तैर्गुणिते चैत्राद्युद्भवरवौ फलं क्षिपेत् तदेष्टमासादौ नक्षत्रादिको रविर्भवेत्।

अत्रोपपत्तिः कल्परविभगणाः=४३२००००००० । सप्तविंशतिगुणाः कल्पचान्द्रमास—५३४३३३००००० भक्ता जातमेकस्मिन् चान्द्रमासे नक्षत्रात्मकं

$$\text{रविमानम्}=\frac{४३२०००००००\times२७}{५३४३३३०००००}=\frac{१४४००\times३०००००\times२७}{१७८१११\times३०००००}=\frac{१४४००\times२७}{१७८१११}$$

$=\frac{३८८८००}{१७८१११}=२\frac{३२५७८}{१७८१११}$ शेषं षष्ट्यागुणं हरभक्तमेवं नक्षत्रादिकं रविमानम् =२।१०।५८$\frac{१}{२}$ स्वल्पान्तरात् ।

तद्रूपान्तरम्= $\frac{न}{}$। $\frac{घ}{११}-\left(१\frac{१}{२}\right)$ प. । इदमिष्टमासगुणं तज्जो नक्षत्रादिको रविर्भवेत् । शेषोपपत्तिः स्फुटा ॥७॥

हि. भा.—दो नक्षत्रों में ११ घटी जोड़ दें, और १+$\frac{१}{२}$ पल घटादें, चैत्रादि से जो गत चान्द्रमास हो उससे गुणा दें, फल को चैत्रादि में उत्पन्न सूर्य में जोड़ दें, वह इष्टमासादि में नक्षत्रादिक रवि होता है ।

अत्रोपपत्तिः

एक कल्प में सूर्य भगण=४३२०००००० ।

एक कल्प में चान्द्रमास=५३४३३३००००० ।

यहां कल्प सूर्य भगण को २७ से गुणाकर कल्प चान्द्रमास से भाग देने पर एक चान्द्रमास में नक्षत्रात्मक रवि का मान

$$=\frac{४३२००००००\times२७}{५३४३३३०००००}=\frac{१४४००\times३०००००\times२७}{१७८१११\times३०००००}$$

$$=\frac{१४४००\times२७}{१७८१११}=\frac{३८८८००}{१७८१११}=२+\frac{३२५७८}{१७८१११}$$ ।

शेष को ६० से गुणाकर हर से भाग देने पर नक्षत्रादिक रवि का मान=२ । १० । ५८+$\frac{१}{२}$ स्वल्पान्तर से । इसका रूपान्तर $=\frac{न}{२}$ । $\frac{घ}{११}-\left(१+\frac{१}{२}\right)$ प, इसको इष्टमास से गुणाकर फल नक्षत्रादिक रवि होता है । यहां अवशेष की उपपत्ति स्पष्ट ही है ।

इदानीं प्रतिमासं शशिकेन्द्रतिथिध्रुवक्षेपावाह ।

नाड्यर्धेन समेतं भद्वितयं प्रक्षिपेच्च शशिकेन्द्रे ।
रूपं रूपहुताशाः खशराश्च तिथिध्रुवे क्रमशः ॥ ८ ॥

सु. भा.—प्रतिमासं शशिकेन्द्रे नक्षत्रद्वितयं नाड्यर्धेन सहितं तिथिध्रुवे च क्रमशो दिनादौ रूपं १ रूपहुताशाः ३१ खशराश्च ५० इति प्रक्षिपेत् ।

अत्रोपपत्तिः । ६ श्लोकेनैकस्मिन् चान्द्रमासे शशिकेन्द्रमानम् २+ $\frac{२}{२५१}$

२ न+$\frac{१}{२}$ घ स्वल्पान्तरात्। अत्रैकस्मिन् भचक्रे अष्टाविंशति नक्षत्राणि कल्पितानीति शशिकेन्द्रानयन एव प्रतिपादितम्। तिथिध्रुवक्षेपमानं च सप्ततष्टं चान्द्रमाससावनमानं दिनादि १।३१।५० स्फुटमेव। अत्राधिकं ६ विपलमानं त्यक्त्वा पलात्मकमानपर्यन्तमेव गणिते ग्राह्यत्वादिति स्फुटम् ॥८॥

हि. भा.—प्रति मास शशि केन्द्र में आधा नाड़ी से युक्त दो नक्षत्र युक्त करो। एवं तिथिध्रुवा में क्रम से १, ३१, ५० युक्त करो।

उपपत्ति।

६ श्लोक के अनुसार एक चान्द्रमास में चन्द्रमा का केन्द्रमान = २ +$\frac{२}{२५१}$ = २ न + $\frac{१}{२}$ घ, स्वल्पान्तर से ग्रहण किया।

यहां एक भचक्र में २८ नक्षत्र की कल्पना की गई है, और चन्द्रमा का केन्द्रानयन भी कहा गया है, तिथि ध्रुव क्षेप मान को सात से शेषित करने पर चान्द्र मास सावन मान दिन १ । ३१ । ५० होता है, यह स्पष्ट है गणित में पलमान का ही ग्रहण होता है इसलिये यहां अधिक ६ विपलमान को छोड़ दिया है।

इदानीं प्रतिदिनचालनमाह।

चारं दद्यात् प्रतिदिनमब्धिपलोनां परित्यजेत् नाडीम्।
केन्द्रे क्षिपेद्भमेकं भद्वितयफलं घटीचतुष्कमिते ॥ ९ ॥

सु० भा०—प्रतिदिनं प्रतिचान्द्रदिनं तिथिध्रुवे दिनमेकं दद्याद्योजयेत्। अब्धिपलोनामेकां नाडीं च परित्यजेत्। शशिनः केन्द्रे च प्रतिचान्द्रदिनमेकं भं नक्षत्रं घटीचतुष्कमितं भूतस्वफलं घटीचतुष्कं भूतस्व २५१ हृतं फलं घट्यात्मकं च क्षिपेत्।

अत्रोपपत्तिः। त्रिंशत्तिथ्यात्मके चान्द्रमासे सावनदिनादि २९।३१।५० इदं त्रिंशद्भक्तं जातमेकस्मिन् चान्द्रदिने तिथिध्रुवे क्षेपकमानम् = $\frac{२९।३१।५०}{३०}$ = ०।५९।४ = १ दि०—५६ प० = १ दि०—(१ घ—४प)। एवमेकस्मिन् चान्द्रमासे शशिकेन्द्रं नक्षत्रात्मकम् = ३०$\frac{२}{२५१}$।

(६ सूत्रे भगणात्मकं केन्द्रं २८ संगुण्य नक्षत्रात्मकं यदि क्रियते तदा

३० $\frac{२}{२५१}$ समुत्पद्यते) इदं त्रिंशद्धृत्तं जातमेकस्मिन् चान्द्रदिने केन्द्रे क्षेपकमानम्

$$=\frac{३०+\frac{२}{२५१}}{३०}=१+\frac{२}{३०\times२५१}=१+\frac{२\times६०}{३०\times२५१}\text{ घटी}=१\text{ न}+\frac{४}{२५१}\text{ घटी}$$ । अत

उपपद्यते यथोक्तम् ।

भद्वितयेन भद्वितयमानेन १२० घटिकामितेन हृते घटीचतुष्कमिते यत्फलं घट्यात्मकं तदपि क्षिपेदित्येके 'भद्वितयफलं घटीचतुष्कमिते' इति पाठानुसारेण व्याख्यां कुर्वन्ति । अनेन '२५१' स्थाने १२० इयं स्थूला सङ्ख्योत्पद्यतेऽत एव मया पाठान्तरमुपनिबद्धम् ।९॥

हि. भा.—हर चान्द्रदिन के तिथि ध्रुवा में एक दिन युक्त करें और चार पल कम एक नाड़ी घटा दें । चन्द्रकेन्द्र में, प्रति चान्द्र दिन में से एक नक्षत्र और ४ घटी को २५१ से भाग देने पर जो फल मिले वह युक्त करना चाहिये ।

उपपत्ति ।

तीस तिथ्यात्मक चान्द्रमास में सावदिन=२९ । ३१ । ५० इसको ३० से भाग देने से एक चान्द्र दिन में—तिथिध्रुवा क्षेपमान= $\frac{२९ । ३१ । ५०}{३०}$ = ० । ५९ । ४ =

=१ दि—५६ प=१ दि—(१ घ—४ प) ।

इस तरह एक चान्द्रमास में चन्द्रकन्द्र नक्षत्रात्मक= ३० + $\frac{२}{२५१}$ । ६ श्लोक से भगणात्मक केन्द्र को २८ से गुणाकर नक्षत्रात्मक यदि करते हैं तब $(३०+\frac{२}{२५१})$ यह उपपन्न होता है । इसको तीस से भाग देने पर एक चान्द्र दिन में केन्द्र क्षेपक मान

$$=\frac{३०+\frac{२}{२५१}}{३०}=१+\frac{२}{३०\times२५१}=१+\frac{२\times६०}{३०\times२५१}\text{ घटी}$$

$$=१\text{ न}+\frac{४}{२५१}\text{ घटी}$$ । इससे ९ श्लोक उपपन्न होता है ।

भद्वितयेन अर्थात् १२० घटी के मान से हृत चार घटी का जो फलघट्यात्मक हो वह भी जोड़ दें यह किसी का मत है । दो नक्षत्र का फल चार घटी में जोड़ दें यह पाठ के अनुसार व्याख्या करते हैं, इससे २५१ की जगह १२० यह स्थूल संख्या उपपन्न होती है । इसलिये मैंने पाठान्तर कर दिया है ।

इदानीं देशान्तरसंस्कारमाह ।

उज्जयिनी याम्योत्तररेखायाः प्राग्धनं क्षयः पश्चात् ।
योजनषष्ट्या नाडी चरदलमपि सौम्यदक्षिणयोः ॥ १० ॥

सु. भा.—योजनषष्टचैका नाडी उज्जयिनी याम्योत्तररेखायाः प्राग्धनं पश्चात् क्षयो भवति। एवं सौम्यदक्षिणयोर्गोलयोश्चरदलं चरासवोऽपि धनं क्षयश्च क्रमेण बोध्या इति ।

अत्रोपपत्तिः । यदि स्पष्टभूपरिधियोजनैः षष्टिघटिकास्तदा देशान्तरयोजनैः किं जाता देशान्तरनाडी $=\frac{६० \text{ देयो}}{\text{स्पभूप}}$ । आचार्येण स्थूलस्पष्टभूपरिधिः $=३६००$ योजनानि गृहीतः । ततो जाता देशान्तरनाडिका $=\frac{\text{देयो}}{६०}$ । धनर्णवासना चरधनर्णवासना च गोलयुक्त्या स्फुटा ॥१०॥

हि. भा.—उज्जयिनी याम्योत्तर रेखा से षष्टि योजन पूर्व में एक नाड़ी धन तथा पश्चिम में एक नाड़ी ऋण होता है । इसी तरह उत्तर दक्षिण गोल में चरदल तथा चरासु भी क्रम से धन तथा ऋण होता है ।

उपपत्ति ।

स्पष्ट भूपरिधि योजन में ६० घटी मिलता है तो देशान्तर योजन में क्या इस अनुपात से देशान्तर नाड़ी $= \frac{६० \times \text{देयो}}{\text{स्पभूप}}$ । यहां आचार्य ने स्थूल स्पष्ट भूपरिधिः ३६०० योजन स्वीकार किया है ।

अतः $\frac{६० \times \text{देयो}}{३६००}$ = देशान्तर नाड़ी ।

$= \frac{\text{देयो}}{६०}$ = देशान्तर नाड़ी । इसकी धन और ऋण की युक्ति गोलाध्याय में स्पष्ट है ।

इदानीं चन्द्रसाधनमौदयिकरविसाधनं चाह ।

तिथयो दशभागोना रविणा समन्विता शशी भवति मध्यः ।
तिथ्यंशाढ्याः शोध्यास्तिथिभोगजनाडिकाः केन्द्रात् ॥ ११ ॥[1]

---

१. तिथयो दशभागोना रविणा सहिताः शशी भवति मध्यः ।
तिथिभोगनाडिकाश्च द्विगुणोड्डुहृता रवेः शोध्याः ॥

सु. भा.—स्वदशभागोनास्तिथयो नक्षत्रात्मकं रविचन्द्रयोरन्तरं भवति। ता रविणा नक्षत्रात्मकसूर्येण सहिता नक्षत्रात्मको मध्यः शशी भवति। तिथिभोगनाडिका द्विगुणा उडु २७ हृताः फलं नक्षत्रघटिका भवन्ति। ता रवेः शोध्यास्तदा नक्षत्रादिको रविरुदये भवति।

अत्रोपपत्तिः। तिथौ तिथौ रविचन्द्रयोर्द्वादशभागा अन्तरमतस्तिथयो द्वादशगुणा भागात्मकं रविचन्द्रयोरन्तरम् $= १२$ ति। चक्रांशै सप्तविंशतिर्नक्षत्राणि तदेष्टान्तरेण १२ति अनेन किम्। जातं नक्षत्रात्मकमन्तरम् $= \frac{२७ \times १२ \text{ ति}}{३६०}$ $\frac{२७ \text{ ति}}{३०} = \frac{९ \text{ ति}}{१०} = ९ - \frac{\text{ति}}{१०}$। एवं तिथ्यंते रविचन्द्रौ जातौ। तिथ्यन्तसूर्योदययोर्मध्ये तिथिभोगनाडिकास्तत्संबंधिनक्षत्रात्मकचालनेन रवी रहित उदये रविर्भवति। तिथिभोगघटिकाश्च सावनाः प्रसिद्धाः। एकस्मिन् सावनदिने रविगतिः $= ५९'।८'' = ३५४८''$। अतो नक्षत्रात्मिकागतिः $= \frac{३५४८}{६० \times ८००}$। यदि घटीषष्ट्या रवेरियं नक्षत्रात्मिका गतिस्तदा तिथिभोगघटिकाभिः किं लब्धं नक्षत्रात्मकमृणचालनं षष्टिगुणं जातं घट्यात्मकम् $= \frac{३५४८}{६० \times ८००} \times \frac{\text{भोघ} \times ६०}{६०}$

$$= \frac{३५४८}{६० \times ८००} = \frac{२ \times १७७४ \times \text{भोघ}}{४८००} = \frac{२ \text{ भोघ}}{\frac{४८००}{१७७४}} = \frac{२ \text{ भोघ}}{२७}$$ स्वल्पान्तरात्।

अत उपपन्नो मच्छोधितः पाठः ॥११॥

हि. भा.—अपने दसवें भाग से हीन तिथि नक्षत्रात्मक रविचन्द्रान्तर के बराबर होती है, उसको नक्षत्रात्मक सूर्य में जोड़ने से मध्यमचन्द्र होता है। द्विगुणित तिथिभोगक नाड़ी को २७ से भाग देने पर लब्धि नक्षत्र की घटी होती है, उस नक्षत्र घटी को रवि में घटाने से उदयकालिक नक्षत्रादिक रवि होता है।

उपपत्ति।

रवि चन्द्रमा के अन्तर को १२ से भाग देने पर एक तिथि का मान होता है—इसलिये $१२ \times$ ति $=$ अंशात्मक रविचन्द्रान्तर,

तब अनुपात से—

$$\frac{२७ \times १२ \text{ ति}}{३६०} = \text{नक्षत्रात्मक अन्तर} = \frac{२७ \text{ ति}}{३०} = \frac{९ \text{ ति}}{१०} = \text{ति} - \frac{\text{ति}}{१०}$$ ।

इस तरह तिथि के अन्त में रवि और चन्द्र हुए। तिथ्यन्त सूर्योदय के बीच तिथि भोग नाड़िका से सम्बन्धित नक्षत्रात्मक चालन को सूर्य में से घटाने से उदयकाल में सूर्य होता है। तिथि भोग घटी तो सावन होता है, यह प्रसिद्ध ही है। एक सावन दिन में रवि की गति=५९'। ८"=३५४८" इस पर से नक्षत्रात्मक गति $=\frac{\text{३५४८}}{\text{६०}\times\text{८००}}$।

यदि ६० घटी में रवि की नक्षत्रात्मक गति पाते हैं तो तिथि भोग घटिकाओं में क्या इस अनुपात से नक्षत्रात्मक ऋण चालन $=\frac{\text{३५४८}\times\text{भोघ}}{\text{६०}\times\text{८००}}$। इसको ६० से गुणने पर

घटयात्मक चालन $=\frac{\text{३५४८}}{\text{६०}\times\text{८००}}\times\frac{\text{भोघ}\times\text{६०}}{\text{६०}}=\frac{\text{३५४८}\times\text{भोघ}}{\text{६०}\times\text{८००}}$

$=\frac{\text{२}\times\text{१७७४}\times\text{भोघ}}{\text{४८०००}}=\frac{\text{२ भोघ}}{\frac{\text{४८०००}}{\text{१७७४}}}=\frac{\text{२ भोघ}}{\text{२७}}$। स्वल्पान्तरसे। यहां श्री सुधाकरद्विवेदी का संशोधित पाठ उपपन्न हुआ ॥११॥

इदानीमौदयिकार्थं चन्द्रस्य तत्केन्द्रस्य च चालनमाह।

तिथिभोगनाडिकासु द्विगुणा रसगुणोद्धृताः शोध्याः।
पंचाशीत्यधिकोनास्तिथिनाड्यः शोधयेत् शशिनः॥ १२॥[1]

सु. भा.—स्पष्टार्थयमार्या।

अत्रोपपत्तिः। रविचालनवदत्रापि चन्द्रगतिः=७९०'।३५"=४७४३५"। नक्षत्रात्मिकागतिः $=\frac{\text{४७४३५}}{\text{६०}\times\text{८००}}$।

अतो रविवन्नक्षत्रघटयात्मकं चालनं $\frac{\text{४७४३५ भोघ}\times\text{६०}}{\text{६०}\times\text{८००}\times\text{६०}}=\frac{\text{४७४३५भोघ}}{\text{६०}\times\text{८००}}$

$=\frac{\text{९४८७ भोघ}}{\text{१२}\times\text{८००}}=\frac{\text{९४८७ भोघ}}{\text{९६००}}=\text{भोघ}-\frac{\text{११३ भोघ}}{\text{९६००}}=\text{भोघ}-\frac{\text{भोघ}}{\text{८५}}$

स्वल्पान्तरात्। एवं चन्द्रकेन्द्रगतिः=७९०'।३५"−६"।४१"=७८३'।५४"=४७०३४' चक्रकलाभिरष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि तदा चन्द्रकेन्द्रकलाभिः किम्। जाता नक्षत्रा

त्मिका चन्द्रगतिः $=\frac{\text{४७०३४}\times\text{२८}}{\text{६०}\times\text{२१६००}}=\frac{\text{४७०३४}\times\text{७}}{\text{६०}\times\text{५४००}}=\frac{\text{२३५१७}\times\text{७}}{\text{६०}\times\text{२७००}}$

---

१. पञ्चाशीतिलवोनास्तिथिनाड्यस्ताश्च शोधयेच्छशिनः।
षष्ट्यंशाढ्याः शोध्यास्तिथिभोगजनाडिकाः केन्द्रात् ॥१२॥

$= \frac{२६१३ \times ७}{६० \times ३००} = \frac{८७१ \times ७}{६० \times १००} = \frac{६०९७}{६०००}$ । (यतश्चकेन्द्रसाधने चक्रकलास्वष्टाविंशतिनक्षत्राणि कल्पितानि) । ततो रविवन्नक्षत्रघट्यात्मकं चालनम्

$= \frac{६०९७ \text{ भोघ} \times ६०}{६००० \times ६०} = \frac{६०९७ \text{ भोघ}}{६०००} = \text{भोघ} + \frac{९७ \text{ भोघ}}{६०००} = \text{भोघ} + \frac{\text{भोघ}}{६२}$

स्वल्पान्तरात् । इहाचार्येण सुखार्थं ६२ स्थाने ६० गृहीता अत उपपद्यते मच्छोधितः पाठः ॥१२॥

हि. भा. – इसका अर्थ स्पष्ट ही है ।

उपपत्ति ।

यहां चन्द्रगतिः=७९०′ । ३५″ अतः विकलात्मक चंग=४७४३५″ नक्षत्रात्मकगति $= \frac{४७४३५}{६० \times ८००}$ । यहां रवि की तरह नक्षत्रघट्यात्मक चालन $= \frac{४७४३५ \times \text{भोघ} \times ६०}{६० \times ८०० \times ६०}$

$= \frac{४७४३५ \text{ भोघ}}{६० \times ८००} = \frac{९४८७ \text{ भोघ}}{१२ \times ८००} = \frac{९४८७ \text{ भोघ}}{९६००} = \text{भोघ} - \frac{११३ \text{ भोघ}}{९६००}$

$= \text{भोघ} - \frac{\text{भोघ}}{८५}$ स्वल्पान्तर से ।

इस तरह चन्द्रकेन्द्रगति=७९०′ । ३५″—६′ । ४१″=७८३′ । ५४″ $= \frac{४७०३४'}{६०}$

चक्र कला में २८ नक्षत्र पाते हैं तो चन्द्रकेन्द्रगतिकला में क्या इस त्रैराशिक गणित से

नक्षत्रात्मक चन्द्रकेन्द्रगति $= \frac{४७०३४ \times २८}{६० \times २१६००} = \frac{४७०३४ \times ७}{६० \times ५४००} = \frac{२३५१७ \times ७}{६० \times २७००}$

$= \frac{२६१३ \times ७}{६० \times ३००} = \frac{८७१ \times ७}{६० \times १००} = \frac{६०९७}{६०००}$ यहां चन्द्रकेन्द्र साधन के हेतु चक्रकला में २८ नक्षत्र स्वीकार किये गये है । उससे रवि की तरह नक्षत्रात्मक चालनघटी

$= \frac{६०९७ \times \text{भोघ} \times ६०}{६००० \times ६०} = \frac{६०९७ \times \text{भोघ}}{६०००} = \text{भोघ} + \frac{९७ \text{ भोघ}}{६०००} = \text{भोघ}$

$+ \frac{\text{भोघ}}{६२}$, स्वल्पान्तर से । यहां आचार्य ने सुखार्थ ६२ के स्थानपर ६० को ग्रहण किया है ।

इससे उपपन्न होता है म. म. श्रीसुधाकर द्विवेदी जी का संशोधित प्रकार ॥

इदानीं रविचन्द्रकेन्द्राणां राशिमानमाह ।

त्रिगुणं सप्तविभक्तं नगाद्रयोऽंशा रवेरुच्चम् ।
विकलाष्टकसंयुक्ता नवबाणा लिप्तिका ५९।८ रवेर्भुक्तिः ।। १३ ।।[1]

विकलाष्टकसंयुक्ता नवबाणा लिप्तिका ५९।८ रवेर्भुक्तिः ।
खनवनगाः शीतांशोः पंचत्रिंशद्विलिप्ताश्च ।। १४ ।।

स्वोच्चोनं केन्द्रमितो नवभिर्लिप्ताशतैस्ततो जीवाः ।
विषमे भुक्तस्य समे भोग्यस्य सदैव केन्द्रपदे ।। १५ ।।[1]

सु. भा.—नक्षत्रात्मकौ रविचन्द्रौ वेद ४ गुणौ नव ९ भक्तौ तदा राश्यादिकौ भवतः। चन्द्रकेन्द्रं च त्रिगुणं सप्तहृतं राश्यादि भवेत्। नवभिर्लिप्ताशतैराचार्येण षोडशार्य्येकैका जीवा पठिता। अतः केन्द्रान्नवभिर्लिप्ताशतैस्ततो जीवाः साध्या इत्युक्तम्। विषमे केन्द्रपदे भुक्तस्य समे च सदैव भोग्यस्य जीवा कार्या। शेषं स्पष्टार्थम्।

अत्रोपपत्तिः ।

यदि सप्तविंशतिनक्षत्रैर्द्वादश राशयस्तदा नक्षत्रात्मकेन रविणा वा चन्द्रेण किम्। एवं द्वादशगुणः सप्तविंशतिर्भागहारः। गुणहरौ त्रिभिरपवर्त्तितौ जातौ गुणः ४। हरश्च ९। केन्द्रराश्यानयने चक्रकलास्वष्टाविंशति नक्षत्रात्मक विभागत्वात्। यदि वसुयमै २८ नक्षत्रैर्द्वादश राशयस्तदा नक्षत्रात्मककेन्द्रेण किम्। अत्र गुणभागहारौ चतुर्भिरपवर्त्तितौ। जातो गुणः ३। हरः ७। अत उपपन्नं सर्वम्। शेष वासना चातिसरला ।।१३-१५।।

हि. भा—नक्षत्रात्मक चन्द्ररवि को ४ से गुणाकर ९ से भाग देने से राश्यादिक चन्द्र और रवि होता है। चन्द्र केन्द्र को ३ से गुणाकर ७ से भाग देने पर राश्यादि केन्द्र होता है। ९०० कला पर एक जीवा पठित है इसलिये केन्द्र से ९०० कला पर से जीवा साधन करने के लिये आचार्य ने कहा है। विषम केन्द्रपद में भुक्तांश पर से तथा समकेन्द्रपद में भोग्यांश पर से जीवा साधन करना चाहिये। शेष शब्दों का अर्थ स्पष्ट ही हैं।

उपपत्ति ।

२७ नक्षत्र में बारह राशि होती हैं वहां नक्षत्रात्मक सूर्य या चन्द्र में कितनी राशियां होंगी, इस तरह यहां १२ तो गुणक और २७ भागहार होता है। गु=१२, हर=२७ यहां

---

१. रविचन्द्रौ वेदगुणौ नन्दविभक्तौ गृहादिकौ केन्द्रम् ।
त्रिगुणं सप्तविभक्तं नगाद्रयोऽंशा खेरुच्चम् ।।१३।।

गुण और हर को ३ से अपवर्त्तन करने पर गु=४ हर=६ । केन्द्रराशि के आनयन में चक्रकाल में नक्षत्रात्मक २८ भाग माना गया है । इसलिये अनुपात से $\frac{\text{१२ रा} \times \text{न.केन्द्रमें}}{\text{२८}}$ =तत् सम्बन्धी राशि का, यहां गुणभाग को ४ से अपवर्त्तन करने पर गुण=३ । हर =७ । इससे उपपन्न हुआ ॥१३-१५॥

इदानीं ज्याखण्डानि केन्द्रज्यासाधनं चाह ।

त्रिंशत्सनवरसेन्दुजिनतिथिविषया गृहार्धचापानाम् ।
अर्धज्याखण्डानि ज्याभुक्तैक्यं सभोग्यफलम् ॥ १६ ॥
गतभोग्यखण्डकान्तरदलविकलवधाच्छतैर्नवभिराप्तैः ।
तद्युतिदलं युतोनं भोग्यादूनाधिकं भोग्यम् ॥ १७ ॥

सु. भा.—त्रिंशत् नवभिः षड्भिरिन्दुना सहिता ३९।३६।३१ जिन २४ तिथि १५ विषया ५श्च गृहार्धचापानां पञ्चदशभागानां ज्याखण्डानि सन्ति । चापकला-नवशतैर्विभक्ता फलसंख्यासमाना ज्यार्धानामैक्यमेव ज्याभुक्तैक्यं ज्ञेयम् । शेषकला भोग्यखण्डेन गुणा नवशतैर्भक्ताः फलमेव भोग्यफलं ज्ञेयम् । ज्याभुक्तैक्यं भोग्यफलेन सहितमभीष्टज्या भवति । अत्र स्फुटाद्भाग्यखण्डाज्ज्या सूक्ष्माऽन्यया स्थूला भवति । सूक्ष्मं भोग्यखण्डं कथं सिध्यतीत्याह गतभोग्येति । गतभोग्यखण्ड-योरन्तरस्य दलमर्धं कार्यम् । तस्य विकलस्य शेषस्य च वधात् नवभिः शतैर्यानि आप्तानि तैस्तद्युतिदलं गतैष्यखण्डयोगदलं युतं कार्यं यदि तद्युतिदलं भोग्यादूनम। यदि तद्युतिदलं भोग्यादधिकं तदा तैराप्तैस्तद्युतिदलमूनं कार्यम् । क्रमज्याकरणे हीनमुत्क्रमज्या करणे युतं तद्युतिदलं कार्यं, तदैव तद्युतिदलस्य भोग्यादधिकाल्पत्वादिति । 'यातैष्ययोः खण्डकयोर्विशेषः' इत्यादि भास्करोक्तमेत-दनुरूपमेव । भास्करेण खार्क १२० मितेहाचार्येण च खतिथि – १५० मिता त्रिज्या गृहीता ।

अत्रोपपत्तिः ।

यदि ९००=प्र । ज्याप्र=३९ । चापम्=इ.प्र+शे । ज्या (इ.प्र)=ज्याग, तत्कोटिज्या च=कोज्याग ।

तदा ज्योत्पत्तिविधिना ज्याचा $= \frac{\text{ज्याग.कोज्याशे} + \text{ज्याशे.कोज्याग}}{\text{त्रि}}$ ...१

गतखण्डम् =ज्याग—ज्याग (ग—प्र)

एष्यखण्डम् =ज्या (ग+प्र)—ज्याग

तद्युतिदलम् $= \frac{\text{ज्या (ग.प्र)} - \text{ज्या (ग—प्र)}}{\text{२}} = \frac{\text{ज्या.प्र.कोज्याग}}{\text{त्रि}}$ ।

$$\text{तदन्तरदलम्} = \frac{2\,\text{ज्याग} - \{\text{ज्या}\,(\text{ग}+\text{प्र}) + \text{ज्या}\,(\text{ग}-\text{प्र})\}}{2}$$

$$= \text{ज्याग} - \frac{\text{ज्याग. कोज्याप्र}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{ज्याग.उज्याप्र}}{\text{त्रि}}$$

$$\text{ज्याशे} = \frac{\text{ज्याप्र.शे}}{\text{प्र}}$$ स्वल्पान्तरात् ।

$$\text{कोज्याशे} = \sqrt{\text{त्रि}^2 - \text{ज्या}^2\text{शे}} = \sqrt{\text{त्रि}^2 - \frac{\text{ज्या}^2\text{प्र.शे}}{\text{प्र}^2}}$$

$$= \text{त्रि} - \frac{\text{ज्या}^2\text{प्र.शे}^2}{2\,\text{त्रि.प्र}^2}$$ स्वल्पान्तरात् ।

(१) समीकरणेऽनयोरुत्थापनेन—

$$\text{ज्याचा} = \frac{\text{ज्याग.}\left(\text{त्रि} - \frac{\text{ज्या}^2\text{प्र.शे}^2}{2\,\text{त्रि.प्र}^2}\right)}{\text{त्रि}} + \frac{\text{कोज्याग.ज्याप्र.शे}}{\text{त्रि.प्र}}$$

$$= \text{ज्याग} - \frac{\text{ज्याग.ज्या}^2\,\text{प्र.शे}^2}{2\,\text{त्रि}^2.\text{प्र}^2} + \frac{\text{कोज्याग.ज्याप्र.शे}}{\text{त्रि.प्र}}$$ अतोज्याचा—ज्याग

$$= \frac{\text{कोज्याग.ज्याप्र.शे}}{\text{त्रि.प्र}} - \frac{\text{ज्याग.ज्या}^2\,\text{प्र.शे}^2}{2\,\text{त्रि}^2\,\text{प्र}^2}$$

$$= \frac{\text{शे}}{\text{प्र}}\left(\frac{\text{कोज्याग.ज्याप}}{\text{त्रि}} - \frac{\text{ज्याग.ज्या}^2\,\text{प्र.प्र}^2.\text{शे}}{2\,\text{त्रि}^2.\text{प्र}^2}\right)$$

$$= \frac{\text{शे}}{\text{प्र}}\left(\text{युद} - \frac{\text{ज्याग.उज्याप्र.शे}}{\text{प्र}}\right)$$

$$= \frac{\text{शे}}{\text{प्र}}\left(\text{युद} - \frac{\text{अंद.शे}}{\text{प्र}}\right)$$

अत्र कोष्ठान्तर्गतसंख्या यदि भोग्यखण्डं स्फुटं कल्प्येत तर्हि ज्याचा—ज्याग $= \frac{\text{शे.स्फुभोखं}}{\text{प्र}}$ । अत इदं सूक्ष्मं भोग्यफलं ज्याभुक्तैक्ये गतज्यामिते योज्यं तदा वास्तवासन्ना सूक्ष्मज्या स्यात् । एतेन भास्करोक्तमुपपद्यते । उत्क्रमज्याकरणे भोग्यखण्डस्योपचयात् क्षयस्थाने धनं भवतीति स्फुटम् । जीवातश्चापानयने भोग्यखण्डस्फुटीकरणं च भास्करविधिना ज्ञेयम् । तत्रैव बापूदेवशास्त्रिकृतं गौरवाननं च विचिन्त्यमिति ॥१६-१७॥

हि. भा—तीस में क्रम से ६, ६, १ युक्त करने पर ३९, ३६, ३१ हुआ। २४। १५। ५ यह ग्रहार्ध चाप का पञ्चदशभाग ज्याखण्ड है, चाप कला को ९०० सौ से भाग देने पर लब्धि के बराबर ज्यार्ध खण्ड के योग को ही ज्या का भुक्तैक्य जानना चाहिये। ज्याभुक्तैक्य और भोग्यफल का योग=इष्टज्या। यहां स्फुटभोग्यखण्ड से ज्या साधन सूक्ष्म होता है। अन्य प्रकार से स्थूल होता है।

अब सूक्ष्म भोग्यखण्ड की युक्ति को कहते हैं।

व्यतीत दो भोग्यखण्ड के अन्तर को आधा करो। उसके और शेष के गुणनफल में (९००) से भाग देने पर जो फल मिले उस को गतैष्यखण्ड के योगदल में जोड़ दो, यदि युतिदलभोग्य खण्ड से अल्प हो। यदि योगदल भोग्यखण्ड से अधिक हो तो उसे योग दल में से घटा दो। क्रमज्या प्रकार में घटावें, और उत्क्रमज्या प्रकार में जोड़ दें। 'यातैष्ययोः खण्डकयोर्विशेष' इत्यादि भास्करोक्त इसके अनुरूप ही है। भास्कराचार्य के मत में १२०=त्रि। आचार्य के मत में १५०=त्रिज्या।

उपपत्ति।

यदि ९००=प्र। ज्या.प्र=३९। चापम्=इ.प्र+शे। ज्या (इ.प्र)=ज्यागा। इसकी कोटि=कोज्यागा।

यहां ज्योत्पत्ति से—

$$\text{ज्याचा} = \frac{\text{ज्या.ग} \times \text{कोज्याशे} + \text{ज्याशे.कोज्याग}}{\text{त्रि}} \cdots\cdots\cdots (१)$$

$$\text{गख} = \text{ज्या} - \text{ज्या}\ (\text{ग} - \text{प्र})$$

$$\text{ऐष्यखं} = \text{ज्या}\ (\text{ग} + \text{प्र}) - \text{ज्याग}$$

दोनों का योग दल।

$$\text{योदयो} = \frac{\text{ज्या}\ (\text{ग्र} + \text{प्र}) - \text{ज्या}\ (\text{ग} - \text{ग्र})}{२} = \frac{\text{ज्याप्र} \times \text{कोज्याग}}{\text{त्रि}}\ ।$$

$$\text{योदग्रं} = \frac{२\ \text{ज्याग} - \{\text{ज्या}\ (\text{ग्र} + \text{प्र}) + \text{ज्या}\ (\text{ग्र} - \text{प्र})\}}{२}$$

$$= \text{ज्याग} - \frac{\text{ज्याग.कोज्याप्र}}{\text{त्रि}} = \frac{\text{ज्याग.उज्याप्र}}{\text{त्रि.}}$$

$$\text{ज्याशे} = \frac{\text{ज्याप्र.शे}}{\text{प्र}}\ \text{स्वल्पान्तर से ।}$$

$$\text{कोज्या शे} = \sqrt{\text{त्रि}^{२} - \text{ज्या}^{२}.\text{शे}} = \sqrt{\frac{\text{त्रि}^{२} - \text{ज्या}^{२}.\text{प्र}.\text{शे}^{२}}{\text{प्र}^{२}}}$$

$$=\left(\text{त्रि} = \frac{\text{ज्या}^2\text{प्र.शे}^2}{२\ \text{त्रि.प्र}^2}\right)$$ स्वल्पान्तर से ।

(१) एक समीकरण में उत्थापन देने से—

$$\text{ज्यचा} = \frac{\frac{\text{ज्याग}\ (\text{त्रि} — \text{ज्या}^2.\text{प्र.शे}^2}{२\ \text{त्रि.प्र}^2}}{\text{त्रि}} + \frac{\text{कोज्याग.ज्याप्र.शे}}{\text{त्रि.प्र}}$$

$$= \text{ज्याग} = — \frac{\text{ज्याग.ज्या}^2.\text{प्र.शे}^2}{\text{त्रि}^2.\text{प्र}^2} + \frac{\text{कोज्याग.ज्याप्र.शे.}}{\text{त्रि.प्र.}}$$ अतः ज्याचा—ज्याग

$$= \frac{\text{कोज्याग.ज्याप्र. शे}}{\text{त्रि.प्र}} — \frac{\text{ज्याग} \times \text{ज्या}^2\ \text{प्र.शे}^2}{२\text{त्रि}^2.\text{प्र}^2}$$

$$= \frac{\text{शे}}{\text{प्र}}\left(\frac{\text{कोज्याग. ज्या शे}}{\text{त्रि}} — \frac{\text{ज्याग.ज्या.}^2\text{प्र.प्र.}^2\text{शे}}{२\ \text{त्रि}^2.\text{प्र}^2}\right)$$

$$= \frac{\text{शे}}{\text{प्र}}\left(\text{युद} — \frac{\text{ज्याग.उज्या प्र.शे}}{\text{प्र}}\right)$$

$$= \frac{\text{शे}}{\text{प्र}}\left(\text{युद} — \frac{\text{अदं.शे}}{\text{प्र}}\right)$$

यहां कोष्ठ के अन्तर्गत को यदि भोग्यखण्ड स्फुट मानते हैं तो ज्याचा—ज्याग $= \frac{\text{शे.स्फुभो.खं}}{\text{प्र}}$ । इस सूक्ष्म भोगफल को गतज्या में जोड़दें तब वासवासन्न सूक्ष्मज्या होती है। इससे भास्करसूत्र उपपन्न होता है।

इदानीं रविचन्द्रयोर्मन्दफलानयनमाह ।

स्वाष्टांशोना सवितुर्द्विगुणा ज्या शीतगोः फलं लिप्ताः ।
स्वफलमृणं चक्रार्धादूने केन्द्रेऽधिके मध्ये ॥ १८ ॥

सु. भा.—सवितुः सूर्यस्य केन्द्रज्या स्वाष्टांशोना । शीतगोश्चन्द्रस्य च केन्द्रज्या द्विगुणा तदा तयोः क्रमेण लिप्तात्मकं मन्दफलं भवति । केन्द्रे चक्रार्धात् षड्राशित ऊने मध्ये स्वफलं स्वमन्दफलमृणं कार्यम् । अधिके तुलादिकेन्द्रे मध्ये धनं कार्यमित्यर्थत एव सिध्यति ।

अत्रोपपत्तिः ।

रविपरममन्दफलकलाः = $१३०\frac{१}{२}$ स्वल्पान्तरात् । चन्द्रस्य च ३०० कलाः । ततोऽनुपातो यदि त्रिज्यातुल्यकेन्द्रज्यया परममन्दफलकलास्तदेष्ट केन्द्रज्यया किं जाता रविमन्दफलकलाः $= \frac{१३०\frac{१}{२} \times ज्याके}{१५०}$, $\frac{(१३० \times ८ + ४)\ ज्याके}{१५० \times ८}$

$= \frac{१०४४\ ज्याके}{१५० \times ८} = \frac{७\ ज्याके}{८}$ स्वल्पान्तरात् । एवं चन्द्रमन्दफलकलाः

$= \frac{३००\ ज्याके}{१५०} = २$ ज्याके । अत उपपन्नम् ।। १८ ।।

हि. भा.—रवि की केन्द्रज्या में से अपना अष्टमांश घटा दो, और चन्द्रकेन्द्रज्या को दो से गुणा करो । दोनों का लिप्तात्मक मन्दफल होता है । केन्द्र ६ राशि में कम हो तो मन्दफल को मध्यम में से घटा दें । जहां केन्द्र दो राशि से अधिक हो वहां मन्दफल को मध्यम में जोड़ दो, यह बात मूलोक्त में स्पष्ट ही है ।

उपपत्ति ।

रविपरममन्दफलकाला = $१३० + \frac{१}{२}$ स्वल्पान्तर से चन्द्रमा का मन्दफलका = ३०० कला । तब अनुपात से—

$$रविमन्दफलक = \frac{१३०\frac{१}{२} \times ज्याके}{१५०} = \frac{(१३० \times ८ + ४)\ ज्या के}{१५० \times ८}$$

$= \frac{१०४४\ ज्याके}{१५० \times ८} = \frac{ज्याके\ ७}{८}$ । स्वल्पान्तर से, एवं चन्द्रमन्द फलकला $= \frac{३००ज्याके}{१५०}$

= २ ज्या के । इससे उपपन्न हुआ ।।१८।।

इदानीं रविचन्द्रयोर्गतिफलसाधनमाह ।

नगभूहृद्रविभोग्यं खण्डं चान्द्रं विवसुलवं द्विगुणम् ।
भुक्तिफलं स्वमृणं स्यात् कुलीरमकरादिके केन्द्रे ।। १९ ।।

सु. भा.—केन्द्रज्या करणे रवेर्यद्भोग्यखण्डं तन्नवभू १९ हृद्रवेर्भुक्तिफलं स्यात् । चान्द्रं चन्द्रसम्बन्धि यद्भोग्यखण्डं तद्विवसुलवं स्वाष्टांशोनं द्विगुणं च चन्द्रभुक्तिफलं स्यात् । तद्गति फलं कुलीरमकरादौ केन्द्रे क्रमेण स्वमृणं स्यात् ।

अत्रोपपत्तिः ।

प्रथमचापेन नवशतमितेन भोग्यखण्डं तदा केन्द्रगत्या किमिति लब्धमद्यत-

नश्वस्तनकेन्द्रज्ययोरन्तरं तेन या मन्दफलकलास्तदेव गतिफलम् ।

तद्यथा रवेः केन्द्रगतिः $= ५९' \mid ८''$ ॥

केन्द्रज्यान्तरम् $= \frac{(५९' \mid ८'') \text{ भोखं}}{९००}$ । १८ सूत्रेणानेनान्तरेण मन्दफल-कला एव रवेर्गतिफलम् $= \frac{७ (५९' \mid ८'') \text{ भोख}}{८ \times ९००} = \frac{७ \times ३५४८ \times \text{भोख}}{७२०० \times ६०}$

$= \frac{२४८३६ \text{ भोख}}{४३२०००} = \frac{\text{भोख}}{१७}$ स्वल्पान्तरात् ।

एवं चन्द्रस्य केन्द्रगतिः $= ७९०' \mid ३५'' - ६' \mid ४१'' = ७८३' \mid ५४'' = ७८४'$ स्वल्पान्तरात् ।

ततो गतिफलं पूर्वोक्तेन विधिना

$$= \frac{२ \times ७८४ \text{ भोख}}{९००} २ + \frac{१९६ \times ४ \times \text{भोख}}{२२५ \times ४}$$

$$= २ + \frac{१९६ \times ७ \times \text{भोखं}}{२२५ \times ७} = २ + \frac{७ \text{ भोखं}}{\frac{१५७५}{१९६}}$$

$$= २ + \frac{७ \text{ भोख}}{८} \text{ स्वल्पान्तरात् ।}$$

अत उपपन्नम् । धनर्णवासना भास्करविधिना स्फुटा ॥ १९ ॥

हि. भा.—केन्द्रज्या करण में रवि का जो भोग्यखण्ड है उसको १९ से भाग देने पर रवि का गतिफल होता है । चन्द्र सम्बन्धी भोग्य खण्ड का आठवां भाग भोग्यखण्ड में से घटाकर शेष को दो से गुणा करने पर चन्द्र का गतिफल होता है ।

उपपत्ति ।

पहलाचाप $= ९००$ ।

अनुपात से—

$\frac{\text{भोखं} \times \text{केग}}{९००} =$ कें‌ज्‍यां । इस पर जो मन्दफल कला होगा वह गतिफल है ।

रवि केन्द्र ग $= ५९' \ ८''$ ।

केन्द्रज्यान्तर $= \frac{(५९' \mid ८'') \text{ भोखं}}{९००}$ ।

१८ सूत्र से मन्दफलकला $=$ रविगफ $= \frac{७ (५९' \mid ८'') \text{ भोखं}}{८ \times ९०००}$

$= \frac{७ \times ३५४८ \times भोखं}{७२०० \times ६०} = \frac{२४८३६ \; भोखं}{४३२०००} = \frac{भोख}{१७}$ स्वल्पान्तर से। इस तरह चन्द्र की केन्द्रगति $=७९०'$। ३५"—६'। ४१"$=७८३'$। ५४"$=७८४'$ स्वल्पान्तर से।

अतः पहली तरह गफ $= \frac{२ \times ७८४ \; भोखं}{९०००}$

$= २ + \frac{१९६ \times ४ \times भोखं}{२२५ \times ४} = २ + \frac{१९६ \times ७ \times भोखं}{२२५ \times ७}$

$= २ + \frac{७ \; भोखं}{\frac{१५७५}{१९५}} = २ + \frac{७ \; भोखं}{८}$ स्वल्पान्तर से। इससे उपपन्न हुआ।

धन तथा ऋण की युक्ति भास्कर प्रकार से स्पष्ट ही है।

इदानीं चन्द्रे भुजफलसंस्कारं तिथौ फलसंस्कारं चाह।

भांशोऽर्कफलस्येन्दौ रविवद्दद्याद्विशोधिते तथा स्वोच्चे।
रविफलमिनवच्च तिथौ चान्द्रे व्यस्तं स्फुटार्काप्तम् ॥ २० ॥

सु. भा.—इन्दौ मध्यचन्द्रेऽर्कफलस्य यो भां २७ शः स रविवद्द्देयः। तथा इन्दौ स्वोच्चे विशोधितेऽर्थाच्चन्द्रमन्दकेन्द्रे च स रविफलभांशो रविवद्देयः। ततः संस्कृतचन्द्रकेन्द्रात् मन्दफलमानेयं चन्द्रस्येत्यर्थः। इनवद्धनमृणं वा यथा रविमन्दफलमागतं तच्चान्द्रे चन्द्रमन्दफले व्यस्तं संस्कार्यं संस्कृतमंशात्मकं फलमर्काप्तं द्वादशभक्तं फलं तिथौ देयं तदा स्फुटं तिथिमानं भवेदिति।

अत्रोपपत्तिः।

स्फुटार्कोदयतश्चन्द्रसाधनार्थं रविभुजफलसंस्कार आनीतः। तदानयनोपपत्तिश्च 'भाप्तं च द्युमणिफलं लवे' इत्यस्य ग्रहलाघवस्य वासनायां मत्कृतोपपत्तिरवलोक्या। रव्यूनचन्द्रतस्तिथिसाधनं भवति। अतो मध्यमतिथौ रविफलोनचन्द्रफलं द्वादशभिर्विभज्य संस्कार्यम्। अतो रविफलव्यस्तसंस्कृतचन्द्रफलं द्वादशहृतमित्युपपद्यते ॥२०॥

हि. भा.—मध्यम चन्द्रमा में रविफल का २७ वां भाग रवि की तरह जोड़ दें या घटा दें। चन्द्रमा को उच्च में घटाकर जो केन्द्र हो उसमें रविफल का २७ वां भाग रवि की तरह धन या ऋण करें। तब संस्कृत चन्द्रकेन्द्र पर से चन्द्रमा का मन्द फल लाना चाहिये। सूर्य की तरह धन या ऋण जो रविफल आवे उसको चन्द्र मन्दफल में व्यस्त (उलटा) संस्कार करें। संस्कृत अंशात्मक फल को १२ से भाग दें। लब्धि को तिथि में संस्कार करने पर स्पष्ट तिथिमान होता है।

उपपत्ति ।

स्पष्टार्कोदय पर से चन्द्र साधन के लिये रवि का भुजफल संस्कार माना गया है। उस आनयन की उपपत्ति । 'भाप्तं च द्युमणिफलं' इस श्लोक का आशय सुधाकर कृत ग्रह-लाघव की युक्ति से स्पष्ट ही है। रवि में से चन्द्र घटाकर तिथि साधन होता है। इसलिये रविफलोन चन्द्रफल को बारह से भाग देकर फल को मध्यमतिथि में संस्कार करने से मूलोक्त उपपन्न होता है।

इदानीं केन्द्रत एव तिथिसंस्कारयोग्यं घटिकात्मकं मन्दफलमाह ।

पंचेषुपंचयुगगुणयमचन्द्राश्चन्द्रकेन्द्रजफलानि ।
द्विकुभुवखरहिते······तथा सूर्ये · ···॥ २१ ॥[1]

सु. भा.—एकस्मिन् पादेऽष्टाविंशतिनक्षत्रात्मक केन्द्रसंख्या ७ तत्र प्रतिनक्षत्रं चन्द्रमन्दफलघटीभवान्यन्तरखण्डानि पञ्चेषु पञ्चेत्यादीनि । एवं सूर्ये स्वोच्चविरहिते तथैव चन्द्रकेन्द्रवत् केन्द्रे क्रियमाणे प्रतिनक्षत्रं रविमन्दफलघटीभवान्यन्तर-खण्डानि द्विद्विद्वीत्यादीनि ज्ञेयानि ।

अत्रोपपत्तिः ।

एकस्मिन् चक्रे २८ चन्द्रकेन्द्रभानि पूर्वं कल्पितानि । अतो वृत्तपादे नवतिभागात्मके सप्त भानि । एकैकस्मिन् भे स्वल्पान्तरतस्त्रयोदशभागाः अतः—

भानि	=१	२	३	४	५	६	७
भागाः	=१३	२६	३९	५२	६५	७८	९०
केन्द्रज्याः	=३४	३५	९४	११७	१३५	१४६	१५०
मंदफल—							
कलाः	=६८	१३०	१८८	२३४	२७०	२९२	३००
द्वादशहृता							
घटिकाः	=५।४०	१०।५०	१५।४०	१९।३०	२२।३०	२४।२०	२५।०
अन्तराणि	=५।४०	५।१०	४।५०	३।५०	३।०	१।५०	०।४०

आचार्येणैतेषां स्थाने स्वल्पान्तरात् क्रमेण ५।५।५।४।३।२।१ ता अन्तररूपा निरवयवघटिका गृहीताः । अत्र प्रथमस्थाने महती स्थूला तत्र वस्तुतोऽर्धाधिके रूपं

१. द्विद्विद्विद्वि कुभूखान्युच्च विरहिते तथा सूर्ये ॥२१॥

ग्राह्यमिति नियमेन षड् घटयः समुचिताः । एवं तत्केन्द्रज्यावशतः क्रमेण रविमन्द-फलकलाः 'स्वाष्टांशोना सवितु' रित्याचार्योक्तितः ।

मंफक	=३०	५७	८२	१०२	११८	१२८	१३१
द्वादशहृता							
घटयः	=२।३०	४।४५	६।५०	८।३०	९।५०	१०।४०	१०।५५
अन्तराणि	=२।३०	२।१५	२।५	१।४०	१।२०	०।५०	०।१५

आचार्येणैतेषां स्थाने स्वल्पान्तरात् क्रमेणै २।२।२।२।१।१।० ता अन्तरा-त्मका निरवयवघटिकाः पठिताः ॥२१॥

हि. भा.—एक पाद में २८ नक्षत्रात्मक केन्द्र संख्या = ७, वहां प्रतिनक्षत्र चन्द्र मन्दफलघटी से प्राप्त अन्तरखण्ड 'पञ्चेषु पञ्च' इत्यादि पठित है । एवं सूर्य में सूर्योच्च घटाकर तथा चन्द्र के केन्द्र की तरह केन्द्र बनाने पर प्रतिनक्षत्र रविमन्दफल घटी से प्राप्त अन्तरखण्ड द्विद्विद्वीत्यादि के बराबर समझना चाहिये ।

उपपत्ति ।

एक चक्र में २८ चन्द्रकेन्द्र नक्षत्र कल्पित हैं । इसलिये वृत्त के चातुर्थांश पाद ९० अंश के सात नक्षत्र हैं । हर एक नक्षत्र में स्वल्पान्तर के १३ भाग हैं । अतः

भानि	=१	२	३	४	५	६	७
भागाः	=१३	२६	३९	५२	६५	७८	९७
केन्द्रज्या	=३४	६५	९४	११७	१३५	१४६	१५०
मन्दफलकला	=६८	१३०	१८८	२३४	२७०	२९२	३००
द्वादशहृताघटिका	=४५०	१०।५०	१५।४०	१९।३०	२२।३०	२४।२०	२५।०
अन्तराणि	=५।४०	५।१०	४।१०	३।५०	३।०	१।५०	०।४०

यहां आचार्य ने इन स्थानों में स्वल्पान्तर से अन्तररूप निरवयव घटी को क्रम से ५ । ५ । ५ । ४ । ३ । २ । १ ग्रहण किया है । पहले स्थान में बड़ी स्थूलता है । वस्तुतः अर्धाधिके रूपं ग्राह्य" इस नियम से ६ घटी समुचित हैं ।

इस तरह केन्द्रज्या पर क्रम से 'रविमन्दफल कला । स्वाष्टांशोना' इत्यादि आचार्य की उक्ति से जानना चाहिये ।

मं. फक	=३०	५७	८२	१०२	११८	१२८	१३१
द्वादशभक्त घटी	=२।३०	४।४५	६।५०	८।३०	९।५०	१०।४०	१०।५५
अन्तराणि	=२।३०	२।१५	२।५	१।४०	१।३०	०।५०	०।१५

आचार्य स्वल्पान्तर से इन सबों के स्थान पर (२।२।२।२।१।१।०) इतनी अन्तरघटी स्वीकार की है।

इदानीं तिथिसाधनमाह।

अर्कोनचन्द्रलिप्ताः रवयमस्वरभाजिताः फलं तिथयः।
गतगम्ये षष्टिगुणे भुक्तचन्तरभाजिते घटिकाः॥ २२॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम्। स्पष्टाधिकारेण स्फुटोपपत्तिश्च॥२२॥

हि. भा.—चन्द्रकला में से रविकला को घटाकर ७२० से भाग देने से फल तिथि होती है। गत और गम्य तिथि को ६० से गुणाकर गत्यन्तर से भाग देने पर क्रम से गत और गम्य तिथि घटी होती है।

उपपत्ति।

उपपत्ति स्पष्टाधिकार में कही गई है।

इदानीं भयोगसाधनमाह।

भान्यश्विन्यादीनि ग्रहलिप्ताः खखवसूद्धृता लब्धम्।
भुक्तिहृते गतगम्ये दिवसाः षष्ट्याहते घटिकाः॥ २३॥
रविचन्द्रयोगलिप्ताः खखवसुभिर्भाजिता फलं योगः।
गतगम्ये षष्टिगुणे गतयो निभाजिते घटिकाः॥ २४॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् स्पष्टाधिकारस्य ३३ श्लोकसमा प्रथमार्या। द्वितीयार्थं तत्रैव टीका विलोक्या॥२३-२४॥

हि. भा.—ग्रह कला को खखवसूद्धृता (८००) से भाग देने पर लब्धि अश्विन्यादि नक्षत्र होता है। गत और गम्य नक्षत्र को साठ से गुणाकर भुक्ति से भाग देने पर लब्धि क्रम से गत और गम्यघटी होती है। २४ वें श्लोक का अर्थ स्पष्ट ही है।

उपपत्ति।

यहां २३-२४ दोनों श्लोकों की युक्ति स्पष्टाधिकारोक्त ६३ श्लोकों की सु० भा० या वि०भा० देखनी चाहिये।

इदानीं करणानयनमाह ।

व्यर्केन्दुकला भक्ताः खरसगुणैर्लब्धमूनमेकेन ।
चरकरणानि ववादीन्यगताच्छेषात् तिथिवदन्यत् ।। २५ ।।

सु. भा.—अगताद्भोग्यात् । शेषाद्गतात् । अन्यद् भुक्तभोग्यघटिकादिकं तिथिवत्साध्यम् । शेषं स्पष्टार्थम् ।।२५।।

हि. भा.—चन्द्रकला में से रविकला घटाकर साठ से भाग दें, लब्धि में से एक घटाकर शेष ववादिचरकरण होता है । तिथि की तरह इसकी गत और गम्य घटी का साधन करना चाहिये । और सब बातें स्पष्ट रूप से ज्ञात है ।

इदानीं रव्यब्दान्ते भौमादिसाधनमाह-तत्रादौ भौमसाधनम् ।

अङ्गै रुद्रैः सिद्धैर्गजैर्यमैरर्कवत्सरान् गुणयेत् ।
शैलैर्विश्वैर्गुणितैरष्टवह्निभिर्योजयेद्भौमः ।। २६ ।।

सु. भा.—अत्रोपपत्तिः । भौमभगणविकलाः कल्पसौरवर्षविहृता जातैकस्मिन् सौरवर्षे भौमविकलामितिः $=\frac{२१६००\times ६०\times भौम}{४३२००००००००}=\frac{५०\times ६० \ भौम}{१००००००००}=\frac{३ \ भौम}{१००००}$
$=\frac{३\times २२९६८२८५२२}{१००००}=\frac{६८९०४८५५६६}{१००००}=६८९०४८''\ \frac{५५६६}{१००००}=६८९०४८''$
$+३३''$ स्वल्पान्तरात् $=११४८४'।८''।३३''=१९१^{\circ}।२४'।८''।३३''=\frac{रा}{६}।\quad ११^{\circ}।$
$२४'।८''।३३''$ ।

एते राश्याद्या इष्टसौरवर्षैर्गुणाः क्षेपयुक्ता अभीष्टसौरवर्षे राश्याद्यो भौमः स्यात् ।

अत्रार्चोक्तलिखितसंख्याभिर्विलोमेन कल्पे कुजभगणाः स्वल्पान्तरात् २२९६८२६७७८ एते सिध्यन्ति ।

अत्र पाठपठितभगणेभ्यः कलिगताब्देभ्य ३७२९ एभ्यो विकलात्मकः कुजः
$=\frac{कुभ\times १२+३०\times ६०\times गव}{४३२००००००००}=\frac{कुभ\times ३ \ गव}{१००००}=\frac{कुभ \ ११८७}{१००००}$

१. अङ्गै ६ रुद्रैः ११ सिद्धै २४ र्गजैः ८ सुरैरर्कवत्सरान् गुणयेत् ।
शैलै ७र्वसुभिः ८ कुगुणै ३१ रिभाग्निभि ३८ र्योजयेद्भौमः ।।२६।।

$= \frac{२२९६८२८५२२ \times ११८७}{१००००} = २५६९४६२०६७'' \frac{५६१४}{१००००} =$ रा$_७$।९°।२७'।४८"

स्वल्पान्तरात् । अयं कल्यादिकुजेन रा$_{११}$।२९°।३'।५०" अनेन युतोजातः क्षेपः=रा$_७$।८°।

३१'।३८"॥२६॥

हि. भा.—व्याख्या स्पष्ट ही है, इस (अङ्गै रुद्रैः सिद्धै) से भौम का साधन किया गया है ।

उपपत्ति ।

भौम भगण विकला का कल्प सौरवर्ष से भाग देने पर एक सौर वर्ष में भौम का

विकला मान $= \frac{२१६०० \times ६० \times \text{भौम}}{४३२००००००}$

$= \frac{५० \times ६० \times \text{भौम}}{१००००००} = \frac{३ \text{ भौम } \times २२९६८२५२२}{१००००}$

$= \frac{६८९०४८५५६६}{१००००} = ६८९०४८'' + \frac{५५६६}{१००००}$

=६८९०४८"+३३" स्वल्पान्तर से ११४८४'। ८"। ३३"=१९१°। २४'। ८"। ३३" =६ रा। ११°। २४'। ८"। ३३३'। राश्यादि भौम को इष्ट सौर रविवर्ष से गुणाकर गुणनफल में क्षेप जोड़ने से इष्ट सौर वर्ष का भौम होता हैं। आचार्योक्त लिखित संख्या के विलोम से भी कल्प में भौम भगण स्वल्पान्तर से (२२९६८२६७७८) के बराबर होता है।

यहां पाठ पठित भगण से तथा कलिगताङ्क ३७२९ इससे विकलात्मक भौम=

$= \frac{\text{कुभ } \times १२ + ३० \times ६० \times ६० \times \text{गप}}{४३२००००००००} = \frac{\text{कुभ } \times ३ \text{ गव}}{१००००}$

$= \frac{\text{कुभ } \times ११८७}{१००००} = \frac{२२९६८२८५२२ \times ११८७}{१००००}$

$= २५६९४६२०६७'' + \frac{५६१४}{१००००} =$७ रा. ९°। २७'। ४८" स्वल्पान्तर से । एवं कल्पादि भौम ११ रा। २९'।३'।५०" से युक्त क्षेप= रा ७। ८°। ३१'। ३८" इति ।

इदानीं बुधशीघ्रानयनमाह ।

शशिना जिनैः रङ्कैः षड्वह्निभिर्हताद्ब्दात् ।
शशिना द्विपैरर्यमैश्चतुरब्धिभिरन्वितं भवति बुधशीघ्रम् ।। २७ ।।[१]

सु. भा.—अत्रोपपत्तिः ।

भौमवद्बुधशीघ्रविकलामितिरेकस्मिन् सौरवर्षे $=\frac{३ \cdot बुशीभ}{१००००}$

$=\frac{३\times१७९३६९९८९८४}{१००००}=\frac{५३८१०९९६९५२}{१००००}=५३८१०९९'' । \frac{६९५२}{१००००}$

$=५३८१०९९''+४१''' = ८९६८४'।५९''।४१''' = १४९४^\circ।४४'।५९''।४१'''=रा_{४९}।$

$२४^\circ।४४'।५९''।४१'''=रा_{१}।२४^\circ।४४'।५९''।४१'''।$

आचार्योक्तलिखितसंख्याभिर्विलोमेन कल्पे बुधशीघ्रभगणा १७९३७०३२००० एते सिध्यन्ति ।

अत्र भौमसाधनवत् कलिगताब्देभ्य३७२९ एभ्यो मध्यमाधिकारे पाठपठितभगणेभ्यश्च विकलात्मकबुधशीघ्रम् ।

$=\frac{बुभ\times ३ गव}{१००००}=\frac{१७९३६९९८९८४\times१११८७}{१००००}=२००६६१२०७६३'' \frac{४००८}{१००००}$

$=रा१ । १२^\circ । २६' । ३''$ अयं कल्पादिबुधशीघ्रेणानेन—

$रा_{११} । २७^\circ । २४' । २९''$

युतो जातः क्षेपः =	१ ।	९° ।	५०' ।	३२''
आचार्योक्तक्षेपः =	१ ।	८ ।	३३ ।	४४
अन्तरम् =		१	१६	४८

हि. भा.—शशिना=१, जिन=२४, अङ्क=९, षट्वह्नि=३६, इन अङ्कों से अब्द गण को गुणा दें, और शशिना=१, द्विप=८, अर्यमा=३३ चतुरब्धि=४४, इन अङ्कों को क्रम से युक्त करें तो बुध का शीघ्र केन्द्र होता है ।

---

१. शशिना १ जिनैः २४ शराब्दिभिः ४५ रङ्कैः षड्वह्निभिर्हताब्दात् ।
शशिना १ द्विपैः सुरैः ३३श्चतुरब्धिभि ४४ रन्वितं बुधशीघ्रम् ।।२७।।

उपपत्ति।

एक सौरवर्ष में बुधशीघ्र विकला= $\frac{३ \text{ बुशीभ}}{१००००}$

$= \frac{३ \times १७९३६९९८८९८४}{१००००} = \frac{५३८१०९९६९५२}{१००००}$

$= ५३८१०९९'' + \frac{६९५२}{१००००} = ५३८१०९९'' + ४१'''$

$= ८९६८४' । ५९'' । ४१''' = १४९४^\circ । ४४' । ५९'' । ४१'''$

= ४९ रा। २४ अं। ४४ क। ५९ वि। ४१ प्र. वि।

= १ रा। २४ अं। ४४ क। ५९ वि। ४१ प्र. वि।

यहां आचार्योक्त संख्या के विलोम से कल्प में बुधशीभगण १७९३७०३२००० होता है। अब कलिगताब्द ३७२९ इससे और मध्यमाधिकार में पाठ पठित भगण पर से विकलात्मक बुधशीघ्रकेन्द्र—

$= \frac{\text{बुभ} \times ३ \text{ गव}}{१००००} = \frac{१७९३६९९८८९८४ \times १११८७}{१००००}$

$= २००६६१२०७६३'' + \frac{४००८}{१००००}$ = १ रा। १२°। २६'। ३" इसका

और कल्पादि बुधशीघ्र का योग क्षेप होता है।

यथा (११ रा। २७°। २४'। २९") + (१ रा। १२°। २६'। ३")

=क्षेप =१। ९°। ५०'। ३२"।

आचार्योक्त क्षेप =१। ८। ३३। ४४।

इन दोनों का अन्तर=०। १। १६। ४८। इससे उपपन्न हुआ।

इदानीं गुरोरानयनमाह।

रूपेण १ खेन० कुयमै-२१ रङ्ग-६ नंवभिश्च करणाब्दाः।[1]
गुणिता युक्ता वेदैः कुयमैस्त्रियमैश्च भवति गुरुः॥ २८॥

सु. भा.—अत्रोपपत्तिः।

पूर्ववद्गुरुविकलामितिरेकस्मिन् सौरवर्षे $= \frac{३ \text{ गुभ}}{१००००} = \frac{३ \times ३६४२२६४५५}{१००००}$

---

१. रूपेण १ खेन० कुयमै २१ रश्वैरङ्गैश्च करणाब्दाः।

$= \frac{१०९२६७९३६५}{१००००} = १०९२६७'' \frac{९३६५}{१००००} = १०९२६७'' + ६'''$ स्वल्पान्तरात्

$= १८२१' । ७'' । ६''' = ३०° । २१' । ७'' ६''' = रा_{१} । ०° । २१' । ७'' । ६'''$

आचार्योक्तसंख्याभिर्विलोमेन कल्पे गुरुभगणा ३६४२२०५०० एते सिध्यन्ति ।

मध्यमाधिकारे पाठपठितगुरुभगणेभ्यः कलिगताब्देभ्य ३७२९ एभ्यो भौमसाधनवद्ग्रन्थारम्भे विकलात्मको गुरुः $= \frac{गुभ \times ३ गव}{१००००}$

$= \frac{३६४२२६४५५ \times १११८७}{१००००} = ४०७४६०१३५'' \frac{२०८५}{१००००} = रा_{४} । २३° । २२' ।$

१५'' अयं कल्पादिगुरुणानेन

$रा_{११} । २९° । २७' । ३६''$

युक्तो जातः क्षेपः	=	४ । २२ । ४९ । ५१
आचार्योक्त क्षेपः	=	४ । २१ । २३ । ००
अन्तरम्	=	१ । २६ । ५१

हि. भा.—रूप=१, खेम=० । कुयम=२१ । अङ्ग=६, नव=९ इन संख्याओं से करणाब्द से गुणा दें । और क्रम से वेद=४, कुयम=२१, त्रियम=२३ युक्त कर दें तो गुरु होता है ।

उपपत्ति ।

एक सौरवर्ष में गुरु का विकला मान $= \frac{३ गुभ}{१००००} = \frac{६ \times ३६४२२६४५५}{१००००}$

$= \frac{१०९२६७९३६५}{१००००} = १०९२६७'' + \frac{९३६५}{१००००}$

$= १०९२६७'' + ६'''$ स्वल्पान्तर से ।

$१८२१' । ७'' । ६''' = ३०° । २१' । ७'' । ६'''$

$= १ रा । ०° । २१' । ७'' । ६''$ ।

यहां आचार्योक्त संख्या के विलोम से कल्प में गुरु भगण = ३६४२२०५०० ।

मध्यमाधिकारोक्त पाठ पठित भगण से तथा कलिगताब्द ३७२९ इस पर से ग्रन्थारम्भ काल में विकलात्मक गुरु $= \frac{गुभ \times ३ गव}{१००००} = \frac{३६४२२६४५५ \times १११८७}{१००००}$

= ४०७४६०१३५″ + $\frac{२०८५}{१००००}$ = ४ रा । २३° । २२′ । १५″ इसको कल्पादि गुरु से युक्त करने पर क्षेप = ४ । २२ । ४६ । ५१ ।

आचार्योक्त क्षेप = ४ । २१ । २३ । ०० ।

दोनों क्षेप का अन्तर = १ । २६ । ५१ ।

इससे उपपन्न हुआ ।

इदानीं शुक्रशीघ्रानयनमाह ।

शैलैस्तिथिभी रुद्रैर्यमविषयैः सागरैर्गुणिताः ।
वसुभिरनिलैर्जिनैः षड्गुणैश्च युक्तं भृगोः शीघ्रम् ॥ २६ ॥

सु. भा.—अत्रोपपत्तिः ।

पूर्ववदेकस्मिन् सौरवर्षे शुक्रशीघ्रोच्चविकलामितिः = $\frac{३ \text{ शुशीभ}}{१००००}$

= $\frac{७०२२३८६४६२ \times ३}{१००००}$ = $\frac{२१०६७१६८४७६}{१००००}$ = २१०६७१६″ $\frac{८४७६}{१००००}$

= २१०६७१६″ + ५१‴ = ३५१११ । ६६″ । ५१‴ = ५८५° ११′ । ५६″ । ५१‴

= $\underset{१९}{\text{रा}}$ । ५१° । ११′ । ५६″ । ५१‴ = $\underset{७}{\text{रा}}$ । १५° । ११′ । ५६″ । ५१‴

आचार्योक्तसंख्याभिर्विलोमेन कल्पे शुक्रशीघ्रभगणा ७०२२३७३५५६ एते सिध्यति ।

मध्यमाधिकारे पाठपठितेभ्यः शुक्रशीघ्रभगणेभ्यः कालिगताब्देभ्य ३७२९ एभ्यो भौमसाधनवद्ग्रन्थारम्भे शुक्रशीघ्रविकलामितिः = $\frac{\text{शुभ} \times ३ \text{ गव}}{१००००}$

$\frac{७०२२३८९४९२ \times १११८७}{१००००}$ = ७८५५९४७१२४″ $\frac{७००४०}{१००००}$ = $\underset{८}{\text{रा}}$ । ७° । ३२′ । ४″

अयं कल्पादिशुक्रशीघ्रेणानेन

$\underset{११}{\text{रा}}$ । २८° । ४२′ । १४″

युतो जातः क्षेपः = $\underset{८}{\text{रा}}$ । ६° । १४′ । १८

आचार्योक्तक्षेपः = ८ । ५ । २४ । २६

अन्तरम् ० । ४९ । ४२

हि. भा.—अब्दगण को शैल=७, तिथि=१५, रुद्र = ११, यमविषय ५२। सागर=४ इन अङ्कों से गुणाकर वसु=८। अनिल=७, जिन=२४, षट्गुण=३६ इन अङ्कों को उसमें जोड़ देने पर शुक्र का शीघ्रोच्च होता है।

उपपत्ति।

एक सौरवर्ष में शुद्ध शीघ्रोच्च विकला = $\frac{३ \text{ शुशीभ}}{१००००}$

$= \frac{७२२२३८९४९२ \times ३}{१००००} = \frac{२१०६७१६८४७६}{१००००}$

$= २१०६७१६'' + \frac{८४७६}{१०००} = २१०६७१६'' + ५१'''$

= ३५१११' । ५६'' । ५१''' = ५८५° । ११' । ५६'' । ५१''' ।

= १९ रा । ५१° । ११' । ५६'' । ५१''' = रा ७ । १५° । ११' । ५६'' । ५१'' ।

आचार्योक्त संख्याके विपरीत से कल्प में शीक्रशीघ्रभगण=७०२२३७३५५६ ॥

मध्यमाधिकार में कहा हुआ शुक्रशीघ्र भगण से तथा कलिगताब्द ३७२९ पर से ग्रन्थारम्भ में शुक्रशीघ्र विकलामान = $\frac{\text{शुभ} \times ३ \text{ गव}}{१००००} = \frac{७०२२३८९४९२ \times १११८७}{१००००}$

$= ७८५५९४७१२४'' + \frac{७००४०}{१००००} =$ ८ रा । ७° । ३२' । ४'' ।

इसका और कल्पादि शुक्र शीघ्र का योग= क्षेपक =८ रा । ६° । १४' । १८'' साधित क्षेप और आचार्योक्त क्षेप का अन्तर=अन्तर=० । ४९ । ४२ । इति

इदानीं शन्यानयनमाह।

शून्येन द्वादशभिर्द्वादशभिः खेषुभिस्त्रयोदशभिः।
गुणिता युता रसैरब्धिभिस्त्रिविषयैर्दशभिरार्किः॥ ३०॥

सु. भा.— अत्रोपपत्तिः।

पूर्ववदेकस्मिन् सौरवर्षे शनिविकलामितिः = $\frac{३ \text{ शभ}}{१००००}$

$= \frac{१४६५६७२९८ \times ३}{१००००} = \frac{४३९७०१८९४}{१००००} = ४३९७०'' \; \frac{१८९४}{१००००} = ४३९७०''$

+ ११''' = ७३२' । ५०'' । ११''' = १२° । १२' । ५०'' । ११''' = रा । १२° । १२' । ५०'' । ११'''

आचार्योक्तसंख्याभिर्विलोमेन कल्पे शनिभगणा १४६५६७३८९ एते सिध्यन्ति । ग्रन्थारम्भे कलिगताब्दा:=३१७९+५५०=३७२९ एभ्य: शनिर्विकलात्मक: $=\frac{१४६५६७३८९\times १२\times ३०\times ६०\times ६०\times ३७२९}{४३२००००००००}$

$=\frac{१४६५६७३८९\times ३\times ३७२९}{१००००}=\frac{१४६५६७३८९\times १११८७}{१००००}=१६३९६४६३८''$

$\frac{७४३}{१००००}=२७३२७४८'\,।\,५८''=४५५४५^{\circ}\,।\,४८'\,।\,५८''=रा_{१५१८}\,।\,५^{\circ}\,।\,४८'\,।$

$५८''=रा_{६}\,।\,५^{\circ}\,।\,४८'\,।\,५८''$ अयं

कल्पादिशनिना $रा_{११}\,।\,२८^{\circ}\,।\,४६'\,।\,३४''$

युतो जातो ग्रन्थादौ क्षेपक: $=रा_{६}\,।\,४^{\circ}\,।\,३४'\,।\,३२''$

आचार्योक्त: $=६\,।\,४\,।\,५३\,।\,१०$

अंतरम् $=\quad +\quad १७'\,।\,३८$ ॥ ३० ॥

हि. भा.—शून्येन=०, द्वादश=१२, द्वादश=१२, खेषुभि: =५०, त्रयोदश = १३ इन अङ्कों से अब्दगण को गुणाकर उसमें क्रम से रस = ६, अब्धि=४, त्रिविषय=५३, दश=१०, इन सबों को जोड़ने पर शनि होता है ।

उपपत्ति ।

एक सौरवर्ष में शनि विकलामान $=\frac{३\,शभ}{१००००}=\frac{१४६५६७२९८\times ३}{१००००}$

$=\frac{४३९७०१८९४}{१००००}=४३९७०''+\frac{१८९४}{१००००}=४३९७०''+११'''$

$=७३२''\,।\,५०''\,।\,११'''=१२^{\circ}\,।\,१२'\,।\,५०''\,।\,११'''$

$=रा०\,।\,१२^{\circ}\,।\,१२'\,।\,५०''\,।\,११'''$ ।

यहां आचार्य कथित संख्या के विलोम से कल्प में शनिभगण=१४६५६७३८९।

ग्रन्थारम्भ में कलिगतवर्ष = ३१७९+५५०==३७२९ इस पर से विकलात्मकशनि

$=\frac{१४६५६७३८९\times १२\times ३०\times ६०\times ६०\times ३७२९}{४३२००००००००}=\frac{१४६५७३८९\times ३\times ३७२९}{१००००}$

$= \frac{१४६५७३८९ \times १११८७}{१००००} = १६३९६४९३८'' + \frac{७४३}{१००००}$

$=२७३२७४८'$ । $५८''=४५५४५^{\circ}$ । $४८'$ । $५८''=१५१८$ रा । ५°।$४८'$।$५८''$

$=६$ रा । ५° । $४८'$ । $५८''$ इसको कल्पादि शनि में युक्त करने पर ग्रन्थादि में

क्षेप $=६$ रा । ४° । $३५'$ । $३२''$

आचार्य कथित क्षेप $=६$ । ४ । ५३ । १०

इन दोनों का अन्तर $=$अं$=०$ । ० । $१७'$ । ३८ ।

इससे उपपन्न हुआ ।

इदानीं राहोरानयनमाह ।

गगनेन नवचन्द्रैः कुयमैः रसाब्धिभिः संवरेण हृताः ।
रुद्रैः खवेदैर्युक्ता राश्यादिकः पातः ॥ ३१ ॥[1]

सु. *भा.* अत्रोपपत्तिः ।

पूर्ववदेकस्मिन् सौरवर्षे चन्द्रपातविकलामितिः $= \frac{३ \text{ पाभ}}{१००००}$

$= \frac{२३२३१११६८ \times ३}{१००००} = \frac{६९६९३३५०४}{१००००} = ६९६९३'' \frac{३५०४}{१००००} = ६९६९३'' + २१'''$

$=११६१'$ । $३३''$ । $२१'''=१९^{\circ}$ । $२१'$ । $३३''$ । $२१'''=\underset{०}{\text{रा}}$ । १९° । $२१'$ । $३३''$ ।

$२१'''$ आर्यभटानुसारेण $\frac{३ \text{ पाभ}}{१००००} = \frac{२३२२२६००० \times ३}{१००००} = \frac{६९६६७८०००}{१००००}$

$= ६९६६७'' \frac{८०००}{१००००}$

$=६९६६७''+४८'''=११६१'$ । $७''$ । $४८'''$

$=१९^{\circ}$ । $२१'$ । $७''$ । $४८'''=\underset{०}{\text{रा}}$ । १९° । $२१'$ । $७''$ । $४८'''$

अत्रापि भौमसाधनवद् ग्रन्थारम्भे कलिगताब्दतः पातविकलाः $= \frac{\text{पाभ} \times ३\text{गव}}{१००००}$

$= \frac{२३२३१११६८ \times १११८७}{१००००} = २५९८८६५०३'' \frac{६४१६}{१००००} = \underset{६}{\text{रा}}$ । १०° । $४१'$ ।

---

१. गगनेन नन्दचन्द्रैः कुयमैः रसाग्निभिरम्बरेण हताः ।
रुद्रैर्विश्वखवेदैर्युक्ता राश्यादिकः पातः ॥ ३१ ॥

अयं कल्पादिपातेनानेन —

$$\underset{५}{\text{रा}} \mid ३^{\circ} \mid १२' \mid ५८''$$

युतो जातः क्षेपः $= \underset{११}{\text{रा}} \mid १३^{\circ} \mid ५४' \mid ४१''$

आचार्योक्तक्षेपः ११ । १२ । ३० । ००

अन्तरम् = १४ । ४१ ॥ ३१ ॥

हि. भा.—गगनेन =०, नवचन्द्रैः = १९, कुयमै=२१, रसाब्धि=४६, संवरेण =०, इन सबों से गताब्द को गुणाकर और उसमें रुद्र=११, खवेद=४०, जोड़ दें तो राश्यादिक पात होता है ।

उपपत्ति ।

एक सौरवर्ष में चन्द्रपात विकलामान = $\frac{३ \text{ पाभ}}{१००००}$

$$= \frac{२३२३१११९८ \times ३}{१००००} = \frac{६९६९३३५०४}{१००००} = ६९६९३'' + \frac{३५०४}{१००००}$$

$$= ६९६९३'' + २१''' = ११६१' \mid ३३'' \mid २१''' = १९^{\circ} \mid २१' \mid ३३'' \mid २१'''$$

$$= ० \text{ रा} \mid १९^{\circ} \mid २१' \mid ३३'' \mid २१'''$$

आर्यभट के मत से पातविकला = $\frac{३ \text{ पाभ}}{१००००} = \frac{२३२२२६००० \times ३}{१००००}$

$$= \frac{६९६६७८०००}{१०००} = ६९६६७'' + \frac{८०००}{१००००} = ६९६६७'' + ४८''$$

$$= ११६१' \mid ७'' \mid ४८''' = १९^{\circ} \mid २६' \mid ७'' \mid ४८''' = \text{रा}० \mid १९^{\circ} \mid २१' \mid १७'' \mid ४८'''$$

यहां कलिगताब्द से पातविकला = $\frac{\text{पाभ} \times ३ \text{ गव}}{१००००}$

$$= \frac{२३२३१११९८ \times १११८७}{१००००} = २५९८८६५०३'' + \frac{६४१६}{१००००}$$

$= ६ \text{ रा} \mid १०^{\circ} \mid ४१' \mid ४३''$ इसको कल्पादि पात में जोड़कर

क्षेप $= ११ \text{ रा} \mid १३^{\circ} \mid ५४' \mid ४१''$

आचार्योक्त क्षेप = ११ । १३ । ४० । ००

इन दोनों का अन्तर = अन्तर =०० । ० । १४ । ४१ । इससे उपपन्न हुआ ।

इदानीं ग्रहानयने विशेषमाह ।

सर्वाणि स्थानानि क्रमतः स्वहरैर्नयेदुपरि ।
एवं रव्यब्दान्ते ग्रहध्रुवा मध्यमाः स्युस्ते ।। ३२ ।।

सु. भा.—सर्वाणि राश्यादीनि स्थानानि क्रमतः स्वहरैरुपरि नयेत् । प्रतिविकलाः षष्टिहृताः फलं विकलासु योज्यम् । विकलाः षष्टिहृताः फलं कलासु योज्यम् एवं स्वहरैरुपरि नयेदित्यर्थः । शेषं स्पष्टार्थम् ।। ३२ ।।

ग्रहानयन में विशेष कहते हैं—

हि. भा.—सब राश्यादि स्थान को अपने अपने भाग हार के ऊपर लावें । प्रतिविकला को ६० से भाग देकर विकला में जोड़ दें । विकला को ६० से भाग देकर लब्धि कला में जोड़ दें । कला को ६० से भाग देकर अंश में जोड़ दें । इस तरह राश्यादि को लावें । शेष का अर्थ स्पष्ट ही है ।

इदानीं प्रकारान्तरेण भौमादीनाह तत्रादौ भौमानयनमाह ।

पृथगर्को दशगुणितो वसुशरचन्द्रैर्हृतः फलेन युतः ।
दलितो भौमध्रुवके क्षेप्यः स्यान्मध्यमो भौमः ।। ३३ ।।

सु. भा.—स्पष्टार्थम् ।

अत्रोपपत्तिः ।

कल्पे रविभगणाः=४३२००००००० ।

भौमभगणाः २२९६८२८५२२ ।

$$\text{अनयोर्निष्पत्तिः}—\frac{२२९६८२८५२२}{४३२००००००}=\frac{११४८४१४२६१\times२}{२१६०००००००\times२}=\frac{११४८४१४२६१}{२१६००००००००}$$

$$=\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{७+\cfrac{१}{२+\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{५+\cfrac{८९६६३८}{४७२६६१९}}}}}}}}$$

अस्मादासन्नमानानि

$\frac{१}{१}, \frac{१}{२}, \frac{८}{१५}, \frac{१७}{३२}, \frac{२५}{४७}, \frac{४२}{७९}, \frac{२३५}{४४२}$,......आचार्येणेद $\frac{२३५}{४४२}$ मासन्नं गृहीतम् । अनेनार्को गुण्यो भौमः स्यादतो भौमः $= \frac{२३५}{४४१} \times$ रवि $= \frac{१}{२}$ रवि $\times \frac{२३५}{२२१} = \frac{१}{२}$ रवि $\left(१ + \frac{१४}{२२१}\right) = \frac{१}{२}$ रवि $\left(\frac{१}{२} + \frac{१० \times १०}{२२१०}\right) = \frac{१}{२}$ रवि $\left(१ + \frac{१०}{१५८}\right)$ स्वल्पान्तरात् ।

अत उपपन्नम् । शेषवासना सुगमा ॥ ३३ ॥

अब प्रकारान्तर से भौमादिक ग्रहों का आनयन करते हैं ।

हि. भा.—सूर्य को दो जगह रखें, एक जगह १० से गुणा दें, और वसुशरचन्द्र (१५८) से भाग दें, लब्धि को प्रथम स्थान में जोड़ दें, उसका आधार करें। भौम का ध्रुवा उसमें जोड़ दें तो मध्यम भौम होता है ।

उपपत्ति ।

कल्प में रविभगण $= ४३२००००००$ ।

कल्प में भौमभगण $= २२९६८२८५२२$ ।

दोनों का सम्बन्ध $= \dfrac{२२९६८२८५२२}{४३२००००००}$

$$= \frac{११४८४१४२६१ \times २}{२१६०००००० \times २} = \frac{११४८४१४२६१}{२१६००००००}$$

$$= \cfrac{१}{१ + \cfrac{१}{१ + \cfrac{१}{७ + \cfrac{१}{२ + \cfrac{१}{१ + \cfrac{१}{१ + \cfrac{१}{५ + \cfrac{८९६६३८}{४७२६६१९}}}}}}}}$$

इससे आसन्न मानें $= \frac{१}{१}, \frac{१}{२}, \frac{८}{१५}, \frac{१७}{३२}, \frac{२५}{४७}, \frac{४२}{७९}, \frac{२३५}{४४२}, \ldots\ldots$
यहां आचार्य ने $\frac{२३५}{४४२}$ ग्रहण किया। $\left(\frac{२३५}{४४२}\right)$ इससे रवि को गुणने पर भौम होता है।

$$\text{भौम} = \frac{२३५}{४४२} \times \text{रवि} = \frac{१}{२}\,\text{रवि} \times \frac{२३५}{२२१}$$

$$= \frac{१}{२}\,\text{रवि}\left(१ + \frac{१४}{२२१}\right) = \frac{१}{२}\,\text{रवि}\left(१ + \frac{१४ \times १०}{२२१०}\right)$$

$= \frac{१}{२}\,\text{रवि}\left(१ + \frac{१०}{१५८}\right)$ स्वल्पान्तर से। इससे उपपन्न हुआ। बाकी की उपपत्ति स्पष्ट ही है।

इदानीं बुधानयनमाह।

चतुराहतोऽब्धिगुणितः पृथक् च सप्ताहतोऽब्धिधृतिभक्तः।
फलसंयुतो विधेयो ज्ञचलध्रुवको ज्ञशीघ्रं स्यात् ॥ ३४ ॥

सु. भा. – स्पष्टार्थम्।

अत्रोपपत्तिः।

कल्पबुधशीघ्रभगणाः $= १७९३६९९८९८४$
रविभगणाः $= ४३२००००००$

तयोर्निष्पत्तिः $= ४ + \frac{६५६९९८९८४}{४३२००००००}$

अथ $\frac{६५६९९८९८४}{४३२००००००} = \frac{१६४२४९७४६ \times ४}{१०८०००००० \times ४}$

$$= \frac{८२१२४८७३ \times २ \times ४}{५४०००००० \times २ \times ४} = \frac{८२१२४८७३}{५४००००००}$$

$$= \cfrac{१}{६ + \cfrac{१}{१ + \cfrac{१}{१ + \cfrac{१}{२ + \cfrac{१}{१ + \cfrac{१}{४ + \cfrac{१}{२ + \cfrac{६०९६०}{१०९७४४१}}}}}}}}$$

अत आसन्नमानानि $\frac{१}{६}, \frac{१}{७}, \frac{२}{१३}, \frac{५}{३३}, \frac{७}{४६}, \frac{७}{४६}$=इदमाचार्येण गृहीतम् ।

ततो निष्पत्तिमानम् $= ४+\frac{७+४}{१८४}$ अनेन रविगुणो बुधशीघ्रमानम्

$$=४र+\frac{७\times४ र}{१८४} ।$$

शेषवासना चातिसुगमा ॥ ३४ ॥

अब बुध का आनयन करते है ।

हि. भा.—रवि को चार से गुणा करें, उसमें चार से गुणित सात को एक सौ चौराशी से भाग देकर फल जो हो उसको जोड़ दो और बुध का चलध्रुवा जोड़ दें तो बुध का शीघ्रकेन्द्र होता है ।

उपपत्ति ।

कल्प में बुधशीघ्र भगण=१७९३६९९९८९८४

रविभगण =४३२०००००००० ।

दोनों का सम्बन्ध $= ४ + \frac{६५६९९८९८४}{४३२००००००००}$

अथ $\frac{६५६९९८९८४}{४३२००००००००} = \frac{१६४२४९७४६\times४}{१०८००००००००\times४}$

$$= \frac{८२१२४८७३\times२\times४}{५४००००००००\times२\times४} = \frac{८२१२४८७३}{५४००००००००}$$

$$\cfrac{१}{\cfrac{१}{६+\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{२+\cfrac{१}{१}}}}}}} \qquad १+\cfrac{१}{\cfrac{१}{४+\cfrac{१}{\cfrac{१}{२+\cfrac{६०९६०}{१०९७४१}}}}}$$

यहां आसन्न मानें $=\frac{१}{६}, \frac{१}{७}, \frac{२}{१३}, \frac{५}{३३}, \frac{७}{४६}, \ldots\ldots\ldots\ldots$

$\frac{७}{४६} = \frac{२८}{१८४}$ यह आचार्य ने स्वीकार किया है।

इसलिये निष्पत्तिमान $=४+\frac{७\times४}{१८४}$

इससे रवि को गुणने पर—

$$\text{बुधशीघ्रमानम्} = ४\,र + \frac{७\times४\times र}{१८४}$$

इससे उपपन्न हुआ।

इदानीं गुरुशनिराह्वानयनमाह।

सप्तहतस्त्रिवसुहृतो गुरुः शनिर्द्विगुणितो नवेषु हृतः।
द्विगुणितो रसधृतिहृत् राहोर्लिप्तासुक्तलिप्तः॥ ३५॥

सु. भा.—अत्रोपपत्तिः।

पूर्ववत् $\frac{गुभ}{रभ}=\frac{३६४२२६४५५}{४३२००००००००}$

$$=\cfrac{१}{११+\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{६+\cfrac{१}{५+\cfrac{४६९६२८५}{९२०४२३५}}}}}$$

अत आसन्नमानानि $\frac{१}{११}, \frac{१}{१२}, \frac{७}{८३} \ldots\ldots$

$\frac{७}{८३}$ इदमाचार्येण गृहीतम्।

$$\frac{शभ}{रभ}=\frac{१४६५६७२९८}{४३२००००००००}=\cfrac{१}{२९+\cfrac{१}{२+\cfrac{७४७०५८२}{६९५४८३५८}}}$$

अत आसन्नमानानि, $\frac{१}{२९}, \frac{२}{५९} \ldots\ldots$

$\frac{२}{५९}$ इदमाचार्येण गृहीतम्।

एवं । $\frac{\text{चं. पाभ}}{\text{रभ}} = \frac{\text{२३२३१११६८}}{\text{४३२००००००००}} = \cfrac{\text{१}}{\text{१८}+\cfrac{\text{१}}{\text{१}+\cfrac{\text{१}}{\text{१}+\cfrac{\text{१}}{\text{२}+\frac{\text{४९३८६२४}}{\text{४४४८६७८४}}}}}}$

अत आसन्नमानानि

$\frac{\text{१}}{\text{१८}}, \frac{\text{१}}{\text{१९}}, \frac{\text{२}}{\text{३७}}, \frac{\text{५}}{\text{९३}} \cdots\cdots \frac{\text{५}}{\text{९३}} = \frac{\text{१०}}{\text{१८६}}$ इदमाचार्येण गृहीतम् । अत उपपद्यते सर्वम् ॥ ३५ ॥

अब गुरु शनि और राहु का साधन करते हैं ।

हि. भा.—रवि को सात से गुणाकर ८३ से भाग देने पर गुरु होता है । दो से गुणाकर ५९ से भाग देने पर शनि होता है । दश से गुणाकर रसधृति (१८६) से भाग देने पर राहु (पात) होता है ।

उपपत्ति ।

पूर्व की तरह $\frac{\text{गुभ}}{\text{रभ}} = \frac{\text{३६४२२६४५५}}{\text{४३२००००००००}}$

$$= \cfrac{\text{१}}{\text{११}+\cfrac{\text{१}}{\text{१}+\cfrac{\text{१}}{\cfrac{\text{१}}{\text{६}+\cfrac{\text{१}}{\cfrac{\text{१}}{\text{५}+\cfrac{\text{४६९६२८५}}{\text{९२०४२३५}}}}}}}}$$

इस पर से आसन्नमान $= \frac{\text{१}}{\text{११}}, \frac{\text{१}}{\text{१२}}, \frac{\text{७}}{\text{८३}} \cdots\cdots\cdots\cdots\cdots\cdots$

परन्तु $\frac{\text{७}}{\text{८३}}$ को आचार्य ने ग्रहण किया है ।

एवम्—

$$\frac{\text{शभ}}{\text{रभ}} = \frac{१४६५६७२९८}{४३२००००००००}$$

$$= \cfrac{१}{२९ + \cfrac{१}{२ + \cfrac{७४७०५८२}{६९५४८३५८}}}$$

इससे आसन्नमान $= \frac{१}{२९}, \frac{२}{५९}$ ....

यहां $\frac{२}{५९}$ आचार्य ने ग्रहण किया है।

$$\text{एवम्} \frac{\text{चंपाभ}}{\text{रभ}} = \frac{२३२३१११६८}{४३२००००००००} \qquad \cfrac{१}{१८ + \cfrac{१}{१ + \cfrac{१}{१ + \cfrac{१}{२ + \cfrac{४१३८६२४}{४४४८६७८४}}}}}$$

इससे आसन्नमान $\frac{१}{१८}, \frac{१}{१९}, \frac{२}{३७}, \frac{५}{९३}$, ... । $\frac{५}{९३} = \frac{१}{१८.६}$ इसको आचार्य ने ग्रहण किया। इससे (३५) श्लोक उपपन्न हुआ।

इदानीं शुक्रचलानयनमन्येषां चलं चाह।

त्रिगुणो दलितः स्वद्वादशांशयुक्तः सितचलं ध्रुवं स्यात्।
तात्कालिकं चलं स्याद्रविरन्येषां ज्ञशुक्रौ स्तः ॥ ३६ ॥

सु. *भा.*—अन्येषां भौमगुरुशनीनां रविरेव तात्कालिकं चलं शीघ्रोच्चमस्ति। तथा रविरेव मध्यमौ ज्ञशुक्रौ स्तः। शेषं स्पष्टम्।

अत्रोपपत्तिः।

$$\text{पूर्ववत्} \frac{\text{शुशीभ}}{\text{रभ}} = \frac{७०२२३८९४९२}{४३२००००००००}$$

$$=१+\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{२+\cfrac{१९११५९३६}{५३२८३१५२४}}}}}$$

अत आसन्नमानानि

$\frac{१}{१}, \frac{२}{१}, \frac{३}{२}, \frac{६}{३}, \frac{१३}{८}\cdots\cdots$ । $\frac{१३}{८}=\frac{१३\times३}{८\times३}=\frac{३६}{२४}=\frac{३६}{२४}+\frac{३}{२४}=\frac{३}{२}+\frac{३}{२\times१२}$

इदमाचार्येण गृहीतम् । ततो जातं सितचलम् $=र\left(\frac{३}{२}+\frac{३}{२\times१२}\right)=\frac{३ र}{२}+\frac{३ र}{२}\cdot$
$\frac{१}{१२}$ अत उपपन्नं सितचलानयनम् ।

शेषवासना स्फुटा ॥ ३६ ॥

अब शुक्र तथा अन्य ग्रहों का चलध्रुवानय करते हैं ।

हि. भा.—रवि को तीन से गुण दें, उसका आधा करें उसमें त्रिगुणित रवि का बारहवां भाग जोड़ने से शुक्र का शीघ्रोच्च होता है । अन्य ग्रह (भौम-गुरु-शनि) का रवि ही तात्कालिक चल शीघ्रोच्च होता है । रवि ही मध्यम शुक्र और भौम होता है ।

उपपत्ति ।

पूर्वयुक्ति से $\frac{शुशीभ}{रभ}=\frac{७०२२३८९४९२}{४३२०००१०००}$

$$=१+\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{१+\cfrac{१}{२+\cfrac{१९११५९३६}{५३२८३१५२४}}}}}\text{।}$$

इससे आसन्नमान $=\frac{१}{१}, \frac{२}{१}, \frac{३}{२}, \frac{५}{३}, \frac{१३}{८},\cdots\cdots\cdots$ ।

$\frac{१३}{८} = \frac{१३ \times ३}{८ \times ३} = \frac{३९}{२४} = \frac{३६}{२४} + \frac{३}{२४} = \left(\frac{३}{२} + \frac{३}{८ \times ३} \right)$ इसको आचार्य ने ग्रहण किया। अतः शुक्र का शीघ्रोच्च $= र \left(\frac{३}{२} + \frac{३}{२ \times १२} \right)$

$= \frac{र \times ३}{२} + \frac{३र}{२} \times \frac{१}{१२}$ इससे शुक्र शीघ्रोच्च उपपन्न हुआ। बाकी की युक्ति स्पष्ट ही है ॥

इदानीं भौमादीनां मन्दोच्चांशानाह।

मन्दांशा नगरवयो भयमाः खनगेन्दवः खनन्दाश्च।
यमतत्त्वानि तदूनान्मध्याज्ज्या सूर्यवत् ग्राह्या ॥ ३७ ॥

सु.भा.—भौमादीनां मन्दांशा मन्दोच्चांशाः क्रमेश १२७°। २२७°। १७०°। ९०°। २५२°। एते सन्ति। तदूनान्मध्याद्ग्रहात् सूर्यवज्ज्या ग्राह्या। मन्दोच्चेन हीनो मध्यो मन्दकेन्द्रम्। सूर्यकेन्द्रवत् तस्य गतगम्यस्य ज्या केन्द्रभुजज्या ग्राह्येत्यर्थः।

अत्रोपपत्तिः।

मन्दोच्चानामल्पगतित्वात् सुखार्थं बहुकालोपयोगित्वात् स्वसमये स्थिरांशाः पठिताः। शेषवासना चातिसुगमा ॥ ३७ ॥

अब भौमादि ग्रहों के मन्दोच्चांश को कहते हैं।

हि. भा.—भौमादि ग्रहों का मन्दोच्चांश क्रम से पठित है यथा भौमका १२७°। बुध का २२७°। गुरु का १७०°। शुक्र का ९०°। शनि का २२५°। इसको मध्यमग्रह में घटा कर सूर्य की तरह ज्या ग्रहण करें। मन्दोच्च मध्यमग्रह में घटाने से शेष मन्द केन्द्र होता हैं। सूर्य केन्द्र की तरह उसकी (गतगम्य की) ज्या तथा केन्द्रभुजज्या को ग्रहण करें॥

उपपत्ति।

मन्दोच्च की गति अल्प है, बहुत समय में जाना जाता है इसलिये सुखार्थं उसका स्थिरांश पठित कर दिया गया है।

इदानीं भौमादीनां मन्दफलानयनमाह

रदगुणिता सप्तहृता कुजस्य सौम्यस्य नागगुणा त्रिहृता।
द्विगुणा हि फलं सूरेर्द्विगुणाग्निविभाजिता स्फुजितः ॥ ३८ ॥

त्रिगुणा त्रिंशद्भक्ता रविजस्य फलस्य मन्दफललिप्ताः ।
मन्दफलयुतोनं स्वशीघ्रोच्चाच्छोधयेन्मध्यम् ।। ३९ ।।

सु. भा.—स्पष्टाधिकारोक्तमन्दपरिधिना भौमादीनां स्वल्पान्तरात् परममंदफल कलाः । भौ=६७०′ । बु=३६२′ । गु=३१४′ । शु=१०५′ । श=४७६′ ।

ततो यदि त्रिज्यया परममन्दफलकलास्तदा केन्द्रज्यया किम् । जाता मन्द फलकलाः, भौ $= \frac{६७० \text{ ज्याके}}{१५०} = \frac{६७ \text{ ज्याके}}{१५} \frac{६७ \times ३२ \text{ ज्याके}}{१५ \times ३२}$

$= \frac{६७ \times ३२}{४८०} = \frac{३२ \text{ ज्याके}}{\frac{४८०}{६७}} = \frac{३२ \text{ ज्याके}}{७}$ स्वल्पान्तरात् ।

बु $= \frac{३६२ \text{ ज्याके}}{१५०} = \frac{७ \text{ ज्याके}}{३}$ स्वल्पान्तरात् ।

गु $= \frac{३१४ \text{ ज्याके}}{१५०} = २$ ज्याके स्वल्पान्तरात् ।

शु $= \frac{१०५ \text{ ज्याके}}{१५०} = \frac{२ \text{ ज्याके}}{३}$ ।

श $= \frac{४७६ \text{ ज्याके}}{} = ३$ ज्याके $+ \frac{२६ \text{ ज्याके}}{१५०}$

$= ३$ ज्याके $+ \frac{\text{ज्याके}}{६}$ स्वल्पान्तरात् ।।३८-३९।।

अब भौमादि ग्रहों का मन्दफलानयन करते हैं ।

हि. भा.—केन्द्रज्या को रद (३२) से गुणाकर सप्त (७) सात से भाग देने पर भौम की मन्दफलकला होती है । केन्द्रज्या को नग (सात) से गुणाकर तीन से भाग देने पर बुध की मन्दफलकला होती है । द्विगुणित को केन्द्र के गुरु की मन्दफल कला होती है । द्विगुणित केन्द्रज्या को तीन से भाग देने पर शुक्र की मन्दफलकला होती है । केन्द्रज्या को तीन से गुणाकर तीस से भाग देने पर शनि की मन्दफल कला होती है ।

उपपत्ति ।

स्पष्टाधिकार में कही गई मन्दपरिधि से भौमादिग्रहों की स्वल्पान्तर से परम मन्द फलकला पठित है । भौम की=६७०′ । बुध की=३६२′ । गुरु की=३१४′ । शुक्र की =१०५′ । शनि की=४७६′ इस पर से त्रैराशिक अनुपात से भौमादिग्रहों की मन्दफल-

कला, भौम $= \frac{३७० \times ज्याके}{१५०} = \frac{६७ ज्याके}{१५} = \frac{६७ \times ३२ ज्याके}{१५ \times ३२} = \frac{६७ \times ३२ ज्याके}{४८०}$

$= \frac{३२ ज्याके}{\frac{४८०}{६७}} = \frac{३२ ज्याके}{७}$ स्वल्पान्तर से।

एवं बुध $= \frac{३६२ \times ज्याके}{१५०} = \frac{७ ज्याके}{३}$, स्वल्पान्तर से।

गुरु $= \frac{३१४ ज्याके}{१५०} = २$ ज्या के, स्वल्पान्तर से।

शुक्र $= \frac{१०५ ज्याके}{१५०} = \frac{२ ज्याके}{३}$, स्वल्पान्तर से।

शनि $= \frac{४७६ ज्याके}{१५०} =$ ज्याके $+ \frac{२६ ज्याके}{१५०} =$ ज्याके $+ \frac{ज्याके}{६}$

स्वल्पान्तरग्रहण से उपपन्न हुआ ॥

इदानीं स्फुटग्रहार्थं संस्कारमाह ।

तस्माच्छीघ्रफलदलं स्वमृणं वा मन्दसंस्कृते दत्त्वा ।
प्राग्वन्मन्दफलमतः सकलं मन्दग्रहात् कुर्यात् ॥ ४० ॥
तस्मात् पृथक् सितादिशीघ्रोच्चविवर्जितात् (स्फुटं केन्द्रम्) ।
तस्मात् शीघ्रफलेन संस्कृतः स्फुटो जायते स्पष्टः ॥ ४१ ॥

सु· भा.—मन्दफलयुतोनं मध्यं शीघ्रोच्चाच्छोधयेदेवं शीघ्रकेन्द्रं भवति। तस्माच्छीघ्रफलं कृत्वा तदर्धं स्वं वा ऋणं यथागतं मन्दसंस्कृते मन्दफलसंस्कृते मध्यग्रहे दत्त्वा तं मध्यग्रहं प्रकल्प्यातः प्राग्वत्पुनर्मंदफलं साध्यं तद्यथागतं सकलं सम्पूर्णं मध्यग्रहे देयम्। एवं गणको मन्दग्रहं मन्दस्पष्टं कुर्यात्। तस्मात् पृथक् स्थापितात् शुक्रादिशीघ्रोच्चविवर्जितात् स्फुटं केन्द्रं द्वितीयं शीघ्रकेन्द्रं कुर्यात्। तस्मात् पुनः शीघ्रफलं साध्यम् तेन संस्कृतमन्दः पृथक् स्थापितो मन्दस्पष्टश्च संस्कृतः एवं स्पष्टो ग्रहो जायते। लाघवेन शीघ्रफलसाधनार्थमग्रे खण्डानि वक्ष्यति।

अत्रोपपत्तिः। उपलब्धिरेव ॥४०-४१॥

अब स्पष्टग्रह के लिये संस्कार का नियम कहते हैं।

हि· भा.—मन्दफल से युत या ऋण मध्यग्रह मन्दस्पष्टग्रह होता है। मध्यमग्रह में से

मन्दोच्च घटाने पर शेष मन्दकेन्द्र होता है। शीघ्रोच्च घटाने पर शीघ्र केन्द्र होता है शीघ्र केन्द्र से शीघ्रफलसाधन कर उसका आधा धन या ऋण जो हो उसको मन्दस्पष्ट ग्रह में देकर उसको मध्यमग्रह मानकर उस पर से फिर मन्दफल लाकर सम्पूर्ण फल मध्यमग्रह में धन या ऋण करदें। इस तरह गणक मन्दग्रह को मन्द स्पष्ट करें। पृथक् स्थापित शुक्रादि शीघ्रोच्च से वर्जित स्फुट केन्द्र दूसरा शीघ्रकेन्द्र होता है। उस पर से फिर शीघ्रफल को साधन करें। उससे संस्कृत मन्दस्पग्रह स्पष्टग्रह होता है। लघुता से शीघ्रफल साधन के लिये आगे खण्डों को पठित किया गया है।

उपपत्ति।

उपलब्धि ही यहां उपपत्ति है॥

इदानीं लाघवेन शीघ्रफलानयनार्थं पिण्डमाह।

भागीकृतचलकेन्द्रे त्रिगुणे खाग्न्युद्धृते फलं पिण्डः।[1]
षड्राश्यधिके चक्राद् विशोध्य शेषेण पिण्डः स्यात्॥ ४२॥[1]

सु. भा.—चलकेन्द्रस्य भागाः कर्तव्याः। केन्द्रे षड्राश्यधिके चक्रात् राशिद्वादशकात् केन्द्रं विशोध्य शेषस्य भागाः कर्तव्याः। भागास्त्रिगुणाः खाब्ध्यु ४० द्धृताः फलं फलसमो गतपिण्डः स्यात्।

अत्रोपपत्तिः।

उच्चनीचयोः शीघ्रकर्णस्य वैलक्षण्यादाचार्येण केन्द्रषड्राशिमध्ये सत्र्यंशत्रयोदशभागवृद्धया भौमादीना चलकेन्द्राणि प्रकल्प्य तेभ्यः शीघ्रफलान्यानीय तद्भागा नवगुणाः पिण्डाङ्काः पठिताः। ते षड्राशिमध्ये सार्धत्रयोदश पिण्डाङ्का भवन्ति। त्रयोदश चतुर्दशपिण्डयोर्मध्ये च केन्द्रान्तर $\frac{४}{३}°$ मस्य दल $\frac{२}{३}°$ मिदमस्तीति चिन्त्यम्। इष्टकेन्द्रभागेषु कियन्तः पिण्डाङ्का गता एतदर्थमनुपातः। यदि $\frac{४}{३}°$ केन्द्रभागैरेकः पिण्डस्तदेष्टकेन्द्रांशैः किम्। जातो गतपिण्डः। शेषफलानयनार्थमग्रे वक्ष्यति॥४२॥

अब लाघव से शीघ्रफल साधन के लिये पिण्ड को कहते हैं।

हि. भा.—शीघ्रकेन्द्र का अंश करें, केन्द्र यदि ६ राशि से अधिक हो तो चक्र (१२) में घटाकर शेष को अंश करलें। अंश को त्रि (३) से गुणाकर खाग्नि (३०) से भाग दें तो लब्धि के बराबर गतपिण्ड होगा।

---

१. भागीकृत चलकेन्द्रे त्रिगुणे खाब्ध्युद्धृते फलं पिण्डः।

उपपत्ति ।

उच्चनीच और शीघ्रकर्ण की विलक्षणता के कारण ६ राशि के मध्य में केन्द्र होने पर तृतीयांशयुक्त १३ भाग की वृद्धि से भौमादि ग्रहों को चल केन्द्र मानकर, उस पर से शीघ्रफल लाकर उसके भाग को ६ से गुणकर जो हो उसको पिण्डाङ्क पठित किया है। वे ६ राशि के भीतर १३+$\frac{१}{३}$ पिण्डाङ्क होते हैं। तेरह और चौदह पिण्ड के मध्य में केन्द्रान्तर =$\frac{४}{३}$° इसका आधा $\frac{२}{३}$° यह होता है इसका विचार करें। इष्टकेन्द्र भाग में कितना पिण्डाङ्क बीतगया इसकी जानकारी के लिये अनुपात करते हैं जैसे - यदि ($\frac{४}{३}$°) केन्द्र भाग में १ पिण्ड पाते हैं तो इष्टकेन्द्रभाग में क्या इस अनुपात से इष्ट केन्द्रांश सम्बन्धी गतपिण्ड होगा। शेष सम्बन्धी फलानयन प्रक्रिया की युक्ति आगे कहेंगे।

इदानीं शेषसम्बन्धिपिण्डावयवानयनमाह।

पिण्डान्तरेण गुणिते शेषे खाब्ध्युद्धृते क्रमाद्देयम् ।
उत्क्रमविधौ विशोध्यं गतपिण्डे शीघ्रफलमेतत् ॥ ४३ ॥

सु. भा.—शेषे पिण्डान्तरेण गतैष्यपिण्डयोरन्तरेण गुणिते खाब्ध्यु ४० द्धृते फलं क्रमादुपचयात् गतपिण्डत एष्यपिण्डेऽधिके गतपिण्डे देयम्। उत्क्रमविधावर्थाद्-गतपिण्डत एष्यपिण्डेऽल्पे फलं गतपिण्डे विशोध्यं तदैतत् संस्कृत शीघ्रफलं शीघ्र-फलसंबन्धि पिण्डमानं भवेत्।

अत्रोपपत्तिः।

यदि चत्वारिंशत् समेन त्रिगुणशेषेण गतैष्यपिण्डयोरन्तरं लभ्यते तदाऽभीष्ट त्रिगुण शेषेण किमित्यनुपातेन स्फुटा धनर्णोपपत्तिश्चातिसुगमा ॥४३॥

अब शेष सम्बन्धी पिण्डके अवयव को लाने का नियम कहते हैं।

हि. भा.— शेषको गतैष्यपिंडान्तर से गुण दें, खाब्धि (४०) से भाग दें, फल को ग्रहण करें। यदि गतपिण्ड से एष्यपिण्ड अधिक हो तो फल को गतपिण्ड में धन करने पर शीघ्र फल सम्बन्धी पिण्डमान होता है। यदि गतपिण्ड से एष्यपिण्ड अल्प हो तो पूर्वसाधित फल को गतपिण्ड में घटा दें तो शीघ्र फल सम्बन्धी पिण्डमान होता है।

उपपत्ति ।

यदि चत्वारिंशत् (४०) के बराबर त्रिगुण शेष में गतैष्यपिण्ड का अन्तर प्राप्त होता है तो इष्ट त्रिगुण शेष में क्या इस अनुपात से लाभ हुआ तत् सम्बन्धी पिण्डमान, यहां धन और ऋण की वासना स्पष्ट ही है।

इदानीं विशेषमाह।

पिण्डाभावे विकलं गुणयेदाद्येन पिंडकेन ततः ।
गण्यन्ते तु खवेदैस्तदेव फलमत्र बोद्धव्यम् ।। ४४ ।।

सु० भा०—चलकेन्द्रे त्रिगुणे खाब्ध्युद्धृते यदि फलं शून्यं तदा पिण्डाभावः स्यात् । तस्मिन् पिण्डाभावे विकलं शेषमाद्येन पिण्डेन गुणयेत्, ततो गुणनफलानि खवेदै ४० गंण्यन्ते विभज्यन्ते । अत्र यत् फलं तदेव शीघ्रफलसम्बन्धि पिण्डमानं बोद्धव्यं ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः ।

प्राग्वद्यदि खवेदमितेन त्रिगुणशेषेण प्रथमपिण्डमानं लभ्यते तदेष्टत्रिगुणशेषेण किं जातं शेषसंबन्धिफलं गतपिण्डाभावात् तदेव शींघ्रफलसंबन्धि पिण्डमानम् । एतदनुक्तमपि बुद्धिमता ज्ञायते । आचार्येण बालावबोधार्थं लिखितम् ।।४४।।

अब पिण्डानयन में विशेष कहते हैं ।

हि. भा.—त्रिगुणित चलकेन्द्र को खाब्धिते (४०) से भाग देने पर फल यदि शून्य हो तब वहां पिण्ड का अभाव होगा अर्थात् पिण्ड नहीं होगा । ऐसी अवस्था में विकल शेष को आद्य पिण्ड से गुणा दें । गुणनफल को खवेद (४०) से भाग दें यहां जो फल (लब्धि) होगा वही पिण्डमान होगा, यह जानना चाहिये ।

उपपत्ति ।

पूर्व युक्ति से खवेद (४०) के तुल्य त्रिगुण शेष में पहला पिण्ड मिलता है तो इष्ट त्रिगुणशेष में क्या इस अनुपात से शेष सम्बन्धी फल मिला, यहां गतपिण्ड का अभाव है । इसलिये वही फल शीघ्रफल सम्बन्धी पिण्डमान हुआ । इस तरह अनुक्त को भी विद्वान समझें । आचार्य ने तो बालक के ज्ञान के लिये यह लिखा है ।।

इदानीं विश्वमिते गतपिण्डे विशेषमाह ।

पिण्डे चतुर्दश विश्वैर्गुणिते नखोद्धृते विकलाः ।[1]
लब्धेन विश्वपिण्डो रहितः शेषं फलं भवति ।। ४५ ।।

सु. भा.—चतुर्दश संख्यक एष्यपिण्डे सति विकले शेषे विश्वविगुणिते त्रयोदश-संख्यकपिण्डेन गुणिते नखो २० द्धृते यल्लब्धं भवेत् तेन लब्धेन विश्वपिण्डस्त्र-

१. पिण्डे चतुर्दशैष्ये विश्वविगुणिते नखोद्धृते विकले ।

योदशसंख्यक: पिण्डो रहित: शेषं फलं शीघ्रफलसम्बन्धि पिण्डमानं भवेत् ।

अत्रोपपत्तिः ।

त्रयोदशचतुर्दशपिण्डयो रन्तरे $\frac{२}{३}$° केन्द्रान्तरमस्ति । इति पूर्वमेव ४२ सूत्रे प्रतिपादितम् । चतुर्दशपिण्डमानं शून्यसमम् । अतोऽनुपातो यदि विंशतिमितेन त्रिगुणशेषेण विश्वचतुर्दश पिण्डयोरन्तरं विश्वपिन्डसमं लभ्यते तदेष्टशेषेण किं लब्धेन विश्वपिण्डो रहितश्चतुर्दशपिण्डस्याल्पत्वात् शेषं शीघ्रफलसम्बन्धि पिण्ड-मानं भवेत् ॥४५॥

अब विश्व के बराबर गतपिण्ड में विशेष नियम कहते हैं ।

हि. भा.—चतुर्दश (१४) संख्यक एष्य पिण्ड हो तो विकल शेष को त्रयोदश (१३) के बराबर पिण्ड से गुणादें । उसमें नख (२०) से भागदें । फल जो हो, उसको तेरहवें पिण्ड में से घटा देने पर शेष शीघ्रफल सम्बन्धी पिण्डमान होगा ।

उपपत्ति ।

तेरह और चौदह पिण्ड का अन्तर $\frac{२}{३}$° में केन्द्रान्तर है यह बात पहले ही ४२ सूत्र में कही गई है । चौदहवां पिण्डमान = ० । अब अनुपात करते हैं । बीस के तुल्य त्रिगुणशेष में तेरह चौदह पिण्ड का अन्तर तेरह पिण्ड के तुल्य मिलता है तो इष्टशेष में क्या लाभ जो हो उसको विश्व (१३) पिण्ड में घटा देने पर शेष शीघ्रफल सम्बन्धी पिण्डमान होगा । यहां चौदहवां पिण्ड छोटा है इसलिये १३वें पिण्ड में फल को घटा दिया गया है ।

इदानीं पिण्डत: शीघ्रफलमाह ।

पिण्डफलनवमभागो भागादिफलं ग्रहेषु वा स्वमृणम् ।
चलकेन्द्रे मेषादौ तुलादिके कारयेत् क्रमशः ॥ ४६ ॥

सु. भा.—पिण्डफलस्य नवमांशो भागादिशीघ्रफलं भवेत् शेषं स्पष्टार्थम् ।

अत्रोपपत्तिः ।

नवगुणितं भागादि शीघ्रफलमेव पिण्डांका: पठिता: इति ४२ सूत्रे प्रतिपादितम् । अत: पिण्डफलं नवहृतं भागादि शीघ्रफलं भवति धनर्णवासना स्पष्टाधिकारत: स्फुटा ॥४६॥

अब पिण्ड पर से शीघ्र फल लाते हैं ।

हि. भा.—पिण्ड फल का नवम भाग भागादि शीघ्र फल होता है । इस फल को

केन्द्र के वश ग्रह में धन ऋण करना चाहिये। मेषादि केन्द्र हो तो शीघ्र फल को ग्रह में धन और तुलादि केन्द्र में फल को ग्रहण करना चाहिये।

उपपत्ति।

नव (९) से गुणित भागादि शीघ्रफल ही पिण्डाङ्क पठित है। यह बात २४वें सूत्र में कही गई है। इसलिये पिण्डफल को नव (९) से भाग देने पर फल भागादि शीघ्रफल होता है। धन और ऋण का नियम स्पष्टाधिकार से जानना चाहिये।

इदानीं भौमस्य चतुर्दशपिण्डानाह।

वसुवेदा युगनन्दाः खवेदचन्द्राः समुद्रवसुचन्द्राः।
वसुयमयमा रसनभोरामा नन्दाग्निरामाश्च॥ ४७॥[1]
मोक्षगुणा रसरसरामा विलोचनाब्धिगुणाः।
वसुवसुयमा वसुदिशो नभश्च कुजशीघ्रपिण्डाः स्युः॥ ४८॥[2]

सु. भा.—क्रमेण चतुर्दशपिण्डाः = ४८।९४।१४०।१८४।२२८।२७०।३०६। ३३९।३५९।३६६।३४२।२६८।१०८।०॥ अत्र महत्तमपिण्डो नवभक्तो भौमस्य परमं शीघ्रफलम् = $\frac{३६६}{९}$ = ४०° । ४०′ ॥

अत्रोपपत्तिः।

केन्द्रांशाः = १३°।२०′॥२६°।४०′॥४०°।०′॥५३°।२०′।६६°।४०′॥८०°।०′॥ ९३°।२०′॥१०६°।४०′॥१२०°।०′॥१३३°।२०′॥१४६°।४०′॥१६०°।०′॥१७३°।२०′॥

खार्कमिते व्यासार्धे

केन्द्रज्या = २७।४०॥५३।४०॥७७।००॥९६।००॥११०।००॥२१८।००॥११९। १९॥

केन्द्रकोटिज्या = ११६।२०॥१०७।००॥९२।००॥७१।२०॥४७।२०॥२१।००। ७००॥

अन्त्यफलज्या = ७८।००॥७८।००।७८।००॥७८।००॥७८।००॥७८।००॥७८। ७८।००॥

---

१. वसुवेदा युगनन्दाः खवेदचन्द्रा समुद्रवसुचन्द्राः।
वसुयमयमा वियन्नगयमास्तथा रसनभोरामाः॥४७॥

२. गोऽग्निगुणा गोऽक्षगुणा रसरसरामा विलोचनाब्धिगुणाः।
वसुरसयमा वसुदिशो नभश्च कुजशीघ्रपिण्डाः स्युः॥४८॥

स्पष्टाकोटिः=१६४।२०।।१८५।००।।१७०।००।।१४६।२०।।१२५।२०।।६६।००।।७१।००।।

शीघ्रकर्णः=११७७६"।।११५५८।।१११९८।।१०६५२।।१०००६।।६२४२।।८३३२।।

शीघ्रफलज्या =१०·५६६।।२१·७३१।।३२·१८१।।४२·१७८।।५१·४४६।।५९·७५३।।६७·०२८।।

शीघ्रफलम् =५°.०५।।१०°.४।।१५°.६।।२०°.६।।२५°.५।।२९°.८।।३४°.१३।।

९×शीफ =४५·४५।।९३·६।।१४०·४।।१८५·४।।२२९·५।।२६८·२।।३०७·२।।

केन्द्रज्या =११४।४०।।१०४।००।।८७।००।।६५।४०।।४१।००।।१४।००।।

केन्द्रकोटिज्या=३४।२०।।६०।००।।८२।००।।१००।००।।११३।।११८।४०।।

अन्त्यफलज्या=७८।००।।७८।००।।७८।००।।७८।००।।७८।००।।७८।००।।

स्पष्टाकोटि. =४३।४०।।१८।००।।४।००।।२२।००।।३५।००।।४०।००।।

शीघ्रकर्णः =७३४३।।६३३३।।५२२६।।४१५५।।३२३५।।२५०२।।

शीघ्रफलज्या=७२.८६६।।७६·८५४।।७७·९११।।७३·६६४।।५९·३१४।।२६·१८७।।

शीघ्रफलम् =३७°.६।।३९°.९।।४०°.६।।३८°.२।।२९°.६।।१२.६।।

९×शीफ =३३८·४।।३५९·१।।३६५·४।।३४३·८।।२६६·४।।११३·४।।

यथा पिण्डेषु महदन्तरं न भवेत्तथा साधितसूक्ष्मपिण्डसंख्या अवलम्ब्य मया पिण्डान् संशोध्य मूलार्ये संशोधिते—

आचार्यपिण्डाः=४८।९४।१४०।१८४।२२८।२७०।३०६।

मत्साधिताश्च =४६।९४।१४०।१८५।२३०।२६८।३०७।

आचार्यपिण्डाः=३३९।३५९।३६६।३४२।२६८।१०८।०।

मत्साधिताश्च=३३८।३५९।३६५।३४४।२६६।११३।०।

अब भौम का १४ पिण्डों को कहते हैं।

हि. भा—भौम के क्रम से १४ पिण्ड=४८ । ९४ । १४० । १८४ । २२८ । २७० । ३०६ । ३३९ । ३५९ । ३६६ । ३४२ । २६८ । १०८ । ० ।। यहां सबसे बड़े पिण्ड ३६६ को ९ से भाग देने पर $\frac{३६६}{९}$=४०° । ४०′ ।।

उपपत्ति

केन्द्रांश	=१३° । २०′ ॥ २६° । ४०′ ॥ ४०° । ०′ ॥ ५३′ । २०′ ॥ ६६° । ४०′ ।८०° । ०′ ॥ ९३° । २०′ ॥१०६° । ४०′ ॥ १२०° । ०′ ॥१३३°।२०′॥ १४६° । ४०′ ॥ १६०° । ०′ ॥ १७३° । २०′ ॥

खार्क (१२०) व्यासार्धं में—

केन्द्रज्या	=२७।४०॥५३।४०॥७७।००॥९६।००।११०।००॥ ११८।००॥ ११९ । १९ ॥
केन्द्रकोटिज्या	=११६।२०॥१०७।००।९२।००॥७१।२०॥४७।२०॥२१।००॥ ७।००॥
अन्त्यफलज्या	=७८।००॥७८।००॥७८।००॥७८।००॥७८।००॥७८।०॥७८। ००॥
स्पष्टा कोटि	=१९४।२०॥१८५।००॥१७०।००॥१४९।२०॥१२५।२०॥ ९९।००॥७१।००॥
शीघ्रकर्ण	=११७७६″॥११५५८॥१११९८॥१०६५२॥१०००६॥९२४२॥ ८३३२॥
शीघ्रफलज्या	=१०·५९९॥२१·७३१॥३२·१८१॥४२·१७८॥५१·४४९॥ ५९·७५३॥६७·०२८॥
शीघ्रफलम्	=५°·०५॥१०°·४॥१५°.६॥२०°.६॥२५°.५॥२९°.८॥३४°.१३॥
९×शीफ	=४५·४५॥९३·६॥१४०·४॥१८५·४॥२२९·५॥२६८·२॥३०६·२॥
केन्द्रज्या	=११४।४०॥१०४।००॥८७।००॥६५।४०॥४१।००॥१४।००॥
केन्द्र कोटिज्या	=३४।२०॥६०।००॥८२।००॥१००।००॥११३।००॥११८।४०॥
अन्त्यफलज्या	=७८।००॥७८।००॥७८।००॥७८।००॥७८।००॥७८।००॥
स्पष्टा कोटिः	=४३।४०॥१८।००॥४।००॥२२।००॥३५।००॥३५।००॥ ४०।००॥
शीघ्रकर्ण	=७३४३″॥६३३३॥५२२६॥४१।५५॥३२३५॥२५०२॥
शीघ्रफलज्या	= ७२·८६९॥७६·८५४॥७७·९११॥६३·९६४॥५९·३१४॥ २६·१८७॥
शीफ	=३७°·६॥३९°·९॥४०°·६॥३८°·२॥२९°·६॥१२·६२॥

९ × शीघ्रक =३३८·४।।३५९·१।।३६५·४।।३४३·८।।२६६·४।।११३·४।।

जिस लिये पिण्ड में अधिक अन्तर न हो इसलिये साधित सूक्ष्म पिण्डसंख्या को स्वीकार कर पिण्डों को शोधनकर मूल में पठित आर्या का मैंने संशोधन किया है।

आचार्योक्त पिण्ड =४८।९४।१४०।१८४।२२८।२७०।३०६।

श्री सुधाकरोक्त पिण्ड=४६।९४।१४०।१८५।२३०।२६८।३०७

आचार्योक्त पिण्ड=३३९।३५९।३६६।३४२।२६८।१०८।०

श्री सुधाकरोक्त पिण्ड=३३८।३५९।३६५।३४४।२६६।११३।०

इदानीं बुधपिण्डानाह।

गुणरामाः षट्करसा वसुनन्दागजविलोचनशशाङ्काः।
सागरविषयशशाङ्का नगनगचन्द्राः कृताङ्कभुवः॥ ४९॥
वेदनखा जलधिनखा वसुवसुचन्द्रास्तुरङ्गविषयभुवः।
तुरगदिशो रसरामा नभश्च पिण्डाश्च शशिसूनोः॥ ५०॥

सु. भा.—बुधस्य क्रमेण चतुर्दशपिण्डाः=३३।६६।९८।१२८।१५४।१७७। १९४।२०४।१८८।१५७।१०७।३६।०।।

अत्र महत्तमपिण्डो २०४ नवभक्तो बुधस्य परमं शीघ्रफलम् = $\frac{२०४}{९}$ =२२°। ४०′। अस्य ज्याऽन्त्यफलज्या=४६।४। खार्कमिते व्यासार्धे।

अत्रोपपत्तिः।

भौमपिण्डसाधनवदत्रापि—

केन्द्रज्या=२७।४०।।५३।४०।।७७।००।।९९।००।।११०।।००।।११८।००।।
११९।२०।।

केन्द्रकोटिज्या=११६।२०।।१०७।००।।९२।००।।७१।२०।।४७।२०।।२१।००।।
७।००।।

अन्त्यफलज्या=४६।४।।४६।४।।४६।४।।४६।४।।४६।४।।४६।४।।४६।४।।

स्पको =१६२।२४।।१५३।४।।१३८।४।।११७।२४।।९३।२४।।६७।४।।
३९।४।।

शीक =९८८४।।९७३२।।९४८५।।९०९९।।८६५४।।८१४४।।७५३५।।

शीघ्रफलज्या=७·७३।।१५·३३।।२२·४४।।२९·१६।।३५·१३।।४०·०५।।४३·७८।।

शीफ =३°.७।।७°.३।।१०°.७।।१४°.०८।।१७°.०६।।१९°.५२।।
२१°.५।।

९×शीफ = १३·३॥६५·७॥९६·३॥१२६·७२॥१५३·५४॥१७५·६८॥
१९३·५॥

केन्द्रज्या =११४।४०॥१०४।००॥८७।००॥६५।४०॥४१।००॥१४।०॥

केन्द्रकोटिज्या =३४।२०॥६०।००॥८३।००॥१००·००॥११३।००॥११८।४०॥

अन्त्यफलज्या =४६।४॥४६।४॥४६।४॥४६।४॥४६।४॥४६।४॥

स्पको =११।४४॥१३॥५६॥३५।५६॥५३।५६॥६६।५६॥७२।३६॥

शीक =६८९६"॥६२९६॥५६४८॥५०९८॥४७०९॥४६३३॥

शीघ्रफलज्या =४५.९५॥४५·६५॥४२·५७॥३५·६०॥२४·०७॥८·३५॥

शीफ =२२°.६॥२२°.५॥२०°.८॥१७°.३॥११°.५॥३°.९८॥

९×शीफ =२०३.४॥२०२·५॥१८७·२॥१५५·७॥१०३·५॥३५·८२॥

आचार्यपिण्डाः =३३।६६।९८।१२८।१५४।२७७।१९४।

मत्साधिताः =३३।६६।९९।१२७।१५४।१७६।१९४।

अचार्यपिण्डाः =२०४।२०४।१८८।१५७।१०७।३६।०।

मत्साधिताः =२०३।२०३।१८७।१५६।१०४।३६।०।

अब बुध पिण्डों को कहते हैं।

हि. भा.—बुध के क्रम से चतुर्दश (१४) पिण्ड=३३।६६।९८।१२८।१५४।१७७।१९४।२०४।२०४।१८८।१५७।१०७।०॥ यहां सबसे बड़ा पिण्ड=२०४ को नौ (९) से भाग देने पर परमशीघ्रफ=$\frac{२०४}{९}$=२२°।४०′, इसकी अन्त्यफलज्या=४६।४। खार्कमित (१२०) व्यासार्ध में।

उपपत्ति।

भौमपिण्ड साधन की तरह—

केन्द्रज्या =२७।४०॥५३।४०॥७७।००॥९६।००॥११०।००॥११८।००॥
११९।२०॥

केन्द्र कोटिज्या =११६।२०॥१०७।००॥९२।००॥७१।२०॥४७।२०॥२१।००॥
७।००॥

अन्त्य फलज्या =४६।४॥४६।४॥४६।४॥४६।४॥४६।४॥४६।४॥४६।४॥

स्पष्ट कोटि =१६२।२४॥१५३।४॥१३८।४॥११७।२४॥९३।२४॥६७।४॥
३९।४॥

शीघ्रकर्ण =९८८४॥९७३२॥९४८५॥९०९९॥८६५४॥८१४४॥७५३४॥
शीघ्रफज्या =७·७३॥१५·३३॥२२·४४॥२९·१६॥३५·१३॥४०·५॥४३·७८॥
शीघ्रफल =३°.७॥७°.३॥१०°.७॥१४°·८॥१७°.६॥१९°५२॥२१°.५॥
९ × शीफ =३३·३॥६५.७॥९६°३॥१२६·७२॥१५३·५४॥१७५·६८॥
१९३·५॥
केन्द्रज्या =११४।४०॥१०४।००॥८७।००॥६५।४०॥४१।००॥१४।००॥
केन्द्रकोटिज्या =३४।२०॥६०।००॥८२।००॥१००।००॥११३।००॥११८।४०॥
अन्त्यफलज्या =४६।४॥४६।४॥४६।४॥४६।४॥४६।४॥४६।४॥
स्पष्टकोटि =११।४४॥१३।५६।।३५।५६॥५३।५६॥६६।५६॥७२।३६।
शीक =६८९६″॥६२९६॥५६।४८॥५०९८॥४७०९॥४६३॥
शीघ्रफलज्या =४५·९५॥४५·६५॥४२·५७॥३५·६०॥२४·७॥८·३५॥
शीफ =२२°·६॥२२°·५॥२०°·८॥१७°·३॥११°·५॥३°·९८।
९ × शीफ =२०३·४॥२०·५२॥१८७·२॥१५५·७॥१०३·५॥३५·८२॥
आचार्यपिण्ड =३३।६६।९८।१२८।१५४।२७७।१९४।
मेरे से साधितपिण्ड=३३।६६।९६।१२७।१५४।१७६।१९४।
आचार्य का पिण्ड=२०४।२०४।१८८।१५७।१०७।३६।०।
मेरा पिण्ड =२०३।२०३।१८७।१५६।१०४।३६।०।

इदानीं गुरोः पिण्डानाह ।

धृतिरसगुणाश्च खशराः षट्करसा गजनगा रसाष्टौ च ।
खाङ्काश्च भुजगवसवः सागरवसवः समुद्रनगाः ॥ ५१ ॥
भुजगशरा रसरामा रसेन्दवः पिण्डकाः सूरेः ।
चक्राद्विशुद्धशेषः स्फुटो भवेत् सिंहिकासूनुः ॥ ५२ ॥

सु. भा.—गुरोः क्रमेण चतुर्दशपिण्डाः=१८।३६।५०।६६।७८।८६।९०।८८।८४।७४।५८।३६।१६।०। अत्र महत्तमपिण्डो ९० नवभक्तः परमं शीघ्रफलम्=१०° अस्य ज्यान्त्यफलज्या=२१ खार्कमिते व्यासार्धे । गगनेन नवचन्द्रै रित्यादि ३१ श्लोकविधिना यः पातः स चक्राद्विशुद्धः शेषः सिंहिकासूनू राहुः स्फुटो भवेदिति ।

अस्योपपत्तिः ।

भौमपिण्डसाधन वदत्रापि—

केन्द्रज्या =२७।४०॥५३।४०॥७७।००॥६६।००॥११०।००॥११८।००॥ ११६।२०॥

केन्द्रकोटिज्या=११६।२०॥१०७।००॥६२।००॥७१।२०॥४७।२०॥२१।००॥ ७।००॥

अन्त्यफलज्या =२१।००॥२१।००॥२१।००॥२१।००॥२१।००॥२१।००॥ २१।००॥

स्पको =१३७।२०॥१२८।००॥११३।००॥६२।२०॥६८।२०॥४२।००१४।००॥

शीक =८४०६″॥८३२८॥८२०४॥७६६२॥७७७०॥७५१५॥७२१०॥

शीफज्या =४·१५॥८·१२॥११·८२॥१५·१३॥१७ ८३॥१६·७८॥२०·८३॥

शीक =१·६७॥३·८७॥५·६२॥७·२०॥८·४८॥६·४२॥६·६२॥

६×शीफ =१७·७३॥३४ ८३॥५०·५८॥६४·८०॥७६·३२॥८४·७८॥८६·२८॥

केन्द्रज्या =११४।४०॥१०४।००॥८७।००॥६५।४०॥४१।००॥१४।००॥

केन्द्रकोटिज्या=३४।२०॥६०।००॥८२।००॥१००।००॥११३।००॥११८।४०॥

अन्त्यफलज्या =२१।००॥२१।००॥२१।००॥२१।००॥२१।००॥२१।००॥

स्पको =१३।२०॥३६।००॥६१।००॥७६।००॥६२।००॥६७।४०॥

शीक =६६०७″॥६६६४॥६३७५॥६१६४॥६०४४॥५६२०॥

शीफज्या =२०·८५॥१६·६७॥१७·१८॥१३·४२॥८·५३॥२·६८॥

शीफ ६·६२॥६·३७॥८·१८॥६·३५॥४·०७॥१·४२॥

६×शीफ =८६·२८॥८४·३३॥७३·६२॥५७·१५॥३६·६३॥१२·७८॥

आचार्यपिण्डाः=१८।३६।५०।६६।७८।८६।६०॥

मत्साधिताः =१८।३५।५१।६५।७६।८५।८६॥

आचार्यपिण्डाः=८८।८४।७४।५८।३६।१६।०॥

मत्साधिताः =८६।८४।७४।५७।३७।१३।०॥

अब गुरु के पिण्ड को कहते हैं।

हि. भा.—गुरु के क्रम से चतुर्दश (१४) पिण्ड=१८।३६।५०।६६।७८।८६।६०। ८८।८४।७४।५८।३६।१६।०। यहां सबसे बड़ा पिण्ड=६०″ $\frac{६०}{६}$=१०°=शीघ्रफलपरम

इसकी ज्या अन्त्यफलज्या (१२०) व्यासार्ध में=२१ । 'गगनेन नवचन्द्रैः' इत्यादि श्लोक से जो पात (राहु) कहा गया है, उसको १२ में घटाने से स्पष्ट राहु होता हैं ।

उपपत्ति ।

भौमपिण्ड साधन की तरह यहां भी—

केन्द्रज्या =२७।४०॥५३।४०॥७७।०॥९६।००॥११०।००॥११८।००॥
११९।२०॥

केन्द्रकोटिज्या =११६।२०॥१०७।००॥९२।००॥७१।२०॥४७।२०॥२१।००॥
७।००॥

अन्त्यफलज्या =२१।००॥२१।००॥२१।००॥२१।००॥२१।००॥२१।००॥
२१।००॥

स्पको =१३७।२०॥१२८।००॥११३।००॥९२।२०॥६८।२०॥४२।००॥
१४।००॥

शीक =८४०६″॥८३२८॥८२०४॥७९९२॥७७७०॥७५१५॥७२१०॥

शीफज्या =४·१५॥८·१२॥११ ८२॥१५·१३॥१७·८३॥१९·७८॥२०·८३॥

शीक =१·९७॥३·८७॥५·६२॥७·२०॥८·४८॥९·४२॥९·९२॥

९×शीफ =१७·७३॥३४·८३॥५०·५८॥६४·८०॥७६·३२॥८४·७८॥
८९·२८॥

केन्द्रज्या =११४।४९॥१०४।००॥८७।००॥६५।४०।४१।००॥१४।००॥

केन्द्रकोटिज्या =३४।२०॥६०।००॥८२।००॥१००।००॥११३।००॥११८।४०॥

अन्त्यफलज्या =२१।००॥२१।००॥२१।००॥२१।००॥२१।००॥२१।००॥

स्पकोटि =१३।२०॥३९।००॥६१।००॥७९।००॥९२।००॥९७।४०॥

शीक =६९०७″॥६६६४॥६३७५॥६१६४॥६०४४॥५९२०॥

शीफज्या =२०·८५॥१९·६७॥१७·१८॥१३·४२॥८·५३॥२·९८॥

शीफ =९·९२॥९·३७॥८·१८॥६·३५॥४·७॥१·४२॥

९×शीफ =८९·२८॥८४·३३॥७३·६२॥५७·१५॥३६·६३॥१२·७८॥

आचार्य का पिण्ड=१८।३६।५०।६६।७८।८६।९०॥

अनुवादककापिण्ड=१८।३५।५१।६५।७६।८५।८९॥

आचार्य का पिण्ड=८८।८४।७४।५८।५८।३६।१६।०॥

अनुवादककापिण्ड=८९।८४।७४।५७।३७।१३।०॥

इदानीं शुक्रपिंडानाह ।

खशराः शतं खतिथ्यः सागरनन्देन्दवो ऽङ्कजिनाः ।
गुणगुणरामाः कुनगगुणाः शून्यखाम्बुधयः ॥ ५३ ॥[1]
कुञ्जरचन्द्रसमुद्रा गजाभ्रवेदा नभोऽम्बुधिज्वलनाः ।
गगनशिलीमुख चन्द्रावियच्च पिण्डाः सुरारिगुरोः ॥ ५४ ॥[2]

सु. *भा.*—शुक्रस्य क्रमेण चतुर्दशपिण्डाः ५०।१००।१५०।१९९।२४६।२९०। ३३३।३७१।४००।४१८।४०८।३४०।१५०।० । अत्र महत्तमपिण्डो ४१८ नवभक्तः परमफलम्=$\frac{४१८}{९}$=४६°।२६'।४०"। अस्य ज्या अन्त्यफलज्या=८६।४१। खार्कमितव्यासार्धे ।

अत्रोपपत्तिः ।

भौमपिण्डसाधनवदत्रापि ।

केन्द्रज्या =२७।४०॥५३।४०॥७७।००॥९६।००॥११०।००॥११८।०० ॥ ११९।२०॥

केन्द्रकोटिज्या =११६।२०॥१०७।००॥९२।००॥७१।२०॥४७।२०॥२१।००॥ ७।००॥

अन्त्यफलज्या =८६।४१॥८६।४१॥८६।४१॥८६।४१॥८६।४१॥८६।४१॥ ८६।४१॥

स्पको =२०३॥१॥१९३।४१॥१७८।४१॥१५८।१॥१३४।१। १०७।४१॥७९।४१॥

शीक =१२२९४॥१२०६०॥११६७४॥११०९४॥१०४०२॥९५८५॥ ८६०९॥

शीफज्या =१०·७०॥२३·१३॥३४·३०॥४५·००॥५५·००॥६४·०२॥ ७२·०८॥

शीफ =५°.१७॥११°.७७॥१६°.६६॥२२°. .०॥२७°.३७॥ ३२°.३७॥३७°.१०॥

९×शीफ =५०१३॥९९·६३॥१४९.८५॥१९८·९॥२४६·३३॥२९१.३३॥ ३३३·९॥

---

१. खशराः शतं खतिथ्यस्तथाङ्कनन्देन्दवोऽङ्कजिनाः ।
खाङ्कयमाः सुररामाःकुनगगुणाः शून्यखाम्बुधयः ॥५३॥

२. कुञ्जरचन्द्रसमुद्रा गजाभ्रवेदा नभो ऽम्बुधिज्वलनाः ।
गगनशिलीमुखचन्द्रा वियच्चपिण्डाः सुरारिगुरोः ॥५४॥

केन्द्रज्या =११४।४०।।१०४।००।।८७।००।।६५।४०।।४१।००।।१४।००।।

केन्द्रकोटिज्या==३४।२०।६०।००।।८२।००।।१००।००।।११३।००।।
११८।४०।।

अन्त्यफलज्या =८६।४१।।८६।४१।।८६।४१।।८६।४१।।८६।४१।।८६।४१।।

स्पको =५२।२१।।२६।४१।।४।४१।।१३।१९।।२६।१९।।३१।५९।।

शीक =७५४४।।६४४२।।५२२७।।४०५१।।२९२३।।२०९५।।

शीफज्या =७८·८२।।८३·९५।।८६·६५।।८४·२५।।७२·९५।।३४·७५।।

शीफ =४१°.२२।।४४°.६२।।४६°.४३।।४४°.८३।।३७°.६२।।
१६१°.८७।।

९×शीफ =३७०·९८।।४०१.५८।।४१७·८७।।४०३·४७।।३३८·५८।।
१५१·८३।।

आचार्यपिण्डा:=५०।१००।१५०।१९९।२४६।२९०।३३३।।

मत्साधिता: =५०।१००।१५०।१९९।२४६।२९१।३३४।।

आचार्यपिण्डा:=३७१।४००।४१८।४०८।३४०।१५०।०।।

मत्साधिता: =३७१।४०२।४१८।४०४।३३९।१९२।०।।

यथा महदन्तरं न भवेत्तथाऽऽदर्शार्ये मया शोधिते षष्ठपिण्डत्रुटिश्च पूर्णी-कृतेति ।।५३-५४।।

अब शुक्रपिण्ड को कहते हैं।

हि. भा.—यहां मूलोक्त शुक्र के क्रम से चतुर्दश (१४) पिण्ड इस प्रकार है।
५०।१००।१५०।१९९।२४६।२९०।३३३।३७१।४००।४१८।४०८।३४०।१५०।०।।

यहां सबसे बड़ा पिण्ड=४१८।

$\frac{४१८}{९}$=४६°।२६′।४०″=परमफल। इसकी ज्या (१२०) व्यासार्ध में ८६।४१।
=अन्त्यफलज्या।

उपपत्ति।

भौमपिण्ड साधन की तरह यहां—

केन्द्रज्या =२७।४०।।५३।४०।।७७।००।।९६।००।।११०।००।।११८।००।।
११९।२०।।

केन्द्रकोटिज्या =११९।२०।।१०७।००।।९२।००।।७१।२०।।४७।२०।।२१।००।।
७।००।।

अन्त्यफलज्या =८६।४१॥८६।४१॥८६।४१॥८६।४१॥८६।४१॥८६।४१॥
८६।४१॥

स्पको =२०३।१॥१९३।४१॥१७८।४१॥१५८।१॥१३४।१।१०७।४१॥
७९।४१॥

शीक =१२२९४॥१२०६०॥११६७४॥११०९४॥१०४०२॥९५८५॥
८६०९॥

शीफज्या =१०·७०॥२३.१३॥३४·३०॥४५·१००॥५५·००॥६४·२॥
६२·८॥

शीफ =५°·५७॥११°·७॥१६°·६५॥११°·१०॥२७°·३६॥३२°·७॥
३७°·१०॥

शीफ =५०·१३॥९९·६३॥१४९·८५॥१९८·९॥२४६·३३॥२९१ ३३॥
३३३.९॥

केन्द्रज्या =११४।४०॥१०४।००॥८७।००॥६५।४०॥४१।००॥१४।००॥

केन्द्रकोटिज्या =३४।२०॥६०।००॥८२।००॥१००।००॥११३।००॥११८।४०॥

अन्त्यफलज्या =८६।४१॥८६।४१॥८६।४१॥८६।४१॥८६।४१।८६।४१॥

स्पको =५२।२१॥२६।४१॥४।४१॥१३।१९॥२६।१९॥३१।५९॥

शीफ =७५४४॥६४४२॥५२२७॥४०५१॥२९२३॥२०९५॥

शीफज्या ७८·८२॥८३.९५॥८६·६५॥८४·२५॥७२.९५॥३४ ७५॥

शीफ =४१°·२२॥४४°.६२॥४६°·४४॥४३·°८३॥३७°·६२॥१६°·८७॥

९ × शीफ =३७०·९८॥४०१·५८॥४१७·८७॥४०३·४७॥३३८.५८॥
१५१·८३॥

आचार्य का पिण्ड=५०।१००।१५०।११९।२४६।२९०।३३३॥
संशोधक का पिण्ड=५०।१००।१५०।१९९।२४६।२९१।३३४॥
आचार्य का पिण्ड=३७१।४००।४१८।४०८।३४०।१५०।०॥
संशोधक का पिण्ड=३७१।४०२।४१८।४०४।३३९।१५२।०

जिस तरह अधिक अन्तर न हो उस तरह मैंने मूलोक्त आर्या का संशोधन कर छठेपिण्ड को पूरा किया है।

इदानीं शनिपिण्डानाह।

रुद्रा द्वियमाः कुगुणा वसुरामाः सागराम्बुनिधयश्च।
वसुवेदा गजवेदाः षडब्धयो लोचनाम्बुधयः॥ ५५॥
पंचगुणा सप्तयमा रसचन्द्राः षड् नभश्च रविसूनोः॥ ५५½॥

सु. भा.—शनैः क्रमेण चतुर्दशपिण्डाः=११।२२।३१।३८।४४।४८।४६।४२।३५।२७।१६।६।०।अत्र महत्तमपिण्डो ४८ नवभक्तः परमं शीघ्रफलम्=$\frac{४८}{९}$=५°।२०′। अस्य ज्यान्त्यफलज्या=११।१२ खार्कमिते व्यासार्धे ।

अत्रोपपत्तिः ।

भौमपिण्डसाधनवदत्रापि—

केन्द्रज्या =२७।४०।।५३।४०।।७७।००।।९६।००।।११०।००।।११८।००।।११९।२०।।

केन्द्रकोटिज्या=११६।२०।।१०७।००।।९२।००।।७१।२०।।४७।२०।।२१।००।।७।००।।

अन्त्यफलज्या =११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।

स्पको =१२७।३२।।११८।१२।।१०३।१२।।८२।३२।।५८।३२।।३२।१२।।४।१२।।

शीक =७८३०।।७७८९।।७७२५।।७५९६।।७४७६।।७३३९।।७१६५।।

शीफज्या =२·७३।।४·६०।।६·७०।।८·४८।।९·८८।।१०·८०।।११·२०।।

शीफ =१°.१३।।२°.१८।।३°.१८।।४°.०३।।४°.७०।।५°.१२।।५°.३३।।

९×शीफ =१०·१७।।१९·६२।।२८·६२।।३६·२७।।४२·३०।।४६·०८।।४७·९०।।

केन्द्रज्या =११४।४०।।१०४।००।।८७।००।।६५।४०।।४१।००।।१४।००।।

केन्द्रकोटिज्या=३४।२०।।६०।००।।८२।००।।१००।००।।११३।००।।११८।४०।।

अन्त्यफलज्या =११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।

स्पको =२३।८।।४८।४८।।७०।४८।।८८।४८।।१०१।४८।।१०७।२८।।

शीक =६९९९।।६८९३।।६७३१।।६६२७।।६५८५।।६५०३।।

शीफज्या =१०·९७।।१०·१३।।८·६८।।६·६५।।४·२०।।१·४३।।

शीफ =५°.२२।।४°.८३।।४°.१३।।३°.१७।।२°.००।।०°.६८।।

९×शीफ =४६.९८।।४३.४७।।३७·१७।।२८·५३।।१८·००।।६·१२।।

आचार्यपिण्डाः=११।२२।३१।२८।४४।४८।४८।।

मत्साधिताः =१०।२०।२९।३६।४२।४६।४८।।

आचार्यपिण्डाः =४६।४२।३५।२७।१६।६।००।।

जत्साधिताः =४७।४३।३७।२९।१८।६।००।।

पिण्डमानमिति साधितं मत्रा शीघ्रकर्णवशतः पराख्यया ।
जीवया लघुफलस्य विद्वरैश्चिन्तनीयमखिलं च चिद्वरैः ।।५५$\frac{१}{२}$।।

अब शनिपिण्डों को कहते हैं।

हि. भा.—शनि के क्रम से चतुर्दश (१४) पिण्ड =११।२२।३१।३८।४४।४८।४८।
४६।४२।३५।२७।१६।६।०।।

यहाँ सबसे बड़ा पिण्ड=४८।।$\frac{४८}{९}$=शीघ्रफल=५°।२०′। इसकी ज्या अन्त्यफलज्या =११। यह ११ अन्त्यफलज्या १२० व्यासार्ध में होता है।

उपपत्ति ॥

भोमपिण्ड साधन की तरह यहां भी—

केन्द्रज्या =२७।४०।।५३।४०।।७७।००।।९६।००।।११०।००।।११८।००।।
११९।२०।।

केन्द्रकोटिज्या =११६।२०।।१०७।००।।९२।००।।७९।२०।।४७।२०।।२१।००।।
७।००।।

अन्त्यज्याफलज्या =११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।
११।१२।।

स्पको =१२७।३२।।११८।१२।।१०३।१२।।८२।३२।।५८।३२।।३२।१२।।
४।१२।।

शीक =७८३०।।७७८९।।७७२५।।७५९६।।७४७६।।७३३९।।७१६५।।

शीफज्या =२·३७।।४·६०।।६·७०।।८·४८।।९·८८।।१०·८०।।११·२०।।

शीफ =१°·१३।।२°·१८।।३°·१८।।४°·३।।४°·७०।।५°·१२।।५°·३३।।

९ × शफ =१०·१७।१९·६२।।२८.६२।।३६·२७।।४२·३०।।४६०८।।४७·९७।।

केन्द्रज्या =११४।४०।।१०४।००।।८७।००।।६५।४०।।४१।००।।१४।००।।

केन्द्रकोज्या =३४।२०।।६०।००।।८२।००।।१००।००।।११३।००।।११८।४०।।

अन्त्यफलज्या =११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।११।१२।।

स्पको =२३।८॥४८।४८॥७०।४८॥८८।४८॥१०१।८८॥१०७।२८॥

शीक =६९९१॥६८९३॥६७३१॥६६२७॥६४८५॥६५०३॥

शीफज्या =१०·९७॥१०·१३॥८·६८॥६·६५॥४·२०॥१·४३॥

शीफ =५°·२२॥४°·८३॥४°·१३॥३°·१७॥२°·००॥००°·६८॥

९ × शीफ =४६·९८॥४३·४७॥३७·१७॥२८·५३॥१८·००॥६·१२॥

आचार्य का पिण्ड=११ । २२ । ३१ । ३८ । ४४ । ४८ । ४८

संशोधक का पिण्ड=१० । २० । २९ । ३६ । ४२ । ४६ । ४८

आचार्य का पिण्ड =४६ । ४२ । ३५ । २७ । १९ । ६ । ००

संशोधक का पिण्ड=४७ । ४३ । ३७ । २९ । १८ । ६ । ०० ॥

इदानीं भौमादीनां मध्यगतीर्मृदुगतिफलानि चाह ।

रूपगुणा ३१ वाणजिनाः २४५ शर ५
षण्णव ९५ यम २ गुणाः ३ क्रमशः ॥ ५६ ॥
मध्यमभुक्तिकलाः स्युः षड् द्वि २६
रदाः ३२ खंवसु ८ शका ११ विकलाः ।
मन्दगुणिता भुक्तिः खखनवविहृता भुक्तिः स्यात् ॥ ५७ ॥[1]
ग्रहवत् तन्मन्दफलं मृदुकेन्द्रवशात् स्वमृणं तदूनां च ॥ ५७½ ॥

सु. भा.—भौमादीनां मध्यमागतिकलाः क्रमेण भौ ३१। बुशी २४५।गु५। शुशी ९६। श २ । रा ३। कलानामध एता विकलाश्च भौ २६। बुशी ३२। गु०। शुशी ८ ।श० । रा ११ ॥ भुक्तिर्भौमादीनां मृदुकेन्द्रगतिर्मन्दोच्चानामत्यल्पगतित्वाद्ग्रह-मध्यगतिरेव मन्दविगुणिता मन्दभोग्यखण्डेन विगुणिता खखनवो ९०० द्धृता फलमद्यतनश्वस्तन मन्दकेन्द्रज्ययोरन्तरं स्यात् । इदमन्तरमेव केन्द्रज्यां प्रकल्प्य ग्रहवत् ३८-३९ सूत्रतस्तन्मन्दफलं साध्यं तच्च भुक्तेः फलं मृदुगतिफलं भवति । तच्च स्वमृदुकेन्द्रवशात् कुलीरादौ केन्द्रे धनं मकरादावृणं कार्यं मध्यमगतौ । एवं मन्दस्पष्टा गतिः स्यात् । तदूनां शीघ्रगतिं शीघ्रोच्चगतिमित्यग्रे सम्बन्धः ॥

अत्रोपपत्तिः ।

खमन्दगतिफलसाधनवत् स्फुटा ॥५६-५७½॥

---

१. मन्दविगुणिता भुक्तिः खखनविहृता स्वभुक्तेःस्यात् ॥५७॥

अब भौमादि ग्रहों की मध्यगति और मन्दगतिफलों को कहते हैं।

हि. भा.—भौमादि ग्रहों की क्रम से मध्यम गति कला

=३१ भौ। बुशी २४५। गु ५। शुशी ९६। श २। रा. ३

भौमादि ग्रहों की क्रम से मध्यमगति विकला—

भौ=२६। बुशी=३२। गु=०॥ शुशी=८। श=०। रा=११॥

भौमादि ग्रहों की मृदुकेन्द्र गति बहुत ही अल्प होती हैं। इसलिये मध्यमगति को ही मन्दभोग्य खण्ड से गुणाकर ९०० से भाग देने पर फल अद्यतन श्वस्तन मन्द केन्द्रज्या का अंतर होता है। इस अन्तर को ही केन्द्रज्या मानकर ग्रह की तरह (३८-३९) सूत्र से मन्दफल लाना चाहिये। वह मृदुगति फल होता है। केन्द्र के वश से धनऋण करना उचित है। जैसे—कर्कादि केन्द्र में धन और तुलादि केन्द्र में ऋण करना चाहिये। इस तरह मन्दस्पष्टागति होती है। (तदूनां च) इसका अगले श्लोक से सम्बन्ध है।

उपपत्ति।

इसकी उपपत्ति रविमन्दगतिफल साधन की उपपत्ति से स्पष्ट ही है।

इदानीं शीघ्रगतिफलमाह।

शीघ्रगतिं सङ्गुणयेदेवं शीघ्रस्य खण्डेन ॥ ५८॥
पिण्डान्तरेण खार्कैः १२० लिप्ताद्यं स्यात् फलं गतेः शीघ्रम्।
स्वमृणं क्रमोत्क्रमविधौ चतुर्दश विधिश्च पिण्डको गुणकः ॥ ५९ ॥
हरस्वगतिरेवं वह्वृणात्याज्ये भुक्तेपदलिते
द्वे द्वे सूकाले कारयेत् स्फुटा भुक्तिः ॥ ६० ॥[1]

सु. भा.—मन्दस्फुटगत्यूनां शीघ्रगतिं शीघ्रोच्चगतिं शीघ्रकेन्द्रगतिंतां शीघ्रस्य खण्डेनार्थात् पिण्डान्तरेण पिण्डयोर्गतैष्यपिण्डयोरन्तरेण सङ्गुणयेत् खार्के १२० विभजेद्यल्लिप्ताद्यं फलं तद्गते शीघ्रं फलं स्यात्। तच्च क्रमोत्क्रमविधौ स्वमृणं स्यात्। गतपिण्डत एष्यपिण्डेऽधिके धनमल्पे ऋणमित्यर्थः। अथ यदि चतुर्दशश्चतुर्दशपिण्ड एष्यो भवेत् तदा शीघ्रकेन्द्रगतेर्गुणको विश्वपिण्डो हरश्च षष्टिर्भवेत्। शीघ्रकेन्द्रगतिं त्रयोदशपिण्डप्रमाणेन सङ्गुण्यषष्ट्या विभजेत् फलं तदा गतेः शीघ्रफलं स्यादित्यर्थः। मन्दस्फुटा गतिः शीघ्रगतिफलसंस्कृता स्फुटा गतिः

---

१. खरसहरो गतिरेवं बहुऋणमानं स्वमन्दभुक्तेश्चेत्।
भुक्त्यपरहिते वक्रां तत्काले कारयेद् भुक्तिम् ॥६०॥

स्यात् । एवं यदि मन्दस्पष्टगतेः शीघ्रगतिफलमृणं बहु स्यात् तदा ऋणमाने भुक्त्यपरहिते मन्दस्पष्टगतिरहिते सति शेषं तत्काले वक्रां भुक्तिं कारयेद्गणक इति शेषः ॥

अत्रोपपत्तिः ।

यदि चत्वारिंशन्मितेन भागात्मकेन त्रिगुणशेषेण गतैष्यपिण्डयोरन्तरं लभ्यते तदा त्रिगुणकेन्द्रगतिभाग समशेषेण किं पिण्डस्य नवगुणत्वात् फलं नवहृत-मद्यतनश्वस्तन शीघ्रफलयोरन्तरं भागात्मकं तत् षष्टिगुणं जातं कलात्मकं शीघ्र गतिफलम् $\frac{(\text{गपि} \backsim \text{एपि})\ \text{३शीकेग}}{४० \times ९ \times ६०} \times ६० = \frac{(\text{गपि} \backsim \text{एपि})\ \text{शीकेग}}{१२०}$ ।

त्रयोदशचतुर्दशपिण्डयोरन्तरे केन्द्रांशाः $= \frac{२०}{३}$ इति पूर्वं ४२ सूत्रे प्रतिपादितम् । तत्र गतैष्यपिण्डान्तरं चतुर्दशपिण्डाभावात् त्रयोदशपिण्ड सममतः शीघ्रफल गति साधने तत्र केन्द्रगतेस्त्रयोदशपिण्डो गुणः षष्टिर्हरो भवेत् धनर्णवासना चातिसुगमा ॥५८–६०॥

अब ग्रह के शीघ्रगति फल को कहते हैं ।

हि॰ भा॰— मन्दस्फुटगति से ऊन शीघ्रोच्चगति शीघ्रकेन्द्रगति होती है । शीघ्रकेन्द्रगति को शीघ्रखण्ड (अर्थात् गत-एष्य पिण्ड का अन्तर) से गुणा दें और खार्क (१२०) से भाग दें लब्धि कलादि होगी, वही शीघ्रफल होगा । उस शीघ्रफल को क्रम और उत्क्रम विधि में धन और ऋण करें । जैसे जहां पर गतपिण्ड से एष्यपिण्ड अधिक हो वहां फल को धन करें । जहां पर गतपिण्ड से एष्यपिण्ड अल्प हो वहां ऋण करदें ।

जहां चतुर्दश (१४) पिण्डएष्य हो वहां शीघ्रकेन्द्रगति का गुणक विश्व (१३) पिण्ड होता है और भाग हर षष्टि (६०) होता है । शीघ्रकेन्द्रगति को त्रयोदश (१३) पिण्ड से गुणाकर साठ से भाग दें फल शीघ्रगतिफल होगा, मन्दस्फुटगति ± शीगफ = स्फुटगति । यदि मन्दस्पष्टगति से ऋणशीघ्रगतिफल अधिक हो तो शेष को वक्रगति करना चाहिये ।

उपपत्ति ।

त्रिगुणशेष भागात्मक चत्वारिंशत् (४०) में गत एष्यपिण्ड का अंतर मिलता है तो त्रिगुणित केन्द्रगति समशेष में क्या इस अनुपात से भागात्मक अद्यतन श्वस्तन शीघ्रफल का अन्तर $= \frac{(\text{गपि} \sim \text{एपि})\ \text{३ शीकेग}}{४० \times ९ \times ६०}$ । इसको साठ से गुणने पर कलात्मक शीघ्रगतिफल

$$= \frac{(\text{गपि} \backsim \text{एपि})\ \text{१ शीकेग}}{१२०}$$ ।

तेरह-चौदह पिण्डों के अन्तर में केन्द्रांश $= \frac{२०}{३}$ । पहले ४२ सूत्र में कहा गया है ।

वहां चौदहवें पिण्ड के अभाव में तेरहवां पिण्ड ही गत एष्य पिण्ड का अन्तर होता है। इसलिये शीघ्रगति फल साधन में केन्द्र गति को तेरहवां पिण्ड गुणक और षष्टि (६०) भाग हर होता है। धन ऋण की युक्ति स्पष्ट ही है।

खण्डखाद्यस्य श्लोका एते।[1]

नवतिथयो १५९ ऽष्टि १६ विभक्ताः[2]
पंचरसा ६५ वसु ८ हृता दश १० त्रिहृताः।
विषुवच्छायागुणिताः
स्वदेशजाश्चरदलविनाड्यः ॥ ६१ ॥

सु. भा.—नवतिथयो १५९ विषुवतीगुणिताः षोडशविभक्ताः फलं फलात्मकं स्वदेशे प्रथमं चरखण्डम्। पञ्चरसा ६५ विषुवतीगुणा वसु ८ हृताः फलं द्वितीयं चरखण्डम्। एवं दश १० पलभा हतास्त्रि ३ हृतास्तृतीयं चरखण्डं भवतीति।

अत्रोपपत्तिः।

एकाङ्गुलपलभादेशे चाचार्यमतेन क्रमेण पलात्मकानि चरखण्डानि प्रख $=\frac{१५९}{१६}$। द्विखं$=\frac{६५}{८}$। तृख$=\frac{१०}{३}$ एतानि पलभागुणानि स्वदेशे भवन्तीति स्फुटा वासना। भास्कराचार्येण $\frac{१५९}{१६}$। $\frac{६५}{८}$ अनयोः स्थाने क्रमेण १०, ८ संख्ये गृहीते। अत उक्तं 'दिङ्नागसत्र्यंशगुणैर्विनिघ्नी पलप्रभे' त्यादि ॥६१॥

अब चरखण्ड को कहते हैं।

हि. भा.—नवतिथयः (१५९) को विषुवती (पलभा) से गुणाकर षोड्श (१६) से भाग देने पर फल अपने देश का पलात्मक पहला चरखण्ड होता है ॥ पञ्चरसा (६५) को विषुवती (पलभा) से गुणाकर वसु (८) से भाग देने पर फल दूसरा चरखण्ड होता है।

इस तरह दश (१०) को पलभा से गुणाकर तीन से भाग देने पर फल तीसरा चरखण्ड होता है।

उपपत्ति।

जिस देश की पलभा १ अंगुल की है। उस देश का पलात्मक चरखण्ड=प्रखं

---

१. नवतिपयोधिविभक्ता इत्यादि आर्याषट्कं खण्डखाद्याच्चिन्त्यम्।

२. नवतिथयोऽष्टिविभक्ता इति पाठः साधुः

$=\frac{१५६}{१६}$ । द्विखं $=\frac{६५}{८}$ । तृखं $\frac{१०}{३}$ । आचार्य ने स्वीकार किया है ।

भास्कराचार्य ने $\frac{१५६}{१६}$, $\frac{६५}{८}$ इन दोनों के क्रम से १०, ८ को ग्रहण किया है । इसलिये "दिग् नाग सत्र्यंशगुणैर्विनिघ्नीपलप्रभे" इत्यादि में कहा गया है ।

उपरोक्त चरखण्ड को अपने-अपने देश की पलभा से गुणने पर अपने-अपने देश का चरखण्ड होता है । इसकी उपपत्ति स्पष्ट ही है ।

ज्याः केन्द्रं स्फुटभानुं
कृत्वा ये राशयश्चरार्धानि ।
भुक्तानि भोग्यगुणिता
च्छेषात् खखधृतिहृतात् तु फलम् ॥ ६२ ॥

सु. भा.—स्फुटभानुं केन्द्रं कृत्वा तस्य तस्य भुजः साध्यस्तत्र चरार्धानि ज्या ज्या खण्डानि प्रकल्प्य केन्द्रभुजे ये राशयस्तन्मितानि भुक्तानि ज्याखण्डानि भवन्ति । शेषात् केन्द्रभुजशेषकलामानाद्भोग्यचरखण्डगुणात् खखधृति १८०० हृतात् फलं च गतचरखण्डयोगे क्षेप्यमेवमभीष्टं पलात्मकं चरमानं भवेत् । अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकेन स्फुटा ॥६२॥

पलात्मक चरमान को कहते हैं ।

हि. भा.—स्पष्टसूर्य का केन्द्र को भुज बना लें, वहां चरखण्डज्या को ज्या खण्ड कल्पना करें । केन्द्र भुज में जितनी राशियां हों उनके तुल्य व्यतीत ज्याखण्ड होते हैं । भुज शेषकला के मान से भोग्य चरखण्ड से गुणा करें, उसमें खखधृति (१८००) से भाग दें, फल को गत चरखण्ड योग में जोड़ दें तो अभीष्ट पलात्मक चरमान होता है ।

उपपत्ति ।

यहां चरानयन की उपपत्ति त्रैराशिक गणित द्वारा स्पष्ट ही है ।

गतिपादं पादोनां गतिं विशोध्यास्तकाल उदये च ।
संसाधितस्य तस्य ग्रहस्य चरकर्म चान्यस्य ॥ ६३ ॥

सु. भा.—निशीथकालिकग्रहे गतिचतुर्थांशं चतुर्थांशोनां गतिं च विशोध्य क्रमेणास्तकाले उदये च ग्रहो भवति । एवं तस्य रवेर्वाऽन्यस्य ग्रहस्य संसाधितस्य मध्ये चरकर्म कार्यम् अस्ते उदये वा ग्रहे चरकर्म देयं न दिनार्धे निशीथे चेति स्फुटं सिद्धान्तविदामिति ॥६३॥

हि. भा.—निशीथ कालिक ग्रह में गति का चौथे भाग और चौथा भाग से हीन गति को घटाने पर क्रम से अस्तकाल तथा उदयकाल में ग्रह होता है । जैसे—निशीथ

कालिक ग्रह में गति का चतुर्थांश घटाने से अस्तकालिक एवं चतुर्थांश भाग से हीनगति को निशीथकालिक ग्रह में घटाने से शेष उदयकालिक ग्रह होता है।

इस तरह साधित ग्रहों के मध्य में चरकर्म करना चाहिये। उदयकाल या अस्तकाल में ग्रह में चरकर्म करना चाहिये। दिनार्ध और रात्र्यर्ध में चरकर्म नहीं करना चाहिये, यह बात सिद्धान्त वेत्ता स्पष्ट रूप से जानते ही हैं।

चरदलविनाडिकागतिकलावधात् खखरसाग्नि ३६०० लब्धकलाः।
ऋणमुदयेऽस्तमये धनमुत्तरगोले ऽन्यथा याम्ये ॥ ६४ ॥

सु० भा०—स्पष्टार्थम्। उपपत्तिश्च 'चरघ्नभुक्तिर्द्युनिशासु भक्ते' त्यादिना भास्करोक्तेन स्फुटा ॥६४॥

हि. भा.—चरदल घटी और गतिकला के गुणनफल में खखरसाग्नि (३६००) से भाग दें। फल कलात्मक होगा। उत्तर गोल में सूर्य हो तो उस फल कला को उदयकाल में ऋण और अस्तकाल में धन करना चाहिये। याम्य गोल में सूर्य हो तो फलकला को उदयकाल में धन और अस्तकाल में ऋण करना चाहिये।

पंचदश हीनयुक्ताश्चरार्धनाडीभिरुत्तरे गोले।
याम्ये युक्तविहीना द्विसङ्गुणा रात्रिदिननाड्यः ६५

सु. भा.—स्पष्टार्थम्। उपपत्तिश्च 'चरघटीसहिता रहिता क्रमात् तिथिमिता घटिका खलु गोलयोरि' त्यादिना भास्करविधिना स्फुटा ॥६५॥

हि. भा.—पञ्चदश (१५) से युत चरघटी उत्तर गोल में दिनार्ध होता है। पञ्चदश (१५) से हीन चरघटी रात्र्यर्ध होता है।

दक्षिण गोल में पञ्चदश (१५) से युत चरघटी रात्र्यर्ध तथा (१५) से हीन चरघटी दिनार्ध होता है। दिनार्ध और रात्र्यर्ध को दूना करने से दिनमान और रात्रिमान होता है।

उपपत्ति।

चरघटी सहिता रहिता क्रमात् तिथिमिता घटिका खलु गोलयोरित्यादि भास्करोक्त श्लोक की उपपत्ति से स्पष्ट ही है।

मिश्रेष्टान्तरगुणिता भुक्तिर्दिवसे निशादले प्रथमे।
षष्ट्या विभज्य लब्धं विशोध्य तात्कालिको भवति ॥ ६६ ॥

सु. भा.—दिवसे दिनेष्टकाले वा प्रथमे निशादले निशीथतोऽर्वाक् चेष्ट

काले मिश्रस्य राज्यर्धकालस्य स्वेष्टकालस्य च यदन्तरं तेन भुक्तिर्ग्रहगतिर्गुणा फलं षष्टचा विभज्य लब्धं निशीथकालिकग्रहाद्विशोध्य शेषं तात्कालिको ग्रहो भवति । एवं निशीथानन्तरेष्टकाले लब्धं निशीथकालिकग्रहे संयोज्य तात्कालिक-ग्रहः कार्य इत्यनुक्तमपि बुद्धिमता ज्ञायत इति ।

अत्रोपपत्तिस्त्रैराशिकेन स्फुटा ॥६६॥

हि. भा.—दिन में या रात्र्यर्ध से पूर्व इष्टकाल हो तो मिश्रकाल, इष्टकाल के अंतर को ग्रहगति से गुणा करें, गुणनफल में साठ (६०) से भाग देने पर फल जो हो उसको निशीथ (रात्र्यर्ध) कालिक ग्रह में घटा देने से शेष तात्कालिक (इष्टकालिक) ग्रह होता है। इस तरह रात्र्यर्ध के बाद इष्टकाल हो तो मिश्रकाल और इष्टकाल के अन्तर को ग्रहगति से गुणाकर ६० से भाग दें, लब्ध फल को रात्र्यर्धकालिक ग्रह में जोड़ देने से इष्टकालिक ग्रह होता है।

उपपत्ति ।

यहां इसकी उपपत्ति त्रैराशिक गणित से स्पष्ट ही है। विज्ञजन के लिये इससे अधिक स्पष्ट क्या हो सकता है।

क्रान्त्ययुतिवियोगादक्षपदेः शोधिते दिनदले भा ।
भाश्रुतिकृत्योः कृतमनुयुतोनयाकृत्वकर्षः स्यात् ॥ ६७ ॥[1]

सु. भा.—क्रान्त्यक्षयोर्युतिवियोगात् त्रिप्रश्नोक्त्या मध्यनतांशाः साध्याः । नतांशमाने चक्रपदान्नवतेः शोधिते शङ्कुचापमाने विदिते सति त्रिप्रश्नाधिकार विधिना शङ्कुना मध्यनतांशज्या तदा द्वादशांगुल शंकुना किमित्यनुपातेन दिनदले मध्याह्ने भा छाया साध्या । छायाकर्ण कृत्योः कृतमनुयुतोनयोः सत्योयारकर्षस्या-परस्य कृतिः क्रमेण भवति । छायाकृतिः कृतमनु १४४ युता छायाकर्णकृतिस्तथा छायाकर्णकृतिः कृतमनु १४४ भिरूना छायाकृतिर्भवतीत्यर्थः ।

अत्रोपपत्तिः ।

त्रिप्रश्नाधिकारविधिना स्फुटा ॥६७॥

हि. भा.—क्रान्ति और अक्षांश का योग या अन्तर मध्य नतांश होता है। नतांश मान को चक्रपद (९०) में घटाने से ९०—नतांश=उन्नतांश होता है। इस पर से शंकुमान जानकर त्रिप्रश्नाधिकारोक्त प्रकार से अनुपात द्वारा दिनार्ध में छाया साधन करना चाहिये

१ क्रान्त्यक्षयुतिवियोगाच्चक्रपदात् शोधिते दिनदले भा ।
भाश्रुतिकृत्योः कृतमनुयुतोनयोः कृतिरकर्षस्य ॥६७॥

यथा $\frac{\text{मनज्या} \times \text{द्वाशंकु}}{\text{शंकु}}$ मछाया । छाया + १४४ = छाक तथा छाक — १४४ = छा । दोनों का मूल लेने से छायाकर्ण तथा छाया होती है ।

उपपत्ति ।

यहां त्रिप्रश्नाधिकरोक्त विधि से उपपत्ति स्पष्ट है ।

इदानीमिष्टकाले स्थूलं छायाकर्णमाह ।

षड्गुणिता गतशेषा नाड्यो दिवसविभाजिताज्या तत् ।
दिनदलकर्मगुणाः स्वानया त्रिभज्याभक्तं फलं कर्णः ॥ ६८ ॥[1]

सु. भा. — गतशेषा नाड्य उन्नतकालः । षड्गुणिता दिनार्धभाजिता यत् फलं स्यात् तत्संख्यया ज्या साध्या । यल्लब्धं तत्संख्यकानां १५ सूत्रे लिखितानां ज्याखण्डानां योगः कार्यः सा ज्या भवतीत्यर्थः । एवमियं ज्या स्थूलेष्टान्त्या ज्ञातव्येति । त्रिभज्या दिनार्धकर्णेन गुणाऽनया पूर्वसाधितया स्थूलेष्टान्त्याऽऽप्ता फलं स्थूल इष्टकाले छायाकर्णो भवतीति ।

अत्रोपपत्तिः ।

यदि दिनदलोन्नतकालेन नवतिभागास्तदेष्टोन्नतकालेन किं लब्धा भागाः षष्टिगुणाः कलास्ताः खखनवो ९०० द्भृता लब्धाः $= \frac{\text{९० उका} \times \text{६०}}{\text{दिद} \times \text{९००}} = \frac{\text{६ उका}}{\text{दिद}}$ । लब्धसंख्यकानां ज्याखण्डानां योगः स्थूलेष्टान्त्या जाता । ततो यदि दिनार्धान्त्यया स्थूलतया त्रिज्यासमया दिनार्धकर्णो लभ्यते तदेष्टान्त्यया किं व्यस्तानुपातेन जात इष्टकर्णः $= \frac{\text{दिक} \times \text{त्रि}}{\text{इ अ}}$ । अत उपपन्नम् ॥६८॥

अब इष्टकाल में स्थूल छायाकर्ण को कहते हैं ।

हि. भा. — गतशेषनाड़ी (उन्नतकाल) को षट् (६) से गुणाकर दिनार्ध से भाग दें जो फल मिले उससे ज्या साधन करना चाहिये । फल के बराबर (१५) सूत्र के अनुसार ज्या खण्डों का योग करें, वही ज्या होगी । यह ज्या को स्थूल इष्टान्त्या समझनी चाहिये । त्रिभज्या को दिनार्ध कर्ण से गुणाकर पूर्वसाधित स्थूल इष्टन्त्या से भाग देने पर फल जो हो वह इष्टकाल में स्थूल छायाकर्ण होता है ।

---

१ षड्गुणिता गतशेषा नाड्यो दिवसार्धभाजिता तज्ज्या ।
दिनदलकर्णगुणाऽऽप्तानया त्रिभज्या फलं कर्णः ॥६८॥

उपपत्ति।

यदि दिनार्धतुल्य उन्नतकाल में नवति (९०′) भाग मिलता है तो उन्नतकाल में क्या इस अनुपात से जो फल भाग हो उसको षष्टि (६०) से गुणाकर कला होती हैं। उसको खखनव (९००) से भाग देने से उसका स्वरूप $= \frac{९० \text{ उका} \times ६०}{\text{दिक} \times ९००} = \frac{६ \text{ उका}}{\text{दिक}}$।

यहां लब्ध संख्यक ज्या खण्डों का योग स्थूल इष्टान्त्या होती है। इस पर से उलटे अनुपात से इष्टकर्ण $= \frac{\text{दिक} \times \text{त्रि}}{\text{इअं}}$। इससे उपपन्न हुआ।

इदानीमिष्टकर्णत उन्नतकालमाह।

दिनदलकर्णे त्रिभज्यागुणे श्रवणोद्धृते फलस्य धनुः।
द्युदलगुणं तिथिभक्तं दिनगतशेषासवः क्रमशः ॥ ६९ ॥

सु. *भा.*—धनुर्दिनार्धगुणं पञ्चदशभक्तं फल क्रमशः पूर्वापरकपालयोर्दिनगतशेषासवो भवन्ति। शेषं स्पष्टार्थम्।

अत्रोपपत्तिः।

पूर्वप्रकारवैपरीत्येन धनुः$= \frac{९० \times ६० \times \text{उका}}{\text{दिद}}$ अतो घटयात्मक उन्नतकाल $= \frac{\text{दिन} \times \text{ध}}{९० \times ६०}$। अयं ३६० गुणो जातोऽस्वात्मक उन्नत कालः$= \frac{\text{दिद} \times \text{ध}}{१५}$ अत उपपन्नम् ॥६९॥

अब इष्टकर्ण पर से उन्नतकाल को लाते हैं।

हि. भा.—दिनार्ध कर्ण को त्रिज्या से गुणा दें, कर्ण से भाग दें, फल जो हो उसका चाप कर लें, उसको दिनार्ध से गुणाकर तिथि (१५) से भाग दें फल क्रम से दिनगत शेषासव होता है।

उपपत्ति।

(६८) सूत्र के विपरीत क्रम से यहां धनु $= \frac{९० \times ६० \times \text{उका}}{\text{दिद}}$।

इससे घटयात्मक उन्नतकाल $= \frac{\text{दिद} \times \text{ध}}{९० \times ६०}$।

इसको (३६०) से गुणाने पर, उन्नतकाल $= \frac{\text{दद} \times \text{घ}}{१५}$ ।

इस युक्ति से (६९) वां श्लोक उपपन्न हुआ।

इदानीं ज्यातश्चापानयनमाह ।

ज्याखण्डोने शेषे गुणिते नवभिः शतैरशुद्धहृते ।
क्षेप्याणि शुद्धखण्डैर्गुणितानि शतानि नव चापम् ॥ ७० ॥

सु. भा.—ज्यामाने ज्याखण्डैः १५ सूत्रे पठितैरूने शेषे नवशतैर्गुणितेऽशुद्धखण्डहृते लब्धौ शुद्धखण्डैः शुद्धखण्डसंख्याभिर्गुणितानि नवशतानि क्षेप्याणि तदा चापं भवति ।

अत्रोपपत्तिः ।

ज्यासाधनवैपरीत्येन सुगमा ॥७०॥

अब ज्या से चाप साधन को कहते हैं ।

हि. भा.—यहां (१५) सूत्र में कथित ज्या खण्ड को ज्या मान में से घटाकर—नवशत (९००) से गुणा दें, अशुद्ध खण्ड से भाग दें, लब्ध शुद्धखण्ड संख्या से गुणा हुआ नवशत (९००) उसमें जोड़ दें तो चाप मान होता है ।

उपपत्ति ।

यहां ज्या साधनोपपत्ति के विपरीत (उलटा) उपपत्ति द्वारा (७०) वां श्लोक उपपन्न होता है—व्यर्थ बार-बार लिखने के प्रयास से क्या लाभ ।

इदानीमुपसंहारमाह ।

इति तिथिनक्षत्रदिनमाद्यादिकसिद्धौ ब्रह्मगुप्तेन ।
द्वासप्तत्यार्याणां संक्षिप्तोऽतिस्फुटश्चैषः ॥ ७१ ॥

सु. भा.—स्पष्टार्थम् ॥७१॥

हि. भा.—इसका अर्थ तो स्पष्ट ही है । इस ग्रन्थ में आचार्य ब्रह्मगुप्त ने तिथि, नक्षत्र, दिन आदि समस्त विषयों का उल्लेख इन बहत्तर आर्याओं के द्वारा संक्षिप्त रूप से कर दिया है ॥ ७१ ॥

इदानीमयं कस्मै न दातव्य इत्याह ।

दुर्जनकृतघ्नशत्रुप्रतिकंचुककारिणे न दातव्यः ।
ध्यानग्रहाधिकारो जिष्णु सुतब्रह्मगुप्तकृतः ॥ ७२ ॥

इति श्री ब्रह्मगुप्तकृतो ध्यानग्रहोपदेशाध्यायः समाप्तः ।।

सु. *भा.*—प्रतिकञ्चुककारी पिशुनः । शेषं स्पष्टम् ।।७२।।

मधुसूदनसूनुनोदितो यस्तिलकः श्रीपृथुनेह जिष्णुजोक्ते ।
हृदि तं विनिधाय नूतनोऽयं रचितो ध्यानखगे सुधाकरेण ।।१।।

अपकृष्य दशावतारलीलां प्रकृतिर्वामकलामलङ्करोति ।
परिहाय सुपात्रमत्र लोकाः सकला सङ्कलयन्ति कौ कुपात्रम् ।।२।।

या ब्रह्मगुप्तकृतिरत्र सहस्रसूत्रैर्नाना प्रकारकरणेन च भास्करेण ।
मन्दीकृता पृथुवृथातिलकेन सेयं विद्योतिता निजकरेण सुधाकरेण ।।३।।

ये भास्करादिकृतिपारगता नवीने चापप्रपञ्चजविधौ कुशलाः सुशीलाः ।
श्रीमत्सुधाकरकृतं तिलकं निधाय सज्ज्यौतिषेऽत्र विहरन्तु त एव धीराः ।।४।।

कृपालुसूनुना सुधाकरद्विवेदिना सुतं परात्परं निधाय मानसे सुकोशलापतेः ।
गजेषुनन्दभूमिहायने मधौ सितेगुरौ,सुरामजन्मसत्तिथावकारि सोपपत्तिका ।५।

सन् १९०१ मार्चमासस्याष्टाविंशतिदिने श्रीजानकीरमणचरण सरोजरजः प्रसादेनायं तिलकः सम्पूर्णतामगात् ।।

इति श्रीकृपालुदत्तसूनु सुधारकद्विवेदिविरचितो ब्रह्मगुप्तकृतध्यानग्रहोपदेशाध्यायतिलकः समाप्तः ।

यह किसको न देना चाहिये सो कहते हैं ।

हि. भा—जिष्णु सुत ब्रह्मगुप्त से निर्मित इस "ध्यानग्रहोपदेशाध्याय" को दुर्जन, कृतघ्न, शत्रु, प्रतिकञ्चुक (चुगलखोर) इन सबों को न देना चाहिये, यह ग्रन्थ बनाने वाले का उपदेश है ।।७२।।

यहां ब्रह्मगुप्तकृत ध्यानग्रहोपदेशाध्याय समाप्त हुआ ।

अथ ध्यानग्रहोपदेशाध्याये क्षे८साधनम् ।

२ श्लोके पञ्चचत्वारिंशत् षष्टिभक्ता फलम् $=\frac{४५}{६०}=\frac{३}{४}$ इदं स्थूलत्वेन व्यर्थमेव मध्यराशावाचार्येण प्रक्षिप्तम् ।

'अथ सरसवेदयुक्त' एतदर्थम्—

'गोद्रीन्द्वद्रिकृताङ्कदस्रनगगोचन्द्राः—१९७२९४७१७९ शकाब्दान्विताः' इति भास्करोक्त्या खपञ्चपञ्च ५५० मिते शके कल्पगताब्दाः = १९७२९४७७२९ । वर्षादावधिशेषज्ञानायाऽनुपातः, कल्पसौरवर्षैः कल्पाधिमासा लभ्यन्ते तदेष्टसौर वर्षैरेभिः क इति जाता इष्टाऽधिमासाः $=\frac{१९७२९४७७२९\times१५९३३०००००}{४३२००००००००}$

$=\frac{१९७२९४७७२९\times५३११}{१४४००}$ ।

(१) कल्पगताब्देषु हरतष्टेषु शेषम् = ३९२९ ।**

(२) $\frac{३७२९}{१४४००}=\frac{१९८०४७१९}{१४४००}=१३७५\frac{४७१९}{१४४००}$ ।

(३) यद्येतावति १४४०० हरे ४७१९ क्षेपकोऽयं तदैतावति १३१ क इति संचारितः क्षेपकः $=\frac{४७१९\times१३१}{१४४००}=\frac{६१८१८९}{१४४००}=४२\frac{१३३८९}{१४४००}=४३$ स्व० ।

अतोऽत्र 'सगुणवेदः' इति पाठः सम्यगिति सिध्यति ।

(१) १४४००) १९७२९४७७२९ (१३७०१०—लब्धिः

५३२

१००९

१४७

**००३७२९ = कलिगताब्दाः ।

(२) ५३११ / ३७२६

३७२६
११९८७
१८६४५

१९८०४७१६ (१३७५=कलिमुखाद् गताधिमासाः।
५४०
१०८४
७६७
४७१६
१३१

(३)

४७१६
१४१५७
४७१६

६१८१८६(४२=क्षेपकः
४२१
१३३८६=शेषम्

लब्धिः=१३७०१०। गुणः=५३११। अनयोर्घातः—

१३७०१०
१३७०१
४११०३
६७५०५

७२७६६०११०=कल्पारम्भे गता अधिमासाः।
१३७५=कल्पारम्भाद् ग्रन्थारम्भशकावधिगता अधिमासाः

७२७६६१४८५=कल्पादितो ग्रन्थारम्भशकावधि गता अधिमासाः।

४ श्लोकक्षेपसाधनम्—

पूर्वसाधिताः कल्पगताब्दाः १९७२९४७७२९ मासीकृताः २३६७५३७२७४८ पूर्वसाधितैः ७२७६६१४८५ अधिमासैर्युता जाताश्चान्द्रमासाः=२४४०३०३४२३३। कल्पचान्द्रमासैः कल्पकुदिनानि लभ्यन्ते तदैभिः किमिति जातो वर्षारम्भसमीपस्थ-

मध्यमदर्शान्त कालिकः कुदिनगणः = २४४०३०३४२३३ × १५७७९१६४५०००० / ५३४३३३००००००

= २४४०३०३४२३३ × १०५१९४४३ / ३५६२२२ सप्तगुणितहरेण २४९३५५४ नेन गुण्यगुणकयोस्तक्षणाय न्यासः—

२४९३५५४)२४४०३०३४२३३(९७८६
२२४४१६८६
१९६१०४८२   २४९३५५४)१०५१९४४३(४
१७४५४८७८   ९९७४२१६
२१५५६०४३   ५४५२२७=गुणकशेषम्
१९९४८४३२
१६०७६११३
१४९६१३२४
१९९४८४३२
१६०७६११३
१४९६१३२४
१११४७८९=गुण्यशेषम् ।
५४५२२७—गुणकशेषम् ।
७८०३५२३
२२२९५७
२२२९५७८
५५७३९४५
४४५९१५६
५५७३९४५

३५६२२२)६०७८१३०६२१०३(१७०६२७६ सप्ततष्टे शेषं वाराः = ५
३५६२२२
२५१५९१०
२४९३५५४
२२३५६६२
२१३७३३२
९८३३०१   ७६९८६९(घट्यौ २ ।
७१२४४४   ७१२४४४
२७०८५७०   ५७४१६
२४९३५५४   ६०
२१५०१६३   ३४४४९६०(पलानि ९$\frac{२}{३}$ स्व० ।
२१३७३३२   ३२०५९९८
१२८३१   २३८९६२
६०

अत्र वर्त्तमानवारार्थं ५ स्थाने ६ संख्या गृहीताऽऽचार्येण तथा २ स्थाने ४, ६ स्थाने च १८ संख्या गृहीता। एवमत्र घटीद्वयं पलनवकं चाधिकं गृहीतमाचार्येणेति ज्योतिर्विद्भिश्चिन्त्यम्।

६ श्लोक क्षेपसाधनम्।

पूर्वसाधिताः कल्पगताब्दाः=१९७२९४७७२९। एते द्वादशगुणिता जाताः सौरमासाः = २३६७५३७२७४८। इष्टशका—५५० रम्भे गताधिमासाः=१३७०१० ×५३११+१३७५=७२७६६१४८५*

इष्टचान्द्रमासाः = २३६७५३७२७४८+७२७६६१४८५ =२४४०३०३४२३३ कल्पचान्द्रमासैः कल्पचन्द्रमन्दकेन्द्रभगणाः कल्पचान्द्रमासोना लभ्यन्ते तदैभिः क

इति जातं भगणात्मकं चन्द्रकेन्द्रम् = $\frac{२४४०३०३४२३३ \times ३८३१८९४१४२}{५३४३३३००००००}$

१	२४४०३०३४२३३	१	५३४३३३
२	४८८०६०६८४६६	२	१०६८६६६
३	७३२०९१०२६९९	३	१६०२९९९
४	९७६१२१३६९३२	५	२६७१६६५
८	१९५२२४२७३८६४	६	३२०५९९८
९	२१९६२७३०८०९७	७	३७४०३३१
		८	४२७४६६४
		९	४८०८९९७

४८८०६०६८४६६

९७६१२१३६९३२

२४४०३०३४२३३

९७६१२१३६९३२

२१९६२७३०८०९७

१९५२२४२७३८६४

२४४०३०३४२३३

७३२०९१०२६९९

१९५२२४२७३८६४

७३२०९१०२६९९

* श्लोक क्षेपसाधनं द्रष्टव्यम्।

५३४३३३००००००)९३५०९८४३९२४४५८१६३०८६(१७५००२९३६२

५३४३३३

४००७६५४

३७४०३३१

२६७३२३३

२६७१६६५

१५६८९२४

१०६८६६६

५००२५८४

४८०८९९७

१९३५८७५

१६०९९९९

३३२८७६८

३२०५९९८

१२२७७०१

१०६८६६६

१५९०३५६३०८६ = भगणशेषम्

२८

१२७२२८५०४६८८

३१८०७१२६१७२

४४५२९९७,६६४०८ (८ $\frac{१७८३३३६६४०८}{५३४३३३००००००}$

४२७४६६४   = ८$\frac{१}{३}$ स्व

१७८३३३६६४०८

अत्राऽऽचार्येण सुखार्थं छन्दोऽनुरोधाद् वा ८$\frac{१}{३}$ स्थाने ८$\frac{१}{२}$ गृहीतेति कल्प्यते ।

अब ध्यानग्रहोपदेशाध्याय में क्षेप साधन करते हैं ।

हि. भा.—ध्यान ग्रहोपदेशाध्याय का दूसरे श्लोक में पञ्चचत्वारिंशत् (४५) को षष्टि (६०) से भाग देकर फल = $\frac{४५}{६०}$ = $\frac{३}{४}$ इसको व्यर्थ ही मध्यमराशि में आचार्य ने जोड़ दिया है । इसके बाद "खरसवेदयुक्त" इसके लिये गौद्रीन्द्रद्रिकृताङ्क दस्वनगगोचन्द्राः

=१९७२९४७१७९, इसको शाकाब्द में जोड़ दें, यह भास्करोक्ति से खपञ्चपञ्च के तुल्य शाका में कल्प गताब्द=१९७२९४७७२९। वर्ष के आदि में अधिशेष के ज्ञान के लिये अनुपात करते हैं।

$$\frac{\text{कअमा} \times \text{इष्टसौर वर्ष}}{\text{कसौव}} = \frac{१९७२९४७७२९ \times १५९३३००००००}{४३२००००००००}$$

$$= \frac{१९७२९४७७२९ \times ५३११}{१४४००} \text{।}$$

(१) कल्पगताब्द में हर से भाग देने पर शेष=३९२९।

(२) $\frac{३९२९ \times ५३११}{१४४००} = \frac{१९८०४७१९}{१४४००} = १३७५ + \frac{४७१९}{१४४००}$ ।

(३) यदि १४४०० इस हर में ४७१९ यह क्षेप मिलता है तो १३१ में क्या इससे मिला संचारितक्षेपक $= \frac{४७१९ \times १३१}{१४४००}$

$$= \frac{६१८१८९}{१४४००} = ४२ + \frac{१३३८९}{१४४००} = ४३ \text{ स्वल्पान्तर से ।}$$

इसलिये यहां 'सगुणवेदः' यह पाठ उचित सिद्ध होता है।

(१) १४४,००)१९७२९४७७,२९(१३७०१०=लब्धिः।

५३२

१००९

१४७

३७२९=कलिगताब्द ।

(२) ३७२९=कलिगताब्द

५३११

३७२९

३७२९

१११८७

१८६४५

१९८०४७,१९ (१३७५

=कलि के आदि से बीता हुआ अधिमास।

५४०

१०८४

७६७

४७१९

१३१

---

(३)

```
          ४७१९
        १४१५७
        ४११८
      ---------
      ६१८१,८९(४२=क्षेपक:
        ४२१
        १३३८९=शेषम् ।
```

लब्धि = १३७०१० । गुण = ५३११

इन दोनों का गुणनफल = १३७०१०

```
                    १३७०१०
                      १०१०
                    ४११०३०
                   ६८५०५०
      ---------------------
      ७२७६०११०
```

= कल्प के आदि में गताधिमास

७२७६६०११०+१३७५= कल्पारम्भ से ग्रन्थारम्भशक पर्यन्त गताधिमास = ७२७६६१४८५ ।

चौथे (४) श्लोक की क्षेप साधनोपपत्ति ।

पूर्व साधित कल्पगतवर्ष = १९७२९४७७२९ ।

इसको १२ से गुणाकर कल्पगतमास = २३६७५३७२७४८ ।

पूर्व साधित अधिमास = ७२७६६१४८५ ।

अधिमास को कल्पगतमास में जोड़ने से चान्द्रमास = २४४०३०३४२३३

अब अनुपात करते हैं ।

कल्प चान्द्रमास में कल्पकुदिन पाते हैं तो उपरोक्त चान्द्रमास में क्या इस अनुपात से वर्षारम्भ समीपस्थ मध्यमदर्शान्तकालिक कुदिन समूह =

$$= \frac{२४४०३०३४२३३ \times १५७७९१६४५००००}{५३४३३३००००००}$$

$$= \frac{२४४०३०३४२३३ \times १०५१९४४३}{३५६२२२} ।$$

अब सात से गुणा हुआ हार (२४९३५५४) इससे गुण्य और गुणक को तक्षण के लिये न्यास करते हैं ।

२४९३५५४)२४४०३०३४,२३३(९७८६
२२४४१९८६
१९६१०४८२
१७४५४८७८
×२१५५६०४३
१९९४८४३२
०१६०७६१११३
१४९६१३२४
१११४७८९ = गुण्यशेषम् ।

२४९३५५४)१०५१९४४३(४
९९७४२१६
०५४५२२७ = गुणकशेषम् ।

गुण्यशे × गुणकशे = १११४७८९ × ५४५२२७ = ६०७८१३०६२१०३ ।

३५६२२२)६०७८१३०६२१०३(१७०६२७६ = ल प्र ।
३५६२२२
२५१५९१०
२४९३५५४
००२२३५६६२
२१३७३३२
९८३३०१
७१२४४४
२७०८५७०
२४९३५५४
२१५०१६३
२१३७३३२
××१२८३१ = शेष

यहां शेष को ६० से गुणाकर (३५६२२२) इससे भाग देने से

१२८३१ × ६० = ७६९८६० ।

३५६२२२)७६९८६०(२ घटी
७१२४४४
×५७४१६ = शेष

फिर शेष को ६० से गुणाकर भागहर (३५६२२२) से भाग देने पर—

५७४१६ × ६० = ३४४४९६०।

३५६२२२)३४४४९६०(९ + $\frac{३}{३}$ पल स्वल्पान्तर से
३२०५९९८
२३८९६२

यहां प्रथम लब्धि (१७०६२७६) इसको ७ से भाग देने पर शेष = ५ = वार।

क्रम से वार ५। घटी २। पल ९ + $\frac{३}{३}$। स्वल्पान्तर से यहां वर्त्तमान दिन के लिये ५ की जगह ६ संख्या को आचार्य ने ग्रहण किया और २ की जगह ४, एवं ९ की जगह १८ संख्या को आचार्य ने स्वीकार किया है।

इस तरह यहां २ घटी, ९ पल को आचार्य ने अधिक ग्रहण किया है, इस बात को ज्योतिषी लोग विचार करें।

(६) छठे श्लोक के क्षेप साधन की युक्ति —

पूर्वसाधित कल्प से व्यतीत वर्ष = १९७२९४७७२९।
१९७२९४७७२९ × १२ = २३६७५३७२७४८ = सौरमास।
इष्टशाका = ५५०। ५५० शाकारम्भ समय में—
गताधिमास = १३७०१० × ५३११ + १३७५ = ७२७६६१४८५*
इष्टचान्द्रमास = २३६७५३७२७४८ + ७२७६६१४८५ =
= २४४०३०३४२३३

अब अनुपात करते हैं—

कल्पमास में कल्पचान्द्रमास घटा हुआ कल्पचन्द्र मन्दकेन्द्रभगण मिलता है तो इष्टचान्द्रमास में क्या इस अनुपात से भगणात्मक चन्द्रकेन्द्र =

$$= \frac{२४४०३०३४२३३ \times ३८३१८९४१४२}{५३४३३३००००००}।$$

१	२४४०३०३४२३३	१	५३४३३३
२	४८८०६०६८४६६	२	१०६८६६६
३	७३२०९१०२६९९	३	१६०२९९९
४	९७६१२१३६९३२	५	२६७१६६५
८	१९५२२४२७३८६४	६	३२०५९९८
९	२१९६२७३०८०९७	७	३७४०३३१
		८	४२७४६६४
		९	४८०८९९७

* २ श्लोक का क्षेप साधन देखें।

४८८०६०६८४६६
९७६१२१३६९३२
२४४०३०३४२३३
९७६१२१३६९३२
२१९६२७३०८०९७
१९५२२४२७३८६४
२४४०३०३४२३३
७३२०९१०२६९९
१९५२२४२७३८६४
७३२०९१०२६९९

५३४३३३०००००)९३५०९८४३९२४४५८१६३०८६(१७५००२९३६२
५३४३३३
४००७६५४
३७४०३३१
२६७३२३३
२६७१६६५
१५६८९२४
१०६८६६६
५००२५८४
४८०८९९७
१९३५८७५
१६०२९९९
३३२८७६८
३२०५९९८
१२२७७०१
१०६८६६६
१५९०३५६३०८६ = भगणशेषम् ।
२८
१२७२२८५०४६८८
३१८०७१२६१७२
४४५२९९७, ६६४०८ $\left(८ + \frac{१७८३३३६६४०८}{५३४३३३०००००} = ८ + \frac{१}{३}\right.$
४२७४६६४
स्वल्पान्तर से ।
१७८३३३६६४०८

यहां आचार्य ने छन्द के अनुरोध से सुखार्थ $(८ + \frac{१}{३})$ की जगह $(८ + \frac{१}{२})$ को ग्रहण किया, यह कल्पना की जाती है ।

यहां ध्यानग्रहोपदेशाध्याय का क्षेप साधन समाप्त हुआ ।

ब्राह्मस्फुटसिद्धान्तः

पृथूदक स्वामिकृतवासनाभाष्य समेतः

गोलाध्यायः

अथ गोलाध्यायः

ग्रहनक्षत्रभ्रमणं न समं सर्वत्र भवति भूस्थानाम् ।
तद्विज्ञानं गोलाद्यतस्ततो गोलमभिधास्ये ॥१॥

वासना०—असंभवे नक्षत्राणि ग्रहाश्चैकस्मिन्कपाले तद्वशेन चोपर्यधश्च स्थितानां मकरकर्क्यादौ......वौदिन निशा प्रवृत्तिर्देवानाम् । तथा रवींद्वोराव-रणं राहुकृतं तथा दर्पणोदरायां पृथिव्यां । समुद्राद्वीपार्श्वस्थिता परतः परतो द्विगुणः अन्येषां महाप्रमाणचतुरश्रमेरुपक्षे । सूर्यद्वयं चन्द्रद्वयं नक्षत्राणि चतु-ष्पंचाजिनशास्त्र इत्येवमादिसर्वं निरुपपत्तिकं कपोलव्यायानपरायणानामसत्प्रज्ञा-विलासितमाशक्यं गोलप्रयोजनकथनपरत्वेन प्रतिज्ञासूत्रमियमार्या सकलगोला-ध्याये स्यादादौ प्रयुक्तेति । तद्यथा ग्रहं नक्षत्रभ्रमणं न समं प्रतियोजनमपीयं प्रतिज्ञा तिष्ठतु तावत्सर्वंत्र लंकास्थानामुपरि यो ग्रहः समेरुपस्थानां दक्षिणक्षिति-जासकृत् । पश्चिमेरुपरिमलंकायामुत्तरक्षितिजासकः । एवं सपवलंको परिग्रहो यमकोद्यां पश्चिमक्षितिजासक्......रोमकवासिनां पूर्वक्षितिजासकृत् इत्याद्युदाह-रणानि गोलादेव ज्ञायंते, नान्यत इति । प्रतिज्ञाकृ.........या । यस्माद्भूगोल-काकाराभपंजरोऽपि गोलकाकारो यतो भूगोलं परिवेष्टयरिथ......ज्ञानं समं सर्वत्र भूस्थानां न समं न तुल्यम्, सर्वत्र सर्वदेशेषु भूस्थानां भुवि स्थितानां द्रष्टृणामित्यर्थः । तद्विज्ञानं गोलात्तदवगतिगोला, यतो यस्मात्ततो गोलमभि-धास्ये, तस्माद्गोलं वक्ष्ये इति सूत्रार्थः । ननु च ग्रहनक्षत्रभ्रमणं यदि न तुल्यं 'तुल्यं' वा तत्स्वदेशस्थैः द्रष्टृभिः, तत्र यथा दृष्टमुपलभ्यत एवमुच्यते । तद्वि-ज्ञानं गोलादिति । अथासमं भ्रमणं समीक्रियते । गोलज्ञाने नैतदपि न शक्यते वक्तुम् । यतो नियता ग्रहगतिः अन्यथा संख्याया अनुपलब्धिरेव स्यात् । तस्मात् गोलारंभप्रयोजनकथनपरमिदमार्यासूत्रमसंबद्धमिव शक्यते । नैष दोष अयम-भिप्रायो भट्टब्रह्मगुप्तस्य यथा दूरविप्रतिपन्ना भुवनकोशविदोऽन्यथा सर्वमेव व्या-वर्णयंति । भू......महाप्रमाणत्वं दर्प्पणोदराकारतां च कथयन्ति मेरोश्च महा-प्रमाणत्वं शवाकारतां च । तत्पृ......सक्तो ध्रुवश्च ग्रहनक्षत्राणि चावलंब-मानानि । मेरोरधोभागेऽस्माभिरुपरिस्थितानीवोप.........तद्वशेन वार्कादीनां प्रतिदैवासिकावुदयास्तमयौ सर्वेषां यत्र तत्र स्थितानां द्रष्टृणां । तुल्ये......मक-रादिदिव्यदिवसस्य सौम्यमपमण्डलार्धमेषां द्यमित्यादिना निकारणमित्येव-मादिवक्ष्यमाणग्रन्थपर्यालोचनयाचार्येणोक्तम्, तद्विज्ञानं गोलादित्यतः सुष्ठु

उच्यमानं शोभनं प्रपंचेन । तत्र तत्रायां सूत्रे व्यावर्णयिष्यामोऽत्रालं भवतित्ति विरतरेण प्रकृतमभिधीयत इति । इदानीं गोलस्वरूपपत्तिपादनायार्यामाह—

शशिबुधकुजार्कसितगुरुशनिकक्ष्यावेष्टितो भकक्ष्यांतः ।
भूगोलः सत्त्वानां श्रुताश्रुतैः कर्मभिरुपात्तः ।।२।।

वास०—शशीबुधश्चेत्यादिद्वन्द्वः-तेषां कक्ष्याः शशिबुधसितार्ककुजगुरुशनिकक्षाः, कक्ष्यशब्देनात्र मध्यग्रहभ्रमणप्रदेशवृत्तमुच्यते ताभिर्वेष्टतः, तासां मध्ये भूगोल इत्यर्थः । अयमर्थः भूगोलमध्यं मध्ये कृत्वा स्वयोजनकर्णेन 'यद्वृत्तमुत्पाद्यते तत्कक्षामंडलं तच्च भूगोलाद्बहिः शशिनः ततो बुधस्य । ततोऽपि शुक्ररविभौम-गुरुशनीनां क्रमेण कक्ष्याः सप्त ताभिर्वेष्टितोऽयं भूगोलो भकक्ष्यांतः, तानि ज्योतींषि । तेषां कक्षागोलनक्षत्रविशेषः सर्वंगणितगम्यः क्षेत्रत्वात् । यथा वैयाकरणाः प्रकृतिप्रत्ययागम लोपवर्णविकारागमादिभिः साधुत्वं शब्दस्य प्रति-पद्यन्ते । याज्ञिकाश्चतुद्योदिभिर्यज्ञादीन् । विप्रवराश्चेत्युत्पलानालादिभिः सिरा-दिवेधात्प्रतिपद्यते । एवमिहापि सांवत्सरा ज्याधनुः शरभुजकोटिकर्णविलंबक-शलाकावृत्तादिभिः क्षेत्रगणितविशेषैश्च, सत्यपूर्वकैः सत्यं ग्रहभ्रमणधरित्री-संस्थानादिकं गोलातत्त्वं प्रतिपद्यते। गोलकलक्ष्यैः लक्षणैः क्षपितपरमतैः वृत्ता-त्वदेववृत्तत्वं च । गोलभगोलयोरुत्तरार्यायां निराधारत्वं च । मेरोर्महत्त्वं निरा-कारणं व स्वल्पत्वाद्भूमेवासक्तिः, कक्षोन्नात्य निर्धार्यंते ग्रहनक्षत्रावलम्बनं भपं-जरं भ्रमविशेषैर्भिन्नदेशजनितैश्च मेरुवशेनोदयास्तमयनिवृत्तिः भिन्नार्कोदय-प्रतिपादनेन महदिंदोरावरणमित्यादि न राहुनिवृत्ति भूगोलस्य समुद्रपरिधेरन्यो महान् परिधिर्नास्तीति शेषसमुद्राणां महत्त्वनिराकरणं मण्डलमुदयमण्डलमुन्मंडल-मित्यादि विज्ञेयं लब्धार्थः । ततोऽपमंडलप्रमाणमेवान्यद्वृत्तम् । षष्टिशतत्रयां-कितं मेषादेरारभ्य यावति प्रदेशं चन्द्रपातो वर्तते । तत्र बध्वा ततोऽर्धचक्रांतर-प्रदेशे द्वितीये वंधः कार्यः । यथा च प्रथममर्धमपमंडलादुत्तरेणावतिष्ठते, द्वितीय-मर्धं दक्षिणेन तथा च तिर्यग्निदध्यात् । यथा तदपमंडलयोरंतरे विक्षेपभागा भवन्ति । नवतितमे भागे बंधाभ्यामुभयतोऽपि तद्विमण्डलमेव । एवमियं चन्द्र-कक्ष्या बुधादीनामपि स्वयोजनकर्णप्रमाणानुपातेन स्वकक्ष्यापंजरः कार्यः । ते पंजराद्बहिर्बुधस्य ततोऽपि तस्येत्यादि तावद्यावदष्टमो भपंजरः। सर्वेषां पंजराणां दक्षिणोत्तरंत्तकयो वोधौकृत्वा ततो या शालाकां सुदीर्घां समस्तपंजर स्वस्ति-कार्धंत्तेंदिनीमुभयपार्श्वं विनिर्गताग्रां दक्षिणोत्तरा यतौ पंजरभार सह प्रवेशयेत् । अपमंडलानि सर्वेषां पूर्ववत् । अपमंडलाच्च विमंडलानि चन्द्रवत्, इयांस्तु विशेषः स्वपठितविक्षेपभागा यथा नवतितमे भागे बंधाभ्याममंडलयोरंतरं भवति तथा निदधात् शेषं सामान्यम् । रविकक्षायां मण्डलं नास्ति यतः तद्गत्यवधित्वेन सर्वेषामेवग्रहाणां गतयो दक्षिणोत्तराः कल्पिताः तद्गतिश्चापमंडलमेव भकक्षायां

प्रति नक्षत्रं भिन्नो विक्षेपः। पाताभावात्तत्रापि न प्रदशाम्। स्वाहोरात्रवृत्तानि क्रान्त्यग्रेषु मेषादीनां ग्रहाणां च प्रदर्शयितव्यानि ततः सर्वकक्ष्यामध्येयाः। शालाकायां भूगोलाकारामृदान्येन वा प्रदर्शयितव्या। एवमयं भूगोलः कक्षापरिवेष्टितो भकक्षांतस्ततः पूर्वस्वस्तिके सूत्रस्यैकमग्रं बद्ध्वा द्वितीयमग्रं भुवं भित्त्वा परस्वस्तिके बध्नीयात्। तत उपर्यधः स्वस्तिकयोभूर्भेदिसूत्रं बध्नीयात्। ततो भूगोलस्योपरि यत्र सूत्रेण कृतो भेदस्तत्र भूप्रदेशे लंका। यत्राधः तत्र सिद्धपुरम्। यत्र पूर्वेण भेदस्तत्रयम···कोटी यत्रापरतः सूत्रभेदस्तत्ररोमकं पत्रोत्तरेण यः शलाकाभेदो भूगोले तत्र मेरुर्यत्र। दक्षिणेन तत्र वडवामुखम्। विनिगतशलाकाग्रयोश्च ध्रुवौ प्रदर्श्यौ लंका यमकोटी सिद्धपुरी रामकानामवगाहीयः परिणाहो भुवः ससर्वो निरक्षो देशश्च। सर्वत्र चिह्नानि कारयेत्, एवमयं लंकायां गोलः समरावावतिष्ठते। अथायमेवैकोभपंजरः प्रदर्श्यते सर्वग्रहविशेषस्तत्रैव। यतो भिन्नकक्ष्यागता अपि नक्षत्रगता एव भकक्ष्या गता इवोपलभ्यन्ते। तस्मादेक एव कार्यः अस्माभिश्च वस्तुदर्शनं कृतम्, तत्र लंकास्थस्य द्रष्टुर्विषुवन्मंडलमेव सममण्डलं प्राच्यपरं येन द्वितीयं तद्यादेवाः भूगोलमेरुवडवामुखस्थानां ध्रुवयोश्चोर्ध्वस्थानप्रदर्शनार्थमार्यामाह—

खे भूगोलस्तदुपरि मेरौ देवाः स्थितास्तले दैत्याः।
खे भगणाक्षाग्रस्थावुपर्यधश्च तौ ध्रुवौ तेषाम् ॥३॥

वास०—खे वियति भूगोलस्तदुपरि मेरौ देवाः स्थिताः तस्मिन् भूगोले उपरि मेरुः तत्र देवाः स्थिताः तले दैत्याः तस्यैव भूगोलस्याधो दैत्याः वडवामुखवासिनः खे भगणाक्षाग्रस्थौ खे आकाशे भगणस्याक्षौ भगणाक्षौ तयोरग्रे स्थितौ भगणाग्रस्थौ उपर्यधश्च ध्रुवौ। एकमुपरि द्वितीयोधस्तेषां देवदैत्यानां यो देवानामुपरि दैत्यानामधो दैत्यानामुपरि यः स देवानामधः स्थित इत्यर्थः। नत्विदमत्याश्चर्यमुच्यते खे भूगोल इति। यावदल्पस्थायि मूर्तिमत्पदार्थ स्याकाशे न स्थितिर्दृश्यते। किमुत महाप्रमाणिकया भुवो नगनगरसमुद्रद्वीपगजतुरगरथाद्यनेकाश्चर्याकुलाया नैतच्चोद्यम्। स्वरूपत्वात् यथाग्निर्दहनात्मको वायुश्च प्रेरणात्मकः उदकं वक्लेदनात्मकं न तेषां कश्चित्स्वविषये प्रयोजकः एवमियमपि भूधारणात्मिकानधार्यमाणा तस्मात् खे स्थिरेयं सर्वं धारयति। अथ पतंत्येव तिष्ठतु कानः क्षतिरिति चेत्। तदापि न यतो लोष्ठादयः शिशुभिरुपरिक्षिप्ता भुवमाससादयन्तो दृश्यन्ते। मन्दक्षितिः पततीव। असाध्यमेवैतदतिगुरुत्वाद्भूमेः अथवावश्यं पतति, तथापि क्व पततु अध इति चेत्। किमिदमधोनामप्रतियोगि सापेक्षश्चाधः शब्दः यथा सत्व विशेषणानामस्मदादीनामधो भूरुपरिविंयदेवमस्याः सर्वाधोभूताया भुवः किमधः स्वमिति चेत्। तर्हि सर्वतो युगपत्पतनप्रसंगः, तत्रोपरि पार्श्वपतने न नस्तोदृष्ट विरोधात्। अधश्च निरस्तसम्बाधः पतनादाधारविशेषः

परिकल्पते इत्यभिप्रायेण तदपि न शक्यते वक्तुम् । तस्यापि मूर्तत्वादन्यस्तस्यान्य इत्यनवस्थाप्रसङ्गः, अथोच्यते स्वशक्त्यासौ त्रिष्ठतीति तत्प्राथम्यादेव सा शक्तिः कथं भुवो न परिकल्पते । भूमेश्चावश्यं शक्तिः परिकल्पयितुं बुध्यते । अन्यथा सर्वतोऽपि परस्परमधो तावेन सत्त्वानां भवस्थितेरेव न स्यात् । समुद्रादीनामपि च तस्मान्मूर्तिमदाधाररहितो विशिष्टशक्तियुतो भूगोलः खेऽवतिष्ठते इत्युपपन्नम् । अथ मूर्तं परिकल्पते । कश्चिदाधारस्तत्सिद्धसाध्यताचार्येणैवोक्तत्वात्प्रागार्याया-मस्माभिरपि धर्माधर्मनिबन्धनी स्थितिर्वाद्यादीनामत्युपगम्यते । नवास्माक-प्रमाणभागेव प्रावीणम् । यतो वैयाकरणाना कर्मधारय समासोदाहरणीभूता वयं चतुर्वेदत्वात् केवलं शास्त्रदृष्टचा परीक्षध्वम् । युक्तिमदयुक्तिमद्वाद्याख्यात-मार्यासूत्रम् । अत्र वलायचार्य क्षितिगोलः समवृत्तः खे किल तिष्ठति समंतत-स्त्वपदे सामान्यैः सत्वानां शुभाशुभैः कर्मभिरुपात्तः । तथा वसिष्ठसिद्धान्ते-जगदण्डखमध्यस्था महाभूतमयो क्षितिः भवाय सर्वसत्वानां वृत्तगोल इव स्थितेति गोलवासनयाधुना प्रदर्श्यते । तद्यथा स्वदेशाक्षाग्रादुत्तरतोयः शलाकाग्रहमपकृष्य स्वगोलोकोपरि स्वस्तिकवेधे प्रवेशयेत् । तद्दक्षिणाग्रादधखगोलो स्वस्तिकवेधे द्वितीयमग्रं न्यसेत् । एवं स्थिते गोले स्वयमेवार्यार्थावगतिर्भवति । भूगोलस्योपरि यत्रायं शलाकाभेदस्तत्रमेरुर्देवनिवासः यत्राधस्तत्र दैत्यनिवासो वडवामुखमेको ध्रुवो मेरोरुपरि शलाकाग्रे द्वितीये वडवामुखस्योपरि शलाकाग्रे असुरसुराश्च परस्थमधो मन्यन्ते । अत्र चार्यभटः सुमेरुः स्थलमध्ये तदधो वडवामुखं जलमध्ये । असुरसुरा मन्यन्ते परस्परमधः स्थितानियतम् । अन्यथा पञ्चसिद्धान्तिकायाम्-तरुनगनगर न रामसरित्समुद्रादिभिः चितः सर्वः विबुधनिलयः सुमेरुस्तन्मध्येऽधः स्थिता दैत्याः सलिलतटासन्नानां वाडवमुखी दृश्यते यथा छाया तद्वद्गतिरसुराणां मन्यन्ते तेऽप्यधो बिबुधान् । तथा लङ्कासिद्धपुरयोर्यमकोटी रोमकयोश्च परस्पर-मध्ये भावः, एवं प्रतिपदमप्यधो भागकल्पना । न च परमार्थतया भूमेरुपर्यधो भागकल्पना शक्यते वक्तुम् । यतः सर्वतोऽपि सत्वानां स्थितिः, यतो भूगोलो त्रिचतुष्पदकीटजलधरनगनगरतरु जलधारादिभिः कदंबपुष्पग्रन्थिरिव केसरैः प्रचितः । अत्र त्वार्यभटः-यद्वत्कदंबपुष्पग्रन्थिः प्रचितः समन्ततः, कुशमैः तद्वद्धिसर्वं सत्त्वैर्जलजैः स्थलजैश्च भूगोलः । तथा चार्यालाटदेवः । पर्वतनदीसमुद्रैः पुरराष्ट्र-द्रुमचतुष्पदाश्वाद्यैः प्रचितः कदंबपुष्पग्रन्थिरिव समन्ततः कुसुमैः यच्चाचार्येण तदुपरीत्यादि, तदपि धर्माधर्मप्रदेशापेक्षया सर्वतः सर्वेषामधोभूरुपर्याकाशमेत-त्प्रदर्शितं च भवति मूर्तिमदाधारनिरासायवा । यैश्चोक्तं मध्ये मेरुः तैः समुद्रा-वस्थितिर्न ज्ञाता जलात्स्थलभागापेक्षया यच्च निरक्षदेशोपरि विषुवन्मण्डलं षष्टि-घटिकांकितं प्रदर्शितमासीत्तन्मेरुस्थितानां क्षितिजम् । यच्चोन्मण्डलं तत्सममण्डलं पूर्वापरयोः क्षितिजे ग्राक्षयोश्च तस्य लग्नत्वाद्वडवामुखवासिनामपि एवमेव मुद्रोपि परिकरवदुभयेषां मेषाद्यपमण्डलार्धं क्षितिजादुपरिस्थिति दृश्यं स देवानां तुला-

द्यार्धं तद्वद्दैत्यानां मेषतुलाद्योरादित्वं विषुबदुपलक्षणार्थं लंकासमोत्तरे......रवावासिनां दक्षिणतो लंकोत्तरतो मेरुः यमकोटीसमुत्तरस्थानां दक्षिणतो यमकोद्युत्तरतो मेरुः सिद्धपुरसमोत्तररेखास्थानां दक्षिणतः सिद्धपुरमुत्तरतो मेरुः रोमकसमोत्तरस्थामासुत्तरतो मेरुदक्षिणतो रोमकम् । मेरुस्थानां पुनः सर्वतोऽपि । सर्वा एव दिशो यतो दिक्परिकल्पना सवितृवशा यत्र विवस्वानुदेति सा प्राची। यत्रास्तमेति सा प्रतीची न तत्राथोच्यते यत्र दिनादौ प्रथमं दृश्यते सा प्राची, यत्र दिनार्धं सा दक्षिणा, यस्यामदृश्यो याति सापरा यस्यां रात्रार्धं सोत्तरा विषुवति मेरुस्थानां पुनः सकृदुदित एव। सर्वास्यपि दिक्षूपरि भ्राम्यन्ननेकशो दृश्यते । अतो दिग्विभागकल्पना। न तत्राथोच्यते यत्र दिनादौ प्रथमं दृश्यते सा प्राची तदपि न यतः स्फुटं सौरसावनयोर्युगपद्दिनादिर्न भवति। कदाचिद्भवतीति चेत् तथापि न नियते प्रदेशे, एवं मेरुवडवामुखरेखास्थानां गोलन्यासः प्रदर्शितः । तदन्तरस्थानां देशान्तरकर्मणा पूर्वापरत्वं भिद्यते । तत्प्रदर्शनायाध्वतुल्येऽतरे भूगोलं भ्रमयेत् । यदि पूर्वेण स्वदेशस्तदा पश्चिमतः। अथ यतो परदेशस्तदा पूर्वेण भ्रमयते। शलाकाग्रनिवेशेवतुल्यार्धेऽर्धममीष्टदेशे गोलविन्यासः इत्येवं दिशात्र मे तत्प्रदर्शितं स्वबुद्धया कालसमसूल्यमिति। एवं मेरुवडवामुखस्थानां ध्रुवयोः संस्थानमभिधायेदानीं भचक्र भ्रमणादि प्रतिपादनायाह —

ध्रुवयोर्बद्धं सव्यगममराणां क्षितिजसंस्थमुदवक्रम् ।
अपसव्यगमसुराणां भ्रमति प्रवाहानिलाक्षिप्तम् ॥४॥

वास०—ध्रुवयोर्बद्धं ध्रुवतारयोर्नियमितं, सव्यं गच्छतीति सव्यगमः, प्रदक्षिणगमित्यर्थः, अमराणां मेरुस्थानां क्षितिजसंस्थं क्षितिजवेशेषाज्जातं यन्मण्डलं तत्क्षितिजम्। यत्राकाशं भूम्या सहैकवद्भूतं लक्ष्यते। परितोऽपि तत्र स्थितं तदा सकुमुद्रुवक्रं नक्षत्रचक्रं विषुवन्मण्डलमित्यर्थः। अपसव्यगमसुराणां तदेवोदचक्रं अप्तदक्षिणगं दैत्यानां क्षितिजासक्तमेव भ्रमति क्षणमपि स्थिरं न भवति। प्रवाहानिलाक्षिप्तं नित्यं प्रवहणेन पश्चाद्गतिना मारुतेन प्रेरितमिति यावत् तदेतद्भचक्रं तद्देवानां भूलोकोपरिस्थितानां क्षितिजासक्तं यतो विषुवन्मण्डलमेव भचक्रं तच्च मेरुस्थानं क्षितिजमेव व्याख्यातम्। तत्रस्था भ्राम्यते प्रवाहानिलेनतदेवैः प्रदक्षिणगं सदृश्यते। दैत्यैश्च प्रदक्षिणगं यतस्तेषां परस्परमधोभावः यथा कश्चित्किमपि दक्षिणे हस्ते कृत्वा यदासन्नो भवति, तदा तत्प्रति रूपकारस्य वामे हस्ते तत्र लक्ष्यते, इत्येवं सव्यापसव्यसिद्धिः, एतच्च खगोलोपर्यधः स्वस्तिकयो शलाकाग्रे प्रवेश्य सर्वं प्रदर्शयेत्। गोलो ध्रुवयो बद्धमिति व्याप्तिप्रदर्शनार्थम्। ध्रुवाभ्यां यावद्भचक्रस्य द्वादशराश्यात्मकस्य व्याप्तिमुरुजबंधानामिव मध्यावभूगोलमध्यं यावत्। अयमभिप्रायो द्वादशराशि व्यतिरिक्तो भपंजरे सकक्षे सभूमिके कश्चित्प्रदेशे नास्तीत्यर्थः। अन्ये तु पुनरन्यथा व्याचक्षते। भूगोल एव प्राङ्मुखो भ्रमति

भपंजरः, सोडुचक्रं स्थिर एवमपि सव्यापसव्यसिद्धिः तुल्यैव, न चैवं, यदि भूगोलो भ्रमति तद्वायसादयो न स्वं निलयं खात्पुनरासादयेयुर्वारिमुचोऽपि नैकत्र बहुवारिमुचः स्युः तस्य तस्य प्रदेशस्याग्रतो गतत्त्वात् । ध्रुवादयो नित्यं प्रत्यगतयः स्युः, भूगोलवेगजनितप्रभंजना क्षिप्ताः तरु शिखार्यादयोऽपि विदीर्येरन् । अत्र वाराहमिहिरः यद्येवं शयनाद्या नखात्पुनः स्वनिलयमुपेयुरित्यादि तस्मात् भूभ्रमति भचक्रमे च भ्रमति प्रवाहानिलाक्षिप्तम् । तथा चाचार्यवराहमिहिरः मेरोः समोपरि वियत्यक्षोव्योम्नि स्थितो ध्रुवोऽधोऽन्यः तत्र निबद्धा मारुता प्रवहेन भ्राम्यते भगणः । तथाचार्यभटः, उदयास्तमय निमित्तं नित्यं प्रवहेन वायुना क्षिप्त लंकासमपश्चिमगो भपंजरः सग्रहोभ्रमति मेरु वडवा मुखस्थानां क्षितिजासकं एवार्यसूत्रार्थः । तथावयौ लिषे सिद्धान्ते । तस्योपरि ध्रुवः खं तद्बद्धं पवनरश्मिभिश्चक्राम । पवनाक्षिप्तं भानामुदयास्तमिषं भ्रमति । तथा च वसिष्ठे सिद्धान्ते । तत्राग्रे ग्रहनक्षत्रतारागण समावृतः । अजस्रं भ्रमति व्योम्निज्योतिर्गणः प्रदक्षिणम् एतेषु सर्वनाम्ना मेरुपरामर्श इति एवं मेरू परामर्श इति एवं मेरु वडवामुखवासिनां ध्रुवं न वक्रं संस्थानभ्रमणमभिधायाधुना परिशेष देशार्थमाह—

अन्यत्र सर्वतो दिशमुन्नमति भपंजरो ध्रुवोनमति ।
लंकायामुडुचक्रं पूर्वापरगं ध्रुवौ क्षितिजे ॥५॥

वास०—अन्यत्रान्यस्मिन् देशे मेरु वडवामुखवर्जिते, सर्वतोदिशं सर्वास्वपि दिक्षु उन्नमति भपंजरः क्षितिजाद्विप्रकृष्टो भवति । भानां पंजरो भपंजरः नक्षत्र चक्रं विषुवन्मण्डलमित्यर्थः ध्रुवो नमति, ध्रुवः खमध्यात्तिर्यग्भवत्युत्तरेण स्थलभागे मेरोरन्यत्र वडवामुखादेवं जलभागे लङ्कायामुडुचक्रं पूर्वापरगं लंका ग्रहणं निरक्षदेशोपलक्षणार्थं तत्रोडुचक्रं पूर्वा परगमुपर्यधोगमित्यर्थः । ध्रुवे क्षितिजे तत्रैव निरक्षदेशे स्थितस्य द्रष्टुरुत्तरदक्षिणयोर्ध्रुवो क्षितिजासक्तौलक्षेते इत्यर्थः । अयमभिप्रायो भूगोल काकाराभपंजरमध्यस्थिता च तदवबोधाय ध्रुवतारायां बध्नीयात्, एवं पूर्वस्वस्तिकाद्यमकोटी भूरोमकार्धभेद्यपरस्वस्तिके बध्नीयादेवं दक्षिणस्वस्तिकालंका भूसिद्धपुरार्धभेद्युत्तरस्वस्तिके बध्नीयात् । ततो भूगोलयोः तुल्ययोर्विभागकल्पनया तुल्यत्वमुपपद्यते । लघवोऽल्पे वृत्ते महति महांतो राशिभागादयः कल्पाः कल्पिताश्च भभूगोलयोः सतुल्या भवन्ति । तेन यावति रामध्रुवादिषु वृत्तावति मेरोर्निरक्षदेशे, एवं शेषेष्वपि योज्यम् । सर्वाण्येव केन्द्राणि परस्परं भभूगोलयोश्चतुर्भागे भवन्ति, चतुर्भागाश्च नवतिर्भागाः भचक्रांशानाम् । द्रष्टुश्च यत्रतत्रावस्थितस्यातिभूगोलोपरि । स च द्रष्टा भूगोलार्धं पश्यति, द्वितीयमर्धं भूव्यवहितं न पश्यति तेन मेरोर्यावद्भिः भूगोलाशैः कश्चिद्दक्षितो भवति, तावद्भिस्तस्य भूगोलान्शैः ध्रुवो नमत्युत्तरेण । एवं वडवामुखादपि तावद्भिरेवांशैर्निरक्षदेशोपरि विषुवत्स्वस्तिकौ भवतः एतच्च स्वदेशाक्षाग्रे सोन्मण्डलं सध्रुवं

गोलं विन्यस्य प्रदर्शयेत्। यावन्निरक्षदेशं तत्रोडुचक्रं पूर्वापरगं ध्रुवौ क्षितिजे भवतः। निरक्षदेशं दक्षिणस्थं भूगोलार्धं देवा न पश्यंति, भूम्यर्धवत्तद्वदुत्तरस्थं दैत्या अपि एवं निरक्षादुत्तरस्था दक्षिणं ध्रुवं न पश्यंति, दक्षिणस्थाश्चोत्तरमिति। यदि पुनः समा भूः स्यात्तन्मेषाद्यपमंडलार्धं सदादृश्यं स्यात्, समुद्रादुत्तरस्थानां ध्रुवश्च भूम्यासक्तो न स्यादेतच्च प्रत्यक्षविरोधान्नभपंजरस्य तुच्छत्राकारतायां कल्पमानायां द्वादशस्वपिराशिषु, स्थितोऽर्कः सदादृश्यः स्यादस्माकं। यतो मेरोर्व्यवधायकत्वं निराकृतं। पूर्वमेवास्माभिरथ गोलकाकारायामेव भुवि तच्छत्राकारम्, तन्मेरुस्थानां सदादृश्यं नित्यमदृश्यं च वडवामुखवासिनां भूव्यवधानाद्यतः सकलमेवापमंडलं तच्छत्रं तथा लग्नादीनामवलंबकाक्षादीनां चानुपलब्धेः पापीयानपपक्षः तस्माद्भूगोलकाकारा भपंजरश्चात एव विषुवति निरक्षदेशेषु व्यासार्धमवलंबको मेरुवडवामुखयोर्लंबकाभावः, अक्षश्च निरक्षे नास्ति लंबश्च नवतिर्भागाः, यतो ध्रुवोन्नतिरेवाक्षः एवमन्तरेऽपि योज्यमिति। अत्र लाटाचार्यः तस्मात्क्षेत्रोद्देशाद्यथा सर्वतो दिशम्, तथा उन्नमति भगणचक्रं ध्रुवः खमध्यं परित्यजति। भित्वा क्षितितलमुत्तिष्ठतीव मेघः प्रकृष्टस्थः। सैवान्येषां तिष्ठत्युपरि ज्योतिर्गणोऽप्येवम्। एवं तावद्देशभेदाद्भचक्रदर्शनभ्रमणे भेदान्प्रतिपाद्येदानीं भगवतो भास्करस्य तानेव प्रतिपादयन्नाह—

देवाः सव्यगमसुराः पश्यंत्यपसव्यगं रविं क्षितिजे।
विषुवति समपश्चिमगं निरक्षदेशे स्थिताः पुरुषाः ॥६॥

वास०—पश्यंतीति सर्वत्र योज्यम्। देवा मेरुवासिनः सव्यगं प्रदक्षिणगं असुरा वडवामुखवासिनोऽपसव्यगमप्रदक्षिणम्, कमित्याह रविं क्व? क्षितिजे मंडले। भूम्यासक्तमिति यावत्, कदाविषुवति विषुवद्वृत्तस्थं विषुवदिवसे इत्यर्थः समं पश्चिमगं निरक्षदेशे स्थिताः पुरुषा तत्रैव विषुवति समोपर्यधोभागगं लंकादि निरक्षदेशस्था द्रष्टारः पश्यन्ति रविमिति सूत्रार्थः। एतच्च खगोलोपर्यधः स्वस्तिकवेधयो खः शलाकाग्रे प्रवेश्य गोले प्रदर्शयेत्। विषुवत्स्वस्तिके चार्कोपलक्षितं चिह्नं कृत्वा भगोलं भ्रमयेत्। देवासुरप्रतिपादने निरक्षदेशप्रतिपादने च खगोलदक्षिणोत्तरस्वस्तिकयोरथः। शलाकाग्रे कृत्वा शेषं सामान्यमिति। अत्र च लाटदेवः—दृग्वरिजे स्वे विषुवति पश्यंत्यमराः प्रदक्षिणगमर्कम्। अपसव्यगतिदैत्याः समरेखस्थं बुधाश्रमिणः निरक्षदेश वासिनो बुधाश्रमिणस्तस्य, तथा च वराहमिहिरः प्रोद्यन्नविरमराणां भ्रमत्यजादौ कुवृत्तगः सव्यम्। उपरिष्टाल्लंकायां प्रतिलोमश्चामरारीणाम्, इदानीमपमण्डलार्धं दर्शनात्—द्वारेण देवासुरादि वासयोः प्रतिपादनार्थमाह—

सौम्यमपमण्डलार्धं मेषाद्यं सव्यगं सदा देवाः।
पश्यन्ति तुलाद्यर्धं दक्षिणमपसव्यगं दैत्याः ॥७॥

वास०—सौम्यमुत्तरमपमंडलार्धं चक्रार्धं मेषाद्यामजाद्यं सव्यगं प्रदक्षिणगं देवा नित्यं मेरुवासिनः पश्यन्त्यवलोकयन्ति, तुला ऊर्ध्वं दक्षिणमप्रदक्षिणगं दैत्या वडवावासिनः सदा पश्यन्तीति वाक्यशेषः, अत्रार्यभटः देवाः पश्यन्ति भगोलार्ध-मुदङ्मेरुसंस्थिताः सव्यम्। अपसव्यगं तथार्धं दक्षिणवडवामुखे प्रेताः अत्र मेषतुलाद्योर्ग्रहणं विषुवदुपलक्षणार्थं तेन खगोलोपर्यधः स्वस्तिकयोः शलाकाग्रे निधाय सर्वं प्रदर्शयेत्, तत्रापमंडलविषुवन्मंडलयोर्यत्र संपातो मेषादौ तत्र विषुवति रविर्भवति, तत्रस्थश्चार्धच्छत्रबिबो मेरुस्थैर्दिनमेकं वडवामुखवासिभिश्च परितो भ्राम्यन्मेथीवलीवर्दवद्दृश्यते, ततोपमंडलगत्योदगुत्तमं दृश्यते प्रतिदिनं तद्दिन-क्रान्तितुल्येनान्तरेण यावन्मिथुनान्तं तत्रस्थश्चतुर्विंशत्या भागैर्विप्रकृष्टः क्षितिजो मेरुवासिभिर्दृश्यते परितो भ्राम्यन् ततश्चापमंडलागत्या प्रतिदिनं नमन् लक्ष्यते। यावत्तुलादावपमंडलविषुवत्स्वस्तिकसंपातम्। तत्र पुनः खछत्रबिंबो देवासुरैः पूर्वस्वस्तिकावस्थित इव लक्ष्यते, परितो भ्राम्यन् तदधो देवैर्न दृश्यते। यतस्तेषां विषुवन्मंडलमेव क्षितिजं। ततश्चापमंडलगत्या दक्षिणादुन्नमन्दैत्यैर्दृश्यते यावद्धनुषोऽन्ते तत्र चतुर्विंशत्या भागैः। रुन्नमनं कृत्वा पुनर्नतिक्रमेण मेषादि-स्वस्तिकं या दृश्यते परतोऽस्तं याति क्षितिजवशादतो मेषादौ देवानामर्कोदयः। तुलादौ अस्तमयो दैत्यानां विपरीतं चन्द्रादीनामव्यवक्षिप्तानां दर्शनमेवं योज्यम्। विक्षेपवशान्नतोन्नतकल्पना स्वधिया योज्या एवं मेषादिराशिषट्कः। सदोदितं देवानां तत्रस्थोऽर्कश्च सदोदित एव त्र्यशीत्यधिकं शतं परिवर्तानां ददाति किंचि-न्न्यूनं भचक्रवश्यात्तद्वत्तुलादिराशिषट्कं सदोदितदैत्यानां तत्रस्थश्चार्कः, सदोदित एव अपरं साशीतिशतं अधिकं किंचिन्न्यूनं परिवर्तानां ददाति, भचक्रवशादेव अतो मेषादिराशिषट्कस्थेऽर्के दिव्यो दिवसः तुलादौ राशिषट्कस्थेऽर्केऽदिव्यो दिवसः। तुलादौ राशिषट्कस्थेऽर्के रात्रिः, अन्यथा दैत्यानां ये पुनर्मकरादिस्थो दिव्यदिनं कर्कादौ रात्रिमिच्छंति, तेषां प्रायेण मेरौ देवानां स्थिता इति यदि मेरौ स्थितास्त-त्कथंमकरादिराशित्रयं पश्यंति, कथं च कर्कादिराशित्रयं न पश्यंति। अर्कस्य चापमंडलादन्यत्रावस्थितिभ्रंमणं वा न शक्यते वक्तुं भवद्भिरतिपंडितैरपि। अत्र वराहमिहिरः मेषवृषमिथुनसंस्थे दिवसोऽर्के कर्कटादिके रात्रिः यैरुक्ता विबु-धानां मेरुस्थानां नमस्तेभ्यः येप्यवोचन्मेषाद्यादिस्थानेषु संनिवृत्तोऽपि एव कथं दृश्यः, पुनर्न दृश्यश्च तत्रस्थः एतत्सर्वं गोले प्रदर्शयेत्, इदानीममुमेवार्थं स्पष्ट-यन्नाह—

पश्यन्ति देवदैत्या रविवर्षार्धमुदितं सकृत्सूर्यम्।

वास०—रवेर्वर्षं रविमंडलभोग इत्यर्थः, तदर्धदेवाः पश्यंति। दैत्याश्च सकृदुदितमेव सूर्यं मेषादिराशिषट्के चरंतो देवाः पश्यंति सौरेण मासान् षड् यावत्। तुलादिराशिषट्के चापरान् षण्मासान्दैत्याः पश्यन्तीत्यर्थः। अत्रोपपत्तिः

प्रागार्यायां व्याख्याता। तथैवं स्थिते गोले सर्वं प्रदर्शयेत्। अत्र च वराहमिहिरः सकृदुदितः षण्मासान् दृश्यार्को मेरुपृष्ठसंस्थानाम्। मेषादिषु षट्सु चरन् परतो दृश्यः। सदैत्यानाम् अत्रलाटश्च संवत्सरार्धममरैः सकृदुद्गत एव दृश्यते सूर्य इति तथार्यभटः रविवर्षार्धदेवाः पश्यंत्युदितं रविं तथा प्रेताः इति। दिव्यानि दिनानि रविभगण इति, यदुक्तं मध्यगतावाचार्येण तदिहार्यया सार्धया प्रतिपादितं दिव्यमानं, इदानीं द्वितीयेनार्यार्धेन शशिमासाः पितृदिवसा इत्यस्य पितृदिवसस्य च प्रतिपादनमाह—

शशिगाः शशिमासार्धं पितरो भूस्था नराः स्वदिनम् ॥८॥

वास०—शशिनं गच्छन्तीति शशिगाः कर्मिणः पितृसंज्ञिता इत्यर्थः। शशिनो मासः शशिमासः त्रिंशत्तिथयः, तदर्थं पंचदशतिथयः कृष्णाष्टम्यर्धा शुक्लाष्टम्यर्धा यावत्पितरः पश्यंति सकृदुदितं सूर्यमित्यनुवर्तते पितृदिवसः स च भूस्थाः नरा अस्मदादयः स्वदिनमिति स्वदिनम्। स्वदिनं दिनशब्देनैव सिद्धात्। स्वग्रहणं प्रतिदेशं दिक्सभेदप्रतिपादनपरं स्वोदयात्स्वास्तमयं यावन्नराः सकृदुदितं सूर्यं पश्यन्तीत्यर्थः। न त्वहोरात्रम्, दृष्टविरोधात्तुल्यत्वाच्च। सर्वत्रैवं दिव्यपितृमानयोरपि तदत्र पितृदिवसोपपत्तिः अविक्षिप्ते चन्द्रे सितप्रति५दादौ भूमध्याद्यत् सूत्रं रविगोलमध्यं यावन्नीयते तच्चन्द्रगोलमध्यार्धभेदोऽपि भवति तुल्यत्वात्तयोः यत्र चन्द्रगोलोपरि सूर्यभेदः तत्र पितरस्तेषां तथा मध्याह्नकालतोऽपि चन्द्रगोलस्योपरितनमर्धं पश्यंति, वयमधस्तनमर्धचन्द्रगोलार्धं सूर्यभेदकेन्द्रकल्पनया पश्यामोऽन्योन्यवच्छादनेन तेन। तेन तदा वयं न मनागपि चन्द्रगोलमुपालभामहे। यतोऽर्करश्मिपातवशाच्चन्द्रस्य शौक्ल्यम् उक्तं च सुषुम्लः सूर्यरश्मिरिति वेदे भूगोलवत् चन्द्रगोलेऽपि षष्टिशतत्रय भागकल्पना कार्या, ततस्त्रिशद्भावे न द्वादश भागाः भवन्ति। तावांश्च तिथिभोगश्चन्द्रोपरि केन्द्रात्तिथौ द्वादश भागा रविकेन्द्रं पश्चादवलंबते। तेनैव क्रमेणास्मद्दृश्येऽर्धे रविरश्मिपातः, तावच्चास्माभिः, सितमुपलभ्यते चन्द्रमसि एवं तावद्यावन्नवत्या भागैः पितृणामस्तमेति। अस्माकं पुनरर्धसितो भवत्येतच्च शुक्लाष्टम्यर्धोऽतः परं पितृरात्रिरस्माकं सितवृद्धिः पितृणां पौर्णमास्यंते अर्धरात्रः परासितवृद्धिश्चास्माकं चक्रार्धांतरं ततो पररात्रक्रमेण कृष्णाष्टम्यर्धे। तेषामर्कोदयः तेनैवासितापचयेनास्माकं पुनरर्धसितो रात्रिनवके ततस्तेषां पूर्वाह्नक्रमेणामावास्यांतं दिनमध्यं सितादर्शनमस्माकं च अत एव अमावस्यांतादुभयतोऽपि द्वादशकालांशा यावच्चन्द्रमा नोपलभ्यते, पौर्णमास्यां तच्च संपूर्णोऽर्कसंनिकर्षविप्रकर्षात्। ये तु प्रतिपदादि पितृदिवसादिमिच्छंति। तेषाम् सर्वमेवं न घटते, तस्मान् मासग्रहणं त्रिंशतिथ्युपपललक्षणार्थम्। यथा कश्चिदाह—मासेन ग्रामादहमागत इति, न च तत्र प्रतिपदादिमासगणना तद्वदिहापि चन्द्रोपरि केन्द्रे पितरः तेषां वासना प्रदर्शितेयम्,

ये तु कदंबपुष्पग्रन्थौ केसरसंस्थाना इव सर्वतोऽपि चन्द्रगोले पितरः तेषां नतोन्नत्यादिकभूगोलस्थानामिव योज्यम् । ते च न्यूनाधिकमप्यर्धमासांते मनुजाहोरात्राधंवदेतत्सर्वं यथास्थितं गोले प्रदर्शयेत् । अनयैव वासनया शशिष्टं गोत्रतिद्धिरति पितृदिवसोपपत्तिश्च एकदिनं च क्वापि त्रिंशद्धटिकायामन्यत्र षष्टिघटिकामन्यत्र दिनाभाव एव । ततोस्त्यन्मासैः दिनमेकं षण्मासं यावदन्यत्रैतत्सर्वमुन्मण्डलविन्यासे दिनरात्रौ क्षयवृद्धिप्रतिपादने व्यावर्णयिष्यामः । अत्रार्यभटः—शशिमासार्धं पितरः शशिगाः कुदिनार्धमिह मनुजा ये तु दक्षशाणयाक्षयवृद्धी रवेश्चोपरि चन्द्र इत्यादि कथयंति । तेषां नित्यमधःस्थस्येंदोरित्यादिकया गोलवासनया वराहमिहिरोक्तयातिप्रकटया निरास इति रविशशिकक्षाद्वयेन गोलवासनयात्र प्रदर्शिता । इदानीं कस्मिन् भू प्रदेशे लंका ध्रुवोज्जयिनी तत्प्रदर्शयन्नाह अवन्ती भूपरिधेः पंचदशभागे । भूमस्तक शब्देनात्रमेरुरुच्यते । क्षितितलशब्देन च वडवामुखम् । लंकाग्रहणं निरक्षदेशोपलक्षणार्थं, तेनायमर्थः—मेरोर्वडवामुखाच्च भू चतुर्भागे निरक्षदेशः परितोऽपि तदन्तः पातिनो लङ्कायमकोटी सिद्धपुररोमकादयस्तत्रैव तच्चास्माभिः पूर्वमेव व्याख्यातम्, लंकायास्तु पुनः समोत्तरेणावन्ती । अवन्तीशब्देन उज्जयिनीत्युच्यते । किल तत्र चतुर्विंशतिरक्षांशाः षष्टिशतत्रयस्य चतुर्विंशतिभागः पंचदश भवन्त्येतच्छोभनमुक्तम्—

भूपरिधितुर्यभागे लङ्का भूमस्तकात् क्षितितलाच्च ।
लङ्कोत्तरतोऽवन्ती　　भूपरिधेः　　पंचदशभागे ।।६।।

वास०—भूपरिधिश्च खखखशराः ५००० अस्य चतुर्भागाः १२५०, एतावद्भिर्योजनैर्मेरोर्दक्षिणेन लंका पुनः भूपरिधिः ५००० । अस्य पंचदशभागाः गुणाग्निवह्नयः सत्रिभागाः ३३३ त्रि १३ एतावद्भिर्योजनैर्लंकात उज्जयिनी समोत्तरतः एतानि भूपरिधिचतुर्भागयोजनेभ्यः खशरार्कसंख्याभ्यः १२५० शंसोध्याशेषं रसेदुनंदाः त्रिभागद्वययुताः ९१६ त्रि २।३। उज्जयिनी त एतावद्भिर्योजनैरुत्तरेण परिधिगत्या मेरुः सर्वं गोले प्रदर्शयेत् । परमोत्तरक्रान्त्यग्रे रविस्तत्रोपरि मध्याह्नं करोत्यन्योथ विक्षिप्तश्चन्द्रादिकः उज्जयिनी ग्रहणमपि चतुर्विंशति भागाक्षदेशोपलक्षणार्थम् । तेन निरक्षदेशात्सर्वतोऽपि भूपरिधिपंचदशे भागे । स देशो यत्र चतुर्विंशतिरक्षांशा । एवं निरक्षदेशा दक्षिणेनापि योज्यम् । द्वितीयध्रुवतारापेक्षया वडवामुखाद्यपेक्षया च योजनादिकं योज्यम् इति एवमुज्जयिनीनिरक्षदेशयोरंतरपरिज्ञानमभिध्यायेदानीमभीष्टदेशनिरक्षदेशयोरंतरपरिज्ञानमाह—

अक्षांशकुपरिधिवधान्मण्डलभागाप्तयोजनैर्विषुवत् ।

वास०—अक्षांशैः कुपरिधिवधः अक्षांशकुपरिधिवधः स्वदेशाक्षभागा कुपरिणाहम् । परस्परगुणनेःत्यर्थं, तस्माद्वधान् मण्डलभागैः आप्तं लब्धं षष्टिशतत्रया-

प्तमिति यावत् । यदाप्तं तानि योजनानि तै विषुवत्तनो देशात्तावद्भिर्योजनैर्यो देशस्तस्योपरि विषुवन्मण्डलं तावद्भिर्योजनैर्निरक्षदेश इत्यर्थः, तद्यथा कान्यकुब्जेक्षभागाः २६।३५, एतैर्भूपरिधिरयम्, ५००० गुणितो जातः रसेन्दु नवयमगुणाचन्द्राः सद्विभागाः १३२९१६ (२/३) अतः षष्टिशतत्रयेण भागे हृते लब्धानि कान्यकुब्जनिरक्षदेशांतरयोजनानि । नवाङ्गनयो द्विनवभागाधिकाः ३६९ (२/९) लब्धयोजनानि भूपरिधिचतुर्भागयोजनेभ्यो विशोध्य शेषं खाष्टव सवः सप्तनवभागा ८८० । परिधिगत्या एवावन्ति योजनानि, कान्यकुब्जमेरुरेवमन्यत्रापि यथास्थिते गोले त्रैराशिकवासनै (७/९) यं प्रदर्श्य । इदानीममेवार्थं प्रचोदन्नाह—

नतभागयोजनैरेवमुपरि सूर्योऽन्यदनुपातात् ॥१०॥

वास०—दिनमध्याह्नक्रान्त्यक्षभागयोगांतरं समान्यदिशामिति येऽभीष्टदिनार्धनतांशा भवन्ति, तेऽत्र गृह्यंते । तैर्नतभागैरेवं यथा प्रागार्यार्धेऽभिहितमेतदुक्तं भवति । इष्टदेशादिनार्धनतांशे भूपरिधिं संगुण्य षष्टिसूत्रचयेन विभजेत्फलं योजनानि तैश्च योजनैरुपरि सूर्यस्तस्माद्देशात्तावद्भिर्योजनैर्यो देशः समदक्षिणोत्तरस्थदेशस्योपरि तद्दिनमध्याह्ने सूर्यो भवतीत्यर्थः, एवं स्वनतभागैश्चन्द्रादीनामपि योज्यम् । यद्युत्तरनतांशास्तदुत्तरेणाथदक्षिणस्तदा दक्षिणेन सदेशश्चतुर्विंशत्यक्षकादेशादुत्तरेण कदाचिदप्युत्तरा नतांशा न भवन्ति रवेरन्यदनुपातादिति । अन्यदप्यान्तरमेवं त्रैराशिकात् । अभीष्टयोरपि समदक्षिणोत्तरस्थयोरन्तराद्योजनान्येवमित्यर्थः । तद्यथा कान्यकुब्ज दक्षिणनतादौ नतभागाः ।२।३।५, एतैर्भूपरिधिगुणितो भांशैर्हृतश्च जनः ३६, एतावद्भिर्योजनैः कान्यकुब्जदक्षिणतो यो देशस्तत्र नष्टाछायस्तदा मध्याह्नकालः । अभीष्टदेशयोरपि तद्यथास्था एव ईश्वरेक्षभागाः ३।१२। उज्जयिन्यां ।२४। एषामन्तरं ।६।१२। अनेन भूपरिधिर्गुणितो भांशैर्हृतश्च ८६, १/९ एतावन्ति योजनानि तयोरन्तरमेवमन्यत्रापि । अत्र यथाक्षांशैर्नतभागैश्च योजनानयनम् । एवं विपरीतकर्मणाक्षभागानयनं सिद्धम्, त्रैराशिकवासना पूर्ववत्प्रदर्श्या । निरक्षदेशदक्षिणतोऽप्येवमेव योज्यम् । वडवामुखं यावत् । अधुनाकाशकक्षानयनमाह—

अंबरयोजनपरिधिः शशिभगणाः शून्यखख जिनाग्निगुणाः ।

वास०—योजनात्मकः परिधिः योजनपरिधिः अंबरस्य योजना परिधिरंबरयोजनपरिधिः कथमित्याह-शशिभगणाः पंचांबराणि, गुणराम पंचसप्तस्वरेषव इति किंभूताः शून्यखखजिनाग्निगुणाः लक्षत्रयेण चतुर्विंशत्या ज सहस्रैर्गुणिताः शशिभगणाः आकाशकक्षयोजनानि भवन्तीत्यर्थः । तद्यथा शशिभागाः ५७७५३३००००० शून्यखखजिनाग्निभिरमीभिः ३२४००० गुणितजाताः शून्याष्टकयमनंदरसखाश्विरूपनगाष्टचन्द्राः १८७१२०६९२००००००० एतावंति खकक्ष्या-

परिधियोजनानि, कल्पे च ग्रहाणां गतियोजनानि। एतावंति वक्ष्यत्येकैकस्य नत्वनतस्य कालगस्य कथमुच्यते नियतपरिधिः, अत्र केचिद्दिनकरकरनिकरविधूस्ततमसो व्योम्नं परिधिरयं परतो निबिडमंधकारं यदस्माभिर्नीलमिवोलभ्यते। अपरे त्वंडस्य यस्य मध्ये सकक्षे भूगोलात्मवत्स्थितस्तथायं परिधिस्तत्कोशं च नीलमिवास्माकं प्रतिभाति, उभयथापि न कश्चित्प्रक्रियाविरोधः यतो भकक्ष्याया ऊर्ध्वगतिनिरोध एव अत्रार्थे ग्रहणकमस्मदीयम्। द्विछिद्रषट्कांबर तेऽत्र चन्द्रशैलाष्टरूपाणि गुणानि कोटयाः व्योम्नः सधाम्नः परिधि दशघ्रकल्पे ग्रहाणां सच योजनाध्वः यदुक्तंवासिष्ठ सिद्धान्ते॥ जगदण्डखमध्यस्था महाभूतमयी क्षितिरित्यादिः, तदण्डाभ्युपगमे घटत एव आर्यभट्टः शिष्यैश्च व्याख्यातं खपरिधिदशनद्वारेणार्करश्मिप्राप्तस्य नभसः प्रमाणं प्रदर्शितम्। भवत्याचार्येण ननु चेष्टग्रह स्वकक्ष्याभगणवधः षपरिधिरित्येतावतैव सिद्धेः शशिभगण इत्यादि ग्रंथगौ रवकरणमसं बद्धमिव नः प्रतिभाति। यतः शून्य खखाजिनाग्नयश्चन्द्र कक्षा प्रमाणं नैष दोषो यतः खपरिधे रेव ग्रहकक्ष्या आनयिष्यति तदपरिज्ञानात्तद्भगणवधः कथं शक्यते कर्तुम्, तर्त्तह्रि तुल्यं शशिकक्ष्या परिज्ञानेऽपि न तुल्यम्। अत्रोच्यते रविचन्द्रयोरन्येनैव प्रकारेण कक्ष्यानयनासिद्धेः कोसौ प्रकार इति तदुच्यताम्, तद्यथा चन्द्रभूयोगाच्चन्द्रबिंबं मध्यमं लिप्तागतं साधयेत्। तच्चोदयतोऽस्तमयतो वा बिंबस्य कियंत्यो विनाड्यः प्राणाश्च भवन्तीति चन्द्रभगणभोगं यावत्साधयेत् दिनं प्रतिदिनं स्वधिया स्वदिनोदयस्यैकत्र कृतस्य तदह्निश्च स्वैर्दिनैर्विभक्तस्यार्कदिनोदयबिंबकालो मध्यमो भवति। सच प्राणी कृतः शशिमानमध्यमलिप्तो भवति, ताश्चाब्दा विंशतिशतम्। रवेरप्येवमेव समप्रदेशस्थस्य द्रष्टव्यम्, मानप्रसाधनं चन्द्रमसोर्योजनमानं च वक्ष्यति शून्यवसुवेदा इति ४८०, ततो लिप्तामानेन योजनमानस्य भागे हृते लब्धपंचदश।१५। एतावंति योजनान्येकैकस्याः कलायाः प्रमाणम्। चन्द्रकक्ष्या प्रदेशे कक्ष्या च सर्वस्य खखषट्कन संख्याः लिप्ताः, यतो लब्धवोऽल्पराश्याम् इति वक्ष्यति। तेन पंचदशगुणिताः खखषट्कन संख्याजातं प्रमाणं योजनात्मकं। चन्द्रकक्ष्याया शून्यखखजिनाग्नयः। ३२४००० एवं रवेरपि यत उक्तम्। मानोदयाद्रवींद्वो र्घटिकार्धमर्धेन (भोक्ष्य) इति छायाध्याये त एवार्येण चन्द्रकक्ष्या मूलत्वेन सर्वकक्ष्याणामानयनमभिधातुं शोभनमारब्धम्। तत्रानि शेषत्वा दृगणितकर्मणः शेषग्रहाणां योजनमानानि न पठितानि अत एवात्र खपरिधिद्वारेण सर्वमेव वक्तुमुद्यत आचार्यः भवतु नामेदृक् तया सिद्धया शशियोजनमानं सिद्धमेव अभ्युपगतमस्माभिश्च तत्कक्ष्याभ्युपगमतुल्यत्वात् न कश्चिद्विशेषः। सत्येवं यदप्युक्तमस्माभिः शशिभूयोगादस्तमयोदयकाले चन्द्रमानसाधनं तदपि मानुषमात्रेण ग्रहीतुं न शक्यते विघटिककादिकोऽपि कालः किमुत प्रमाणावयवादिकः अस्माभिः प्रसंगेन वसुदर्शनं कृतं भुवश्च निम्नोन्नतत्वान्महाद्रिवनांतरितत्वाच्च। अशक्यं सर्वं किंत्वागम एव प्रमाणमस्माकं

भगणपरिधि: कक्ष्यामानयोजन कर्णादिषु मेरूलंकावडवामुखादिषु तेषामगम्यत्वात् । यत एवाभितपोबलेन विमलमनसवसिष्ठगर्गादयो ऽभियुक्ताश्च तत्प्रणीतेभ्यो ग्रन्थेभ्यो लेशज्ञा विदामो वयं सदिदमसच्चेदं परगृहभोजनेषु छात्रा इव एवं स्व-कक्षाप्रमाणमुक्त्वे दानीयं तत एव सर्वग्रहकक्ष्यानयनमाह—

यस्य भगणैर्विभक्तास्तत्कक्ष्यार्को भषष्ठ्यंशः ॥११॥

वास०—खपरिधिरित्यनुवर्तते यस्य ग्रहस्य भगणैः खपरिधिर्विभज्यते तस्यैव कक्षा योजनमानात्मका लभ्यते । तद्यथा खपरिधिरयं द्विछिद्रषट्कम्मवर-नेत्र चन्द्रशैलाष्टरूपाणि शून्याष्टकैकहतानि १८७१२०६९२०००००००००० अस्य कल्परविभगणैरमोभिः ४३२०००००००० भागे हृते रवि कक्ष्याप्रमाणे सप्तनवकृत-रूपाग्निगुणवेदाः सार्धाः । ४३३१४९७½ तथा शशिभगणैः शशिकक्ष्यायोजनानि शून्य । खखजिनाग्निसंख्यानि ३२४००० एवं सर्वेषां कक्षानयनमस्माभिरुदा-हरणीयं सिद्धा एव लिखन्ति । स्वैः श्लोकैः सार्धनन्दकृतरूपगुणाग्निवेदाः कक्ष्या प्रमाणमिह भानुमतः प्रदिष्टम्, चन्द्रस्य शून्यखखवेदयमाग्निसंख्यकौजं रसेन्दु नवषण्णवोष्टकान्तं रुद्राश्विलोककृतपंक्तिकृतं बोधं कक्षाप्रमाणमिह देवगुरोरतश्च द्यश्वाष्टलोकैर्वेदनगलोकशशांकबाणास्त्रिशद्रसाष्टकृतिषट्ककरा तु शौक्रम् । सप्ताष्टशैलवसुषट्करसागसूर्याः ख्यातं शते विविकलाः कथितास्तु सर्वाः खेष्विदु-पूर्णशशिशीतकरैर्विहीनाकोद्योरसाश्च विमिताः कथिता भकक्ष्याः अर्को भषष्ठ्यंश इति । भानि नक्षत्राणि तेषां यः षष्ठ्यंशः तत्रार्कः, एतदुक्तं भवति भूमध्या-द्यावति प्रदेशे रविः तावति षष्टिगुणे प्रदेशे नक्षत्राणि भूमध्यादेव ननु वास्मिन् कक्ष्या प्रतिपादनपरसूत्रे । किमनेन प्रयोजनमिति चेत् अस्ति प्रयोजनं नाम नक्षत्रकक्षापरिज्ञानं । यदेवोक्तमर्कात्षष्टिगुणे नक्षत्राणि तदेवार्ककक्ष्या षष्टिगुणे नक्षत्रकक्षेत्युक्तम् । एतच्चार्ककक्ष्यामण्डलपरिमण्डलसंपातापेक्षया अन्यथा परि-मण्डलेऽर्के कथं षष्ठांशे भानां वक्तुं शक्यते प्रतिमण्डलमध्यं यतो भूमध्ये न भवति एतच्चस्फुटगत्युपपत्तौ ज्ञास्यथेति तद्यथा रविकक्षा सार्धगिनंदकृतरूप गुणाग्निवेदा ४३३१४९७½ इयं षष्टिगुणा नक्षत्रकक्षा जाता सा चः शून्या ख सुनववसुनन्देषु यमाः २५९८८९८५० पूर्वमेवास्माभिरियं पठिता । शीघ्रं मद-पाताश्च । स्वग्रहाकक्षाप्रमाणेपमण्डले भ्रमन्त्यतस्तेषां ते पृथक् एतच्चोत्तरत्र प्रति-पादयिष्यामः स्फुटगति वासनायामिति । इदानीं ग्रहाणां योजनरूपायागतेः तुल्यत्वमाह—

भपरिधिसमानि षष्ट्या ख परिधितुल्यानि कल्परविवर्षैः ।
गच्छन्ति योजनानि ग्रहाः स्वकक्षासु तुल्यानि ॥१२॥

वास०—स्वकीयाः कक्षाः स्वकक्षाः तासु तुल्यानि योजनात्मकोध्वा सर्व-ग्रहाणां तुल्य इत्यर्थः । तद्यथा स्वकक्ष्यायोजनानि, खेष्विदं पूर्णशशिशीतकरै-

विहीनाकोद्योरसाश्च विमिता प्रथिता भकक्ष्याः २५८८९८५० रविवर्षाणां षष्ट-योजनान्येतावन्ति । स्वकक्ष्यास्थो ग्रहः प्राङ्मुखं याति......देवरवितुल्यानि...... (रविवर्षाणां) याति ग्रहः खपरिधियोजनानि १८७१२०६९२००००००० कल्पे नैतावन्ति योजनान्येकैको ग्रहो याति स्वकक्षास्थः अत्रार्कसावन कल्प दिनैरनुपातादिव सभुक्तिः यदि कल्पसावन दिनैः खपरिधि योजनानि तदेकेन सावनदिनेन कियन्तीति लब्धा दिनभुक्तियोजनात्मिकाष्टशखसुरुद्राः ११८५८ योजनांशाश्च ११३५९३३५९००००० अनया दिन योजनानिभुक्त्या त्रैराशिक
१५७७९१६४५०००
द्वयं भुक्त्या ग्रहानयनं तदयथा यदि कक्ष्या योजनैरेक भगणो लभ्यते तद्दिनगगतियोजनैः किमित्येकदिनभुक्तिफलं प्रथमत्रैराशिके एकैको गुण-कारः द्वितीये भागहारः तुल्यत्वात् नष्टयोरहर्गणस्य दिनभुक्तियोजनात्मिकाः गुणकारः खकक्ष्यायोजनाभागहारः फलमिष्टग्रहः । तथा चार्यभट्टः षष्ट्या सूर्या-ब्दानां प्रपूरयन्ति ग्रहाभपरिणाहम् । दिव्येन नभः परिधिसमं भ्रमन्तः स्वकक्ष्यासु ननु योजनगत्या सर्व एव ग्रहाः समगतयः तत्किमिति भिन्नगतयोऽस्माभिरुपलभ्यते इत्येतदाशंक्योपपत्यर्थमार्याद्वयमाह—

भगणस्याधः शनिगुरुभूमिजरविशुक्रसौम्यचन्द्राणाम् ।
कक्षाक्रमेण शीघ्राः शनैश्चराद्याः कलाभुक्त्या ॥१३॥
लघवोऽल्पे राश्यंशा महति महांतोल्पवृत्तमल्पेन ।
पूरयतींदुर्महता कालेन महच्छनैश्चारी ॥१४॥

वास०—भानां गणो भगणः नक्षत्रपंजर इत्यर्थः तस्याधः शनिगुरुभूमिजरवि-सौम्यचन्द्राणाम् । कक्षा क्रमेणायमर्थोऽस्माभिः भूगोलस्वरूपप्रतिपादने प्रपञ्चेन व्यावर्णितः शीघ्राः शनैश्चराद्या इति कक्ष्याक्रमेण शनेर्गुरुः शीघ्रः गुरोर्भौमः एवं शशी यावत् । यदि प्रागातपः स्वगताग्रहाः अथवा शीघ्राः शनैश्चराद्याः अति-शीघ्रा शनिः ततो मन्दो गुरुः गुरोर्भौम इत्यादिना क्रमेणाति चन्द्रमाः यदि सर्वदा पश्चाद्गतयो ग्रहाः स्युः, इयं च शीघ्रं मन्दकल्पना कलाभुक्त्या लिप्ता रूपया भुक्तेत्यर्थः, अन्यथा योजनभुक्त्या तुल्या गणिता एव गतिश्चादि न भोगः तस्याश्चोभयथा सम्भवः । प्रथमपक्षे नक्षत्रा भुक्तिलिप्ता तुल्येनाध्वेनापूर्वेण ग्रहो गतः । द्वितीय पक्षे, तावानेव ग्रहो नक्षत्रात्पश्चादवलम्बितः सोप्यवलम्बमानः पूर्वेणै-वावतिष्ठते । इत्येवमुपरिस्थितो ग्रहोऽधःस्थितग्रहेण सहयोजनः यस्मादुपरिस्थि-तस्य महती कक्षाधः स्थितस्य स्वल्पा महत्यः कक्ष्याः या राशयो राश्यवयवाश्च महान्तः । यत एवोक्तं लघवोऽल्पे राश्यांशाः लघवः सूक्ष्मा अल्पे वृत्ते राश्यव यवाः महति वृत्ते महान्ति यस्मादेवं तस्मादल्पं वृत्तं स्तोकेनैव कालेन पूरितं चन्द्रः शनिरस्तु पुनः महद्वृत्तं महता कालेन पूरयति यतश्चन्द्रशनीतुल्या गती कक्ष्यभे-

दाद् भुक्तिभेदः, चन्द्रः कक्ष्यायां पंचदशो योजनानि लिप्ता प्रमाणं सति कक्ष्यायां पुनः षड्भिर्योजनसहस्रैः सप्तन्यूनैर्लिप्ता भवति अयं द्वितीयाया मथ उभयोरपि गतिपक्षयोः तुल्य एव। प्रागार्योक्तोर्थश्च विचार्यं ते शीघ्राः शनैश्चरोद्याः कलाभुक्ते ति अत्रैकपक्षः भूस्थिरा भपंजरस्तु सग्रहः प्रभंजाक्षिप्तप्रतिक्षणं पश्चाभिमुखं भ्रमति। तद्वशेन प्रतिदिवसिकावुदयास्तमयौ सर्वग्रहनत्राणां तत्र भवति स्वगणो भोगेन। अत एव प्राग्गतयो ऽस्याभिरूपलभ्यते। देशान्तरप्राप्तेः द्वितीयः पक्षः भूः स्थिरैव नक्षत्रग्रहाः सर्व एव पश्चाद्गतयो प्रत्यक्षतो ऽस्माभिरूपलभ्यन्ते। तस्मादत्रातिशीघ्रोक्तिनक्षत्राणि ग्रहेभ्यो यतो भूगोलकादति दूरस्थितानि, तेषामधिका प्रेरणानित्यं प्रवाहानिलजनिता तेभ्योऽधः शनिः स एव तदपेक्षया पश्चाद्गतित्वे मंदः तस्य न्यूनवायुप्रेरणया भूमेरासन्नो यतः स एवं ततोऽपि मंदक्रमेणाधोऽधोतिमंदता चन्द्रस्य। ततोऽपि श्येनादयो मंदस्तेभ्योऽपि मन्दा वयं साक्षाद्भूमिस्पर्शिणः एवं च स्थिते शनिं हित्वा नक्षत्रं पश्चाद्यात्यतो भूस्थैरुच्यते प्रगतिः शनैश्चरो नक्षत्रांतरं प्राप्तः एवं सर्वग्रहाणां योज्यम्। अन्यथा नक्षत्रग्रहाः सर्व एव खस्थाः पदार्थाः तत्र ग्रहाणां युगपद्गतिद्वया संभवस्यात्। यतो गतिर्नाम वपु व्यापारः पूर्वापरयोश्च विरुद्धौ वायू एकस्यैव पदार्थस्या काशस्थितस्य तुल्यकालं प्रेरणाद्वयं कुरुत इत्येतदपि न शक्यते वक्तुम्। य एव बलवान् स एव स्वस्थायां दिशि नयति। मूर्तिमदाधारवर्जितत्वाप्तदार्थस्य ग्रहादेः अस्ति मूर्तिमदाधारो यत्रासौ स्थितो यातीति चेत्तदपि न। यदि स्यात्तदस्यावयवे व्यवधायकः स्यात्। दृश्यन्ते च ज्योतिष्मंतः। पदार्थाः तस्मात्प्रथमपक्षे यदुक्तं कुलालचक्रा स्थिताः कीटा इव महानदीप्रवाह पतिताः पुरुषा इवेति तदुक्तमाधाराभावादयंहृ पूर्वेण च देशान्तरप्राप्तिरस्मात्पक्षे च युज्यत एव नैवं भवत्पक्षेपि दोषा विद्यंते तत्रैको वक्रासम्भवात्। यतो नक्षत्रेभ्योवाग्यो ग्रहः स्थितः स तावत्प्राग्गतिः स च नक्षत्रादवलंबितः पश्चाद्गतिः सवक्री कथं भवत्युभयताम्। अथैवं भणसि यदा नक्षत्रेभ्य उपरिग्रहो भवति। तदा तेन नक्षत्राणि जीयंते जितानि चावलंबंते पूर्वेण स च पश्चादुपलभ्यते इति। तदपि न शक्यते वक्तुम्। यतो नक्षत्रेभ्य उच्चतरो ग्रहः कदाचिदपि न भवति। नियतत्वाद् ग्रहभ्रमणप्रदेशस्य अन्यच्च वक्रीग्रहो भूमेरत्यासन्नो भवति। योजनकर्णेऽपि तस्यातिलघुर्भवति, मानमपि बिंबस्य महद्भवति अतः परमवक्रे स्थितो ग्रहः, अन्यकालाद्भूमेर त्यासन्नो भवति, न वैवमस्मिन्सदा पश्चात्गतिक्षे प्रतिपादयितुं शक्यते। अतोऽयमपि सदोषः पक्षः अपरो ऽपि दोषः, त्वया तावदस्योपर्यधो भावेन ग्रहाणां स्थितिरभ्युपगता। तत्कथं तुल्यावलंबनम्। योजनगतं प्रदेशभेदाद्वायुभेद स्वोक्त एव। स च नेह यस्त्वबलंबनभेदः स लिप्तागतो यतो वृत्तगत्याग्रहाः परिवर्ता कुर्वते। तच्च वृत्तं दूरस्थस्य महद्भवति निकटस्थस्याल्पं तस्माद्द्वितीयोऽपि दोषः परिहार्यः। अन्येऽपि दोषा अनया दिशायोज्याः इत्यनयोः पक्षयोः प्रथमः पक्षः शोभनोऽप्यतो लघुकाराग्रहगणगतिरुपलभ्यते।

तस्माभिरूपर्यंधः पूर्वापरदक्षिणोत्तरेषु गतिः षट्पक्षाः उत्पद्यंते तेषां षण्णां गति पक्षाणां पूर्वगमन एव ग्रहाहलंबनयुक्तिः, नान्येषु उपलभ्यन्ते च सर्वा एव गतयः ताश्च गमनक्रियामंतरेण न सम्भवति। तस्मात्स्वव्यापारकृता ग्रहाणां गतिः प्राची। अपरा च प्रवाहानिलजनिता भूम्यावर्तजनिता वा भपंजरस्य तुल्यरूपत्वान्नबोध्यम्। यथा च परमार्थिकाग्रहस्य गतिः तया स्फुटगतिवासनायां नीचोच्चमंद शीघ्रवृत्तद्वारेणाचार्य एव वक्ष्यति। कक्ष्यामण्डलमध्यं भूमध्य इत्यादिना ग्रन्थेन वयमपि तत्रैव विस्तरेण प्रतिपादयिष्याम इति। इदानीमयं भगणकलापरिणाहस्य व्यासार्धानयनमाह—

यन्मूलं तद्वचसो मण्डललिप्तकृते र्दशहृताया।
तस्यार्धं व्यासार्धं मण्डलकर्णं प्रमाणार्थम् ॥१५॥

वास०—मण्डललिप्ता भगणलिप्ताः खखषध्वना इत्यर्थः। तासां कृतिवर्गः तस्याः कृतेः किं भूतायाः दशहृतायाः यन्मूलं तद्ध् नुः तस्य व्यासस्यार्धं; भगण परिणाहेति। स्वयोजनकर्णप्रमाणार्थः तेन स्फुटयोजनकर्णानयने त्रैराशिक विधिरित्यर्थः। तद्यथा मंडललिप्ता २१६०० आसां कृति दर्शभक्ता ४६६५६००० तस्याः पदं ६८३० एष व्यासस्यार्ध ख ३४१५ योजनाकर्ण स्फुटी करणार्थं न

७१००	३५५०
१३६६०	१३६६०

नुच भगणकालानां (र्ध ख) एतदेव व्यासमुनिरदा इति युक्तमित्युक्तभिति। आशकां परिहरति—

भगणकला व्यासार्धं भवति कलाभिर्यतो न सकलाभिः।
ज्यार्धानि न स्फुटानि च ततः कृतं व्यासदलमन्यत् ॥१६॥

वास०—भगणकलाभ्यो यद्व्यासार्धं तत्सविकलं ततश्च ज्यार्धानि कल्पमानानि वा न स्फुटानि कल्पयितुं यांत्यतः फलनाशभयादन्यद्व्यासार्धं मयाकल्पितम्। फलं चापगतं तुल्यमेत्र योजनकर्णाश्च स्वकक्षा भगणकल्पनया कल्पिताः ते च भगणव्यासार्धेन सह सम्बध्यंते। शेषं गणितकर्म चाभीष्ट व्यासार्धेनापि न नाशं याति। गताज्या अपि तदनुसारेणेत्यर्थः। सामान्य गोलप्रकरणम्।

अधुना स्फुटगतिवासना प्रदर्श्यंते। तत्र तावन् ज्या प्रदर्शनार्थमार्याद्वयमाह—

राश्यष्टांशैर्ष्णंकान् पदसंधिभ्यः क्रमोत्क्रमान् कृत्वा।
बध्नीयात्सूत्राणि द्वयोर्द्वयोर्ज्यास्तदर्धानि ॥१७॥

ज्यार्धांनि ज्यार्धानां ज्याखंडान्यन्तराणि तान्येव।
व्यस्तान्यन्त्या दथवेषुरुत्क्रमज्या धनुस्ताभ्याम् ॥१८॥

वास०—राशीनामष्टांशा राश्यष्टांशाः भचक्रस्य षण्णवतितमा अंशा इत्यर्थः। तेषां कान्कृत्वा क्रमोत्क्रमान् दशसंधिभ्यः पदानां संधयः पदसंधयः तेभ्यो राशित्रयाद्राशित्रयादित्यर्थः ततो बन्धीयात्सूत्राणि द्वयोर्द्वयो रेवं कृते ज्या भवन्ति, एतदुक्तं भवति। समायामवनौ खमुनि रदांगुलसंख्येन कर्कटकेण वृत्तमालिखेत् तत्र पूर्वापरादक्षिणोत्तरा च द्वे अपि:रेखे समे कुर्याद्यथा तच्चतुर्धा भवन्ति तानि चत्वारि तत एकैकस्मिन्पदे राशित्रयं परिकल्प्यचिह्नानि कुर्यात् तदेकैकस्मिन् राशौ राशावष्टावष्टौ चिह्नानि कुर्यात्। एवं षण्णवति चिह्नानि सकले वृत्ते भवंति। ततः पूर्वस्मिन् भागे पूर्वपरायाम्योत्तररेखाया उभयपार्श्वस्थयोश्चिह्नयोः सूत्रं प्रसार्य रेखां कुर्यात्, सा प्रथमा ज्या भवति। मनुयमला द्विगुणा भवंतीत्यर्थः, एवं तदनन्तरोभय पार्श्वचिह्नयोः सूत्रं प्रसार्य रेखां कुर्यायावच्चतुर्विंतिश्चतुर्विंशे सूत्रे खमुनिरदा द्विगुणा भवति। तत उक्तोत्क्रमेणांनंतरं चिह्नयोरूभयपार्श्वस्थयोस्तावत्सूत्राणि प्रसार्य रेखाः कुर्याद्यावदपरा दिक्। एवमष्टचत्वारिशंज्जीवा भवंति। तदर्धानि ज्यार्धानीति तासां ज्यानामर्धाति भवंनि। सप्तचत्वाशिंरता रेखाभिः मध्यमायाः साधारणत्वादर्धज्यामनुयमला मुनियमवेदा इत्यादीनि एवं षण्णवतिर्ज्यार्धानि सकले वृत्ते भवंति, ज्यार्धानां ज्याखण्डान्यंतराणि तेषां ज्यार्धानां प्रत्येकमेकैक स्यानंतरज्यार्धे सहांतरे कृते यद्भवति। तज्ज्याखंडकं भवति एवं सर्वज्यार्धानानां चतुर्ष्वपिप्रदेशेषु षण्णवतिर्ज्याखंडकानि भवंति। क्रमोत्क्रमेण यथा प्रथमं ज्यार्धमनुययलाः २१४ द्वितीयं च मुनियमवेदाः ४२७ अनयोरंतरं २१३ एतज्ज्याखंडकमेवं यावत्सर्वत्रां ज्याखण्डकं सप्त व्यस्तानां तावदथवेषुरूत्क्रमज्या तान्येव ज्याखंड़ानि व्यस्तानि यिपरीतानि। जीवातः प्रभृति यच्चतुर्विंशत्या ज्यायाः सम्बंधिज्याखंडं तदुक्तमज्याकरणे प्रथमं भवत्येवं त्रयोविंश द्वितीयमित्यादि तावद्यावत्प्रथममंयं भवति। अथवा क्रमेण प्रथमज्यामापः शरस एवं प्रथमज्यार्धमुक्तमज्याकरणे द्वितीया द्वितीयं तृतीयास्तृतीययित्यादि तावद्व्या सार्धं धनुस्ताभ्यां तस्या क्रमज्याया उक्तमज्यायाश्च चापं तुल्यमेव। यत एवमुत्तर दिग्भागा दक्षिणदिग्भागं यावदष्टाचत्वार्रिशज्ज्याः' तदर्धानि ज्यार्धानितेषां मंतराणि ज्याखंडकानि क्रमणैव योज्यम्। एवं भूमौ दृग्गोले च अपमण्डलेः तु मेषतुलादौ क्रमेण ज्या कर्कटमकरादावुत्क्रमेण। एव ज्यास्वरूपं प्रदर्श्याधुना अष्टादशषोडश ज्यार्धानामुत्पत्तिं प्रदर्शयन्नाह—

एकद्वित्रिगुणाया व्यासार्धकृतेः पृथक् चतुर्थेभ्यः।
मूलान्यष्टद्वादश षोडशखंडान्यतोऽन्यानि ॥१९॥

वास०—एकगुणाया व्यासार्धकृतेश्चतुर्भागान्मूलं···अष्टक्रमज्याखंडं भवति, द्विगुणायाः व्यासार्धकृतेश्च······मूलं···द्वादशज्याखंडकं भवति। त्रिगुणायाश्च अनेनैव विधिना षोडशं ज्यार्धं भवति। अत्रेयं वासना अष्टमी जीवराशिद्वयस्य भवति सा च व्यासार्धतुल्या, यतो वृत्तक्षेत्रमध्ये यावत्षट्समत्राश्च क्षेत्राण्याख्यंते, तावद्राशिद्वये व्यासार्धतुल्या ज्या भवति सर्वमेतद्यथा लिखिते वृत्तक्षेत्रे प्रदर्श्य वक्ष्यति च ज्यार्धानि वृत्तपरिधेः षष्ठचतुर्थत्रिभागानामिति। उक्तं च परिधेः षट्भागज्याविष्कंभार्धेन सा तुल्येति। तदत्र यैव व्यासार्धकृतिः, सैवाष्टम्या जीवायाः कृतिः ज्यार्धानयने च कृतेश्चतुर्भागमूलं गृह्यत इत्युपपन्नम्। यतः समचतुरश्रो वर्गः, उक्तं च वर्गः समचतुरश्रः फलं च सदृशद्वयस्य संवर्ग इति अथवाष्टमे समुत्पन्ने षोडशं ज्यार्धकोटिः, यतस्तदवलंबाकर्णस्थित व्यासार्ध तुल्ये भुजे भूमेश्च स्वाबाधावर्गोनाद्भुजवर्गान्मूलमवलंब इत्यनेन तत्प्रमाण ज्ञान व्यासार्धकर्णः कृतेः कोटिकृतिं विशोध्य मूलं भुजः अष्टमं ज्यार्धः यः स तत्र क्षेत्रमयनचतुरश्रं भवति द्वादशी च जीवा राशित्रयस्य भवति। सा च परिधि चतुर्भागज्यातया समचतुरश्रं क्षेत्रमुत्पद्यते। तत्र च व्यासतुल्यः कर्णाद्वादशी जीवा तुल्ये कोटिभुजे तयोश्च वर्गयोगः व्यासवर्ग समः कर्णयोगः, उक्तञ्च। यश्चैव भुजावर्गयुतः कोटिवर्गश्च कर्णवर्गः स इति कर्णवर्गात्कोटिवर्गमपास्य व्यासवर्गस्य व्यासवर्गस्यार्धमवशिष्यते। व्यासार्धकृतिश्च द्विगुणा तावतैव भुजवर्गोऽपि तावानेव द्वादशी जीवावर्गश्च ज्यार्धानयने ज्यावर्गचतुर्भागान्मूलं गृह्यत इत्युपपन्नम्। षोडश्या अपि जीवाया भुजरूपाया व्यासः कर्णः अष्टमी जीवा कोटिरेवमेतदायतचतुरश्रं क्षेत्रमष्टमी जीवा कोटिव्यासार्ध तुल्यातस्य एव वर्गव्यासवर्गादपास्य त्रिगुणव्यासार्धकृतेरवशिष्यते। पादोनः कर्णवर्गः षोडशी जीवनवर्गश्च म एवेत्यतश्चतुर्भाग मूलं षोडशं ज्यार्धं भवत्येवं पूर्वलिखितः वृत्तक्षेत्रे ज्यार्धं रेखाभिः सार्धं प्रदर्शयेत्। अतोऽन्यानि अत उक्तात्प्राकारादन्यानि शेषाणि ज्याखंडानि भुजकोटिकर्णकल्पनया प्रदर्शयितव्यानि। कथमिति चेत्प्रतिपादनायार्यात्रयमाह—

तुल्यक्रमोत्क्रमसमज्याखंडकवर्गयुतेश्चतुर्भागम् ।
प्रोह्यानष्टं व्यासार्धवर्गतस्तत्पदे प्रथमम् ॥२०॥
तद्दलखंडानि तदूनजिनसमानि द्वितीयमुत्पत्तौ ।
कृतयमलैक दिगीशेषु सप्तरसगुणनवादीनाम् ॥२१॥
एवं जीवाखंडान्याल्पानि बहूनि वाद्यखंडानि ।
ज्यार्धानि वृत्तपरिधेः षष्ठचतुर्थं विभागानाम ॥२२॥

वास०—तुल्यस्य धनुषः क्रमोत्क्रमाभ्यां ये समज्याखंडके द्वितीयचतुर्थादिके। तयोः खंडकयो वर्गात्तुल्यक्रमोत्क्रमज्याखंडकवर्गौ तयोर्वर्गयोर्युतिः तस्यायुतेश्च-

तुर्भागः, तं प्रोह्यानष्टं कुत इत्याह साधं वर्गतः तत्पदे ताभ्यां पदे तत्पदे । प्रथममेकं पदमनष्टाद्राशेः अनष्टोनाद् व्यासार्धवर्गद्वितीयं पदं प्रथमं तद्दलखंडानि अनष्टं पदं यत्तद्यावत्संख्यायाः ज्यायाः क्रमोत्क्रमज्ञातं तदर्धं संख्यं ज्यार्धं भवतीत्यर्थः । यदि द्वादशेन क्रमज्याखंडेन कर्मकृततत्प्रथमं भवत्येवं सर्वत्र समखंडककर्मनियोज्यम् । अत एव तत्र खंडानीति बहुवचननिर्देशः कृतः । द्वितीयं यत्पदं तदूनजिनसमानि प्रथमपदाद्यत्खंडकमुत्पन्नं तत्संख्या चतुर्विंशतेरपास्या शेषसंख्या समखंडकस्योत्पत्तिर्भवतीत्यर्थः । एवं प्रथमेनोत्पन्नेन द्वितीयोत्पत्तिः सर्वत्र ज्ञेया बहुवचनात्तदूनजिनसमानीति द्वितीयं पदं योज्यम् । उत्पत्तौ कृतयमलैकदिगीशेषु सप्तस्य गुणवादीनाम् । अयमर्थः स्पष्टतरो विवृते तद्यथाक्रमेणाष्टमज्याखंडकोटिः रसश्च स एवाष्टम्याजीवायास्ततो भुजकोटिवर्गयोगेन तु भागमूलं कर्णार्धं भवति । तदेव पंचदशानां भागानां ज्याखंडको भवति । चतुर्थज्यार्धमित्यर्थः पुनरपि तद्भुजकोटि वर्ग योग चतुर्भागं व्यासार्धकृतेः संशोध्य शेष पदं तदूनजिनसमं विंशतितमं ज्याखंडकं भवति । यतश्चतुर्थज्याखंडकं भुजाविंशतितमं कोटिः व्यासार्धकर्णस्तस्मादुपपन्नम् । एवं यथाष्टमे ज्ञाते चतुर्थ साधितं विंशं च । एवं चतुर्धा द्वितीयं द्वाविंशं च द्वितीयं प्रथमं त्रयोविंशं च । एवं विंशाद्दशमं चतुर्दशमं च एकादशं त्रयोदशं द्वाविंशत् । दशमात्पंचमं च एकोनविंशतितमं च चतुर्दशात्सप्तमं सप्तदशं च एवं चतुर्दशज्याखंडकान्यष्टमात् । तथा द्वादशात् एवमष्टादशं च अष्टादशान्नवमं पंचदशं च षष्टात्तृतीय मेवं विंशं च । एतानि षट्ज्याखंडानि द्वादशात् । एवं विंशतिपूर्वाणि अष्टम द्वादश षोडशानि व्यासार्धं चेत्येवं चतुर्विंशतिर्ज्या खंडकानि प्रदर्शितानि ततः उक्तम्, कृतयमलैक दिगीशेषु सदा गुणरस नवादीनाम् । कृताः यमलौ एकः १ दिक् १० ईशाः ११ इषवः ५ सप्त ७ गुणाः ३ रसाः ६ नव ९ तथा चतुर्थे उत्पन्ने द्वितीयं द्वितीये च प्रथमं चतुर्थे विंशतितम् । ततश्च दशमं द्वितीये द्वाविंशं ततश्चैकादशमित्यादि प्रदर्शितमाचार्येणास्माभिरपि विस्तरतो व्याख्यातम् । एवं जीवखंडानि अनेन प्रकारेण ज्याखंडान्युत्पाद्यानि स्वल्पानि च बहूनि वा । अथवाऽ नया वृत्तक्षेत्र वासनया चतुर्विंशति खंडान्युपपाद्यानि स्वल्पानि बहूनि वा । अथ यानि च खण्डानि यतः अष्टम द्वादशानि यान्युक्तानि, तानि ज्यार्धानि वृत्तेः परिधेः षड्भागस्य ज्यार्धमष्टमखण्डकम् । चतुर्भागस्य द्वादशं ज्यार्धं त्रिभागस्य षोडशं ज्यार्धं एतच्चास्माभिः पूर्वमेव प्रदर्शितम् । उदा० व्यासार्धकृतिः खशून्यनवयमनवरसांवरशशिनः १०६९२९०० एक द्वित्रिगुणाः १०६९२९००।२१३८५८००।३२०७८७०० पृथक् क्रमेण चतुर्भागा मूलानि ।१६।३५।२३१९।२८३२। एतान्यष्टद्वादशषोडशखण्डानि । शेषाणां तद्यथाष्टमम् । ज्याखण्डक्रमेण उत्क्रमेण । ४३८। अनयोर्वर्गयोग चतुर्भागोनष्टसंज्ञः ७१६२६७ अस्मान्······मूलं ८४६। इदं चतुर्थं ज्याखण्डमनष्टं व्यासार्धवर्गादपास्य शेषं ९९५६६३३ अस्य मूलं ३१५९ इदं विंशं ज्याखण्डमेवं

सर्वत्र। इदानी मष्टाद्वादश षोडखण्डैः सिद्धैः शेषाणामानयनं प्रकारां तरेण प्रवर्शन्नार्यामाह—

उत्क्रमसम खंडगुणाद्व्यासादथवा चतुर्थभागाद्यत्।
कृत्वोक्तखण्डकानि ज्यार्धानयनं लघ्वस्मात् ॥२३॥

वास०—उत्क्रमेण समसंख्यं खंडं तदुत्क्रमसमखंडम् ॥ तेन व्याप्तं खवेदशररस संख्यं सगुणज्या ततस्तस्माच्चतुर्भागो ग्राह्यः। स च तुल्य क्रमोत्क्रम समज्या खंडकवर्गयुतिचतुर्भागेन तुल्यो भवतीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति। अष्टमस्य क्रमज्याखण्डस्यभूताग्निरसशशांक तुल्यस्योत्क्रमेण समसंख्यमष्टममेव खंड वसुगुणवेदसख्यम्। ४३८ अनेनायं व्यासः ६५४० गुणितो यातः २८६४५२० अस्य चतुर्भागा ७१६१३० एतदनष्टं व्यासार्धवर्गादपास्य शेषं खमुनिनगरसागनवनंदा ९९७६७७० प्रथमान्मूलं चतुर्थज्याखंडं ८४६ द्वितीयात्पदं विंशं ज्याखंडं ३१५९ एतच्च कृत्वाष्ट द्वादशषोडशा खंडानि कर्मकर्तव्यं यतश्चतुर्भागाद्यं यत्कर्म तत्प्रागुक्तेन समं कार्ययित्युक्तम् अथवानेन प्रकारेण ज्यार्धानयनम्। एवं द्वादश षोडशयोरपि ज्ञेयं ज्यार्धानयनं न लघ्वस्मादिति बहुभिरप्याचार्यैं ज्यार्धानयनानि बहुप्रकाराण्युक्तानि किंत्वतोऽन्यल्लघुतरं नास्तीत्यर्थः। अत्रेयं वासना उत्क्रम खंडेन यदा व्यास ऊनीकृतः तेनैव निहन्यते। तदोत्क्रमखंडसमस्या क्रमज्यावोत्क्रम खंडसमस्य क्रमज्या खंडस्य च वर्गो भवति खंडस्य तत्रच वर्गो भवति। ···तत्र चो···मखंडं वर्गा योज्यचतु···ग्रहीतुंयु...अतओ···ण सकल···व्यासः सं···णितः उत्क्रम···खंडने···वर्ग युति स्तयो भवति क्रमोत्क्रमखंडयोः यस्माद्येनैवोनस्तेनैव यदा व्यास संगुण्यते तदा गुणकारो न। व्यासार्धगत्या हीनो व्यासार्धवर्गो भबति, गुणकारकृतिश्चात्रोत्क्रमखण्डककृतिः सा च पुनरपि योज्या भविष्यतीति कृत्वा क्रमज्यार्धकृतेः सकल एव व्यास। संगुणित उत्क्रमखण्डेन ततश्चतुर्भागेन पूर्ववत्सर्वमुपपन्नम्। उत्क्रमखण्डेन गुणो व्यासश्च क्रमज्याखण्डस्य वर्गः कथं भवतीति चेत्तत्रायं परिहारः राशेरिष्टयुतोनाद्वध इति वर्ग प्रकारः। सर्वमेतद्वृत्ते यथा लिखिते प्रदर्शयेदिति। ज्याप्रकरणम् ॥

इदानीं सर्वग्रहाणां मन्दशीघ्रफलसंस्कारेण यत्स्पष्टीकरणं स्फुटगतौ प्रदर्शितम्। तत्रकारणमार्याः प्रदर्शन्नाह—

कक्षामंडलमध्यं भूमध्ये मध्यमः स्वकक्षायाम्।
अनुलोमं मंदोच्चात्प्रतिलोमं भ्रमतिशीघ्रोच्चात् ॥२८॥
नीचोच्चवृत्तमध्यं मध्ये तद्भ्रमति मध्यमः स्वोच्चात्।
तत्परिधौ प्रतिलोमं मंदोच्चाद्भ्रमति शीघ्रोच्चात् ॥२५॥
अनुलोमं मध्यसमं भूस्थः पश्यति यतो न कक्षायाम्।
स्पष्टं तन्मध्यान्तरमृणं धनं वा ततो मध्ये ॥२६॥

वास०--कक्षाया मंडलं कक्षामंडलमथवा कक्षैव मंडलं कक्षामंडलं तस्य मध्यः मन्त्र। तद्भूमध्ये स्वकक्षया यदंतरोक्त कक्षामंडलं तत्र मध्यमो भवति। अनुलोमं मंदोच्चार मंदोच्चभागावधेरनुलोमे न भ्रमति मंदोच्चं जित्वाग्रतौ यातीत्यर्थः, प्रतिलोम भ्रमति शीघ्रोच्चात्। शीघ्रोच्चभागावधेः तु पुनः प्रतिलोमेन भ्रमति। शीघ्रात्पश्चादवलंबते इत्यर्थः। नीचोच्चवृत्तमध्यं मध्ये तद्भ्रमति नीचोच्चं च नीचोच्चेति यत्र वृत्ते गृहस्योत्पद्येते। तन्नीचोच्चवृत्त कक्षाम डलं प्रति म डलयोरन्तरतुल्येन व्यासार्धेन यद्वृत्तमुत्पद्यते तदित्यर्थः। तच्चैकं म दनीचोच्चवृत्त द्वितीयं शीघ्रनीचोच्चवृत्तं तयोर्मध्यं नीचोच्चवृत्तमध्यं तद्भ्रमति मध्ये यदुक्त कक्षाम डलोम मध्यम इति। प्रागार्यायां नीचोच्चवृत्तमध्यं मध्ये स्थितं तद्भ्रमति न तु पुनः ग्रह इत्यर्थः। ग्रहस्तु पुनः स्वोच्चतत्परिधौ प्रतिलोम म दोच्चात्स्वोच्चावधेस्तस्यैव परिधौ म दवृत्तस्य प्रतिलोम विपरीतं भ्रमति स्वप्रतिम डले च प्रदेशान्म दोच्च नींचवृत्त यावद्ग्रहाभिमुखं नीयते। कक्षाम डले यावन्मध्यं कृत्वा तावन्म दनीचोच्चवृत्तपरिधिस्थितोऽवलंबायमानः प्रतिलोम दृश्यते भ्रमति शीघ्रोच्चात्तु पुनरनुलोम यदुक्त कक्षाम डले प्रतिलोम शीघ्रोच्चतच्छीघ्रनीचोच्चवृत्तमध्यं न ग्रहो ग्रहस्तत्परिधौ भ्रमत्यनुलोमं। स्वप्रतिमंडलोच्चप्रदेशा कक्षा मंडले मध्यं कृत्वा शीघ्रोच्चनीचवृत्त ग्रहाभिमुखं प्रतिलोम यावदानीयते तावत्तत्परिधिस्थितो ग्रहोऽनुलोमो दृश्यते। यत एवं मध्यमे संग्रहं भूस्थो द्रष्टा स्वकक्षायां स्पष्टं न पश्यति, ततो मध्ये ग्रहे धनमृणं वा क्रियते। यस्मात्परमार्थिको ग्रहः कक्षा म डले न भ्रमतीति। अयमर्थोतिप्रपंचेन मया व्याख्यायते। तत्र तावत्समायामवनौ व्यासार्धं कल्पितेन कर्कटकेन वृत्तमालिखेत्ततः कक्षाम डलं तत्केन्द्रं च भूगोलमध्यं तस्यं म डलस्यार्धावगाहिन्यौ पूर्वापर दक्षिणोत्तररेखे कुर्यादेवं च कृते चत्वारि पदानि भवन्ति। तत एकैकस्मिन्। पदे राशित्रयं (राशित्रयं) प्रकल्पचिह्नानि कुर्यादेकैकस्मिन्। राशौ त्रिंशद् भागकल्पनां कृत्वा सर्वत्र चिह्नानि कारयेत्। एवं पदराशिभागकल्पते कक्षाम डले पूर्वतः केन्द्रान्मेषादयो राशयस्ततो मेषादेरारभ्य यत्र यत्र राशौ भागे लिप्तायां च स्वम दोच्चं वर्तते। तत्र चिह्न कृत्वा तस्मात् चिह्नाद्भूमध्यप्रापिसूत्रं नीत्वा रेखां कुर्यात्। यतो भूमध्यात्तस्यामेव रेखायां प्रतीपं स्वमंद परमफलज्यया कक्षाव्यासार्धपरिणतया मितं सूत्रं निदध्यात्। यतस्तावत्स्वम दोच्चनीचवृत्तव्यासार्धं यत्र सूत्रं समाप्तं तत्र केन्द्रं विरचय्य कक्षाम डल तुल्यव्यासार्धेन वृत्तमालिखेत्। तन्म दप्रतिम डलं यत आचार्येणैवोक्तम्। स्फुटगत्युत्तरे कक्षाम डलतुल्यं प्रतिम डलमध्यमवनिमध्यात्खे तत्स्वोच्चनीचवृत्तव्यासार्धेऽभिमुखमुच्चस्य। अभिमुखमुच्चस्येत्यस्यार्थः। अत एव म द प्रतिम डल केन्द्रात्पूर्ववदुत्तर रेखानुसारेण व्यासार्धतुल्यं सूत्रं नीत्वा प्रतिम डलपरिधिं प्रापयेत्तत्र प्रदेशे प्रतिम डलस्य परमोच्चता तत्रोच्चव्यपदेशः अनया रेखया कक्षाम डले यः प्रदेशः स्पष्टः पूर्वमेव म दोच्च-

चिह्नतस्तत्र प्रदेशे मंदनीचोच्च चिह्नवृत्तमध्यं तत्प्रतिमंडल चिह्नांतर व्यासार्धेन-वंशशलाकया तद्वृत्तं निर्माप्य तथा निदध्याद्यथा कक्षामंडले तद्वृत्तमध्यं भवति तत्सुदीर्घया प्रतिमंडलोच्चभूमध्यप्रापिण्या वंशशलाकया युक्तं कल्पयेत्। एवं मन्द प्रतिमंडलनीचोच्चवृत्तयोः संस्थानं ततो मेषादेरारभ्य कक्षामंडले यत्र देशे स्वशीघ्रं वर्तते राशिभागादिके तत्र चिह्नं कृत्वा तस्माच्चिह्नाद्भूमध्यप्रापि सूत्रं प्रसार्य रेखां कृत्वा ततो भूमध्यात्तथैव रेखया पुनः। स्वशीघ्र परमफलज्या-तुल्यं तद्वृत्तपरिणतं सूत्रं प्रतीपं निःसार्याग्रे चिह्नं कुर्यात्। तच्छीघ्र प्रतिमंडल-मध्यं तन्मध्यं कृत्वा कक्षामंडलव्यासार्धेन वृत्तमालिखेत् तच्छीतप्रतिमंडलं, ततः शीघ्रप्रतिमंडलमध्यात्पूर्वं वदत्र रेखानुसारेण व्यासार्धं तुल्यं सूत्रं प्रतिमंडलपरिधि-प्रापयेत्। तत्र शीघ्रप्रतिमंडलस्य परमोच्चता तत्कक्षामंडलांतरं शीघ्र परम फलज्या तत्तुल्येन व्यासार्धे वंशशलाकया शीघ्रनीचोच्चवृत्तं निर्मापयेत् सुदीर्घज्यावंशं-शलाकया भूमध्यप्रतिमंडलोच्चप्रापिण्या युक्तं कल्पयेत्। ततः कक्षामंडले पूर्वमेव यत्र शीघ्रोच्चचिह्नं कृतमासीत्तत्र तस्य मध्यं वृत्तपंचकमपि षष्टिशतत्रयांकितं च कुर्यात्। कक्षामंडलमध्यं प्रतिमंडलशीघ्रप्रतिमंडलानि वंशशलाकाभिः छेदकेन वा कल्पानि नीचोच्चवृत्ते तु पुनः नरवशं वंशशलाकामये दीर्घ शलाकया युक्ते च कार्ये यतस्तयोश्चलनात्फलव्यक्तिरेवं स्थिते फलोपपत्तिदर्शनार्थमार्याद्वयमाह—

कोटिफलं व्यासार्धात्पदयोराद्यं तयोर्भवत्यु परि।
द्वितृयीयोर्यतोऽधस्तद्युक्तोनं ततः कोटिः ॥२७॥
कर्णस्तद्भुज फलकृतिसंयोगपदं तदुद्धृता त्रिज्या।
भुजफलगुणिताप्तधनुर्गुणितेनैवं फलं शीघ्रे ॥२८॥

वास०—कोटि फलशब्देन नीचोच्चवृत्तकोटिरुच्यते। त्रैराशिकसिद्धा तद्गुणिते ज्ये भांशैर्हृतेत्युक्तां यत्कोटिफलं व्यासार्धात् कक्षामण्डलत्पदयोराद्यं तयो र्भवत्युपरिवतः प्रथमचतुर्थपदे कक्षामण्डल परिस्थिते द्वितृतीये च पदे कक्षामंड-लांतः प्रविष्टतो व्यासार्धादधिकाकोटिराद्यं तयोर्नीचो वृत्तकोट्या द्वितृतीययो व्यासार्धान्न्यूना कोटिः तयैव सा प्रतिमण्डलकर्णस्य कोटिः भवतीत्यर्थः। तद्युक्तोनं ततो व्यासार्द्धं कोटिः मन्दशीघ्रकर्मणोरपि भवतीति यावत्प्रतिमण्डलकर्णस्तु पुनस्तद्भुजफलं कृतिसंयोगपदंतदिति। स्फुटकोटेः परामर्षः तस्याः कृति भुजफल-शब्देन नीचोच्चवृत्तभुजज्योच्यते। तस्याश्च कृतिः तयोः संयोगपदं कर्णं भूमध्यपार-मार्थिक ग्रहयोरंतर तित्यर्थः तदुद्धृता त्रिज्या भुजफल गुणितेति। अत्र त्रैराशिक वासना यदि स्फुटकर्णस्यैक इति भुजो व्यासार्धस्य तावत्कक्षा मण्डलप्रदेशे ग्रह-फलज्या भवतींत्यर्थः। आप्तस्य धनुर्लब्धस्य चापं कार्यं तच्छीघ्रफलं भवति, गणितेनैवं फलं शीघ्रे, फलं केवलं वासनयाभिधीयते यावद्गणितेनैवोक्तमेवं मये त्यर्थः। ननु यैव शीघ्रं कर्मणि वासना, सैव मन्दकर्मणि तत्किमुच्यते। गणितेनैवं

फलं शीघ्रे इति मन्दकर्मण्यपि स्फुटकर्णेन फलानयनं युक्तं चात्राचार्येणोक्तमेतदाशंक्य परिहारार्थमार्यामाह—

त्रिज्याभक्तः कर्णः परिधिगुणो बाहुकोटि गुणकारः।
असकृन्मांदे तत्फलमाद्यसमं नात्र कर्णोऽस्मात् ॥२६॥

वास०—त्रिज्याभक्तः कोऽसौ कर्ण इति किं भूत इत्याह-परिधिगुणः किं भवति बाहुकोटि गुणकार- मन्दप्रतिमण्डलप्रदेशे स्फुटपरिधिर्भवतीत्यर्थः। असकृन्मांदे मन्दकर्मणि तत्फलमाद्यसमं मध्यपरिधिकृतफलतुल्यमत्र त्रैराशिकद्वये यदि व्यासार्धमंडलस्यार्धं मन्दपरिधिः स्फुटकर्ण मण्डलस्य कइति ततो लघुंस्फुटपरिधिः तेन फलमानीय। ततो द्वितीयं यदि स्फुटकर्णप्रदेशे एतावत्फलं कक्षामण्डलप्रदेशे कियदित्यत्र प्रथमत्रैराशिके व्यासार्धं भागहारो द्वितीये गुणकारः स्फुटकर्णोऽपि प्रथमे गुणकारो द्वितीये भागहारः एवं सर्वेष्वेव नष्टेषु मध्यमपरिधिरेव गुणकारो भुजकोटिज्ययोः स्थित इत्यस्मात्कारणान्मंदकर्मणि कर्णो मया न कृत इति। तद्यथोक्तवत्कक्षामंडलमंदप्रतिमण्डलशीघ्रप्रतिमण्डलानां विनाशं कृत्वा ततो नीचोच्चवृत्ते स्वे स्वे स्थाने कक्षामण्डले च विन्यस्य ग्रहस्फुटीकरणवासना प्रदर्श्य मेषादेरारभ्य यत्र राशौ भागे लिप्तायां ग्रहो वर्तते तत्र चिह्नं कार्यम्। ततो मंदोच्चप्रदेशान्मंदनीचोच्चवृत्तग्रहाभिमुखं नयेत्। तथा च नयेद्यथा तद्वृत्तमध्यं कक्षामण्डलपरिधिममुं च गत्वा ग्रहचिह्नित प्रदेशेति। तत्र स्थितस्य नीचोच्चवृत्तस्त तदुपरि केन्द्ररेखातस्यत्परिधिश्च पूर्वेणोच्चाद्यत्र संपातस्तत्र मन्दफलस्फुटोग्रहस्तत्र च तुल्या एव राशिभगणादयो भवंति। नीचोच्चवृत परिधिप्रतिमण्डलयोः प्रतिलोमानुलमोकृतो विशेषः तावदेव ग्रहोच्चांतरं प्रतिमण्डले केन्द्रं भवति। तत आद्ये पदे भुक्तस्य भुजज्याभोग्यस्य कोटिज्या यतः प्रतिमण्डलोच्चापेक्षया सर्वदैव दक्षिणोत्तरा भुजज्या। प्राच्यपराकोटिज्या भवति· छेद्यको द्वितीय च पदे च विपरीतं प्रथमवत्तृतीये द्वितोय चतुर्थे यतोर्धचक्राच्चक्राच्च शेषभागानां भुजज्या भवति द्वितीयचतुर्थयोरेवं प्रति मण्डलभुजाकोटिज्ये निष्पन्ने त्रैराशिकेन नीचोच्चवृत्तेन कियत्याविति पृथग्भुजकोटि फले भवतः इष्टवृत्त इत्यर्थः। एवं स्थिते कोटिफलयुता त्रिज्या पदयोरित्यादिना स्फुटकर्णः प्राप्तः। तेन च शीघ्रकर्मवत्फलानयने प्राप्ते भुजफलमेवाचार्येण ग्रहफलमभिहितं तद्दोष परिहारा ये मयाचार्येण प्रणीता यतः प्रतिमण्डलानुसारेण परिधिः तेन प्रतिमण्डलभुजज्यागुणायितं युज्यते स च परिधिरसकृत्स्फुटकर्ण त्रैराशिकेन परिणमति। तत्कृतं फलं च पुनस्त्रैराशिकेन व्यासार्धेन परिणमत्यतः कक्षामण्डल परिधिनैव यद्भुजफलचापं तदेव ग्रहमन्दफलं भवति। मन्दस्फुटार्ध एव चन्द्रार्कौ पारमार्थिकौ दृक्समौ भवतः, भौमादीनां पुनर्मंदस्फुटग्रहशब्देन नीचोच्चवृत्तमध्यमुच्यते। अन्यथा स्थानद्वये ग्रहसम्भव एव तुल्य-

कालं स्यात् । एवं मन्दकर्मणि सर्वग्रहाणां ततः स्वस्थानाच्छीघ्रनीचोच्चवृत्तं प्रतिलोमकक्षामण्डलपरिधिमम्ुचतुर्मध्यं यथा गच्छति तथानीय कक्षामण्डले मन्दफलसिद्धे प्रदेशे तन्मध्यं निदध्यात् । एवं स्थिते शीघ्रनीचोच्चवृत्तं प्रदर्शयेत् । तथा स्थितस्य शीघ्रनीचोच्चवृत्तस्य यत्र परिमण्डलेन सह संतापः स्वोच्च प्रदेशादपरतो नीचोच्चवृत्ताच्च पूर्वतः तत्र ग्रहः पारमार्थिकः यतः प्रतिमण्डले परिधौ मध्यम भुक्तस्फुट ग्रहो भ्रमतीति ततः प्रतिमण्डलभुजकोटि ज्ये कृत्वा ग्रहो भ्रमति, स्फुटगत्युत्तरे आचार्येणोक्तं प्रतिमण्डलस्य त्रैराशिकेन नीचोच्चवृत्ते परिणमय्य । ततः कोटिफलयुता त्रिज्येति वासनया स्फुटकर्णमानीयोक्तवद्ग्रहफलं कार्यम् । कक्षामण्डले एवं कृते दृक्तमो ग्रहो भवति । क्षयधनोपपत्तेश्च खेर्म दोच्चनीचोच्चवृत्तशलाकया कक्षामण्डले यः प्रदेश स्पष्टस्तत्र मध्यमो ग्रहः तद्वृत्तेन च प्रतिमण्डलपरिधिः यत्र स्पष्टः तत्र पारमार्थिको रविः । यतो मन्दप्रतिमण्डलोच्चरेखया यत्र प्रदेशे कक्षामण्डलं स्पष्टं तस्मादारभ्य नीचोच्चवृत्त शलाका स्पष्टदेशं यावद्यावंतो भागादयस्तावंत एव प्रतिमण्डलोच्चप्रदेशात्तत्परिधि नीचोच्चोवृत्तपरिधि संपातं यावत् । अतः स्फुटग्रहाद्यत् सूत्रं भूमध्यात् प्रति प्रसार्यं ते । तन्मध्यग्रहात्प्रथमे पदे पश्चिमेन याति, तत्रस्थं रवीन्द्वोः भूस्थो द्रष्टा पश्यत्यतः प्रथमे प्रतिमण्डले केन्द्रपदं तदंतरं विशोध्य । यतस्तत्रोपरि प्रतिमण्डल कक्षामण्डलात्तृतीये तु विपरीतं कक्षामण्डल स्योपरि स्थितत्वात् । द्वितीये च वासना । प्रथमवदर्धचक्रात् विशोध्य यतो भुजकोटिज्ये चतुर्थं पदे तृतीयवच्चक्रार्धं।शेषस्य यतो भुजकोटिज्ये, एवं चन्द्रस्यापि यथोपदृष्टैर्वृत्तैः सर्वं प्रदर्शयेत् । भौमादीनां पुनर्मंदकर्मणा यः प्रदेशः सिद्धो भवति । कक्षामण्डले तत्रशीघ्र नीचोच्चवृत्तमध्यं कृत्वा शेषं प्रदर्शयेत् । तत्र प्रथमे प्रतिमण्डल पदे धनं भवति, प्रतिमण्डलोच्चत्वं यतः पुरतस्तिष्ठति, अतः शेष पदेष्वपि वैपरीत्यं योज्यम् । मन्दवासना तु मन्दकर्मणि युक्ता केवलमुच्यते । एवं तत्त्वतो गणिते तु कक्षामण्डलाश्रयमेव केन्द्रः, तत्र च राशित्रये परमफलमागच्छति, युक्ता च नोपपद्यते, शीघ्रफलतुल्यवासनत्वात् । स्वल्पांतरत्वात्तु तथा न कृतमित्युक्तं शीघ्रफले तु कक्षामण्डल पदं व्यवस्थापयित ऋणधन रूपं प्रतिमण्डल पदं प्राप्तं यावत्स्वतः एव वर्धंते ताभ्यांतरत्वात् । प्रतिमण्डलभुजकोटिज्ये दर्शिते यथा न्यस्तवृत्तेषु सर्वं दर्शमान स्वयमेवावगम्यते । मन्दकर्मणि प्रतिलोम मन्दनीचोच्चवृत्तपरिधिकेन्द्र भगणभोगेन ग्रहः पूरयति शीघ्र कर्माणि चानुलोमे न शीघ्रनीचोच्चवृत्तपरिधिः केन्द्रभगणभोगेन ग्रहः पूरियति । शीघ्रकर्माणि वानुलोमेन शीघ्रचोच्चवृत्तपरिधिकेन्द्रभगण भोगेन ग्रहः पूरयत्यतः सर्वं एवोदयास्तमयचक्रात्तु चक्रादयः प्रदर्श्याः । यदा रविसमसूत्रस्थो ग्रहः स्थितः तदापरमास्तमयप्रदेशात्प्रवेशनिर्गमौ स्वकालांशैर्योज्यौ । अर्धचक्रांतरितश्च परमे वक्रे ग्रहो यतः शीघ्रनीचोच्चवृत्तपरिधिवाधोवती भवत्यानुलोम्येन । तत्र प्राग्गति-

रिव लक्ष्यते। प्राग्गतिवासनापि तत्र घटत एव यत स्वगतितुल्येनाध्वना ग्रहः प्राग्गच्छन्नुपलभ्यते, ततोऽपि स्वगतेर्यद्येकदैवसिकमृणफल प्रतिमण्डलग्रहभूमध्य-प्राप्ति सूत्रवशात्कक्षा मण्डले महदुपलभ्यते ततः स्वभुक्तेः प्रतिमण्डलकक्षा मण्डलादभेदस्य यदांतरं सा तु वक्रभुक्ति शीघ्र- नीचोच्चवृत्तेः प्रदर्श्यम्। सर्वमन्द-नीचोच्चवृत्तेः पुनः प्रतिलोमो ग्रहो भ्रमति। तत्राधोवंत्यपि प्राग्गतिरुपलभ्यते ततो रविचन्द्रयोर्वक्राभाव इत्येवं स्वधिया नीचोच्चवृत्तयोर्धनर्णादिका वासना योज्या।

तत्रस्थग्रहभूमध्यप्राप्तिसूत्रवश्यात्तत्र च यदुक्तं। त्रिज्याभक्तः कर्ण इत्यादि प्रतिमण्डल कक्षामण्डलयोर्भुजफलस्य स्वल्पांतर प्रतिपादनपरं मन्द कर्माणि अन्यथा पुनः पुनः शीघ्र कर्मण्येतदेत्र स्यात्। न चैवं तत्र क्रियते, यदि क्रियते तद्वहुभागांतरं भवत्यतः स्वल्पांतर तत्कर्णो मन्द कर्मणि न कार्यं इति। न तु चैक एव ग्रहः क एते मन्दोच्चशीघ्रोच्च पाताः। यदि परमाधिका तत्कथं ग्रहवन्नोपभ्यते, असत्यञ्चेत्काभुक्तिकल्पना तेषामित्यत्र परिहारमाह—

प्रतिपादनार्थमुच्चं प्रकल्पितं ग्रहगतेस्तथा पातः।
भुक्तेरूनाधिकता मानस्यं भवति कर्णवशात् ॥३०॥

वास०—प्रतिपादनार्थमुच्चं प्रकल्पितं ग्रहगतेः शिष्याणां पारमार्थिग्रहगत्य-वगतये। नीचोच्चादिका कल्पना यतस्तद्वशात्पूर्वापरगतिर्द्रष्टुं सिद्धा भवति। तथा पात इति प्रतिपादनार्थमेव पातः प्रकल्पतो यद्वशाद्दक्षिणोत्तरा गतिः सिद्धा भवत्यतः परमार्थतया ग्रहण एव केवल इत्यर्थः। कथं चेत्कल्पत इत्याह—भुक्ते-रूनाधिकतामानस्य च भवति कर्णवशात्। अयमभिप्रायोभीष्टदिनेऽभीष्टकाले यद्यादियंत्रेण ग्रहं विद्यात्, द्वितीयदिने तावत्येव काले विद्यात्। तत्रांतरमाक-लय्य तत्परिधिना स्फुटभुक्ति कल्पयेत्। मध्यभुक्तिश्च स्वभगणभोगार्कसावन-दिनैर्भपरिधिं खखषट्क न संख्यं विभज्य भवति ततो यदि स्वमध्यगते ऋणात्त-दैव सिकी भुक्तिः तदा कक्षामंडलादुपरिग्रहः अधिका चेत्तदधोरविचंद्रयोः कर्णश्च ग्रहभूमध्यांतरं यतस्तद्वशादवगम्यते। एवं परमाल्पतां भुक्तेः परमधिवतां व लक्षयेत्। भगणभोगं यावद्गणभोगगत्यैव भवत्यतोवगम्यते। यद्यपि भुक्ति-भेदात्कक्षामंडले न ग्रहः तथापि तत्तुल्ये मंडले ग्रहो भवति। भगणभोगयोः तुल्यत्वात्। मंद कर्णश्चात्यल्पभुक्तावति महान्। अतिवृहद्भुक्तावत्यल्पः परमंद-कर्णं व्यासार्धांतरं परम फलतश्च मंदनीचोच्चवृत्त व्यासार्धं तद्वशादर्धांतरे फल-भेदस्तत उच्चकल्पना युज्यते रविचन्द्रयोः कुजादीनां पुनः स्फुटमध्यभुक्तोरंतरं मंदशीघ्रकर्णवशाद्भिद्यते तत्र मंदकर्णेन रविवदंतरकल्पना सावाध्या शीघ्र-कर्णवशान्महत्यंतरकल्पना सा च वैपरीत्येन योज्या अतस्तत्र शीघ्रोच्च मंद-स्फुटग्रहयोरंतरं साध्यं कक्षामंडले। तच्च महति कर्णे स्वल्पं भवति। अल्पे च

महदतो मध्यभुक्तेरथाधिकं तंत्रांतरं भवति। यस्माद्वक्रादय उपलभ्यंते, इत्यादि स्वधिया योज्यम् तत्कलोत्पत्तिवशाच्चकेंद्र भुक्तिरुपलभ्यते। तां ग्रहभुक्तौ संयोज्य शीघ्रोच्चभुक्तिर्भवति। मंदकेंद्र भुक्तिग्रहभुक्तयोरंतरं मंदोच्चभुक्तिर्न च शीघ्र-मंदोच्चनीचे वस्तुभूत इत्यर्थः। एवं परमविक्षेपाद्यंते दक्षिणोत्तरयोर्विमंडल-सिद्धिः। ततः परम विक्षेपस्यान्यात्रान्यद्दृष्टत्वीत्यातगते कल्पना यथा कर्णवशा-द्भुक्ति कल्पना, एव मानवशादपि, तुल्यैवमत्राप्युच्चादि कल्पना युक्तावसाना तुल्यत्वात्। मंदशीघ्रकर्णयोरपि न केवल मुच्चादयः कल्पिता यावद्भूपंजरभ्रमणं कल्पितमेव नः प्रतिभाति, ग्रहस्य युगपद्गतिद्वयासंभवात्। यदा तु पुनर्भुव आवर्तनं कल्पते। तदा भपंजरे स्थिरेपि प्रतिदैवसिकावुदयास्तमयौ संभवेतां ग्रहाश्चापमंडलविमंडलगतयः प्रणगतय एवं विमंडलवशाद्दक्षिणोत्तरापि गतिः सिद्धा भवति, भूयश्चावर्त्तावर्त्यहोरात्रेण क्षितिजे रविणा सह युज्यते। ग्रहश्चाग्रतोऽग्रतो याति वक्रादिवासना तुल्यैव, आचार्यार्यभट्टेनापि भू भ्रमण-मभ्युपगतम्। यतो दशगीतिकासूक्तम्। प्राणेन कलां भूरिति, तथार्याष्टशते, अनु-लोमगतिर्नैस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्। अचलानि भानि तद्वत्समपश्चिमगानि लंकायामिति। लोकभयाद्भास्करादिभिरन्यथा मत्वा इयमार्या व्याख्याता। न चात्र तत्त्वमबगन्तुं शक्यतेऽस्मदादिभिः किंतु स्वाभिप्रायो लिंगनाकृतेत्येवं स्फुटगतिबसने द्विशतः प्रदिशाता तत्रैव प्रत्यार्यासूत्रं प्रदर्शयिष्याम इति स्फुट-गतिवासना।

इदानीं रविचन्द्रग्रहणयोर्वासना प्रदर्श्यंते। तत्र मानयने योजनकर्णा-भ्यां प्रयोजनं तत्प्रसंगेन सर्वग्रहाणां योजनकर्णायिनमाह—

कक्षाव्यासार्धगुणा मंडला लिप्ता विभाजिता कर्णः।

वास०—कक्षेति जात्यपेक्षयैकवचनं व्यासार्धं ग्रहणेन भगणकला व्यासार्धं गृह्यते नखमुनिरदायत उक्तं योजनकर्णप्रमाणार्थं भगणकलाकर्णः तेनेष्टग्रह-कक्षाव्यासार्धेन गुणमण्डललिप्ता गणकलाः ताभिर्विभाजिता किं भवति कर्णः भूमध्यं तत्कक्षामण्डलांतरे योजनात्मकं व्यासार्धं भवतीत्यर्थः। अत्र त्रैराशिकं यदि भगणकला तुल्ये परिणाहे रसचन्द्रकृततुल्यं व्यासार्धं तदिष्टग्रह कक्षातुल्ये किं भविष्यतीति फलं योजनकर्णम्। सर्वेषां कक्षाकर्णनियनम्। मया सिद्धा एव योजनकर्णलिखांते कर्णद्वयेन तद्यथा अर्केषु खेषु वसुषट्क मितोऽर्कः कर्णः चन्द्र-खवेदयमचन्द्रशरैश्च कौजः। शून्यद्विवेदवसुवस्विनतुल्यसंख्योबोधस्तुनेत्रवसुरंध्र-कृताष्टिर्संध्या॥

रामाग्निमगलकृतार्कवसुप्रसंख्यं जैवः सितस्य रसखाब्धिशशिद्विवेदाः।

अश्व्यष्टबाणखनवेंदुखनेत्रसंख्यः सौरोखे विनिहितः स्वरसैस्तु भानाम्। एते योजनकर्णा मध्यमा ग्रहनक्षत्राणामिति।

इदानीं योजनकर्णानांस्फुटीकरणार्थं द्वितीयमार्यार्धमाह—

स्वकलाकर्णेन गुणः कर्णस्त्रिज्याहृतः स्पष्टः ॥३१॥

वास०—स्वश्च सौकलाकर्णः स्वकलाकर्णः तेन गुणः को सो कर्णेनांतर-प्रक्रांतौ मध्यमयोजनकर्णं इत्यर्थः। त्रिज्याहृतः स्पष्टः व्यासार्धभक्तः स्फुटयोजन-कर्णः। प्रतिमण्डलस्थ ग्रहभूमध्यप्रापी भवतीत्यर्थः। एवं सर्वेषां कर्णपुटीकरणम्। वासना चात्र त्रैराशिकोक्ता इदानीं भूरविशशिना योजनबिंबप्रमाणदर्शनार्थं खरूपप्रतिपादनाय चार्यामाह—

मृद्दहनजलमयानां विष्कंभो योजनैः क्विनेंदूनाम्।
शशिवसुतिथिभिर्यमपक्षशररसैः शून्यवसुवेदैः ॥३२॥

वास०—मृद्दहनजलमयानां यथासंख्यं क्विनेंदूनाम्, कुः पृथिवी इनो रविः इंदुश्चन्द्रः, कुश्चेनश्चेंदुश्चेति द्वंद्वः। तेषां विष्कंभो योजनैः मृन्मयी भूः प्रत्यक्षत एवास्माभिरुपलभ्यते। अग्निमयः सूर्यः सोऽप्यस्माभिः तादृगेवोपलभ्यते। यतोऽर्क-दीधिति प्रतिबिंबत्वेन चन्द्रदीधितयो यथान्यत्रापि जले पतिता अर्करश्मयः तदपि जलं रश्मिवत्कुर्वते तद्वदिहापि तेषां क्विनेंदूनां योजनैरेतावत्संख्यैर्विष्कंभः भूगोल-व्यासः शशिवसुतिथिभिः शतैरेकाशीत्यधिकैः १५८१। रविगोलस्य व्यासोपमपक्ष-शररसैः षड्भिः सहस्रैः पञ्चभिः शतैःद्वाविंशत्यधिकैरित्यर्थः—६५२२। चन्द्रोगोल स्य व्यासः शून्यवेदैश्चतुर्भिः शतैरशीत्यधिकैरित्यर्थः ॥४८०॥

इदानीं चन्द्रप्रदेशे भूछाया विष्कुंभस्य योजनात्मकस्यानयनार्थमार्यामाह—

कर्कव्यासांतरगुणमिंदुस्फुट कर्णमर्ककर्णहतम्।
प्रोह्य भुवो भूछाया विष्कंभश्चन्द्रकक्षायाम् ॥३३॥

वास०—कुश्चार्कश्च कर्कौ तयोर्व्यासौ कर्कव्यासौ व्यासयोरंतरं न्यासेत्। रविभूयोजन व्यासयोर्विशेष इत्यर्थः। तेन गुण इंदोः स्फुटकर्णचन्द्रमसः स्फुट-योजनकर्णं इत्यर्थः। अर्ककर्णेन हतोर्ककर्णहतः रविस्फुटयोजनकर्णेन विभक्त इत्यर्थः। अतः कर्कव्यासांतरगुण मिंदु स्फुटकर्णमर्क कर्णहतम्। स तं प्रोह्य कुत इत्याह भुवो भूव्या सहभूछाया द्रिष्कंभश्चन्द्रकक्षायां चन्द्रकक्षाग्रहणेन चंवस्थान-प्रदेशंदर्शयति। तेन चन्द्रपतिमण्डलप्रदेशे योजनात्मकी भूछाया व्यासो भवति इत्यर्थः। यतस्ततोधो महानुपरि च सूक्ष्म भूछाया व्यासो भवतीत्यर्थः। तद्यथा

भूव्यासा शशिवसुतिथयः १५८१ रविव्यासो यमपक्षशररसा ६५२२ अनयोरंतरं रूपकृतनववेदाः ४९४१ अनेनाभीष्ट दैवसिकं चन्द्रफुटयोजनकर्णं संगुण्य रवियोजनकर्णेन विभज्यावाप्तं भू यासादस्माच्चन्द्राष्ट शरेंदुसंख्यात् ।१५८१। विशोध्य भूछायाविष्कंभो भवति। चन्द्रकक्षाप्रदेशे तत्प्रतिमण्डल इत्यर्थः। अत्र दीपछाया गणितवासना रविव्यासार्धेन प्रदर्श्या तद्यथा। यदि रवियोजनकर्णं-तुल्यछायया रविव्यासार्धभूव्यासार्धांतर तुल्या छाया कोटिर्लभ्यते। तत्स्फुट-शशियोजनकर्णतुल्यया कियतीतिलब्धं भूव्यासार्धस्य चन्द्रप्रदेशजभू छाया विष्कंभार्धस्य चांतरं तद्भूव्यासार्धादपास्य द्विगुणं कृत्वा चन्द्रकक्षाप्रदेशे भूछाया विष्कंभो भवतीत्यर्थः। आचार्येण भूव्यासार्धोनं रविव्यासार्धं द्विगुणं कृत्वा निबद्धं ततश्च यत्फलं तदपि सकलमेव भूव्यासाच्छोध्यते इति च निबद्धम्। अतः सूत्रार्थो वासनायां घटक इति अत्रार्यायां चन्द्रमन्दप्रतिमण्डलोपलक्षणार्थं-यतः स्फुटयोजन कर्णे कर्म प्रदर्शितम्। इदानीं भूछाया विष्कंस्य योजनात्मकस्य लिप्तीकरणमाह—

तद्गुणितं व्यासार्धं शशिकर्णहृतं तमः प्रमाणकलाः।

स्वास०—तदित्यनंतरोक्तभूछायाविष्कंभस्य परामर्शः। तेन गुणितं तद्-गुणितं व्यासार्धतसचन्द्रकृतगुणसंख्यभगणकला व्यासार्धमित्यर्थः। शशिकर्ण-हृतं चन्द्रमध्ये योजनकर्णेन हृतं तमः प्रमाणकला भवंति। अत्र त्रैराशिक द्वयं यदि चन्द्रमध्ययोजन कर्णस्य व्यासार्धतुल्याः लिप्ता भवन्ति। तच्चन्द्रस्फुटयो-जनकर्णस्य कियत इति फलं स्फुटकला, कर्णः ततो यदि चन्द्रस्य स्फुटयोजनकर्णस्य चन्द्रस्फुटकला कर्णतुल्या लिप्ता भवन्ति। तदस्य स्फुटभूछाया विष्कंभस्य कियत्य इति। स्फुटयोजनकर्णप्रथमे गुणकारः द्वितीये भागहारस्तुल्यत्वान्नष्ट यो भूछाया विष्कंभस्य त्रिज्या गुणकारो मध्येन न कर्णभागहारः फलं लिप्ता रूपं तमः प्रमाणं चन्द्रमन्दप्रतिमण्डलप्रदेशे। अधुना रवि चन्द्रयोजनमानयोर्लिप्ता-नयनमाह—

एवं त्रिज्यारविशशि विष्कम्भगुणा स्वकर्णहृता ।।३८।।

वास०—त्रिज्यारविशशिविष्कम्भगुणा रवियोजनमानेन मध्यमेनैकत्रगुणिता-न्यत्र चन्द्रयोजनमानेन स्वकर्णाभ्यां हृता स्वस्फुटयोजनकर्णयो पृथक् पृथग्विभजनी-येत्यर्थः। एवं रविशशिनोर्मानि लिप्ता रूपे निरूपते इत्यर्थः। अत्र त्रैराशिकद्वयं यदि मध्ययोजन कर्णतुल्यैर्योजनैः व्यासार्धतुल्या लिप्ता लभ्यन्ते तन्मध्यममानयोजनैः कियत्य इति लिप्तारूपं मध्यमानं लभ्यते। ततो द्वितीयं यदि मध्ययोजनकर्णे एता स्फुटयो योजनकर्णे कियन्मानं द्वितीयं व्यस्तत्रैराशिकं महति स्फुटकर्णे यदल्पं मानमल्पे च महत्तदात्र प्रथमे मध्यमयोजनकर्णो भागहारो द्वितीये गुणकारस्तु-

ल्यान्नष्टयोर्मध्यमयोजनविष्कंभस्य त्रिज्यागुणाकारः स्फुटयोजनकर्णो भागाहारः फलं स्फुटमानलिप्ता रवे चन्द्रस्य चैवं मानान्यभिधायेदानीं रविचन्द्रग्रहणयोः स्वरूप प्रतिपादनार्थमार्यामाह—

भूछायेन्दुं चन्द्रः सूर्यं छादयति मानयोगार्धात् ।
विक्षेपो यद्यूनः शुक्लेतरपंचदश्यन्ते ।।३५।।

वास०—छादयतीति उभयोरपि सम्बध्यते । तेन नायमर्थः । भूछायेन्दुं छादयति । चन्द्रश्च सूर्यं छादयति । यथा संख्या शुक्लेतरपञ्चदश्यन्ते । किं सर्वदैव नेत्याह मानार्धयोगार्धाद्विक्षेपो ग्राह्यग्राहकयोर्लिप्तामानयोगार्धात् । तात्कालिको विक्षेपोय द्यूनः । तदाग्राससम्भवः अत्रेयं वासना । रवेर्भार्धान्तिरिता सर्वदा भूछाया भ्रमति पौर्णमास्यन्ते चन्द्रोऽपि भांतरित एव तत्रस्थाश्चासौ यद्यतिविक्षिप्तोपमण्डलान्न भवति । तदा भूछायां प्रविशति यतश्चन्द्रकर्णछायादैर्घ्यमधिकं भूछाया चापमण्डले भ्रमति चन्द्रस्तूपातासन्नो विमण्डलस्थोऽपि भूछायां प्रविश्य महत्त्वा-भूछायाः सूर्यरक्तचन्द्रमसश्छाद्यते । उपरिरविरधश्चन्द्रः स च शीघ्रगतिः सन्छाद्य प्रागच्छति मेघखण्डवत् । अमावस्यायाः अन्ये च एकसूत्रगतौ द्वावपि भवतः तव स्फुटविक्षेपवशाद्यद्यति विक्षिप्तश्चन्द्रो न भवति । तदा रविग्रहणं यतो बिम्बयोः केन्द्रान्तरालं स्फुटविक्षेपः स च यदि मानार्धादधिको भवति । तदा बिम्बयोर्युतिरेव न भवति । अथोनस्तदा परस्परमनुप्रवेशो भवति, इत्येवं सर्वं गोले प्रदर्शयेत् ननु च राहुकृतग्रहणं रविचन्द्रयोः तत्किमुच्यते । भूछायेन्दुं चन्द्रः सूर्यं छादयत्येतदाशङ्क्य राहुकृतं ग्रहणं निराचिकीर्षुरादौ तावद्ग्राहकद्वयप्रतिपादनार्थं माह—

महदिन्दोरावरणं कुण्ठविषाणो यतोऽर्धसंछन्नः ।
अर्धच्छन्नो भानुस्तीक्ष्णविषाणस्ततोऽस्याल्पम् ।।३६।।

वास०—स्पष्टाथयमार्या । अन्येन रविः छाद्यते अन्ये न च शशी यतो छन्नस्येन्दोः कुण्ठविषाणत्वादवगम्यते महान् कश्चिद्ग्राहक इत्यस्य । रवेश्चावछन्नस्य विषाणयोः तैक्ष्ण्यादवगम्यते, अल्पोस्य ग्राहक इति तौ च भूछायाचन्द्रमसौ युक्तौ नान्यैर्नियुक्तिकौ कल्पयितुं शक्येते इति राहुकृतग्रहणस्यान्यदूषणद्वयमाह—

यदि राहुः प्राग्भागाविन्दुं छादयति किं तथा नार्कम् ।
स्थित्यर्धं महदिन्दोर्यथा तथा किं न सूर्यस्य ।।३७।।

वास०—इयमपि स्पष्टार्था। मण्डलप्राग्भागे यथा चन्द्रमा छाद्यमानो-दृश्यते। अर्कश्च मण्डलापरभागे छाद्यते तद्राहो रेकत्वात्किमेतत्। भूछायां तु पुनः चन्द्रः प्रागाछन्निव पूर्वभागेनैव प्रदेशं करोतीत्येतस्य प्राच्यां दिशि प्रग्रहण-मुपपद्यते। रवेस्तु शीघ्रगश्चन्द्रः स च पूर्वाभिमुखो गच्छन्निव बिंबं पश्चाद्भागे प्रग्रहणमुपपादयति। अतो ऽन राहुकृतं ग्रहणमित्यर्थः। अन्यच्च स्थित्यर्धं मह-द्यथा चन्द्रग्रहणे किं तथा नार्कग्रहणे ग्राहकसामान्यात्। भूछाया च महती ततः स्थित्यर्थेर्धमहदुपपद्यते एव अतो न राहुकृतं ग्रहणमिति। राहुकृतग्रहणस्य दूषणांतरमाह—

किं प्रतिविषयं सूर्यो राहुश्चान्यो यतो रविग्रहणे।
ग्रासान्यत्वं न ततो राहुकृतं ग्रहणमर्केन्द्वोः ॥३८॥

वास०—सुगमार्थेयमार्या—सूर्यस्तावदेक एव सर्वत्र राहुश्च तत्किमिति क्वापि खण्डग्रहणं—अन्यत्रग्रहणाभाव एव रविग्रहणे चन्द्रग्रहणे च सामान्यः सर्वत्र ग्रासः। तत्किमेतदेकत्वात्स्वर्भानोः चन्द्रस्तु यदा रवेः छादकः तदा तस्याल्पत्वादव-नतिविक्षेपाक्षदेशांतरादिति ग्रासभेदः उपपद्यते। एवं यथाम्बुदखंडछन्नोर्कः क्वापि न दृश्यते, अन्यत्र दृश्यते। अन्यत्राव छन्नो दृश्यते। एवमिहापि। चन्द्रस्य भूछा-याछादिका सा चैकरूपया सर्वत्र धूमवर्ताकारी. तत्र प्रविशति चंद्रः सर्वतोऽपि छन्न एवेत्यतश्चंद्रग्रहणं सर्वसामान्यमेवोपपद्यते। तस्मादुपसंहरति, न ततो राहुकृतं ग्रहणमर्केंद्वोरिति। यथास्थिते गोलवासना प्रदर्श्या अनंतरोक्तार्याणां भूछाया वासना यत्रापि मण्डले रवेः स्थितः तत्समभूभागादुभयतो नवतितमे-भूभागे सूत्रद्वयं बद्ध्वा तदग्रे एकत्र कृत्वा रविक्रान्तापमण्डलभागादर्धं चक्रांतरिते-पमण्डल भाग एव बन्धीयात्। एवं स्थिते सूत्रांतरसंस्था भूछाया भवति ग्रहणा-ध्याययोश्च प्रतिसूत्रप्रपंचेन वासनां प्रतिपादयिष्याम इति। अत्र चाचार्यवराह-मिहिरः—सूर्यात्सप्तमराशौ यदि चोदग्दक्षिणाभिगतः चन्द्रः, पूर्वाभिमुखछायामौर्वी तदा विशतिः चन्द्रोऽधः स्थः, स्थगयति रविमंबुदवत्समागतः पश्चात् प्रतिदेश-मतश्चित्रं दृष्टवसाद्भास्करग्रहणम्। यदुक्तं भूछाया चन्द्रं छादयति। रविमिंदु-रिति वराहमिराद्यैः तेषां धर्मफलाशास्त्रायो ग्राह्यत्वप्रतिपादनायार्याद्वयमाह—

एवं वराहमिहिरः श्रीषेणार्यभट्टविष्णुचन्द्राद्यैः।
लोक विरुद्धमभिहितं वेदस्मृति संहिताबाह्यम् ॥३९॥

ग्रहणफलं गर्गाद्यैः संहितासु यदभिहितम्।
तदभावो होमजपस्नानादिफलस्य चाभवः ॥४०॥

वास०—गतार्थम् । राहुकृतं ग्रहणमेवेत्याह—

राहुकृतं ग्रहणद्वयमागोपालांगनादिसिद्धमिदम् ।
बहुफलमिदमपि सिद्धं जपहोमस्नानफलमत्र ।।४१।।

वास०—इष्टार्थेयमार्या । अमुमेवार्थं स्मृतिवाक्यैरनुमोदयति ।

स्मृतिषूक्तं न स्नानं राहोरन्यत्र दर्शनाद्रात्रौ ।
राहुग्रस्ते सूर्ये सर्वं गंगासमं तोयम् ।।४२।।

वास०—गतार्था । अत्रार्थे वेदवाक्यं प्रदर्शयति—

स्वर्भानुरासुरिरिनं तमसा विव्याध वेदवाक्यमिदम् ।

वास०—स्पष्टार्थमार्यार्धम् । ननु भूछायां चन्द्रः प्रविशति । स्वग्रहणे रविमपि छादयति चन्द्रोऽर्कग्रहण इत्युक्तं प्राग्युक्तिमत्परित्यज्य लोकप्रसिद्धराहुकृतं ग्रहणं किमित्यङ्गीक्रियते यतः प्रसिद्धिरन्यथा दृश्यते यथाशुक्लपक्षान्तरे मासो बहुष्वपि देशेषु प्रसिद्धः रवेरुपरि चन्द्रः तस्य क्षयवृद्धी दक्षशापादित्यादिना चैतद्विचार्यमाणं न सम्भवति । यदापि स्मृतिवाक्यं तद्रात्रिस्नानस्य निषेधपरम् । यच्च वैदिकं वाक्यं तत्सौमारोद्रीयवरोरश्चेतायाः श्वेतवत्सायाः पयसः श्रयणं परमर्थवादतया तत्र पठ्यते । ऐतिहासिकान्यपि वाक्यानि ग्रहणफलप्रतिपादनपराणि । य एव रविचन्द्रयो खण्डतां करोति स एव तेषां राहुः गर्गादीनामपि संहिता वाक्यानि दिग्वर्णचलनादिलक्षणैः शुभाशुभप्रतिपादकानि, तेषामपि यो ग्रसते स एव राहुः पुनर्यावत्पारमार्थिको ग्राहः को न ज्ञायते तावत्कालग्रासप्रमाणं स्थितिचलनादयो दृक्समाः कथं ज्ञातुं शक्यन्ते । तस्मात्सवासनिकं यत्प्रागुक्तं तच्छोभनम् । लोकविरुद्धोऽपि नवकृत्य इत्यतोऽर्थमार्यार्धमाह—

श्रुतिसंहितास्मृतीनां भवति यथैक्यं तदुक्तिरतः ।।४३।।

वास०—गतार्थमिदमार्यार्धम् । इदानीं तदैक्यमार्याद्वयेन प्रदर्शयति—

राहुश्छादयति प्रविशति यच्छुक्लपंचदश्यंते ।
भूछाया तमसोंदोर्वरप्रदानात्कमलजस्य ।।४४।।
चन्द्रोम्बुमयोधः यदग्निमय भास्करस्य मासांते ।
छादयति शमिततापो राहुश्छादयतिं तत्सवितुः ।।४५।।

वास०—गतार्थम् । आगमप्रामाण्यात्सोऽपि तत्राधः स्थो भवत्वित्यर्थं भवति नामराहोरधोवस्थितिस्तथापि तस्यैकत्वात्कथं रविशशिग्रहणयोर्मान-

प्रमाणं भिन्नं भवतीत्यत्राप्येकवाक्यतां योजयति—

भूछायाव्याससमः स्थितः शशिग्रहणे ।
राहुश्छादयतींदुं सूर्यग्रहणेऽ र्कमिन्दुसमः ॥४६॥

वास०—गतार्थेयमार्या । अथैवं कश्चिद्भणति महाप्रमाणो राहुभूछाया चन्द्रप्रमाणाभ्यां यदधिकं तत्किमिति नोपलभ्यते, इति संप्रत्याह—

यत्तदधिकं तमोमयराहुव्यासस्य सूर्यदृष्टत्वम् ।
न पश्यति भूछायेंदौ व्याससमोऽस्माद्भवति राहुः ॥४७॥

वास०—निष्प्रयोजनेयं गतार्था च इदानीमेकवाक्यतापक्षमुपसंहरति—

भूछायेन्दुमतो हि ग्रहणे छादयति नार्कमिंदुर्वा ।
तत्स्थस्तद्व्याससमो राहुश्छादयति शशिसूर्यौ ॥४८॥

वास०—स्पष्टार्थेयमार्या । ग्रह स्वरूप वासना ।

इदानीं गोलबन्धं प्रदर्शयति तत्रादौ सममण्डलयाम्योत्तर क्षितिजमण्डलानां विन्यासार्थमार्यामाह—

प्राच्यपरं सममण्डलमन्यद्याम्योत्तरं क्षितिजमन्यत् ।
परिकरवत्तन्मध्ये भूगोलस्तत्स्थित द्रष्टुः ॥४९॥

वास०—प्राच्यपरमुन्मण्डलं तत्सममण्डलमन्यद्यामोत्तरं द्वितीयं दक्षिणोत्तरं तदित्यर्थः, क्षितिजमन्य परिकरवद्यत्तृतीयं समपार्श्वस्थं मण्डलं तत्क्षितिजमुच्यते । मन्मध्ये भूगोलकाकारा सर्वतः स्थितस्य द्रष्टुरेतानि त्रीणि खगोलवृत्तान्येव कल्प्यानीत्यर्थः ।

तत्स्थितं द्रष्टुतित्युत्तरत्र समस्तमण्डलविन्यासे सम्बन्धो भविष्यतीति तत्र गोले स्वदेशस्थितस्य द्रष्टुः कीदृगुन्मण्डलं तत्र प्रतिपादनायार्यमाह—

पूर्वापरयोर्लग्नं याम्योत्तरयोर्नतोन्नतं क्षितिजात् ।
स्वाक्षांशैरुन्मण्डलमहर्निशोवृद्धिहानिकरम् ॥५०॥

वास०—पूर्वा चापरा च पूर्वपरेतयोर्लग्नं पूर्वापरयोः स्वस्ति कयो रासक्त मित्यर्थः, याम्या चोत्तरावद्याम्योत्तरे नतोन्नतं कुत इत्याह । क्षितिजादिति क्षितिजमण्डला द्दक्षिणखगोल स्वस्तिकान्नसूत्तरात् चोन्नतमित्यर्थः कियद्भिरक्षांशै रित्याह । स्वाक्षांशैरिति स्वदेशाक्षभागैरिति यावत् । किं तदुन्मण्डलमुदयमण्डल

मुन्मन्डल स्वदेश समदक्षिणनिरक्षदेशे क्षितिजमित्यर्थः। अहर्निशोवृद्धि हानि करणम्। निरक्षदेशज दिनरात्रोः स्वदेशे क्षयवृद्धिजनकं तद्वशात्प्रति देशं दिनरात्रि-प्रमाणे भिन्ने भवत इत्यर्थः, यतो निरक्षस्यैव स्वाहोरात्रार्धवृत्तसार्धं क्षितिजादु-परिस्थितं द्वितीयमर्धमतस्तत्र सर्वदा दिनरात्रि प्रमाणे तुल्यो क्षितिजोन्मण्डलयो रेकत्वा दन्यत्रोत्तरेणान्यक्षितिजमन्यदुन्मंडलमक्षवशादत उन्मण्डलास्वःरात्रार्धमण्ड-लस्यार्धमुपरि द्वितीयमधः तच्चोमण्डलस्वदेशक्षितिजादुत्तरेणोन्नतं दक्षिणेनाव-नतं समम् मण्डलार्धेधः स्वक्षितिजे द्रष्टा रव्युदयास्तमयौ पश्यति। स्वहोरात्रार्ध-मण्डलार्धन्यूनाधिकमपि पश्यति। तस्मादुपपद्येते क्षयवृद्धी दिननिशोर्यावच्चोत्तरेण द्रष्टा भवति। तावस्योत्तरगोलके सूर्यो महान्दिवसो भवत्यल्पा रात्रिः दक्षिणगोल-स्थे रवौ विपरीतमेवं षटषष्टिरक्षांशास्तत्र षष्टिघाटिको दिवसो रात्रेरभावः। दक्षिणायनादौ यतस्तत्र दिने ऽर्कोदयकालेपमण्डलमेव क्षितिजं दिवसस्याथभावः। उत्तरायणादौ षष्टिघटिका रात्रिः यतः क्षितिजा तत्र मिथुनांता होरात्रतुल्या परमक्रान्ति ज्या तुल्योवलंबकः। चरदलं च पंचदश घटिकास्ततोप्युत्तरेणास्मा द्दिनानि बहूनि यावत्सदुक्कद्गत एव दृश्यते सूर्यः। परतः परतो यावन्मेरुस्तत्र षड्भिमोसैर्दिवस उत्तरगोलके रवौ यावद्दिनप्रमाणं तत्र तावद्रात्रिप्रमाणं तत्रैव दक्षिण गोलस्थे इत्यादि योज्यमिति। इदानीं स्वदेशस्थस्य द्रष्टुः विषुवन्मंडल-प्रतिपादनायाह—

विषुवन्मण्डलमूर्ध्वं सममण्डलतः स्थितं स्वकक्षांशैः।
याम्येनोत्तरतोऽधः क्षितिजे प्राच्य परयोर्लग्नम् ॥५१॥

वास०—विषुवन्मण्डलं विषुवद्वृत्तं तत्कथं स्थितमूर्ध्वं सममण्लत उपरि। सममण्डलमध्यस्थितं । स्वकक्षांशैः याम्येन स्वदेशाक्षभागतुल्यैर्भागैर्दक्षिणेन तमित्यर्थः, उत्तरतोऽधः उत्तरेण चाधः गोलकभागे तावद्भिरेव भागैः। स्थितं क्षितिजे प्राच्यपरयोर्लग्नं पूर्वापरयोश्च दिशोः क्षितिजासन्नमित्यर्थः यतो निरक्ष-देशो परिविषुवन्मण्डलं तच्च स्वदेशाक्षभागे..............ले यथोक्तमेव दृश्यते। इदानीमपक्रम मण्डलप्रदर्शनार्थमिदमाह—

विषुवन्मंडललग्नं मेषतुलादावुदक् कुलीरादौ।
जिनभागैर्याम्येन मृगादावपमंडलमिहार्कः ॥५२॥

वास०—विषुवन्मण्डल लग्नं.........इत्याह। मेषतुलादौ विषुवत्खस्वस्ति-कयोरित्यर्थः। उदककुलीरादौ जिनविभागैरुत्तरत कर्कटादौ........चतुर्विंशत्या-लग्नं याम्येन मृगादौ दक्षिणेन भागचतुर्विंशत्या मकरादौ लग्नमित्यर्थ एवम-पक्रममण्डलं सममण्डलं। मया च समण्डलादीनां विन्यासे पूर्वभेव। प्रदर्शितमिहार्कं

इत्यस्मिन्नपमण्डलेर्को भ्रमति। यतोर्कगतिरेवापमंडलं।
के तत्रापमण्डले भ्रमंतीति तदर्थमार्यार्धमाह—

पातश्चन्द्रादीनां भ्रमति भाऽर्धे रवेश्च भूछाया।

वास०—न केवलमिहापमण्डलेऽर्को भ्रमति। यावत्पाताश्चन्द्रादीनां संबंधिनो भ्रमन्ति भार्धे चक्रार्धे। रवेश्च भूछाया तत्रैव भ्रमन्तीति वासना पूर्वमेव प्रदर्शिता। इदानीं विमण्डलानां विन्यासप्रदर्शनायाह—

पातादपमण्डलवद्विमण्डलानि स्वविक्षेपैः ॥५३॥
सौम्यं विमण्डलार्धं प्रथमं याम्यं द्वितीयमेतेषु।

वास०—पातात्पातभोगवर्धेऽपमण्डलवदपमण्डलसंस्थाने च विमण्डलानि बध्नीयादिति अर्थः। अयं विशेषः स्वविक्षेपैर्यथापठितस्वविक्षेपैस्तयोरपमण्डल-विमण्डलयोरंतरं भवति। मध्ये याम्योत्तरयोरपमण्डलयोस्तथा बध्नीयादित्यर्थः। तत्र चापमण्डले सौम्यं प्रथमं यथा विमण्डलार्धं भवति द्वितीयमर्धं च यथा दक्षिणं भवति तथा बध्नीयादित्यर्थः एतच्च पूर्वमेवास्माभिः प्रदर्शितमेतेष्वित्युत्तरायर्यार्धे सम्बध्यते। एतेषु विमण्डेषु तदर्धं द्वितीयमार्यार्धमाह—

चन्द्रकुजजीवमन्दाः भ्रमंति बुधशुक्रौ च भ्रमतः ॥५४॥

वास०—किं तु तौ शीघ्रेणायमर्थः। कुजगुरुशशिचन्द्राः स्वे स्वे विमंडले मंदस्फुटगत्या भ्रमंति। बुधशुक्रौ तु पुनर्विमंडले शीघ्रगत्या भ्रमत इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति। शीघ्रनीचोच्चवृत्तमध्यं स्वे विमंडले भ्रमति। कुजगुरुसौराणां तद्वशाच्च तत्परिधिस्थितो ग्रहोपि तावत्येवांतरेऽपमंडलाद्विप्रकृष्टो भवति। तेन मंदस्फुटाग्रहाद्विक्षेपादानयनं समागमाध्याये वक्ष्यति। बुधशीघ्रयोस्तु न केवलं शीघ्रनीचोच्चवृत्तमध्यवशेन विप्रकृष्टो यावत्स्वशीघ्रयोश्च प्रतिमंडलवशेन च यतोतः स्वशीघ्राद्विक्षेपानयनं तयोर्वक्ष्यति अने···लब्धिः···दि कारणं शक्यते वक्तुं परिध्यादिष्विवेति। इदानीं दृङ्मंडल प्रतिपादनायाह—

दृङ्मंडलार्धं मूर्ध्वं यत्तत्परिधिस्थितं ग्रहं द्रष्टा।
पश्यति यतः क्षितिस्थस्तद्भ्रमति ततो ग्रहाभिमुखम् ॥५५॥

वास०—दृष्टिमंडलं दृङ्मंडलं यष्टिं क्षिप्त्वा ग्रहो दृश्यते। तद्दृङ्मंडलं तस्यार्धमूर्ध्वं तस्य दृङ्मंडस्य यदर्धं क्षितिजादुपरिस्थित···परिधिस्थितपश्यति द्रष्टा-ग्रहं। यतस्तावद्भ्रमति ग्रहाभिमुखम्। तत् दृङ्मंडलस्यार्धमुपरित···ग्रहाभिमुखमत एव भ्रमति ग्रहं न त्यजतीत्यर्थः। खगोलवृत्तानां प्रमाणेन अन्यद्वृत्तं निर्मायित

दृङ्मंडलं न्यसेत्। उदयकाले क्षितिजग्रहोदयप्रदेशे यथा परिधिनासक्तो भवति। सम्मंडलस्योपर्यधः स्वस्तिकयोश्च सर्वथा परिधि यथासक्तो भवति तथा तद्वृत्तं निदध्यात्। मध्याह्ने च याम्योत्तरमंडलवद्भवति। अस्यमयक्षितिजप्रदेशासक्तश्चास्तमये तत्परिधिर्यथा भवति, तथा निदध्यादित्येवम्। यथाग्रहो भ्रमति तथा तथा तद्वृत्तं भ्रामयेदेवं, तत्परिधौ सर्वदैव ग्रहो भवति। तत्र मंडले शंकुरुन्नतज्या दृग्ज्या नतज्या तदर्धं सर्वदा क्षितिजादुपरि भवति। द्वितीयमर्धमधो यथास्थिते गोले विन्यस्य शंकुछायादिवासना प्रदर्श्या। इदानीं दृक्क्षेपमंडलप्रदर्शनार्थमाह— क्षितिजापमण्डलप्रदर्शनार्थमाह—

क्षितिजापमण्डलयुतौ लग्नं लग्नाग्रया दिशावलग्नम्।
दृक्क्षेपमंडलं दक्षिणोत्तरं वित्रिभविलग्ने ॥५६॥

वास०—क्षितिजापमण्डलयोर्युतिर्यत्रापमण्डलस्योदयः क्षितिजेन सहैकत्वं लक्ष्यते, तत्र प्रदेशे क्षितिजापमण्डला युतिर्लग्नव्यपदेशः। तस्य प्रदेशस्य लग्नाग्रया दिशावलग्नम्। लग्नस्याग्रा लग्नाग्रा क्षितिजे सममण्डलापमण्डलांतरांशानां ज्येत्यर्थः। सा लग्नाग्रा तस्या अग्रायायादिक्तयादिशावलग्नम् सापमण्डलपूर्वा। तद्दक्षिणोत्तरं दृक्क्षेपमण्डलं वित्रिभविलग्ने। एतदुक्तं भवति यदि लग्नाग्रा सममण्डलरेखा उत्तरेण भवति। तदा वित्रिभलग्नमपि याम्योत्तरमण्डलात्पूर्वेण भवति। मध्यज्यावृत्ते यतस्तत्र परमोच्चतापमण्डलार्धस्य क्षितिजादुपरिस्थितस्य विषुद्रवापमण्डललग्नं······सममण्डलरेखातो दक्षिणेन भवतीत्यर्थः। यत एव स्वतो दृक्क्षेपमण्डलं वि······विलग्न······णोत्तरं प्रदर्श्यम्। यस्मान्मध्यज्या-संभवे विषुवदिनं वर्जयित्वा···याम्योत्तर······दृक्क्षेपमण्डलं न भवति दृष्टिः क्षिप्यते मण्डलदक्षिणोत्तरेण यत्र तद्दृक्क्षेपमण्डलभवन······यथावत्। यथा सममण्डलोपर्यधः स्वस्तिकयोर्यंतो वित्रिभलग्नावगाहि भवति तदा दृक्क्षेप······ गोले निधाय रविवासनां प्रदर्शयेत्। यतो मण्डलगत्या पूर्वापरं लंका······दृक्क्षेप-मण्डलं······दक्षिणोत्तरावनतिरिति। स्वाहोरात्र प्रदर्शनार्थमार्यामिमामाह—

विषुवदुदग्बध्नीयात् क्रान्त्यंशसमान्तरेष्वजादीनाम्।
वृत्तत्रितयं व्यस्तं कर्क्यादीनां तुलादीनाम् ॥५७॥
विषुवद्दक्षिणतोऽन्यन्मकरादीनां तदेव विपरीतम्।
स्वाहोरात्राण्येषां व्यासाः पृथगेव मिष्टमपि ॥५८॥

वास०—विषुवदुदग्बध्नीयात् किं तत् वृत्तत्रितयं केषामजादीनां कियत्स्वं-तरेषु क्रान्त्यं शेष्वजादीनां क्रान्तेरंशाः क्रान्त्यंशाः विषुवत् उत्तरेण यावद्भिः यावद्भिः स्वक्रान्त्यंशैः मेषवृषमिथुनाः स्थितास्तैरित्यर्थः। विपरीतं कर्कटादीनां तुलादीनां विषुवदुदक् एवं तुलादीनां विषुवद्दक्षिणेन वृत्तत्रितयं मकरादीनां तदेव

विपरीतं यद्धनुषस्तन्मकरस्य यद्वृश्चिकस्य तत्कुम्भस्य यत्तुलायास्तन्मीनस्येत्यर्थः। स्वाहोरात्राण्येषां वृत्तानां व्यासाः पृथगेव शिष्टमपि। यथा मेषादीनां स्वाहोरात्र-व्यासतुल्यानि वृत्तानि स्वक्रान्त्यग्रेषु प्रदर्शितानि। एवं स्वाहोरात्र प्रमाणेना-भीष्टस्य ग्रहादेः स्वक्रांत्यग्रात्स्वाहोरात्रवृत्तं बध्नीयादित्यर्थः। स्वाहोरात्रवृत्तानि कक्षागोले बध्नीयादित्यर्थः, न खगोले एतच्चास्माभिः पूर्वमेव व्याख्यातम्। स्वाहो-रात्रवृत्ते दिनगतशेषादयः प्रदर्श्या गोले। इदानीं त्रिप्रश्नाध्यायवासना प्रदर्श्यंते। तद्यथा निरक्षदेशे भपंजरः सम एवावतिष्ठते। तत्रराश्युदयात्किमिति भिन्ना। तदुपपत्त्यर्थमार्याद्वयमाह—

लङ्कासमपश्चिमगं प्राणेन कलां भमण्डलं भ्रमति।
अपमण्डलस्य राशिर्द्वादशभागः क्षितिजलग्नात् ॥५९॥

यान्त्युदयं मेषाद्या यतस्तदुदया न कालसमाः।
क्रान्तिवशाल्लंकायां तदूनताधिक्यमक्षवशात् ॥६०॥

वास०—लकाग्रहणं निरक्षदेशोपलक्षणार्थं लंकायाः समपश्चिमगं निरक्षदेश उपर्यधोगमित्यर्थः। किं तत् भमण्डल······क्ष······विषुवन्मण्डलमित्यर्थः। प्राणेन कलां भमण्डलं भ्रमति। प्राणतुल्येन कालेन यस्य मण्डल ·····भ्रमति। उन्मण्डलं तत्। न तदपमण्डलम्। रविस्तु पुनरपमण्डलस्य द्वादशभागः राशयः······क्षितिज-लग्ना उदयं यांति। यतो यस्मात्ततस्तस्मात्तेषामुदयास्तदुदयाः न कालसमाः ······काल समान भवंति तस्माद्धेतोः क्रांतिवशाद्यतो विषुमंडलापमंडलयोरंत ······क्रांतिः त··· दपमण्डलं च तिर्यग्भवति। यदि विषुवन्मन्डले राशयः स्यु-स्तत्पंचघटिका राश्युदया अपि भवेयुः। निरक्षे वा साक्षे देशे वायावच्चापमण्डले राशयः तच्चापमण्डलं लंकायामपि तिर्यक् स्थितं क्रांतिवशादस्तत्रापि तदूदनता-धिक्यं तेषां मेषादीनां न्यूनाधिकता सम्भवति। स्वदेशे तु पुरक्षवशात्तदूनताधिक्यं भवत्येवं किमत्रोच्यते। निरक्षदेशे साक्षे चगोले सर्वं प्रदर्शयेत्। अक्षवशादित्येतदु-त्तरार्यार्धे सम्बन्धं भविष्यतीति। चरप्रदर्शनार्थमार्यार्धमाह—

क्षितिजोन्मण्डलयोर्यत्स्वाहोरात्रांतरं चरदलं तत्।

वास०—क्षितिजं चोन्मण्डलं च क्षितिजोन्मण्डले तयोरंतरं यत्स्वाहोरात्र-वृत्ते तत्स्वदेशाक्षोन्नतिवशाच्चरदलं यतो निरक्षदेशक्षितिजोन्मण्डलयोरंतरं नास्त्ये-कत्वात्तत्र चरदलमपि नास्ति, सर्वदा तेन तुल्ये दिन रात्रिप्रमाणे ऽन्यत्राक्षवशा-दुन्मण्डलमुन्नतं नतं भवति। स्वाहोरात्रस्याक्षादधिकमूनं वा दृश्यते। अतः तत्रा-क्षवशादुपपद्येते क्षयाधिके। सर्वं गोले प्रदर्शयेत्। इदानीमग्राप्रदर्शनार्थमाह—

क्षितिजेऽग्रा प्राच्यपरा स्वाहोरात्रांतरज्या ॥६१॥

वास०—क्षितिजमण्डले अग्रा प्राच्यपरा सममण्डलं स्वाहोरात्रं स्वाहोरात्रार्धवृत्तांतयोरंतरं ये तु त्रयोंशाः तेषामंशानां या ज्या साग्रे त्युच्यते। यतस्तदग्रे ग्रहोदयास्तमयौ भवत इत्यर्थः। सममंडलादुत्तरतो दक्षिणतो वा क्षितिजे यत्र ग्रहहोदयस्तत्र सूत्रस्यैकमग्रं बद्ध्वा द्वितीयमग्रं सममण्डलादन्यस्यां दिशि तावत्येवांतरे वध्नीयाद्दक्षिणोत्तरायतं क्षितिज एव तदर्धमग्रा सा च निरक्षे क्रान्तितुल्या साक्षादेशे क्रमेणोपचीयते। तावद्यावद्यत्र षट्षष्टिरक्षांशस्तत्र त्रिज्या तुल्या भवतीत्येतद्गोले प्रदर्शयेत्। शंकुछाया कालानां प्रदर्शनार्थमाह—

स्वाहोरात्रे क्षितिजाद्दिनगतशेषोच्चता रवेः शंकुः।
तस्माद्दिनगतशेषं शङ्कुकुमध्यान्तरं दृग्ज्या ॥६२॥

वास०—स्वाहोरात्रे स्वाहोरात्रार्धवृत्ते क्षितिजा······र्थः। दिनगतस्य शेषस्य वा यावत्युच्चता वा सा दिनगतिशेषोच्चता रवेः रविग्रहणाम्······न्यास्यापि ग्रहस्य स्वाहोरात्रार्धवृत्तेषु दिनगतशेष योज्ययोश्च योज्यम्। यावदुच्च······तस्माद्दिनगतशेषं तस्माच्छंकोः दिनगतः शेषं यथा दिनगत शेषाल्पस्याह्न इत्यादि······नीनः ततश्छंकुरानीतः। ततश्छाया एवं छायाकर्णविभक्ता विषुवत्कर्णेन संगुणाः त्रिज्येत्यादिना का······नीयते इत्यर्थः। यत उभयोरप्येकैव वासना अतः पृथक् नोक्ता दृग्ज्या तु पुनः शंकुकुमध्यांतरं। शंकुमूलस्य भूमध्यस्य यदंतरं सा दृग्ज्या तस्य शंकोः सा छाया एतद्गोले प्रदर्शयेत्। तद्यथा स्वाहोरात्रार्धवृत्ते घटिकाचिह्निते यावत्यो दिनघटिकाविघटिकाश्च गतास्तावति प्रदेशे रव्युपलक्षते चिह्नं कार्यम्। तत्र सूत्रं बद्ध्वालंबयेत् गुरुणाग्रहबद्धेन केनचिल्लोष्टादिना ततो भूमध्यादन्यदवलंबकसूत्रस्पृक् सूत्रं नीत्वा क्षितिजे बध्नीयात्। एवं स्थिते ग्रहचिह्नित प्रदेशे क्षितिजयोरंतरसूत्रप्रमाणाच्छंकुः शंकुमूलाच्च भूगोलमध्यं यावत्तावत्प्रमाणा दृग्ज्या भूमध्यग्रहचिह्नितप्रदेशांतरं कर्णव्यासार्धतुल्यः एवं सर्वत्र योज्यम्। वयं च तत्रैव प्रयात्यार्यासूत्रे वासनां प्रतिपादयिष्याम इति दृङ्मण्ले शंकुदृग्ज्ययोः प्रतिपादनसूत्रमाह—

दृङ्मण्डले नतांशज्या दृग्ज्या शंकुरुन्नतांशज्या।

वास०—दृङ्मण्डले पूर्वप्रदर्शितया नतभागानां ज्या सा दृग्ज्या या तु पुनरुन्नतभागानां ज्या सा शंकुः भवति। एतच्च गोले प्रदर्शयेत्। यतो ग्रहोपलक्षितप्रदेशे स्वाहोरात्रदृङ्मण्डयोः सर्वदैव संपातो भवत्यास्मात्प्रदेश क्षितिजं यावदुन्नतभागा दृङ्मण्डलस्योपरि सममण्डलमध्यं यावन्नता तस्मादुपपन्नं मध्याह्नेऽपि दृङ्मण्डलोत्र तज्या शंकुः न तज्या दृग्ज्या अत एवोन्मण्मडल नतज्या क्रमेण क्रियत इति। शंकुतलप्रदर्शनार्थमाह—

अर्कोदयास्तसूत्राद्दिनशङ्कोर्दक्षिणेन तलम् ।।६३।।

वास०—अत्राप्यर्क ग्रहोपलक्षणार्थं तेन सर्वोदयास्तस्वदिनशंकोर्दक्षिणतः शंकुः तलग्रहणमुपयोगित्वात् । वार्कग्रहणं स्वाहोरात्रादुत्तरत्र निरक्षदेशे यतः शंकुतलं नास्ति शंकुतल··· ···कत्वात्तत उत्तरेणाक्षवशात्तिर्यग्गोलस्थितो दक्षिणेनात एव दक्षिणे शंकुतलं भवति।·········· मिव भूमौ यस्माच्छंकुतल-मुच्यते । यावच्चादृश्यं स्वाहोरात्रवृत्तस्य तदुदयास्तसूत्रादुत्तरेण······ ···गोले प्रदर्शयेत । छेद्यके वा तद्यथा समायां व्यासार्धकल्पितेन कर्कटकेन वृत्तम्········· कल्पयेत् । ततः प्रागपरयोरग्रे प्रसार्य चिह्नितद्वयं ततः, चिह्नितद्वयं शिरः········· तदुदयास्तसूत्रं ततो मण्डलमध्यान्मध्याह्ननतज्यां- दक्षिणोत्तरेण वा निधाय । तदग्रे·········ग्र स्थितचिह्नेन पूर्वदत्ताग्रचिह्नाभ्यां मत्स्यस्य विधानेन छाया-भ्रमवृत्तवद्यद्वृत्तमुत्पद्यते तदेकं·········भ्रमवृत्तं शंकु मूलवृत्तमित्यर्थः । एवमिष्ट-ग्रहस्य वा स्वोपकरणे खे तद्वृत्तपरिधौ भ्रमतो ग्रहशंकुमूलस्य यावाद्यावदंतुर-मुदयास्तसूत्रेण सह तावच्छंकुतलं स्वाहोरात्रवृत्ते छायावृत्ते तु विषुवच्छायातुल्यं सर्वदा भवतीति योज्यम् । इदानीं लंबनावनत्योः सम्भवप्रतिपादनायाह—

दृश्यादृश्यं दृग्गोलार्धं भूव्यासदलविहीनयुतम् ।
द्रष्टा भूगोलोपरि यतस्ततो लम्बनावनती ।।६४।।

वास० दृग्गोलस्यार्ध दृग्गोलार्धं तद्भूव्यासदल विहीनयुतं । तद्यथासंख्यं दृश्यमदृश्यं च भवति । यदि भूमिः समा स्यात्तद्वृत्तगोलार्धं सर्वदैव सकलं दृश्यं द्वितीयमदृश्यं स्यात् । यावद्भूगोलाकाराः अत एव भूव्यासार्धो न दृग्गोलार्धं द्रष्टा पश्यति तद्युक्तं च । द्वितीयं दृग्गोलार्धं न पश्यति क्षितिव्यासार्धोछितत्वाद् द्रष्टु-रनयैव वासनया लम्बनावती सम्भवत इत्याह । द्रष्टा भूगोलोपरियतस्ततो लम्ब-नावती या विग्रहणेऽर्कोदयकाले तिथ्यंतः । तदा भूमध्यविनिर्गतक्षितिजमण्डल प्रापितसूत्रगतौ द्रष्टा च भूगोलोपरि । स च यदा रविचन्द्रौ पश्यति तदा भिन्नवर्णं-गतिभ्यां पश्यति । रविदृक्कर्णसूत्रा च अधः स्थितो भवति । यस्माद्रवेर्महती कक्षा चन्द्रस्य चाल्पा अतस्तिथ्यन्तात्पूर्वमेव ग्रहणमध्यमुपपद्यते । पूर्वेण वित्रिभलग्नाद-परतस्त्वन्यथा । एवं लम्बनसम्भवो वनेतरपिदक्षिणोत्तरक्षितिजापेक्षया । यत-स्तद्वशाद्विक्षेपस्योनाधिकत्वं ततश्च ग्रासस्याधिकोनता सम्भवतीति । तस्मादवनते-रपि सम्भव उपपद्यते । इत्येतद्गोले प्रदर्शयेत् कियत्ययो ते लंबनावनती सम्भवत इति तत्प्रतिपादनार्थमार्यामाह—

क्षितिजे भूदललिप्ताः कक्षायां दृग्गतिन्नभोमध्यात् ।।
अवनतिलिप्ता याम्योत्तरा रविग्रहवदन्यत्र ।।६५।।

वास०—क्षितिजे भूदललिप्ता वासार्धोत्थालिप्ता भूव्यासार्धवशाद्या लिप्ता उत्पद्यन्ते ता इत्यर्थः। कक्षार्थं·· तावत्य एव लम्बनलिप्ता भवन्तीत्यर्थः, एतदुक्तं भवति भूगोलमध्यक्षितिजस्थं रवि······कर्णप्रमाणभूव्यासार्धं कोटिः द्रष्टृभूमध्यांतरं द्रष्टुः सूत्रं रविप्रापिततिर्यक्कर्णं एवं स्थि······भूव्यासदलोत्पन्नाः सर्वा एव दृग्गतिर्लिप्ताः स्युः तावच्च रविभुजायां······चन्द्रमाः स्थितः अतस्त्रैराशिकेन भूदललिप्ता उत्पाद्याः तद्यथा रवि···· भूजायाभूव्यासार्धयोजनतुल्या कोटिः तच्चन्द्रयोजनकर्णेन रवियोजनकर्णतुल्याय······च चन्द्रकक्षाप्रदेशे कोटिरूपा दृग्गतिर्भवति। योजनात्मिका सा च पंचदशा विभक्ता लिप्ता······अथवा व्यासार्धहृता चन्द्रमध्ययोजनकर्णहृता गव दृग्गतिलिप्ता कक्षायामुत्पद्यते। तावतीभिर्लिप्ताभिश्चन्द्रोनतो भवति द्रष्टृ रविसूत्रादित्यर्थः। सा चावनतिर्नभोमध्यात्सममंडलमध्याद्यदा वित्रिभलग्नसममंडलमध्यं भवति। तदा सा दृग्गतिः—परिपूर्णा भवति। न ते तु रवि सममंडलवशान्न्यूना सा भवति इत्यर्थः। अवनतिलिप्ता याम्योत्तरा यथा दृग्गतिलिप्ता तद्वदवनतिलिप्ता उत्पद्यंते।······याम्योत्तरास्ते यथा पूर्वापरयोः क्षितिजे दृग्गतिः वासना एवं दक्षिणोत्तर सममंडले क्षितिजे च वासना—एवं दक्षिणोत्तरसममंडलक्षितिजेव वासना योज्या सापि नभोमध्या दृक्क्षेप मंडले पूर्वे न्यस्ते दृश्यमानाश्चावनति लिप्ता······यत्र देशे तत्र भूदलोत्थ लिप्ता तुल्याः उत्पद्यंते। मिथुनतार्कोद्वयेन, ततो दक्षिणतो रवेः चन्द्रस्य च विक्षेपवशाद्दक्षिणतोऽपि यथेह रविग्रहणे लंबनावनती। एवमन्यत्रापि ग्रहयोः परस्परच्छादने नक्षत्रग्रहयोरपि लंबनलिप्तानामवनतिलिप्तानां वेयमेव युक्तिरिति लंबनलिप्ताश्चषष्टिहृताभुक्तांतर भाजिता घटिका भवंति चक्रिणोरचक्रिणोरप्यंतरयाश्चैकस्मिन् चक्रिणि भुक्तियोगेन भाग इत्येवं दिङ्मात्रं प्रदर्शितम्। तत्रैवं विस्तरतः प्रतिपादयिष्याम इति। अथवा दृक्कर्मद्वयोपपत्त्यार्थमार्यामाह—

सत्रिग्रहक्रान्ति रुदग्दक्षिणयोस्त्रिज्यया हृतंवलनम्।
विक्षेपगुणमृणधनं ग्रहेऽन्यद्दृक्कर्म चरदलवत्॥६६॥

वास०—सत्रिभिर्गृहैर्वर्तते इति स त्रिगृहः, त्रिराश्यधिकोग्रह इत्यर्थः। तस्य क्रान्तिः सत्रिगृहक्रान्तिः उदग्दक्षिणयो······तयोरित्यर्थः त्रिज्ययाहतं वलनं विक्षेपगुणसत्रिगृहस्योत्क्रमजीवया या क्रांतिः······हृता सतीववलनं भवतीत्यर्थः। अयमभिप्रायः मकरराशौ स्थितस्य ग्रहस्य कक्षा······निरक्षक्षितिजोन्मंडलवत् मेषतुलादौ च पर क्रान्तिज्यातुल्येन वलनेन······तरे त्रैराशिके यदि व्यासार्धे एतावती कोटिः तद्विक्षेपतुल्यव्यासार्धवृत्तेयाकोटि सा चापमंडलीकृता ग्रहफलं भवति। उत्तरायणा विक्षिप्तेग्रहे···यत्र ग्रहस्तस्य प्रदेशस्य यावन्नोदयो भवति। तावद्ग्रहो दृश्यते······नीतोदक्षिणविक्षिप्तश्चोत्तरायणे। एवं यतः प्रथममंडल प्रदेशे उदेति······यने विक्षेपवशाद्विपरीतं योज्यम्। अतो दक्षिणोत्तरायण

वशाद्युज्यते दृक्कर्मप्रथम······निरक्षदेशेऽपि तत्संभवतीति। द्वितीयं तु दृक्कर्मचर-दलवत्। अक्षवशात्तिर्यग्···मपमंडलविमंडलयोरति तत्र पूर्वा नीता कोटिः अप-चीयते वाक्षे छायवशात्। तद्यथा यदि लंबज्याकोटेरक्षज्या तुल्या भुजा तद्विक्षेप-कोहेः कियती भुजा भवति सा च क्षितिजा भवतीत्येतत्पूर्वं गोले प्रदर्शयेत्। इदानीं स्वदेशे गोलविन्यासे पंचवृत्तानिस्थिराणि तानि प्रदर्शयति—

कक्षामण्डलतुल्यं प्राच्यपरं दक्षिणोत्तरं क्षितिजम्।
उन्मण्डल विषुवन्मंडले स्थिराणि ग्रहार्क्षाणाम् ॥६७॥

वास०—कक्षामंडलतुल्यं प्राच्यपरं दक्षिणोत्तरं तुल्यमेव तृतीयं क्षितिजं तत्तुल्यमेव यत्रोन्मंडलविषुवन्मंडले, तत्तुल्ये एव एतानि पंचवृत्तानि स्वदेशे सर्वदैव स्थिराणि ग्रहाणां नक्षत्राणां चास्माभिरपि तथैव प्रदर्शितानि। इदानीं चलवृत्तानि प्रदर्शयत्येकपंचाशत्—

मंदोच्चानि सप्तोच्चनीचवृत्तानि पंचशीघ्राणाम्।
प्रतिमंडलानि चैवं प्रत्येकं भास्करादीनाम् ॥६८॥
दृङ्मंडल दृक्क्षेपामंडलानि क्षपापकरादीनाम्।
षट्कं विमंडलानां चलवृत्तान्येकपंचाशत् ॥६९॥

वास०—मन्दनीचोच्चवृत्तानि सप्तानां ग्रहाणां सप्तभौमादीनां पंचशीघ्रोच्चनीचवृत्तानि। एवं द्वादश प्रतिममंडलानि चैवं द्वादशानां द्वादशैव······चतुर्विंशतिः तथा भास्करादीना प्रत्येकं दृङ्मण्डले दृङ्क्षेप मण्डलमपमण्डलम् ॥

सप्तानामे···   ······वतिः पूर्वैः सह पंचचत्वारिंशत्। तथा क्षपाकरादीन षण्णां षट्क विमंडलानामेव वृत्तानि स्थिराणि पंचैव षट्पंचाशत्। एतैर्विना किमपि न ज्ञायते। ततः······ मण्डलसंख्यैव न शक्यते वक्तुं स्वाहोरात्रार्धवियवक्रान्ति विक्षेपादिमण्डलानां तथा ध्यायस्य च आर्यासंख्या प्रदर्शयति।

यत्स्पष्टीकरणाद्यं गोलादुत्प्रेक्ष्य तत्कृतं सर्वम्।
गोलाध्यायः सप्तत्यार्याणामेकविंशोऽयम् ॥७०॥

वास०—गोलाध्याये वदिह मया स्वसिद्धान्ते स्फुट गत्यादिकं कृतमुपनिबद्धं ततः सर्वं गोलाद···एवं मया गोलाध्याय एकविंशतितम आर्याणां सप्तत्या निवद्धमिति गोलविदा······मध्याद्यमिह यदुक्तं तत्प्रत्यक्ष मिव दर्शयति यस्मात्। तस्मादार्यत्वं गोलविदा······स्पष्टार्थेयमार्या। मध्याद्या मिह यदुक्तं तत्प्रत्यक्षमिव दर्शयति यस्मात् तस्मादाचार्यत्वं गोल विदो भवति नान्यस्य। स्पस्टार्थेयमार्या। स्वकृतस्य गोलस्य प्रशंसार्थमाह आचार्येन ज्ञातः श्रीषेणार्यभट्ट विष्णुचन्द्राद्यैः गोलो

यस्मात्तस्माद् ब्रह्मे गोलः कृतः स्पष्टः, गतार्थेयमार्या । गोलज्ञो गणितज्ञो ग्रहगतिं विजानाति । यो गणितगोलबाह्यो जानाति ग्रहगतिं स कथं गणितक्षेत्रविशेषैर्गोलो ज्ञातुं शक्यते । तस्माद् गोलोज्ञेय इत्यर्थः इति श्रीभट्टमधुसूदनसुतचतुर्वेदपृथुस्वामिकृते ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त वासनाभाष्ये गोलाध्ययः समाप्तः ।। शुभम् ।।

अध्यर्धेन सहस्रेण मया गोलो वर्णितः, अत ऊर्ध्वं समस्तेहं सिद्धान्ते भाष्यमारभे । एवं गोलाध्यायं व्याख्यायाधुना सकलसिद्धान्तो व्याख्यायते ।

समाप्तं वासनाभाष्यम्

अकारादिक्रमेण श्लोकानुक्रमणिका